प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध

हिन्दी उपन्यास-साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन

[प्रारम्भ से १९४७ ई० तक, प्रेमचन्द को छोड़कर]

●

डॉ० रमेश तिवारी

४५-ए, खुल्दाबाद, इलाहाबाद-१

प्रथम संस्करण १९७२

●

प्रकाशक

जीत मल्होत्रा

रचना प्रकाशन

४५-ए, खुल्दाबाद,

इलाहाबाद-१

●

मुद्रक

आनन्द मुद्रणालय,

३०८ रानी मण्डी,

इलाहाबाद-३

मूल्य :

पैंतीस रुपये

विषय-क्रम

विषय | पृष्ठ संख्या

⊙ ⊙ ⊙

भूमिका

हिन्दी उपन्यास साहित्य का इतिहास आधुनिक भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास का साहित्यिक संस्करण है। समृद्धि और ऐश्वर्यपूर्ण सभ्यता महाकाव्यों का विषय बनती है और जटिल, वैषम्य तथा संघर्षपूर्ण सभ्यता उपन्यासों का। भारतीय सांस्कृतिक चेतना पर पाश्चात्य सांस्कृतिक चेतना जैसे-जैसे हावी होती गई है, वैसे-वैसे उपन्यास साहित्य को भी कच्ची सामग्रियाँ प्राप्त होती गई हैं। इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास आज भी पश्चिमी उपन्यासों की तुलना में कम विकसित दिखाई पड़ता है तो इसका कारण यही है कि पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति की तुलना में हमारी भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति आज भी कम जटिल एवं कम उलझी हुई है।

प्रारम्भ में उपन्यास सभी स्थानों में साहित्य का उपेक्षित अंग रहा। उसका उद्देश्य तब मात्र मनोरंजन होता था। साहित्यिक महत्त्व प्राप्त करने के लिए उसे काव्य के गुणों को ग्रहण करके 'गद्य काव्य' बनना पड़ता था। 'कथा सरित्सागर', 'अलिफ़ लैला', 'डिकामेरन', आदि मनोरंजन के साधन मात्र थे। 'हर्षचरित' या 'कादम्बरी' ने साहित्यिक महत्त्व इसलिए प्राप्त किया कि उनमें संस्कृत काव्य के गुण मौजूद थे। लेकिन आज शताब्दियों की प्रतीक्षा के बाद साहित्य-जगत् का यह उपेक्षित अन्त्यज अपनी छिपी सम्भावनाओं को लेकर अपने अद्भुत सामर्थ्य का परिचय प्रस्तुत कर रहा है और अब तो यह आभिजात्य का दावा भी करने लगा है। देवकी नन्दन खत्री से लेकर अज्ञेय तक के हिन्दी उपन्यास साहित्य का इतिहास इस बात का प्रमाण उपस्थित करता है।

स्पष्ट है कि आज उपन्यास साहित्य सत्य का वाहक बन गया है तथा आज के युग-जीवन की संस्कृति को सर्वाधिक संरक्षण भी वही दे रहा है। आज उपन्यासकार के लिए यह चुनौती का विषय बनता जा रहा है कि वह अपने युगीन सांस्कृतिक तत्त्वों को अपनी रचना में प्रकट करता है अथवा नहीं। इस दृष्टि से हम उपन्यास साहित्य की श्रेष्ठता तथा अश्रेष्ठता का भी निर्णय कर सकते हैं, यद्यपि विवेचक तथा आलोचक के निर्णयकर्त्ता होने जैसी किसी बात में हमारा विश्वास बहुत अधिक नहीं है। फिर भी इतना तो माना ही जाना चाहिए कि युगीन सांस्कृतिक तत्त्वों को पूर्ण अभिव्यक्त किए

बिना कोई भी औपन्यासिक कृति महत्त्वपूर्ण नहीं बन सकती । ज़ाहिर है कि उपन्यास संस्कृति और सभ्यता के विभिन्न उपकरणों को समग्रता में चित्रित करने वाला एक ऐसा साहित्य रूप है, जो अपने पूर्व की कई साहित्यिक परम्पराओं को आत्मसात् करते हुए अभिनव आकर्षण के साथ प्रकट हुआ है ।

वस्तुत: सभ्यता तथा संस्कृति के विकास के समानान्तर ही कलाकारों के दृष्टिकोण का भी विकास होता है । दूसरे अपेक्षाकृत अधिक सभ्य तथा अधिक संस्कृत समाज यथार्थ को अधिकाधिक ग्रहण करके चलता है । विवेच्यकाल में भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र में गद्य की उत्पत्ति तथा उसके प्रचार प्रसार का यही कारण है, क्योंकि यथार्थ कथन के लिए गद्य की भाषा जितनी उपयुक्त माध्यम होती है, उतनी पद्य की भाषा नहीं । इसीलिए उपन्यास, जो गद्य की भाषा में लिखा जाता है, आज दुनिया भर में अपनी यथार्थ अभिव्यक्ति के लिए विख्यात हो गया है तथा मनोरंजन की सृष्टि करने के स्थान पर मानव जीवन की यथार्थ समस्याओं को अभिव्यक्त करने लगा है । आज के युग में उपन्यासों की महत्ता का वस्तुत: यही कारण है कि मानव जीवन के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृति—सभी पहलुओं के समुच्चय रूप 'संस्कृति' को सबसे अधिक सफल ढंग से अभिव्यक्त होता हुआ उपन्यास साहित्य में ही देखा जा सकता है ।

हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास के साथ-ही-साथ उससे सम्बन्धित आलोचना-साहित्य का भी निर्माण हुआ है जिसमें उपन्यासों का साहित्य तथा कला की दृष्टि से विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है । लेकिन कहने की आवश्यकता नहीं कि आज उपन्यासों के व्यापक चित्रफलक को देखते हुए मात्र कला और साहित्य के सीमित दायरे में रखकर, कुछ चुने हुए नियमों के आधार पर उनकी आलोचना पर्याप्त नहीं जान पड़ती । उनकी आलोचना तो तभी समीचीन कहला सकती है, जब समाज शास्त्र, राजनीति, मनोविज्ञान, धर्म, दर्शन आदि तथा इन जैसे अन्य अनेक बाह्य उपकरणों के आधार पर उनका गंभीर तथा व्यापक विश्लेषण किया जाय । इस दृष्टि से हिन्दी में डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डॉ० शशिभूषण सिंहल, डॉ० सत्यपाल 'चुघ' तथा डॉ० सुरेश सिन्हा आदि विद्वानों ने अपनी समीक्षा-पद्धतियों का पर्याप्त विकास किया है और हिन्दी उपन्यास साहित्य के विभिन्न भागों का युगीन सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के आधार पर विधिवत् विश्लेषण प्रस्तुत किया है । इधर उपन्यास साहित्य के विवेचन में मनोवैज्ञानिक आलोचना-दृष्टि भी महत्त्वपूर्ण होती जा रही है जिसे हिन्दी में विकसित करने का एकमात्र श्रेय डॉ० देवराज उपाध्याय को प्राप्त है । लेकिन फिर भी सांस्कृतिक अध्ययन का क्षेत्र इन छिटपुट प्रयत्नों के बावजूद भी अभी अभाव की अवस्था से ही गुजर रहा है । इस अभाव का अनुभव करके ही हमने उपन्यास साहित्य के अध्ययन के लिए 'सांस्कृतिक अध्ययन पद्धति' का चुनाव किया है, क्योंकि हमारी अपनी

धारणा भी साहित्य तथा कला के सम्बन्ध में तथाकथित 'कलावाद' तथा 'रूपवाद' के अधिक निकट नहीं है। हमारा विश्वास है कि साहित्य तथा कला अपने युग-जीवन के यथार्थ से जब तक गहरी संपृक्ति स्थापित नहीं कर लेती, तब तक जीवन के लिए उसका कोई महत्त्व नहीं होता—महत्त्व नहीं हो सकता।

वस्तुतः ऊपर की स्थापना को ठीक तरह से न समझ पाने के कारण ही साहित्य-आलोचना के क्षेत्र में आज बहुत सारी एकांगी मान्यताएँ विज्ञापित की जाती हैं। दूसरे, कला तथा साहित्य-समीक्षक का अज्ञान भी इस एकांगिता को प्रश्रय प्रदान करता है। आलोचक जब केवल साहित्य का पाठ करने में ही अपनी इतिश्री मान लेता है, तब ऐसी एकांगिता पनपती ही है। ऐसी दशा में आलोचक के पास 'रूप' 'शिल्प' और 'कलात्मक स्तर' विर्धारित करने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं रह जाता और विवेच्य विषय सहज ही उपेक्षित छूट जाता है। अगर कहीं वह विवेच्य विषय का विश्लेषण करता भी है तो उसका यह विश्लेषण सतह से आगे नहीं बढ़ पाता, क्योंकि विवेच्य विषय के सम्पूर्ण अर्थ-सन्दर्भों तक उसकी पहुँच नहीं होती अथवा विवेच्य विषय को युगीन परिप्रेक्ष्य की व्यापकता से वह जोड़ नहीं पाता। कहने की आवश्यकता नहीं कि विवेच्य विषय के सम्पूर्ण अर्थ-सन्दर्भों तक की पहुँच और विवेच्य विषय का युगीन परिप्रेक्ष्य की व्यापकता से सम्बन्ध स्थापन—ये दोनों ही आज की श्रेष्ठ आलोचना के लिए अनिवार्य शर्तें हैं। यही कारण है कि आज के आलोचक का दायित्व अधिक गम्भीर और उसका क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है। आज आलोचक के लिए रचना का पाठ जानना ही अपेक्षित नहीं है, बल्कि उसे समाजशास्त्र, राजनीति, मनोविज्ञान, दर्शन, इतिहास तथा इन जैसी ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओं तक अपने ज्ञान का विस्तार करना है और इन तमाम शास्त्रों और विद्याओं का अपनी नवीन आलोचना-दृष्टि के निर्माण में आवश्यक उपयोग करना है। ऐसा करके ही आज की आलोचना अपने को पूर्ण और सार्वभौम बना सकती है। इस प्रक्रिया से निर्देशित और निर्मित आलोचना को यदि हम कोई नाम देना चाहें तो उसे 'सांस्कृतिक' आलोचना नाम दे सकते हैं। इस दृष्टि से इधर हिन्दी में अनेकानेक शोध ग्रन्थों को प्रकाशित करके भारतीय विश्वविद्यालयों ने अभूतपूर्व योगदान दिया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इसी आलोचना-पद्धति के अन्तर्गत आता है और जहाँ तक मुझे ज्ञात है, प्रारम्भ से १९४७ ई० तक के सम्पूर्ण हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का पहली बार 'सांस्कृतिक अध्ययन' प्रस्तुत करता है। सन् १९४७ ई० भारतीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण विभाजन है, क्योंकि इसके बाद स्वतन्त्र भारत में अनेकानेक परिवर्तन दिखाई देने लगता है तथा भारतीय जीवन और परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन के फलस्वरूप कला तथा साहित्य की दिशा भी बहुत कुछ बदल जाती है, जो आगे अध्ययन का विषय

बन सकती है। यह सोचकर ही हमने स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले का समय निर्धारित किया है, यद्यपि अध्ययन की पूर्णता को ध्यान रखते हुए कुछ आगे तक की रचनाओं को भी यदा-कदा सम्मिलित कर लिया गया है।

वस्तुतः उपन्यास साहित्य के अध्ययन के लिए तो यह 'सांस्कृतिक अध्ययन पद्धति' सर्वाधिक उपयुक्त और समीचीन जान पड़ती है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के दो भाग हैं—पहला भाग संस्कृति तथा विवेच्यकालीन भारतीय सांस्कृतिक चेतना से सम्बन्धित है तो दूसरा भाग उपन्यासों में सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति के विश्लेषण से। लेकिन इन दोनों भागों का कहीं भी प्रत्यक्ष विभाजन आपको नहीं मिलेगा। तात्पर्य यह कि यहाँ दोनों को साथ-साथ रखकर विवेचन की एक नई पद्धति अपनाने का प्रयास किया गया है। यही कारण है कि प्रारम्भ में संस्कृति क्या है, उसके विभिन्न तत्त्व कौन-कौन से हैं तथा उसकी महत्ता क्या है—जैसे प्रश्नों को उठाने तथा अपने ढंग से उनका समाधान प्रस्तुत करने के तुरन्त बाद संस्कृति और साहित्य तथा उपन्यास साहित्य और संस्कृति के आन्तरिक सम्बन्धों के विश्लेषण का औचित्य स्वीकार किया गया है। इस प्रकार विभिन्न सांस्कृतिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति को उपन्यास साहित्य में अन्वेषित करने के साथ-ही-साथ उस विषय के ऐतिहासिक उद्भव तथा सैद्धान्तिक स्वरूप पर भी नज़र रखी गई है। उन्नीसवीं शताब्दी की सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक अवस्था का इतिहास प्रस्तुत करने और फिर उपन्यासों में उनकी अभिव्यक्ति दिखाने—जैसी सपाट और स्थूल अध्ययन-पद्धति की शिथिलता से बचाव के लिए ऐसा करना वस्तुतः समीचीन समझा गया है।

यही कारण है कि एक तरफ़ पहले अध्याय में संस्कृति, साहित्य और उपन्यास को साथ-साथ रखकर क्रमशः उनके स्वरूप तथा पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार किया गया है तो दूसरी तरफ़ दूसरे अध्याय में आधुनिक भारतीय सांस्कृतिक चेतना का विश्लेषण तथा इतिहास प्रस्तुत करते हुए उपन्यास साहित्य के इस चेतना के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होने की भी बात उठाई गई है और दोनों के आन्तरिक सम्बन्धों पर भी विस्तार पूर्वक विचार किया गया है।

तीसरे अध्याय में समाज-व्यवस्था, उसके संगठन तथा उसके उद्भव पर प्रकाश डालने के उपरान्त समाज-संगठन के दो महत्त्वपूर्ण आधारों—वर्ण व्यवस्था तथा संयुक्त परिवार व्यवस्था—के आधार पर विवेच्यकालीन उपन्यासों का विधिवत् विवेचन किया गया है तथा चौथे में 'नारी की स्थिति' शीर्षक के अन्तर्गत विभिन्न कालों में भारतीय नारी की समाजिक तथा आर्थिक स्थिति का संक्षिप्त परिचय देते हुए विवेच्यकालीन उपन्यासों में उसकी अभिव्यक्ति के विभिन्न स्तरों का अन्वेषण किया गया है।

पाँचवें अध्याय का विषय है—राजनीतिक एवं आर्थिक चेतना, जिसके अन्तर्गत

भारतीय राष्ट्रीयता के उद्भव तथा उसकी विभिन्न प्रेरक शक्तियों का उल्लेख करने के पश्चात् उपन्यासों में उसकी स्थिति दिखलाई गई है। साथ ही अंग्रेज़ी शासन-नीति, न्याय-पद्धति, राजनीतिक आन्दोलनों तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों का स्वरूप निर्धारित करते हुए उपन्यासकारों की राजनीतिक चेतना पर भी विचार किया गया है।

छठें और सातवें अध्याय में क्रमश: 'धर्म' तथा 'नैतिक मूल्य और जीवन-दर्शन' के अन्तर्गत सनातन धर्म और आर्य समाज के संघर्षों, धार्मिक बाह्याचारों और शोषणों को उपन्यासों में चित्रित इंगित किया गया है तो भारतीय नैतिक दृष्टिकोण पर विचार करते हुए अन्तर्विरोधी जीवन-दर्शन, सांस्कृतिक गतिरोध तथा विभिन्न विचार-दर्शनों पर भी उपन्यासों के परिप्रेक्ष्य में प्रकाश डाला गया है।

हिन्दी उपन्यास के तीसरे दौर में यानी कि प्रेमचंदोत्तर काल में उपन्यासकारों द्वारा किए गए नये मूल्यों की स्थापना के प्रयत्न यद्यपि बहुत सफल नहीं रहे हैं, लेकिन तो भी हमने अपने प्रबन्ध के आठवें अध्याय में उन प्रयत्नों उनकी विसंगतियों तथा उनके भावी स्वरूपों पर अपना विचार व्यक्त किया है। तत्पश्चात् नवें अध्याय में पाश्चात्य संस्कृति एवं भारतीय संस्कृति के महत्त्व, विवेच्य काल में दोनों के संघर्ष तथा पाश्चात्य संस्कृति के व्यापक प्रचार-प्रसार पर प्रकाश डालते हुए उपन्यासकारों के तत्सम्बन्धी सांस्कृतिक दृष्टिकोणों का भी उद्घाटन किया गया है।

दसवें अध्याय में शिक्षा, खान-पान, वेश-भूषा, आचार-विचार, रीति-रस्म, पर्व-त्यौहार और क्रीड़ा आदि सांस्कृतिक उपकरणों पर ऐतिहासिक प्रकाश डालते हुए उपन्यासों में उनके बहुविध चित्रणों तथा उल्लेखों को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

और अन्त में उपसंहार के अन्तर्गत हमने विवेच्यकालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक चेतना का क्रमिक विकास प्रस्तुत किया है।

संस्कृति के सम्बन्ध में अपनी ओर से हम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि हमने संस्कृति का क्षेत्र केवल मानसिक रुचि एवं जीवन-दर्शन तक ही सीमित नहीं माना है, बल्कि सभ्यता के तमाम बाह्य उपकरणों, यथा खान-पान, वेश-भूषा, आचार-विचार, रीति-रस्म आदि से भी उसका सम्बन्ध स्वीकार किया है। साथ ही हम यह भी निवेदन कर देना चाहते हैं कि प्रस्तुत शोध प्रबंध में हमारे जो निष्कर्ष हैं, उनकी अपनी सीमाएँ हो सकती हैं। प्रत्येक साहित्यकार के जीवन-दृष्टिकोण तथा कलात्मक रुचि में विकास तथा परिष्कार की सम्भावनाएँ निहित रहती हैं, अतः हमारे ये निष्कर्ष भी अन्तिम न मान लिए जायें। विवेच्यकाल में प्रतिनिधि उपन्यासकारों की प्रमुख रचनाओं को ही हमने अपने विवेचन का प्रमुख आधार बनाया है तथा उन्हीं के आधार पर सामाजिक, राजनीतिक, तथा सांस्कृतिक चेतना के विकास के विभिन्न धरातलों को

विश्लेषित किया है। इस विवेचन में अवश्य ही कुछ ऐसे अप्रमुख उपन्यासकार भी आ गए हैं, जिनकी उक्त प्रसंगों में विषयगत दृष्टि से अनिवार्यता समझी गई है। वस्तुत: हमने इस विवेचन में अपना ध्यान उपन्यासकारों की अपेक्षा उनकी रचनाओं पर ही अधिक केन्द्रित किया है, जो हमारी दृष्टि में सर्वथा उचित और समीचीन जान पड़ता है।

यह मेरे लिए परम सौभाग्य की बात है कि मुझे डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेयजी जैसे उदार एवं प्रतिभासम्पन्न निर्देशक का शिष्यत्व तथा आदरणीया माताजी (श्रीमती वार्ष्णेय) का वात्सल्यपूर्ण स्नेह प्राप्त हुआ, जिसने पग-पग पर मुझमें शक्ति तथा धैर्य का संचार किया। मेरा यह शोध-प्रबंध इस धैर्य और शक्ति तथा पूज्य गुरुवर के आशीर्वादों का ही शुभ परिणाम है। इसकी जो भी अच्छाइयाँ हैं, उन सब का श्रेय पूज्य गुरुवर को प्राप्त है तथा इसकी जो भी त्रुटियाँ हैं, उन सब का श्रेय मुझे।

वस्तुत: प्रयाग आकर शोध कार्य करने की प्रारम्भिक प्रेरणा मुझे महाराजा कालेज, आरा के अपने श्रद्धेय प्राध्यापक डॉ० जितराम पाठक सम्प्रति, प्राचार्य, विश्वमित्र कालेज बक्सर से प्राप्त हुई, अत: उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। साथ ही अपने उन अन्य गुरुजनों तथा तमाम आत्मीय सहयोगियों के प्रति भी अपने को आभारी पाता हूँ जिनसे थोड़ी-बहुत जो भी सहायता मुझे इस कार्य में प्राप्त हुई है।

२३/३८, अल्लाहपुर
इलाहाबाद

रमेश तिवारी

अध्याय—१

संस्कृति, साहित्य और उपन्यास

हिन्दी उपन्यास-साहित्य के सांस्कृतिक अध्ययन के सन्दर्भ में यह आवश्यक और समीचीन जान पड़ता है कि पहले हम संस्कृति के स्वरूप पर एक दृष्टि डाल लें। ऐसा करना इसलिए भी अनिवार्य प्रतीत होता है, क्योंकि संस्कृति को स्पष्ट किए बिना अध्ययन-पद्धति का स्पष्टीकरण सम्भव नहीं जान पड़ता। अतः हम प्रारम्भ में संस्कृति को समझने का प्रयास करेंगे।

किन्तु संस्कृति पर विचार करने के साथ-ही-साथ हमें सभ्यता के स्वरूप पर भी विचार करना अपेक्षित लगता है। वस्तुतः संस्कृति और सभ्यता का सम्बन्ध इतने निकट का है कि एक पर विचार करते समय दूसरे की उपेक्षा नहीं की जा सकती। 'संस्कृति' और 'सभ्यता'—इन दोनों शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है, लेकिन आम तौर पर ये दोनों मनुष्य की प्रगति तथा उसकी उपलब्धियों को संकेतित करते हैं। विद्वानों में इन दोनों शब्दों को लेकर बहुत जटिल तथा विवादास्पद स्थिति रही है, जिसमें कभी तो उन्हें अलग-अलग तथा कभी पर्यायवाची तक मान लेने का आग्रह व्यक्त किया गया है। प्रसिद्ध नरविज्ञानी टायलर संस्कृति तथा सभ्यता को पर्यायवाची मानते हैं[१] तो ब्रानिसला मैलिनावस्की उनका अलग-अलग अस्तित्व स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार ऊँची संस्कृति के खास पहलू को सभ्यता कहते हैं[२]। प्रसिद्ध विचारक मैकाइवर भी यांत्रिक व्यवस्था तथा सांस्कृतिक व्यवस्था में अन्तर करके सभ्यता और संस्कृति का पृथकत्व ही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यांत्रिक व्यवस्था उपयोगिता का क्षेत्र है और सांस्कृतिक व्यवस्था मूल्यों का[3]। मैकाइवर का यह भी कहना है

---

१. ई० टायलर : 'प्रिमिटिव कल्चर', भाग १—चतुर्थ संस्करण (लन्दन १९०३), पृ० १

२. एनसाइक्लोपीडिया आफ द सोशल सायन्सेज़, भाग ३-४—पन्द्रहवाँ प्रकाशन (मैकमिलन कम्पनी, १९६३), पृ० ६२१।

३. मैकाइवर : 'सोशल काजेशन', प्रथम संस्करण अध्याय १० और आर० एम० मैकाइवर तथा सी० आर० 'पेज कृत सोसायटी : ऐन इण्ट्रोडक्टरी एनेलिसिस, (मैकमिलन कंपनी १९४९), पृ० ४९८–४९९।

कि सम्यता कई मानों में संस्कृति के प्रतिकूल भी चली जाती है। टायलर की तरह हर्सकोविट्स का भी कहना है कि सम्यता और संस्कृति एक-दूसरे के पर्याय हैं। वह कहते हैं कि संस्कृति के लिये एक शब्द है 'परम्परा' और दूसरा 'सम्यता'[1]। प्रसिद्ध इतिहासकार ट्वायनबी 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग करना ही पसन्द नहीं करते। उन्होंने केवल 'सम्यता' शब्द का ही प्रयोग करना उचित माना है। किन्तु उनकी सम्यताविषयक धारणा मैकाइवर की धारणा के विपरीत है। वह सम्यता तथा यांत्रिक व्यवस्था में अन्तर के साथ-ही-साथ यांत्रिक प्रगति को सांस्कृतिक प्रगति के लिये आवश्यक नहीं मानते। उनका विश्वास है कि यांत्रिक प्रगति कभी-कभी सम्यता में अवरोध उत्पन्न कर देती है। यांत्रिक प्रगति तथा सम्यता की प्रगति सहचार का अभाव है। इतिहास में ऐसा अक्सर हुआ है कि यांत्रिक उन्नति हो रही है, लेकिन सम्यता की उन्नति या तो हो ही नहीं रही है अथवा उसमें अवनति हो रही है[2]। एक दूसरी जगह उन्होंने कहा है कि कई स्थानों पर कृषि-कला की उन्नति सम्यता की अवनति से सम्बन्धित देखी गई है[3]। प्रश्न यह है कि क्या ट्वायनबी की सम्यता और मैकाइवर की संस्कृति एक ही वस्तु है? लेकिन ऐसा प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ट्वायनबी की सम्यता में उपयोगिता का भी समावेश है, जबकि मैकाइवर ने स्पष्ट रूप से उपयोगिता को संस्कृति का अंग मानने से इन्कार कर दिया है।

प्रसिद्ध विद्वान् ओस्वाल्ड स्पेंगलर ने 'संस्कृति' तथा 'सम्यता' शब्दों की समुचित परिभाषाएँ नहीं दी हैं, लेकिन वे मानते हैं कि संस्कृति किसी सम्यता की चरम अवस्था होती है। प्रत्येक संस्कृति की अपनी सम्यता होती है। सम्यता संस्कृति की अनिवार्य परिणति है। सम्यता किसी संस्कृति की बाहरी चरम तथा कृत्रिम अवस्था का नाम है। सम्यताएँ 'नैसर्गिक' धरती के स्थान पर आने वाले कृत्रिम, प्रस्तर-निर्मित नगर हैं जो 'डोरिक' तथा 'गोथिक' के आध्यात्मिक शैशव का अन्त संकेतित करते हैं। आदिम जंगल के जर्जर, बड़े दैत्य (महावृक्ष) की भाँति वे अपनी गलित शाखाएँ सैकड़ों-हजारों वर्षों तक फैलाती रहती हैं, जैसा कि चीन, भारतवर्ष तथा इस्लामी देशों में दिखाई पड़ता है[4]। इसका आशय तो यह हुआ कि इन देशों की संस्कृतियाँ विघटित हो चुकी हैं,

---

१. एम० जे० हर्सकोविट्स : 'मैन एण्ड हिज़ वर्क्स' (अल्फ्रेड ए० नाफ, १९४९), पृ० १७।
२. आर्नल्ड जे० ट्वायनबी : 'ए स्टडी आफ हिस्ट्री' डी० सी० सामरवेलकृत संक्षेप (तीसरा संस्करण, लन्दन, १९४९), पृ० १९६।
३. वही। १९५।
४. श्री पी० ए० सोरोकिन : द्वारा 'सोशल फिलासफ़ीज आफ़ एन एज आफ़ क्राइसिस (प्रथम संस्करण, लन्दन, १९५२), पृ० ७७-७८ पर उद्धृत।

फिर भी वे अपने विकृत रूप में ही सही अपने अस्तित्व को बनाये हुए हैं।

'संस्कृति' तथा 'सभ्यता' शब्दों के अर्थ और उनके पारस्परिक संबंधों को लेकर इस प्रकार के उठाये गये विवादों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हम उनके संबंध में अभी तक किसी निश्चय की अवस्था में नहीं पहुँच पाये हैं। यह मतभेद केवल परिभाषा अथवा भाषा-प्रयोग तक ही सीमित नहीं है, इसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। दरअसल हम यह जानते ही नहीं कि मनुष्य की विभिन्न उपलब्धियों का रूप और अर्थ क्या है। इस अनिश्चय से मुक्ति तभी मिल सकती है, जब यह समझ लिया जाय कि संस्कृति और सभ्यता शब्द प्रत्यक्ष जगत की दीख पड़ने वाली वास्तविकताओं की ओर संकेत नहीं करते। साधारण बोल-चाल में भी इन शब्दों का विशेष अर्थ में प्रयोग होता है और वे हमारे मन में विशिष्ट अर्थ तथा ध्वनि-बोध कराते हैं। इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति ऐसे शब्द हैं, जिनका स्वरूप अत्यन्त जटिल होता है, लेकिन इनके द्वारा अनुभव के विशिष्ट रूपों को बोधगम्य बनाया गया है। इस प्रकार संस्कृति और सभ्यता ऐसे प्रत्यय रूप माने जा सकते हैं, जिनके माध्यम से मनुष्य के अनुभव जगत का विश्लेषण तथा विवेचन किया जाय। संस्कृति और सभ्यता को परिभाषित करने के सन्दर्भ में प्रायः हम अनुभव-जगत को समझने की दिशा में ही प्रयत्नशील होते हैं—प्रयत्नशील हो सकते हैं—ऐसा हमारा विश्वास है।

संस्कृति की परिभाषा

जहाँ तक संस्कृति को परिभाषित करने की बात है, हम निःसंकोच यह स्वीकार करते हैं कि आज तक इस बात पर विद्वानों में मतैक्य नहीं स्थापित हो सका है। जितने तरह के संगठन हैं और जितने तरह के लोग हैं, उन सबों ने उतनी ही तरह से संस्कृति को परिभाषित करने का भी प्रयास किया है। आगे हम उन सभी महत्वपूर्ण प्रचलित मतों का विश्लेषण करके अपना एक निष्कर्ष निकालने का यथासम्भव प्रयास करेंगे। वस्तुतः संस्कृति को समझने और परिभाषित करने के लिये संस्कृति की व्यवस्था सम्बन्धी लम्बी परम्परा को जानना नितान्त आवश्यक है। बिना उन पूर्व व्याख्याओं को जाने-समझे हम संस्कृति को सही अर्थों में समझ पाने में भूल कर सकते हैं।

नरविज्ञान का दृष्टिकोण

संस्कृति की व्याख्या के सन्दर्भ में इस दृष्टिकोण की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। नरविज्ञान में संस्कृति की महत्वपूर्ण व्याख्या की गई है। प्रसिद्ध नरविज्ञानी टायलर ने संस्कृति को एक व्यापक धरातल पर व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। इसका समय १९ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण रहा है, अतः संस्कृति की यह व्याख्या

सबसे प्राचीन तथा साथ ही व्यापक भी है। टायलर महोदय कहते हैं—'वह (संस्कृति या सभ्यता) जटिल तत्व है, जिसमें ज्ञान, नीति, कानून, रीति-रिवाजों तथा दूसरी उन योग्यताओं और आदतों का समावेश है, जिन्हें मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते प्राप्त करता है[१]।' इसी प्रकार लिंटन ने संस्कृति को 'सामाजिक विरासत' कहा है[२]। लावी के मत में संस्कृति समस्त सामाजिक परम्परा है[३] तो हर्सकोविट्स मनुष्य के समस्त सीखे हुए व्यवहारों को ही संस्कृति मानने के पक्ष में है। अर्थात् वे सब चीजें जो मनुष्य के पास हैं, वे चीजें जो वे करते हैं और वह सब जो वे सोचते हैं, संस्कृति हैं[४]।

संस्कृति की उपर्युक्त परिभाषाएँ यथार्थ अनुभव की अपेक्षा कल्पनात्मक सृजनशीलता से अधिक निकट हैं। भले ही इनका महत्व इस सम्बन्ध में स्वीकार किया जाय, लेकिन इनमें यथार्थ अनुभव के अभाव को घोषित किये बिना नहीं रहा जा सकता। वस्तुतः नरविज्ञान का स्वरूप भी इसके लिए कम उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता। नरविज्ञान एक ऐसा शास्त्र है, जो आदमी और पशु के धरातल को अलग करके आदमी को उसकी सम्पूर्ण समग्रता के साथ समझने का प्रयत्न करता है। वह आदमी की समग्र क्रियाओं का अध्ययन करता है तथा उसके अनुसार आदमी की सभी तरह की क्रियाएँ अध्ययन का विषय बन सकती हैं। किन्हीं विशिष्ट कार्यों के चुनाव पर इसका बल नहीं है। क्रेबर ने नरविज्ञान की इसी प्रवृत्ति को देखकर उसे समस्त संस्कृति का अध्ययन माना है, सब युगों की संस्कृति, समस्त सामग्री, उसके सब विभाग और सभी पहलुओं का अध्ययन[५]।

कहने की आवश्यकता नहीं कि नरविज्ञान का यह दृष्टिकोण कितना शिथिल और सपाट है। वस्तुतः नरविज्ञान समाजशास्त्रीय अध्ययन तो प्रस्तुत करता है, पर उसकी दृष्टि वैज्ञानिक नहीं है। साथ ही उसका दृष्टिकोण मूल्यांकनपरक भी नहीं है। वह विभिन्न सामाजिक अवस्थाओं का इतिहास भर देकर अपना दायित्व समाप्त मान लेता है, जब कि सभ्यता के इतिहास में बिना मूल्यांकन के हम कोई बात आगे नहीं

---

१. ई० टायलर : 'प्रिमिटिव कल्चर' भाग १, चतुर्थ संस्करण (लन्दन १९०३), पृ० १।

२. ए० एल० क्रेबर : 'एन्थ्रापालाजी' नवीन संस्करण (लन्दन १९४२), पृ० २५२।

३. ए० एल० क्रेबर :'एन्थ्रापालाजी' नवीन संस्करण (लन्दन १९४८), पृ० २५२।

४. हर्सकोविट्स : 'मैन एण्ड हिज वर्क्स' (अल्फ्रेड ए० नाफ, १९४९), पृ० १७।

५. एन्साइक्लोपीडिया आफ सोशल सायन्सेज, भाग ३-४—पन्द्रहवाँ प्रकाशन (मैकमिलन कम्पनी १९६३), पृ० ११।

बढ़ा सकते। वस्तुतः सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में समय-समय पर जो परिवर्तन होते रहते है, उनका विवेचन मूल्यपूरक दृष्टिकोण के अभाव में पूर्ण नहीं कहा जा सकता—वह अपूर्ण और अधूरा ही रहेगा। ऐसी दशा में हमारे पास उस दृष्टिकोण के महत्व को समझने के लिए कोई पैमाना भी नहीं हो सकेगा। स्पष्ट है कि सभ्य समाज के उत्थान-पतन को हम मूल्यपरक दृष्टिकोण के अभाव में विवेचित नहीं कर सकते। अतः नरविज्ञान का संस्कृति के अध्ययन का यह दृष्टिकोण बहुत सार्थक नहीं कहा जा सकता।

संस्कृति की वर्गगत व्याख्या

समाज की प्रारम्भिक अवस्था में वर्ग-भेद जैसी कोई चीज नहीं देखी जा सकती। किन्तु समाज जैसे-जैसे विकसित होता जाता है, वैसे-वैसे उसके विभिन्न वर्ग बनते चले जाते हैं। इन विभिन्न वर्गों की रीतियों और उनके रहन-सहन के तौर तरीकों में भी काफी बदलाव आ जाता है। कार्ल मार्क्स और टी० एस० इलियट जैसे विचारकों ने इसी वर्गगत वैभिन्न्य को दृष्टि में रखकर संस्कृति पर विचार किया है। उनका मत है कि संस्कृति का विशिष्ट वर्गों से गहरा सम्बन्ध होता है। वस्तुतः संस्कृति के विवेचनों में टी० एस० इलियट का विवेचन अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इलियट ने मुख्यतया तीन बातों की ओर संकेत किया है—पहली बात यह कि इलियट यह मानते हैं कि व्यक्ति की संस्कृति समूह या वर्ग की संस्कृति पर तथा वर्ग की संस्कृति उस सम्पूर्ण समाज की संस्कृति पर, जिसका वह वर्ग अंग है, आधारित होती है। दूसरे यह कि उन्होंने संस्कृति के स्तरों की धारणा का निरूपण किया है, जिसकी सहायता से वर्गविशेष और पूरे समाज की संस्कृति को अलग किया जा सकता है। साथ ही वह व्यक्ति तथा वर्ग की संस्कृतियों में स्तरों के भेद नहीं मानते। और तीसरी बात यह है कि इलियट को यह विश्वास है कि संक्रृति को संक्रान्त करने का प्रधान मार्ग परिवार या परिवारिक जीवन ही है। वह कहते हैं—'जब परिवार अपना कार्य बन्द कर देता है, जब संस्कृति-दान से मुँह मोड़ लेता है, तब संस्कृति का अधःपतन होने लगता है।''[1]

इलियट का विचार है कि मनुष्य को परिवार ही उचित रूप में सुसंस्कृत बना सकता है। परिवार ही शिष्टाचार के नियमों की शिक्षा देता है, रहन-सहन के तौर-तरीके सिखलाता है और एक-दूसरे से सम्पर्क बनाने के तरीके बताता है। इस प्रकार संस्कृति के निर्माण में परिवार का महत्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार इलियट अन्य

---

१. टी० एस० इलियट : 'नोट्स टुवर्ड द डेफिनिशन आफ कल्चर' (लन्दन, १९४८) पृ० २१।

सामाजिक वर्गों की अनिवार्यता को भी संस्कृति के विकास के लिए स्वीकार करते हैं। इस अर्थ में वह विभिन्न वर्गों में पली-बढ़ी संस्कृतियों से एक विराट संस्कृति के निर्माण की कल्पना करके उसे विशेष महत्व प्रदान करते हैं। साथ ही वह अपने वर्ग की संस्कृति को विकसित करना उक्त वर्ग के लोगों की नैतिक जिम्मेदारी मानते हैं। इस प्रकार वह जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिये संस्कृति की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं—इसी बात को ध्यान में रखकर इलियट संस्कृति की परिभाषा देते हैं—संस्कृति विभिन्न क्रियाओं का योग मात्र है, बल्कि वह जीवन-यापन की एक पद्धति है।' अन्यत्र वह फिर लिखते हैं—'हम कह सकते हैं कि संस्कृति वह है, जो जीवन को जीने योग्य बनाती है।'[1] इलियट संस्कृति को धर्म से भी जोड़ते हैं। वस्तुतः उनकी संस्कृति सम्बन्धी दृष्टि बड़ी व्यापक है, जिसमें हर छोटी-बड़ी बातों का समावेश अनिवार्यतः हो गया है। उन्होंने आचार-विचार, शिष्ट व्यवहार कला-सेवन, ज्ञान-प्राप्ति के अतिरिक्त और भी छोटी-मोटी बातों जैसे घुड़दौड़, नौकाविहार, खान-पान आदि को भी संस्कृति का अंग माना है।

कार्ल मार्क्स ने संस्कृति को मनुष्य की प्रगति से जोड़कर उसका विश्लेषण किया है। वैसे मार्क्स और इसी वर्ग के एक दूसरे विचारक ऐंगेल्स की कृतियों में 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग कम ही हुआ है। उनकी दृष्टि धारणात्मक है या मूल्यात्मक, यह भी कहना कठिन है। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार मनुष्य का अनुभव-जगत् दो भागों में विभक्त किया गया है—एक भौतिक वस्तु सम्बन्ध और दूसरा चेतना सम्बन्ध मार्क्सवाद की स्थापना है कि बौद्धिक चेतना भौतिक वस्तु सम्बन्धों पर आधारित होती है। संस्कृति का सम्बन्ध सामजिक चेतना से है और वह सामाजिक सत्ता पर अवलम्बित होती है। सामाजिक सत्ता का अर्थ भौतिक सामाजिक सम्बन्ध है। मनुष्य समाज में अपने भौतिक उत्पादनों के लिए एक-दूसरे से सम्बन्धित हो जाते हैं। परस्पर सहयोग के अभाव में हम भौतिक उत्पादनों के क्षेत्र में प्रगति नहीं कर सकते। इसीलिए ये सम्बन्ध बड़े महत्वपूर्ण होते हैं। इन्हीं सम्बन्धों के आधार पर समाज का आर्थिक रूप निर्मित होता है और यह आर्थिक रूप ही मूलाधार होता है, जिस पर आगे वैधानिक और राजनीतिक रूप खड़ा होता है। इसी से सामाजिक चेतना के स्तर रूप स्थिर होते हैं[2]

---

१. टी० एस० इलियट : 'नोट्स टुवर्ड द डेफिनिशन आफ कल्चर' (लन्दन, १९४८), पृ० २९।

२. कार्ल मार्क्स : 'क्रिटिक आफ पोलिटिकल इकानामी', तीन भागों में, तीसरे जर्मनी संस्करण से अंग्रेजी अनुवाद, सेमुएल मूर और एडवर्ड एमेलिंग द्वारा (चार्ली एच० केर एण्ड कम्पनी)—प्रस्तावना, पृ० २३-२४।

मार्क्स दूसरी महत्वपूर्ण बात यह कहते हैं कि प्रत्येक युग में लगभग शासन करने वाले विचार शासकों के विचार होते हैं।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण विभिन्न संस्कृतियों का उनके ऐतिहासिक सन्दर्भों के साथ अध्ययन करना चाहता है। उसकी दृष्टि में समाज में समय-समय पर नये परिवर्तन होते रहते हैं, इन परिवर्तनों के साथ लोगों की गतिशीलता और सक्रियता में भी फर्क आता जाता है। एक वर्ग कुछ समय तक गतिशील रहकर शिथिल पड़ जाता है। मार्क्स का अनुमान है कि जब तक कोई वर्ग या समूह प्रगति के पथ पर गतिशील रहता है, तभी तक उसकी संस्कृति भी प्रगतिशील रहती है। उसकी प्रगति के शिथिल पड़ते ही उसकी संस्कृति भी शिथिल पड़ जाती है। बल्कि मार्क्स ने तो यहाँ तक कहा कि वह मूल्यहीन हो जाती है। अपनी बात को प्रमाणित करने के लिये मार्क्स ने बुर्जुआ वर्ग की संस्कृति का उल्लेख किया है और यह बताने का प्रयास किया है कि जब उसने सामंती व्यवस्था का विनाश किया था तब तो वह प्रगतिशील थी, किन्तु इस समय उगते हुए मजदूर वर्ग की संस्कृति की अपेक्षा पूँजीवादी वर्ग की संस्कृति प्रतिक्रियावादी और अप्रगतिशील बन गई है। मार्क्सवादी विचारधारा के आधुनिकतम विचारक जार्ज ल्यूकाच तथा माओ त्से तुंग ने भी संस्कृति के सन्दर्भ में लगभग मार्क्स के विचारों को ही प्रतिपादित किया है।

लेकिन मार्क्स के विचारों का जो सार ऊपर प्रस्तुत किया गया है वह बहुत तर्कसंगत नहीं है। जैसा कि वे मानते हैं, आदमी का जीवन केवल वर्ग-सम्बन्धों पर ही आधारित नहीं है। वर्गगत समुदाय आर्थिक आवश्यकताओं की प्रेरणा के ही परिणाम हैं। वरना आदमी अपने वर्ग के निर्माण में स्वच्छन्द भी हो सकता है। एक आदमी की विभिन्न वर्गों के लोगों से मैत्री देखी गई है। कोई आवश्यक नहीं कि एक तरह के पेशे के लोग ही अपना वर्ग बनाएँ। अलग-अलग पेशे के लोगों में भी साहचर्य की भावना देखी जा सकती है। वस्तुतः मनुष्य मौलिक रूप में एक तरह का होता है। कुछ सामान्य स्थितियों में हर आदमी एक ही तरह का व्यवहार करता है। जैसे प्रेम करने की बात हो या घृणा करने की बात, सभी लगभग एक ही तरह से उसे प्रकट करते हैं। आदमी के मस्तिष्क की रचना लगभग समान होती है। इसीलिये उनके अनुभव करने का ढंग भी प्रायः समान होता है। इसलिए हम यह नहीं स्वीकार कर सकते कि केवल वर्ग सम्बन्धों में ही सामाजिक जीवन की इतिश्री हो जाती है, क्योंकि फिर माता-पिता का अपने बच्चों के साथ का सम्बन्ध तथा प्रेमिका का अपने प्रेमी के साथ का सम्बन्ध वर्ग सम्बन्धों की सीमा में निश्चय ही नहीं आता—नहीं आ सकता। यही बात मित्रों के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में भी कही जा सकती है। तात्पर्य यह कि समाज में मनुष्यों का सम्बन्ध किसी एक धरातल पर स्थापित नहीं होता, कहीं कोई और आधार होता

है, तो कहीं कोई और आधार। इसलिये सामाजिक सम्बन्धों को केवल वर्गमूलक ही मान लेना समीचीन न होगा।

मनुष्य की ऐतिहासिक प्रकृति : संस्कृति की अविच्छिन्नता

मनुष्य व्यक्तिगत रूप से अथवा जातिगत रूप से एक ऐतिहासिक प्राणी होता है। सजीव और सचेतन प्राणी होने के कारण वह अपनी पूर्व परम्परा के समस्त चिन्तन-मनन को ग्रहण करता हुआ आगे बढ़ता है। अपने सम्पूर्ण अतीत की बौद्धिक क्रियाओं को आत्मसात् करके ही वह अपने को सांस्कृतिक परिवेश में सम्मिलित कर सकता है। मतलब यह कि आदमी में सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और परिवेश का पूरा-पूरा ज्ञान होता है। इसी प्रकार परम्परा से प्राप्त अतीत की सांस्कृतिक चेतना अपने पर-वर्ती लोगों तक निरन्तर प्रेषित होती रहती है। यह सम्प्रेषण विभिन्न प्रतीकों, शब्दों तथा अन्य चिन्हों के माध्यम से होता है। ये प्रतीक विभिन्न धारणाओं या प्रतीतियों के प्रतिनिधि होते हैं। इन प्रतीकों तथा चिन्हों के आधार पर मनुष्य के स्वप्नों और आदर्शों, उसकी धार्मिक तथा दार्शनिक पद्धतियों एवं उसकी असंख्य चरित्र-सृष्टियों से हमें भाँति-भाँति के नायकों तथा नायिकाओं, विजेताओं और शासकों का स्वरूप प्राप्त होता है। इस तरह की सांस्कृतिक वैचारिक परम्परा को आत्मसात् करने से मनुष्य की आध्यात्मिक जिजीविषा की समृद्धि होती है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य के ऐतिहासिक प्राणी होने का यही अर्थ है कि इतिहास के किसी भी काल-विशेष में उसके सांस्कृतिक अस्तित्व की जटिलता सिर्फ़ उस युग के बौद्धिक तथा आर्थिक परिवेश का फल नहीं होती, वरन् वह उसके समस्त आध्यात्मिक अतीत के कार्यों का भी परिणाम होती है। इस दृष्टि से वह व्यक्ति अधिक सभ्य और सुसंस्कृत होगा, जो अपने अतीत के गौरव का ध्यान रखता होगा, अपेक्षाकृत उसके, जिसकी बुद्धि केवल उसके काल तक ही सीमित होगी। निश्चय ही बुद्ध, ईसा और कालिदास में आनन्द लेने वाला औरों की अपेक्षा अधिक संस्कृत माना जायगा।

इस प्रकार हमारा विश्वास है कि संस्कृति का विकास अविच्छिन्न रूप में होता रहता है। हर युग अपनी क्षमता और योग्यता के अनुसार उसमें अपना योगदान देता रहता है। मार्क्स ने एक युग की संस्कृति को दूसरे युग को संस्कृति से सम्बन्धित बताते हुए केवल एक ही सम्बन्ध की कल्पना की है। वह है निषेध अथवा विरोध का सम्बन्ध। वह मानता है कि कम उन्नत युग के उत्पत्ति-साधन अधिक उन्नत युग के उत्पत्ति-साधनों द्वारा स्थानच्युत कर दिए जाते हैं और इसी प्रकार अधिक उन्नत युग की विचार पद्धतियाँ कम उन्नत युग की विचार-पद्धतियों की स्थानापन्न बन जाती हैं। मार्क्सवाद को इन दोनों नये-पुराने वर्गों में कोई समझौता नहीं दिखाई पड़ता। इसीलिये मार्क्स-

वाद क्रान्ति पर अधिक जोर देता है। यद्यपि हीगल ने समन्वय की बात कही थी, पर उसकी बातों की उपेक्षा ही की गई। लेकिन हम समझते हैं कि संस्कृति के विकास में एक अविच्छिन्नता स्पष्टतया देखी जा सकती है। जब तक नया युग अपनी संस्कृति नहीं बनाता तब तक अनिवार्य रूप से वह पुराने युग की संस्कृतियों पर ही आचरण करने को विवश होता है। इस प्रकार बीजरूप में उसे अपनी पूर्व परम्परा का भली भाँति ज्ञान होता है। इसीलिये नई संस्कृति भी वह बनाता है तो उसमें पुरानी संस्कृति के बहुत से तत्व घुल-मिल जाते हैं। गाँधी जी ने अहिंसा का बहुत विस्तार किया, लेकिन बुद्ध की अहिंसा से वह कोई अलग वस्तु नहीं थी। वस्तुत: संस्कृति का विकास एक सागर प्रवाह की भाँति होता रहता है, जिसमें समय और काल के अनुसार भिन्न-भिन्न लोग अपने-अपने ढंग से हाथ बटाते और उसे संशोधित-परिवर्तित करते रहते हैं।

उपर्युक्त आख्यानों तथा विवेचनों को सन्दर्भ में रखकर अब हम संस्कृति के स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे। वस्तुतः संस्कृति को लक्षणों से तो जाना जा सकता है, लेकिन उसे किसी निश्चित परिभाषा की शब्दावली में समेटना कठिन काम है। संस्कृति कुछ अंशों में किसी समाज के सुदीर्घ प्रयत्नों का इतिहास होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि संस्कृति की रचना दस-बीस या सौ सालों में नहीं हो सकती। अनेक शताब्दियों तक एक समाज के लोग जिस तरह खाते-पीते, रहते-सहते, पढ़ते-लिखते, सोचते-समझते और राज-काज चलाते अथवा धर्म-कर्म करते रहते हैं, उन सभी कार्यों से उनकी संस्कृति का जन्म होता है। हमारे सभी कार्य संस्कृति के अंग होते हैं, यद्यपि कोई एक काम उसका पर्याय नहीं बन सकता। इस प्रकार संस्कृति वह वस्तु है, जो हमारे सम्पूर्ण जीवन में परिव्याप्त है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ होता है। यही नहीं, संस्कृति हमारा पीछा जन्म-जन्मान्तर तक करती रहती है। आदिकाल से जो लोग हमारे लिये काव्य दर्शन लिखते आये हैं, चित्र बनाते आये हैं, वे हमारी संस्कृति के अंग हैं। आदिकाल से जिस-जिस रूप में हम राज्य करते आये हैं, पूजा करते आये हैं, धर्म का पालन करते आये हैं, मन्दिर और मकान बनवाते आये हैं, बरतन और अन्य दूसरे सामान बनाते आये हैं, कपड़े और गहने पहनते आये हैं, शादी और श्राद्ध करते आये हैं, पर्व और त्योहार मनाते आये हैं अथवा परिवार, पड़ोसी और संसार से दोस्ती या दुश्मनी करते आये हैं। वह सब-का सब हमारी संस्कृति का ही अंग है। संस्कृति के उपकरण के रूप में न केवल पुस्तकालयों, संग्रहालयों और नाट्यशालाओं तथा सिनेमागृहों, बल्कि राजनीतिक और आर्थिक संगठनों को भी महत्व प्रदान किया जाना चाहिये, क्योंकि उन पर हमारी रुचि और चरित्र की स्पष्ट छाप लगी होती है। संस्कृति का विकास परस्पर आदान-प्रदान से होता है। लेकिन जो संस्कृति केवल देना ही जानती है, लेना नहीं जानती, उसका एक-न-

एक दिन दिवाला निकल जाता है। इसके विपरीत जो संस्कृति देना और लेना दोनों जानती है, वह बराबर विकसित होती रहती है।

संस्कृति को परिभाषित करने से पहले उसकी इस बहिर्मुखी व्याख्या को ध्यान में रखना नितांत आवश्यक है। संस्कृति के इस व्यापक स्वरूप को इंगित करते हुए एक प्रसिद्ध लेखक कहता है—'संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई है, उनसे अपने-आपको परिचित करना संस्कृति है। फिर एक और विचारक ने संस्कृति को शारीरिक या मानसिक सत्ता का दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था कहा है तो किसी ने इसे सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना माना है।'[१] वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में—'संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का महत्वपूर्ण प्रकार रही है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति हवा में नहीं रहती उसका मूर्तिमान रूप होता है। जीवन के नानाविधि रूपों का समुदाय संस्कृति है। साहित्य, कला, दर्शन और धर्म से जो मूल्यवान् सामग्री हमें मिल सकती है उसे नये जीवन के लिये ग्रहण करना यही सांस्कृतिक कार्य की उचित दिशा और सच्ची उपयोगिता है।'[२] पं० नेहरू के अनुसार संस्कृति का अर्थ मनुष्य का भीतरी विकास और उसकी नैतिक उन्नति है, एक दूसरे के साथ सद्व्यवहार है और दूसरे को समझने की शक्ति है।'[३] भगवतशरण उपाध्याय संस्कृति को सामाजिक संदर्भ प्रदान करते हुए लिखते हैं—'संस्कृति का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से अधिक है। जब आदमियों का एक दल या समाज एक ही रीति से कुछ करता है, एक ही विश्वास रखता है, एक ही प्रकार के आदर्श सामने रखता है, अपने पुरखों के कामों को समानरूप से आदर, गर्व और गौरव की चीज समझता है, तब संस्कृति का जन्म होता है। संस्कृति आदमी के सामाजिक जीवन का प्राण है।[४]' संस्कृति को परिभाषित करने के सन्दर्भ में श्यामाचरण दुबे का कहना है कि—'संस्कृति सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा जनित मानव अविष्कार है। मनुष्य संस्कृति में जन्म लेता है, संस्कृति सहित जन्म नहीं लेता

---

१. पं० जवाहरलाल नेहरू : 'संस्कृति के चार अध्याय,' 'दिनकर' की पुस्तक, उदयाचल प्रकाशन, पटना (चतुर्थ संस्करण, १९६६) की प्रस्तावना, पृ० ११

२. वासुदेव शरण अग्रवाल : 'कला और संस्कृति,' प्रथम संस्करण (साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, १९५२), पृ० १

३. भगवानदास केला द्वारा उद्धृत : 'मानव-संस्कृति,' प्रथम संस्करण (भारतीय ग्रन्थ-माला इलाहाबाद), पृ० ३

४. भगवतशरण उपाध्याय : 'भारतीय संस्कृति की कहानी', प्रथमावृत्ति (राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, १९५५)' पृ० ५-६

शारीरिक विशेषताओं की भाँति संस्कृति प्रजनन के माध्यम से व्यक्ति को नहीं मिलती, सामाजिक जीवन में अनिवार्य सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया से व्यक्ति उसे ग्रहण करता है। समाज की परम्परा संस्कृति को जीवित रखती है। संस्कृति के अन्तर्गत मानव के आविष्कार, निर्माण-कला, संस्थाएँ, सामाजिक संगठन, कला, साहित्य, धर्म, विचार आदि विषय आते हैं। सामाजिक नृतत्व का उद्देश्य अपनी विशिष्ट अध्ययन प्रणाली द्वारा मानव-जाति की भिन्न-भिन्न शाखाओं और समूहों की इसी संस्कृति का अध्ययन है।''[1]

तात्पर्य यह है कि संस्कृति मानव द्वारा निर्मित वस्तु होती है, मनुष्य संस्कृति के निर्माण और उसे ग्रहण करने की योग्यता के साथ उत्पन्न होता है, संस्कृति के साथ नहीं। वह व्यक्ति मात्र अथवा थोड़े से ही लोगों की चीज भी नहीं होती, उसका विस्तार व्यापक और सामाजिक होता है। संगठित समूह में रहनेवाले मानव उसे अपनाते हैं। सामाजिक दबावों के कारण उसके रूप में एक प्रकार की स्थिरता बनी रहती है। अनेक संस्कृतियाँ अपने समूह की जीवन-विधियों की स्पष्ट व्याख्या होती हैं, उसके आंतरिक प्रभावों को व्यक्त करती हैं और इस प्रकार उक्त समूह की सम्पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। समूह विशेष के समस्त कार्य-कलापों का विश्लेषण और उसके संगठन-तत्वों की मीमांसा करना उनका प्रधान कार्य समझा जाता है। इसलिये हम सभ्यता के आन्तरिक रूप को संस्कृति कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। हमारी दृष्टि में सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्था का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्तर के विकास का। वस्तुतः इस अन्तर बाहर ने सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में लोगों को बहुत कुछ अनिश्चय की स्थिति में डाल रखा था, जिसका संकेत हम कर चुके हैं। वैसे यह विवाद आज भी बहुत कुछ वैसा ही बना हुआ है, जिसके सुलझने की फिलहाल कोई उम्मीद नहीं की जाती।

सारांश यह कि संस्कृति का सम्बन्ध मनुष्य के उन कार्यों से है, जिनका उसके व्यक्तिगत हानि-लाभ से कम-से कम सम्बन्ध हो। इसकी जगह उन कार्यों का सम्बन्ध व्यापक से व्यापकतर क्षेत्र के लोगों के साथ होता है। तात्पर्य यह कि जब आप अपने लिये कोई कार्य करते हैं तो वह सांस्कृतिक कार्य के अन्तर्गत नहीं गिना जा सकता, सांस्कृतिक कार्य तो वह होगा जिसे आप अधिक से अधिक लोगों के लिये करें। इसी आधार पर सांस्कृतिक महत्व के कार्यों का भी वर्गीकरण हो सकता है। जिस कार्य को जितना ही अधिक लोगों को दृष्टि में रखकर किया जायगा उतना ही बड़ा सांस्कृतिक महत्व का कार्य वह कहलायेगा। शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो निर्वैयक्तिक होना ही संस्कृत होना है और निर्वैयक्तिक होने का तात्पर्य है सार्वभौम होना। इस दृष्टि में भुवन हमारा भवन

---

१. श्यामाचरण दुबे : 'मानव और संस्कृति', प्रथम संस्करण (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६०), पृ० १७-१८

है; नारा देने वाला व्यक्ति निश्चय ही अधिक सुसंस्कृत रहा होगा, उनकी तुलना में जिन लोगों ने संकीर्ण राष्ट्रवाद का नारा दिया।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आदमी जहाँ अपने लिये उपयोगी और आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद कार्यों को करता है, वहीं वह जिंदगी के कुछ ऐसे कार्यों में भी रुचि दिखाता है, जिनका उसके जीवन के लिये कोई आर्थिक उपयोग नहीं होता। उसके ऐसे ही कार्य सांस्कृतिक कार्यों के अन्तर्गत आते हैं। इन कार्यों का कोई व्यवहारिक उपयोग नहीं होता, लेकिन उनकी महत्ता और श्रेष्ठता निर्विवाद है। वस्तुतः संस्कृति मनुष्य के उन कार्यों का नाम है, जिन्हें वह साध्य के रूप में बहुत महत्वपूर्ण मानता है। संस्कृति मानव-जीवन अथवा जीवन-क्रिया के उन क्षणों का समूह है, जो स्वयं अपने-आप में महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। बाहर की तमाम वस्तुओं से हमारा सम्बन्ध उपयोग के धरातल पर ही स्थापित होता है। इसे ही सभ्यता कहते हैं, लेकिन इसके प्रतिकूल जब हमारा सम्बन्ध अनुपयोगी तथा सार्थक और सही वस्तुओं से स्थापित होता है तो उसे हम सांस्कृतिक जीवन की संज्ञा देते हैं। प्राणवान् तथा सचेत प्राणी होने के नाते मनुष्य सदैव उपयोग की बात नहीं सोचता, वह कभी-कभी ऐसी वस्तुओं के बारे में भी सोचता है, जिसका सम्बन्ध सीधा उसके अस्तित्व से तो नहीं होता, लेकिन वह वस्तु महत्वपूर्ण होती है। फिर मनुष्य अपने वातावरण को सिर्फ जानकर ही संतुष्ट नहीं होता, वह अपनी चेतना से समस्त सृष्टि का रहस्य समझ लेना चाहता है, इस दृष्टि से मनुष्य में बौद्धिक जिज्ञासा और सौन्दर्य की चाह भी होती है, जो उसे एक सांस्कृतिक प्राणी के रूप में प्रस्तुत करती है।

सभ्यता का स्वरूप

सभ्यता वह वस्तु है, जिसके द्वारा आदमी जीवन की उन परिस्थितियों को पैदा करता है, जिनमें वह अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की स्वतंत्रतापूर्वक पूर्ति कर सके। इस प्रकार सभ्यता के माध्यम से मनुष्य अपने परिवेश को ऐसा नियंत्रित तथा तथा परिवर्तित करता है कि वह अधिकांशत: मनुष्यों के लिये स्वतंत्रतापूर्वक रहने की परिस्थितियाँ पैदा कर सके। मानव सभ्यता के इतिहास में ऐसी परिस्थितियों का निर्माण, जब कि सभी मनुष्य अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति निर्बाध रीति से कर सकें, एक महत्वपूर्ण घटना है। वस्तुतः समाजवाद से तात्पर्य ऐसे समाज से हो है, जिसमें रहने वाले मनुष्य अपने को मौलिक रूप में सुरक्षित और स्वतंत्र पाते हों और अपने दैनिक जीवन के कार्यों को स्वेच्छा से कार्यान्वित करते हों। इस प्रकार सभ्यता संस्कृति की बाह्य अभिव्यक्ति है अथवा उसका परिणाम है। सभ्य समाज में सुरक्षा तथा वैयक्तिक स्वतंत्रता का अधिकाधिक स्थान तथा महत्व होता है। भगवत शरण उपाध्याय के शब्दों

में—'बनैले जीवन से मिले-जुले जीवन की ओर बढ़ना, सभा बनाकर उसमें बैठने की तमीज पैदा करना, सभ्यता है।'[१] इस प्रकार सभ्यता के अन्तर्गत व्यक्तित्व का सम्पूर्ण सामाजिक परिवेश तथा राजनीतिक कार्य-पद्धतियाँ आ जाती हैं। मनुष्य किस प्रकार आचार-व्यवहार करता है, किस प्रकार वह सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन बनाता है तथा एक दूसरे के साथ किस प्रकार का व्यवहार करता है—इन सभी बातों का सम्बन्ध सभ्यता से होता है। अतः सभ्यता व्यक्ति तथा समाज की प्रत्यक्ष दीखने वाली वस्तु होती है तथा उसके सभी पहलुओं को स्पष्ट रेखांकित किया जा सकता है।

संस्कृति और सभ्यता का सम्बन्ध

सभ्यता तथा संस्कृति दोनों ही मनुष्य की सृजनात्मक क्रियाओं के परिणाम हैं, जब वह क्रिया उपयोग के क्षेत्र में उपलब्धियों के स्तर पर पहुँचकर अपना विस्तार करती है तब सभ्यता का जन्म होता है और जब वह मूल चेतना को जगाती है तब संस्कृति का जन्म होता है। किन्तु वैज्ञानिक चिन्तन और सामाजिक राजनीतिक चिन्तन दोनों में ही उपयोगिता तथा मूल चेतना दोनों की स्थिति साथ-साथ होती है। जहाँ तक एक वैज्ञानिक सत्य की खोज करता हैं, वहाँ तक वह एक सांस्कृतिक कार्य सम्पन्न करता है, लेकिन जब वह एक आविष्कर्ता अभियन्ता के रूप में प्राकृतिक शक्तियों को मनुष्य की उपयोगिता के लिये नियंत्रित करता है, तब वह सभ्यता का निर्माता बन जाता है। इस सम्बन्ध में सविलन महोदय कहते है कि—विज्ञान का महत्व उसकी उपयोगिता में है और इसमें भी कि वह हमारी ऐसी जिज्ञासा वृत्तियों को शान्त करता है, जिनका कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं होता। उसे इसलिये भी महत्व दिया जाता है कि वह हमारी मननशील कल्पना के सम्मुख नितान्त आकर्षक, सुन्दर पदार्थ को उपस्थित करता है।'[२] इसी प्रकार राजनीतिक तथा सामाजिक चिन्तन में भी उपयोगिता तथा सुन्दरता दोनों के गुण विद्यमान होते हैं। प्लेटो की आदर्श-राज्य-विषयक कल्पना में जहाँ सार्वभौमिकता का संकेत है, जिसके कारण सांस्कृतिक कार्य बन गया है, वहीं उसमें कुछ ऐसी बातों का भी उल्लेख है, जिनका प्रत्यक्षतः कोई व्यवहारिक उपयोग नहीं। ये बातें विशुद्ध आध्यात्मिक हैं, क्योंकि प्लेटो इस बात के लिये प्रयत्नशील नहीं होते कि मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताएँ कैसे हल हो सकती हैं, बल्कि वह इस बात के लिये प्रयत्नशील

---

१. भगवतशरण उपाध्याय : 'भारतीय संस्कृति की कहानी' (प्रथम आवृत्ति, १९५५), पृ० १-२

२, सविलन : 'लिमिटेशन आफ सायन्स', प्रथम संस्करण, भूमिका भाग, पृ० ३-४।

है कि आदमी-आदमी के जीवन-स्तरगत और स्वभावगत वैभिन्न्य को किस प्रकार सन्तुलित और समन्वित किया जा सकता है।

तात्पर्य यह कि सभ्यता और संस्कृति अलग-अलग न होकर एक ही व्यापक सत्य के दो छोर हैं, जिनका सम्बन्ध अन्योन्याश्रय है, जिसमें से किसी भी एक के अभाव में दूसरा महत्वहीन तथा निरर्थक बन सकता है। वस्तुतः दोनों ही मानव-विकास के दो पहलू हैं। भगवतशरण उपाध्याय लिखते हैं—'सभ्यता और संस्कृति में विशेष अन्तर नहीं और यदि एक का दूसरे के लिये प्रयोग हो तो वह चल भी जाता है, चल सकता है। सभ्यता और संस्कृति का विकास आगे-पीछे नहीं, वरन् साथ-साथ हुआ है। इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति मानव-विकास के दो पहलू हैं, एक—सभ्यता—उसकी स्थूल और आविष्कार की दिशा की ओर संकेत करता है, दूसरा—संस्कृति—उस विकास के चिन्तन, सुन्दर, शालीन सूक्ष्म तत्वों की ओर। सभ्यता आदिम बनैली स्थिति से सामाजिक जीवन की ओर मनुष्य की प्रगति का नाम है, संस्कृति उसी प्रवृत्ति की सत्य, शिव और सुन्दर रुचिकर परम्परा का। हम इस संस्कृति के इतिहास में सभ्यता का भी समावेश करते हैं।'[१] सांस्कृतिक चेतना का प्रतिफलन सभ्यता के रूप में देखने में आता है। समाज में संस्थाबद्ध जीवन, जो उच्चतर सभ्यता का एक अंग है तथा जिसे टी० एस० इलियट ने शिष्ट व्यवहार के रूप में घोषित किया है, एक सुनिश्चित सांस्कृतिक चिन्तन का ही परिणाम है। इस प्रकार संस्कृति का वह अंश जो समस्त जनता की वस्तु बन गया हो, या जो अभ्यस्त व्यवहार के रूप में लोकप्रिय और मान्य बन गया हो, सभ्यता के रूप में जाना जा सकता है। सभ्य व्यवहार के ये रूप धीरे-धीरे समाज में रूढ़ बन जाते हैं। इस प्रकार संस्कृति का विकास जब रुक जाता है तो उसे सभ्यता कहते हैं।

संस्कृति की सार्थकता

यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि संस्कृति की सार्थकता फिर क्या हो सकती है? संस्कृति को जब ऐसी क्रियाओं का संघटन बनाया गया, जिनकी कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं होती, तब क्या यह मान लिया जाय कि उसका कोई उपयोग नहीं होता वह एक व्यर्थ वस्तु है? बात यह है कि मनुष्य के जिन्दा रहने में संस्कृति का कोई हाथ नहीं होता। संस्कृति के अभाव में भी आदमी जिन्दा रह सकता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि मात्र भौतिक दृष्टि से उपयोगविहीन होने के कारण सांस्कृतिक क्रियाओं, जैसे कला, साहित्य, दर्शन आदि का कोई महत्व ही न हो। मनुष्य

---

२. भगवतशरण उपाध्याय : 'सांस्कृतिक भारत', प्रथम आवृत्ति (राजपाल एण्ड संस १९५५) पृ० १२।

के जीवन के उन अंशों तथा क्षणों से संस्कृति का घनिष्ट सम्बन्ध होता है, जब आदमी भौतिक उपयोगिता के वृत्त से बाहर आकर सुन्दर की कल्पना से कुछ करने में प्रवृत्त होता है। इससे जाहिर है कि आदमी मात्र अपने को अपनी भौतिक आवश्यकताओं तक ही सीमित नहीं रखता, बल्कि वह समस्त ब्रह्माण्ड को समझने की जिज्ञासा रखता है। वस्तुतः आदमी एक ऐसा प्राणी है जो अपने को सचेतन रूप में विश्व की सम्पूर्णता से जोड़कर जीवित रहने की इच्छा करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आदमी की इसी इच्छा ने धर्म, दर्शन तथा विविध कलाओं को जन्म दिया है। दुनिया की कोई कला, कोई धर्म या दर्शन ऐसा नहीं है जो आदमी की भौतिक आवश्यकताओं का कोई हल सुझाता हो, लेकिन इससे उसका महत्व कम नहीं पड़ जाता बल्कि धर्म और दर्शन का विषय तो सत्य और सुन्दर का अन्वेषण है, जो निश्चय साधारण भौतिक उपयोगिता से कहीं अधिक गौरवशील है। केवल उपयोगिता या आवश्यकतावश किया गया कार्य उच्चकोटि का नहीं माना जाता। श्रेष्ठ कोटि के मनुष्य प्रायः सदैव ऐसे कार्यों को करने में लगे होते हैं जो उपयोगी न होते हुये भी उनके अस्तित्व को विस्तारित और समृद्ध बनाने वाले होते हैं। वे कार्य जिन्हें हम सांस्कृतिक कार्य कहते हैं, इसी तरह के होते हैं।

संस्कृति के विभिन्न स्तर

प्रत्येक व्यक्ति जिस स्तर तक पशुओं के जीवन तथा व्यवहार से अपना जीवन तथा व्यवहार विकसित करता है, उस स्तर तक वह संस्कृत कहा जाता है। इस दृष्टि से समाज में भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक स्तर के लोग पाये जाते हैं—पाये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है व्यक्ति का अपने स्वार्थों से मुक्त होकर निर्वैयक्तिक रूप से सृजन में प्रवृत्त होना तथा इस प्रकार अपनी चेतना का सार्वभौम विस्तार करना। एक व्यक्ति का सांस्कृतिक स्तर वहीं तक हो सकता है या होता है, जहाँ तक वह निर्वैयक्तिक होकर सृजन प्रवृत्त होता हुआ जीवन निर्वाह की दिशा में प्रयत्नशील होता है। इस प्रकार सांस्कृतिक स्तरों में प्रौढ़ता के निर्णय में प्रमुखतः निर्वैयक्तिकता की मात्रा पर ही विचार अपेक्षित है। साथ ही उन वस्तुओं पर भी विचार आवश्यक है, जो व्यक्ति की चेतना, उसकी सृजनात्मक क्षमता तथा उसकी निर्वैयक्तिकता की श्रेणियाँ निर्धारित करती हैं। ऐसी वस्तुओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण साक्षी अथवा प्रामाणिकता की भावना है। संस्कृत होने का मतलब यह नहीं होता कि व्यक्ति यथार्थ से परे हो जाय या विमुख होकर पलायन कर जाय। संस्कृत व्यक्ति एक असंस्कृत व्यक्ति की तुलना में कहीं अधिक गहराई के साथ यथार्थ से सम्पृक्त होता है। कला के क्षेत्र में कल्पना या मुक्त भावाभिव्यक्ति का मतलब यथार्थ के किसी क्षण के उद्घाटन से ही

जुड़ता है न कि कवि की स्वप्न-कल्पना की अयथार्थ अभिव्यक्ति से। पूर्ण यथार्थ अपने आकार में बड़ा ही विशाल होता है। इसकी चेतना बड़े-बड़े वैज्ञानिकों तथा तत्त्वान्वेषी दार्शनिकों में ही पाई जाती है। व्यक्ति अक्सर यथार्थ के किन्हीं अंगों तक ही अनुभव कर पाता है—लेकिन इसलिये कि वह यथार्थ का एक अंग मात्र है, सम्पूर्ण यथार्थ नहीं, उसका अनुभव काल्पनिक या अयथार्थ नहीं कहा जा सकता। कलाकार की प्रतिभा लगातार यथार्थ की क्रिया-प्रतिक्रिया से निर्मित होती है और उस पर यथार्थ जगत के अनेकों घात-प्रतिघात होते रहते हैं। कलाकार की रचना-प्रक्रिया का निर्धारण निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि यथार्थ बोध की प्रक्रिया से ही होता है। जहाँ ऐसा नहीं है, वहाँ कला का बड़ा ही छिछला या स्तरहीन रूप देखने में आता है। अतः श्रेष्ठ कलाकार के लिये यह आवश्यक है कि वह अपनी दृष्टि यथार्थ पर ही केन्द्रित रखे तथा उसी का उद्घाटन करे। इस दृष्टि से जिस कलाकार की यथार्थ दृष्टि जितनी ही गहरी होती है, वह कलाकार उतना ही अपने सृजन में प्रौढ़ तथा प्रामाणिक माना जाता है।

इस बात को हम हिन्दी तथा विश्व के उपन्यास साहित्य के विकास की प्रक्रिया के आधार पर भी समझ सकते हैं, क्योंकि इस विकास की दिशा अधिकाधिक यथार्थ की ओर ही रही है—अविश्वसनीय तथा काल्पनिक कथाओं—जैसे, 'अलिफ़ लैला', 'कादम्बरी', 'दशकुमारचरित' आदि से एकदम यथार्थ जीवन की घटनाओं, जैसे 'माँ' (गोर्की), 'गोदान' (प्रेमचन्द), 'क्राइम एण्ड पनिश्मेण्ट' (दास्ताएव्स्की) की ओर। प्रारम्भ के उपन्यासों में जहाँ खुलकर अलौकिक और अविश्वसनीय तत्वों, जैसे जादू-टोने आदि का स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयोग हुआ है, वहाँ आधुनिक उपन्यास यथार्थ जीवन की लौकिक और विश्वसनीय घटनाओं तक की अपनी सक्षम पहुँच का प्रमाण उपस्थित करते हैं। कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने अलौकिक तत्वों का समा-वेश अपने पाठकों में उत्सुकता को, जो एक विशिष्ट काव्य-गुण है, जगाने के लिए ऐसा किया है। लेकिन क्या इतने विविध स्तरों पर सृजनशील और परिवर्तनशील जीवन में उत्सुकता के लिये कहीं कोई बात नहीं है? क्या जीवन की इस रहस्यमयता में कम उत्सुकता है कि अलौकिक सन्दर्भों द्वारा हम उसकी पूर्ति करें। वस्तुतः देखा जाय तो जीवन स्वयं भी उत्सुकता तथा आकर्षण का अक्षय भाण्डार है अतः जीवन की यथार्थता से बढ़कर औत्सुक्य पूर्ण विषय की हम कल्पना ही नहीं कर सकते।

आज का युग प्रत्येक वस्तु से प्रामाणिकता की माँग करता है, उसकी दृष्टि से वही सत्य स्वीकार्य है जिसकी परीक्षा की जा सके। जिसकी इस प्रकार की परीक्षा सम्भव नहीं उसे आज का युग स्वीकार नहीं करता। तात्पर्य यह कि आज तर्क की प्रधानता है जो निश्चय ही मनुष्य की बौद्धिकता की उपज है। आज का युग मनुष्य

के बौद्धिक विकास का युग है। अन्धविश्वास का युग अब नहीं रहा, अब तो तर्क की कसौटी पर कसकर ही कोई बात स्वीकृत की जाती है। यही तार्किक बौद्धिकता की कसौटी सांस्कृतिक प्रौढ़ता का प्रतिमान कही जा सकती है। दर्शन की शब्दावली में इसे ही तर्कमूलक भाववाद की संज्ञा दी गई है। वस्तुतः सांस्कृतिक चेतना का प्रसार यथार्थ के अन्तर्गत ही होता है, वह यथार्थ से भागकर कल्पना को ग्रहण नहीं करती। सांस्कृतिक क्रियाओं में कल्पना के जिन रूपों को ग्रहण किया जाता है, उनका उद्देश्य यथार्थ की वास्तविक रचना का उद्घाटन ही है, यथार्थ को नकारना या विकृत करना नहीं।

पहले हम कह आये हैं कि सांस्कृतिक प्रौढ़ता के तत्वों में सबसे प्रमुख तत्व है निर्वैयक्तिकता। इसका स्वरूप कुछ-कुछ अस्पष्ट-सा है और कभी-कभी निरर्थक भी लग सकता है। क्योंकि किसी ऐसी वस्तु में आदमी का रुचि लेना थोड़ा मुश्किल जान पड़ता है जिससे उसका सीधा व्यक्तिगत सम्बन्ध न हो। लेकिन हम यहाँ स्पष्ट कर दें कि निर्वैयक्तिक होने का मतलब व्यक्ति का विरोध करना नहीं है, बल्कि उसका विरोध करना है जो केवल व्यक्तिगत है। इस व्यक्तिगत के विपरीत जो सार्वभौम है, वही निर्वैयक्तिक है।

विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों के निर्धारण में एक बात महत्वपूर्ण और है और वह है मनुष्य का अपने ऐतिहासिक सन्दर्भों से पूर्णतः परिचित होना। इसे ही ऐतिहासिक अनुभव या ऐतिहासिक अनुभूतियों का संचय करना भी कहते हैं। एक सुसंस्कृत व्यक्ति के आदर्श-विचार बहुत कुछ उसकी ऐतिहासिक चेतना द्वारा ही निर्मित होते हैं। संस्कृत व्यक्ति की ऐतिहासिक अनुभव-चेतना का विस्तार देश-देशान्तर तक होता है, वह समस्त अनुभूति को समस्त बोध तथा रागात्मक क्रिया को जो मानव जाति ने अपनी विचारात्मक तथा कलात्मक सृष्टियों में संचित रखा है, आत्मस्थ कर लेना चाहता है। विश्व की गतिविधि सम्बन्धी किसी भी सम्भावित अनुभव को वह छोड़ना नहीं चाहता। मनुष्य की ऐतिहासिक अनुभूति का विषय प्रमुख रूप से सामाजिक यथार्थ होता है। लेकिन उसकी सीमा से धार्मिक या दार्शनिक तत्व बहिष्कृत नहीं होते। सामाजिक यथार्थ का अनुभव मनुष्य के धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों के विस्तार तक भी अपना प्रसार करता है। मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों को प्रभावित करने वाली शक्तियों से इतिहास न केवल हमारा परिचय कराता है, बल्कि हमारे सम्मुख मानवता के चरम लक्ष्य की समस्या भी प्रस्तुत करता है। विभिन्न कालों में या विभिन्न युगों में आदमी की उपलब्धियाँ क्या रही हैं, वह अपने व्यक्तित्व को कहाँ तक, किस ऊँचाई तक, उठा सका है, इन सब की जानकारी हमें इतिहास के अध्ययन से ही प्राप्त होती है। इसी-लिए जब तक अपने अतीत के इतिहास से गहरा सम्बन्ध नहीं बनाया गया तब तक तो

यह समझिए कि आदमी की सांस्कृतिक चेतना प्रौढ़ हुई ही नहीं। इसीलिए प्रौढ़ जीवन-दर्शन के लिए इतिहास की व्यापक चेतना नितान्त आवश्यक है '

वस्तुतः निर्वैयक्तिकता का सम्बन्ध सामान्यरूपता से है। सामान्य वही है जो सार्वभौम है। सांस्कृतिक दृष्टि से आदमी की सामान्यरूपता का अर्थ है, उसकी वह शक्ति या क्षमता जिसके द्वारा वह कल्पना करके अपने को दूसरों की स्थिति में रखते हुए उनके विचारों तथा आवेगों को आत्मसात् कर लेता है। यही बात आदमी के नैतिक व्यवहार-पक्ष के बारे में भी लागू होती है। आदमी का नैतिक व्यवहार उसकी कल्पनात्मक तादात्म्य की शक्ति और क्षमता पर ही निर्भर करता है। यहाँ हमें यह बात अच्छी तरह जान लेनी चाहिए कि मनुष्य की सम्पूर्ण तर्क-शक्ति तथा चिन्तन और उसकी दूसरों को प्रभावित करने की क्षमता, इसी बात पर आधारित है कि विभिन्न सम्बद्ध आदमी अपने को सामान्य मानवीय प्रकृति के दृष्टिकोण पर ला सकें। जब तक आदमी अपने को इस सामान्य धरातल पर नहीं पहुँचा देता, तब तक उसके पूर्ण संस्कृत होने में सन्देह ही बना रहता है। काव्य की 'मधुमती भूमिका' की सामान्य-रूपता का सम्बन्ध आदमी की इसी सामान्य भूमिका से जुड़ा हुआ है। कलाकृति का व्यापक सम्प्रेरण तथा उसका सार्वभौम विस्तार कलाकार की इसी सामान्यरूपता के कारण सम्भव हो पाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक श्रेष्ठ कलाकार श्रेष्ठ सांस्कृतिक व्यक्ति होता है तथा उसकी चेतना में निर्वैयक्तिकता, सामान्यरूपता तथा सार्वभौमिकता— तीनों विशेषताओं को लक्षित किया जा सकता है।

संस्कृति और साहित्य

ऊपर हमने कहा है कि संस्कृति उन क्रियाओं का संघटन है, जिनके माध्यम से मनुष्य अपने को कुछ ऐसे सार्थक सन्दर्भों से सम्बन्धित करता है, जिनका व्यावहारिक जीवन में कोई उपयोग नहीं होता। ये क्रियायें मुख्यतः ज्ञान, चेतना या बोध की क्रियाएँ होती हैं। इनकी क्रिया सही भी हो सकती है और गलत भी, वह प्रामाणिक भी हो सकती है और अप्रामाणिक भी। बोध या ज्ञान की प्रामाणिक क्रिया वह है जिसे सभी मनुष्य स्वीकार करें। साहित्य का सम्बन्ध बोध या ज्ञान की इन्हीं क्रियाओं का सबसे महत्वपूर्ण और अन्यतम रूप है। उसमें संस्कृति के उपादानों को सबसे अधिक देखा जा सकता है। इस दृष्टि से किसी देश या जाति की संस्कृति का उचित संरक्षण उस देश या जाति के साहित्य में ही हो सकता है। किसी भी देश की संस्कृति को समझने के लिये उस देश के साहित्य को समझना नितान्त आवश्यक होता है। क्योंकि साहित्य बहुत कुछ सांस्कृतिक-चेतना की अभिव्यक्ति होता है। साहित्य में उसके लेखक की वर्गीय संस्कृति के प्रभावों को बड़ी कुशलता के साथ सँजो कर रखा जाता

है अतः साहित्य और संस्कृति एक-दूसरे से बहुत निकट सम्पर्क रखते हैं। संस्कृति की समस्त ज्ञान तथा बुद्धि की चेतना तथा सौन्दर्य एवं मूल्य की चेतना साहित्य में सुरक्षित तथा कायम रह सकती है। किसी देश की संस्कृति को समाप्त करना हो तो फ़ौरन उस देश का साहित्य पढ़ाया जाना बन्द कर दीजिए, फिर आप पायेंगे कि धीरे-धीरे वह संस्कृति लुप्त होती जा रही है। अतः संस्कृति की रक्षा के लिए सबसे पहले उसके साहित्य की रक्षा की व्यवस्था करना नितान्त आवश्यक होता है।

सामाजिक गुणों की विकासोन्मुख अनुवृत्ति को संस्कृति के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। संस्कृति के क्षेत्र में चेतना और व्यवहार दोनों का सामंजस्य रहता है। व्यवहार क्षेत्र में हम उसे आदर्श पारस्परिकता, आदि नामों से पुकारते हैं और चेतना के क्षेत्र में उसे सृजनात्मक क्षमता या कलात्मक अनुभव को संप्रेषित करने की कला के रूप में जानते हैं। चेतना और व्यवहार दोनों से पुष्ट जीवन ही संस्कारमय जीवन होता है। मानवीय निष्ठा और विकास का आश्रय ग्रहण करके संस्कृति ही धर्म के रूप में प्रकट होती है। सांस्कृतिक चेतना विवेकशील होकर जब सृजनात्मक बन जाती है, तब विशेष महत्वपूर्ण समझी जाती है। इस दृष्टि से किसी जाति के कलात्मक या सृजनात्मक प्रयत्नों का उन्मेष संस्कृति के अन्तर्गत ही आता है। ये प्रयत्न लौकिक होते हुए भी सांस्कृतिक प्रभाव की इस अवस्था का द्योतन कराते हैं, जहाँ मानव प्रयोजनों से टकरा कर भी उनसे ऊपर उस रागात्मक एकता और सौन्दर्य वृत्ति की उच्चता प्राप्त कर लेते हैं, जहाँ लोकाचार के पीछे सामाजिक कल्याण की भावना सुरक्षित रहती है। अतएव सामाजिक चेतना की समग्रता का सर्वोत्तम निर्वाह ही, जिसमें वैयक्तिकता विकार मुक्त होकर साधनाओं का श्रेष्ठतम आकलन करती है, संस्कृति है। मनुष्य की इन श्रेष्ठतम साधनाओं में जो सबसे सूक्ष्म और मानवीय साधन है, उसी की अभिव्यक्ति साहित्य है।

बाहरी भेद-भाव से परे मनुष्य मूल में एक है। इस एकता का पालन करता हुआ साहित्य बाह्य जगत् के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। और हम जगत को अपने में तथा अपने को जगत में मिला-जुला पाते हैं। इस महान रागात्मक एकता की प्राप्ति तब तक संभव नहीं है, जब तक मनुष्य अपने संकीर्ण स्वार्थों से अपना पिण्ड न छुड़ा ले। साहित्य में चूँकि सहित का भाव है, इसलिए वह मनुष्य को उस रागात्मक ऐश्वर्य की स्थिति में पहुँचा देता है, जहाँ वह कुछ क्षण के लिए ही सही, अपनी संकीर्णताओं से मुक्ति पा जाता है, 'मधुमती भूमिका' के रूप में साहित्य की यही रागात्मक ऐश्वर्य की स्थिति वर्णित है, जिसका उल्लेख हम संस्कृति के विभिन्न स्तरों के सन्दर्भ में पहले भी कर चुके हैं।

संस्कृति का सम्बन्ध मनुष्य के संस्कारों से अनिवार्यतः जुड़ा होता है। इन

संस्कारों का परिष्करण ही मानव-विकास का इतिहास रहा है। इस परिष्करण-क्रम की तीन अवस्थाएँ दृष्टिगत होती हैं—शारीरिक, मानसिक और आत्मिक। आत्मिक विकास पूर्णतम स्थिति है। भौतिकता का संस्कृति में गौण स्थान है, पर इसीलिए उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। संस्कृतियों के उन्नयन और उनके परिष्करण के लिए योग्यतम अवसर प्रदान करने में भौतिक स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण पार्ट अदा करती रही है। सुसंस्कृत समाज के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह अपनी भौतिक आवश्यकताओं की ओर से आश्वस्त तथा निश्चिन्त होकर सांस्कृतिक कार्यों में रुचि ले सके।

साहित्य मानव जीवन के सांस्कृतिक प्रयत्नों का मुख्य अंग होता है। मानव स्वभाव से ही क्रियाशील होता है—सृजन की क्षमता, उसकी बुनियादी क्षमता है। वह अपने को व्यक्त करने की बड़ी तीव्र इच्छा रखता है। आदमी जिस परिवेश में रहता है, उसके प्रति उसकी कुछ प्रतिक्रियाएँ होती हैं, जिन्हें व्यक्त करने को वह आतुर रहता है। ये प्रतिक्रियाएँ जब भाषा के माध्यम से व्यक्त होती हैं तो वही साहित्य का रूप धारण कर लेती हैं। इस प्रकार के मानव जाति के भावों, विचारों और संकल्पों की आत्मकथा साहित्य के रूप में प्रसारित होती है। साहित्य मनुष्य जीवन का चरम विकास है। वाल्मीकि, कालिदास और व्यास आदि साहित्यकारों ने मनुष्य की महिमा का ही प्रचार किया है, उसकी दुर्बलता का नहीं, यद्यपि साहित्य के लिये कहीं कोई निषेध नहीं है। वह मनुष्य की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दोनों तक अपनी पहुँच ले जा सकता है। फिर भी मनुष्य की महिमा काफी अरसे तक साहित्यकारों का विषय रही। इसी महिमा को ध्यान में रखकर प्राचीन ऋषियों ने मनुष्य जीवन को अन्य जीवनों की अपेक्षा श्रेष्ठ और महत्तर कहा है।

साहित्य में साधारण मनुष्य को उसके स्वार्थ की संकीर्णता से ऊपर उठाने की शक्ति होती है। दूसरे शब्दों में साहित्य व्यक्ति को सुसंस्कृत करता है, क्योंकि हमने स्वीकार किया है कि स्वार्थ की संकीर्णता से ऊपर उठना ही सुसंस्कृत होना है। वह केवल कौशलपूर्ण चमत्कार नहीं है, वरन् उसमें मानव जीवन को उद्वेलित और झंकृत करने की शक्ति प्रवाहित होती है। इसीलिए मानव जीवन में नये भावों की सृष्टि करता है और अलौकिक रस देकर मनुष्य को स्वार्थ की संकीर्णता से ऊपर उठाकर असीम भाव-लोक के उन्मुक्त प्रांगण में ले जाता है।

हमने पहले स्वीकार किया है कि सही माने में सांस्कृतिक कर्म वे हैं, जो किसी वर्ग, जाति या राष्ट्र के प्रति नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानवता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। जीवन के ये कार्य परम आनन्द के स्रोत होते हैं। आदमी वस्तुतः निर्वैयक्तिक होकर जीवन व्यतीत करने में विशेष रुचि लेता है। कवि या कलाकार का जीवन तो निर्वैयक्तिक होता ही है। कवि की कविताएँ सब के लिए होती हैं, चित्रकार का चित्र सब

के लिए बराबर सौन्दर्य की सृष्टि करता है। दार्शनिक ऐसी स्थापनाएँ करना चाहता है जो सभी को मान्य हो सकें। ऐसा इसलिए नहीं होता कि आदमी की कुछ बाहरी आवश्यकताएँ हैं या सामाजिक स्वार्थ है, जैसा कि फ्रायड के अनुयायियों ने माना है, बल्कि इसलिए होता है कि यह उसकी अन्त:प्रकृति की माँग है। श्रेष्ठतम साहित्यिक रचनाएँ सामाजिक माँगों का परिणाम नहीं होतीं, अपनी उत्पत्ति के बाद वे सामाजिक माँग पैदा करती हैं। रचनाकार के अन्दर स्वयं ही इस बात की प्रतीति होती रहती है कि कौन-सी रचना लोगों को स्वीकार्य हो सकती है और कौन-सी नहीं। वह स्वयं ही निर्णायक होता है कि उसका कौन-सा सत्य ऐसा है जो सभी का सत्य हो सकता है। तात्पर्य यह कि अपने विचार में विश्वास या आस्था रखना तथा यह विश्वास करना कि जो तुम्हारे निजी हृदय के लिए सत्य है, वह सब मनुष्यों के लिए सत्य है—यही प्रतिभा है।

वस्तुत: मानव जाति का इतिहास दो परस्पर विरोधी बातों के संघर्षों का इतिहास है। परम्परा और प्रयोग—इन दो वस्तुओं का संघर्ष सदैव समाज में चलता रहा है। पहले यह आवश्यक होता है कि आदमी अपने को परम्पराओं के अनुरूप ढाले और फिर यह भी आवश्यक है कि उन परम्पराओं के—उन कुत्सित तथा त्याज्य-जर्जर रूढ़ियों के प्रति अपना विद्रोह घोषित करे, जिनका नये सामाजिक परिवेश में कोई औचित्य नहीं दिखायी पड़ता हो। सामाजिक प्रगति का सर्वोत्कृष्ट मार्ग यही है कि आदमी क्रमश: अपनी रूढ़ियों और कुप्रथाओं को बहिष्कृत करके नई सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करता चले। यह नई सामाजिक व्यवस्था का निर्माण ही मनुष्य को सृजन के लिए प्रेरित तथा उत्साहित करता है। निश्चय ही इस सृजन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश साहित्यिक सृजन के रूप में उपलब्ध होता है। जिस देश या जाति में इस साहित्यिक सृजन की क्षमता जितनी ही अधिक होगी, औरों की तुलना में उसकी प्रगति भी उतनी ही अधिक मानी जायगी। विभिन्न जातियाँ अपनी इस सृजनात्मक क्षमता के बल पर अपनी विभिन्न जीवन-पद्धतियों का निर्माण करती हैं। नर-विज्ञान जिन्हें 'संस्कृतियाँ' कहता है, वे वास्तव में विभिन्न जीवन-पद्धतियाँ ही हैं, जिन्हें विभिन्न जातियों ने विभिन्न ऐतिहासिक तथा भौगोलिक परिवेशों में विकसित किया है। इस अर्थ में विभिन्न 'संस्कृतियाँ' उन जातियों या वर्गों की विभिन्न उपलब्धियाँ होती हैं, जिनके निर्माण में उन जातियों तथा वर्गों के प्रतिभाशाली तथा मौलिक सर्जकों का हाथ होता है। इतिहास के रूप में हम उन्हीं संस्कृतियों तथा साहित्यों का अध्ययन करते हैं। लेकिन जो संस्कृति बदलते हुए समय के परिवेश में अपना नवीन विस्तार करने में अक्षम होती है या पुरातनवादी दृष्टिकोण पर कायम रहना चाहती है, वह नई संस्कृतियों के अभ्युदय के साथ समाप्त कर दी जाती है या उसे नष्ट कर दिया जाता है। किसी भी

संस्कृति के लिए समय-सापेक्ष होना निहायत जरूरी होता है। लगभग यही बात साहित्य के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है—समय तथा परिवेश से कटकर साहित्य भी अपना अस्तित्व बहुत कुछ खो देता है।

इस प्रकार परम्परा और प्रयोग के पारस्परिक सन्तुलन के आधार पर ही मानव जाति ने अपनी संस्कृति तथा अपने साहित्य का निर्माण किया है। वस्तुतः संस्कृति के विकास में परम्परा का अद्भुत हाथ होता है। प्रत्येक नई संस्कृति तथा नई समाज व्यवस्था अपनी पुरानी परम्पराओं के आधार पर ही निर्देशित तथा संगठित होती है। परम्परा से कटकर समय-सापेक्ष होने का कोई मतलब नहीं निकलता। एक प्रकार से यह स्थिति असम्भव भी है। साहित्य के सन्दर्भ में भी यह भ्रम बहुतों में व्याप्त है कि आधुनिकता तथा सम-सामयिकता केवल समय-सापेक्ष होने में है, उसका अपनी पुरानी परम्पराओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता। लेकिन अब उन्हें कैसे समझाया जाय कि यह स्थिति सम्भव ही नहीं है, क्योंकि आप जिस भाषा में सोचते हैं या अपने को व्यक्त करते हैं वह तो परम्परा से प्राप्त वस्तु ही है। क्यों उसका इस्तेमाल किया जाता है ? क्यों नहीं आप अपने लिए नई भाषा की खोज कर लेते ? आधुनिकतावादियों ने भाषा की इस नई खोज पर ध्यान देते हुए कुछ नये मुहावरे जरूर गढ़ लिए हैं, जिनके आधार पर उलटी-सीधी उनकी कुछ व्यवस्थाएँ भी की जा सकती हैं, लेकिन अन्ततः वे किसी ऐसी नई भाषा की खोज में सर्वथा अक्षम हो रहे हैं, जिसका परम्परित भाषा से कोई सम्बन्ध न हो। अतः हम मानते हैं कि साहित्य तथा संस्कृति का विकास अविच्छिन्न गति से होता रहता है वह कहीं रुका भले ही रह जाय उसके विकास की गति कहीं भंग नहीं होती। साथ ही प्रत्येक नये युग की संस्कृति तथा साहित्य अपने निर्माण में आश्चर्यजनक रूप से पुरानी संस्कृतियों तथा साहित्यों से सामग्रियाँ ग्रहण करता रहा है। इस दृष्टि से प्रत्येक युग का प्रतिभाशाली प्रयोगकर्ता परम्परा को अपना उपजीव्य बनाता है और उसका भरपूर प्रयोग करता है। सिर्फ़ अतीत का राग अलापने वाले के वश की बात नहीं होती, अतीत की परम्परा को समझना तथा उसे आत्मसात् करना। उसे तो कोई मौलिक सर्जक ही कर सकता है। अतः यह कहना भ्रमपूर्ण है कि मौलिक सर्जक अनिवार्यतः परम्परा विरोधी होता है। बल्कि हम तो समझते हैं कि परम्परा और प्रयोग में विरोध की स्थिति है ही नहीं, बल्कि ये दोनों तो एक-दूसरे के पूरक हैं। बात यह है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति पहले तो परम्पराओं को जानने-समझने में अपने को लगाता है और जब उसकी विसंगतियाँ या उसकी कमजोरियाँ सामने आती हैं, तो वह उनकी घोषणा करता है। इसके सिवा उसके सामने और कोई चारा भी नहीं होता, क्योंकि वह परम्परागत रूढ़ियों और विसंगतियों का विरोध करके जीवन को नया सन्तुलन देना चाहता है। इस दृष्टि से परम्परा का भरपूर ज्ञान सभी प्रयोगकर्मियों के

लिये नितान्त आवश्यक है। वे एक-दूसरे पर इस दृष्टि से निर्भर भी करते हैं। एक के अभाव में दूसरे की स्थिति असम्भाव्य-सी लगती है। फिर दोनों की प्रकृति में बहुत अन्तर भी नहीं होता—सिर्फ समय और काल-साक्षेप-अन्तर को छोड़ दिया जाय तो। आज जो परम्परा कहलाती है, वह कभी प्रयोग भी रही होगी और जो आज का प्रयोग है, वह कालान्तर में निश्चय ही परम्परा का रूप धारण कर लेगा। इस प्रकार परम्परा और प्रयोग परस्पर विरोधी नहीं हैं, बल्कि दोनों एक-दूसरे की पूरक हालतों में ही अपनी सार्थकता रखते हैं। यह बात जितनी संस्कृति के क्षेत्र में लागू होती है, उतनी ही साहित्य के क्षेत्र में भी लागू हो सकती है। साहित्य और संस्कृति की परम्पराओं का यह प्रकृतिगत साम्य साहित्य और संस्कृति के आन्तरिक सामंजस्य को समझने के लिए उचित सन्दर्भ प्रस्तुत करता है।

साहित्यकार और विशेषकर प्रतिभाशाली साहित्यकार स्वभाव से ही रूढ़िवाद का विरोधी होता है और वह मानवीय कार्यों की तह में जाकर उसका विधिवत् विश्लेषण करता है। उसकी नज़र किसी भी वस्तु के यथार्थ रूप पर ही सीधे पड़ती है। पूर्व प्रतीकों के आधार पर वह वस्तुओं का अवलोकन नहीं करता। एक विद्वान् व्यक्ति पूर्व प्रतीकों के माध्यम से ही वस्तुओं को परखता है। पूर्व निर्मित सिद्धान्तों की आन्तरिक संगति और वैचारिक संघटना का विश्लेषण उसका मुख्य क्षेत्र होता है, लेकिन प्रतिभाशाली व्यक्ति उन सिद्धान्तों की उपयुक्तता या अव्यवहारिकता की भी छानबीन करता है और किसी भी सिद्धान्त तथा पद्धति को तब तक नहीं अपनाता, जब तक कि वह उसके स्वयं के अनुभूत सत्य से प्रमाणित नहीं हो जाती। विद्वान् जहाँ यर्थार्थ को स्वीकृत मान्यताओं के आधार पर देखने का आदी होता है, वहाँ प्रतिभाशाली यथार्थ को सीधे सम्पर्क द्वारा समझने की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति ऐसे यथार्थ का प्रवक्ता होता है, जिसकी ओर अब तक किसी ने ध्यान ही नहीं दिया होता। ऐसे ही उपेक्षित यथार्थ प्रत्येक युगों में प्रतिभाशालियों को चुनौती देते हैं, कि उनकी व्याख्या की जाय।

कुछ लोग यह मानते हैं कि चाहे जो कोई भी संस्कृति हो, साहित्य के मूल विषयों में कोई फ़र्क नहीं आता। उन विषयों का मनुष्य-प्रकृति के जैवी आधारों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। उनका मनोवैज्ञानिक मूल तत्वों तथा सामूहिक अनुभूति की जरूरतों से भी लगाव होता है। इसीलिए विभिन्न संस्कृतियों के अन्तर्गत निर्मित विभिन्न साहित्य बाहर वालों के लिए अपनी सार्थकता रखते हैं, जब कि वहाँ की सामाजिक प्रथाएँ तथा अन्य सामाजिक मूल्य बाहर वालों के लिए कोई मानी नहीं रखते। तात्पर्य यह कि अपनी विभिन्न सामाजिक रूढ़ियों और प्रथाओं से वहाँ का साहित्य प्रभावित होने के बावजूद भी उन्हीं तक अपने को सीमित नहीं रखता, बल्कि वह अपना उस

स्तर तक प्रसार करता है, जहाँ प्रत्येक देश या जाति की बौद्धिक क्षमता या कलात्मक रुचियाँ प्राय: समान होती हैं। सांस्कृतिक आवरणों अर्थात् रूढ़ियों और प्रथाओं में अधिक उलझ जाने वाला साहित्य धीरे-धीरे अपनी जीवन्तता नष्ट करता जाता है और जैसे-जैसे सांस्कृतिक प्रथाएँ रूढ़ बनती जाती हैं, वैसे-वैसे वहाँ का साहित्य भी, अगर वह मात्र उन सांस्कृतिक रूढ़ियों तक ही सीमित है, रूढ़ बनता जाता है, उसके प्रगतिशील तत्व समाप्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि साहित्य को पुन: मूल प्रवृत्तियों के निकट लाया जाय, यह कार्य कोई प्रतिभाशाली साहित्यकार ही कर सकता है। साहित्य के इतिहास में ऐसे ही प्रतिभाशाली साहित्यकारों के नाम विशेष आदर के साथ लिए जाते हैं, जिन्हों ने अपने समय की रूढ़ बन गई साहित्यिक गतिविधि को पुन: मूल प्रवृत्तियों से जोड़कर उनमें नये अर्थ तत्वों की सृष्टि का गुरुतर दायित्व स्वीकार किया हो। ऐसे ही प्रतिभाशाली लेखकों में रूसो, वर्ड्सवर्थ, टाल्स्टाय, कार्लाइल, एमर्सन, नित्शे, लारेन्स तथा जेम्स ज्वायस के नाम आते हैं, जिन्होंने क्रमश: प्रकृति, किसान, वीर पुरुष और मौन स्वच्छन्दता आदि पर विशेष बल दिया।

स्पष्ट है कि प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार दो महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित करता है—एक तो यह कि वह अपनी समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा का एक सफल मर्मज्ञ होने के नाते उसकी सही-सही व्याख्या समाज के सामने प्रस्तुत करता है और दूसरा यह कि अनुभूतियों, संवेदनाओं तथा क्रियाओं के नये, अधिक सन्तोषजनक संस्थाओं का निर्देश करता है। जो प्रतिभाशाली जितना ही महान होता है, वह उतना ही अपनी युगीन अनुभूतियों का विश्लेषण तथा स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त वह समाज को एक और महत्वपूर्ण वस्तु प्रदान करता है, उसकी यह देन विशुद्ध रूप से नैतिक होती है। समाज में प्रचलित रूढ़ियाँ या प्रथाएँ अक्सर जीवन को लचर तथा गतिहीन बना देती हैं। समाज में रूढ़ियों और प्रथाओं के प्रति लोगों में एक ऐसा आदर भाव होता है कि लोग न चाहते हुए भी उनका पालन करते जाते हैं। उनका विरोध आम तौर से पाप समझा जाता है। इसलिए अधिकांश लोग कष्ट उठाते हुए भी उन रूढ़ियों का पालन किये जाते हैं। जब कि प्रतिभाशाली के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं होता। उसमें इतनी शक्ति और साहस होता है कि वह रूढ़ियों की जड़ पर आघात करे और सामाजिक व्यवहार के पीछे छिपे हुए दम्भ एवं अहंकार को प्रकट कर दे। ऐसा करते हुए स्वाभाविक होता है कि पहले समाज के लोग उसका समर्थन नहीं देते, लेकिन बाद में लोगों को जब अपने व्यापक हित की बात समझ में आती है तब धीरे-धीरे सारा समाज उसे ग्रहण कर लेता है। प्राय: सभी मौलिक विचारकों के साथ ऐसा हुआ है। कबीर के सम्बन्ध में हम यह अच्छी तरह जानते हैं उन्हें इनकी विद्रोहात्मक प्रवृत्ति

के लिए लोगों का कितना कोपभाजन बनना पड़ा अथवा निराला को कैसे-कैसे व्यंग बाण सहन करने पड़े। लेकिन बाद में वही महान कहलाये।

इस प्रकार हमने देखा कि संस्कृति के विकास के लिये सृजनशील प्रतिभाशालियों का होना बहुत आवश्यक है। प्रतिभाशाली व्यक्ति कम-से-कम नैतिक तथा धार्मिक शिक्षक, अपने वर्ग तथा जाति के प्रवक्ता नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के प्रवक्ता होते हैं। कुछ ऐसी प्रतिष्ठित आत्माएँ उत्पन्न हुई हैं, जिन्होंने यह समझा है कि उनका सम्बन्ध समस्त मानव आत्माओं से है। अपने वर्ग की सीमित एकता के दायरे में न रहकर उस दायरे में, जो स्वयं प्रकृति ने स्थापित किया है, उन आत्माओं ने अपने प्रेम के अतिरेक में, समस्त मानवता का आह्वान किया है।[1]

वस्तुत: कोई भी जाति या युग स्वयं अकेले ही मानवीय अस्तित्व की उन असंख्य सम्भावनाओं का साक्षात्कार नहीं कर सकता। प्रत्येक युग तथा जाति की कुछ अपनी समस्याएँ होती हैं, उसकी कुछ अपनी रुचियाँ होती हैं और कुछ अपने विशिष्ट उपकरण होते हैं। इसीलिए प्रत्येक युग और जाति यथार्थ के विभिन्न रूपों का उद्‌घाटन करती हैं और उनसे अपने ढंग से सम्बन्ध स्थापित करती हैं। इन सम्बद्ध संस्थापनाओं में कुछ ऐसे होते हैं, जो सम्पूर्ण मानव जाति के लिये प्रामाणिक जान पड़ते हैं और उन्हें स्वीकार किए जाने में कोई कठिनाई नहीं दीखती। ये सम्बन्त्र भाषा-बद्ध होकर आगे आने वाली सीढ़ियों को परम्परा के रूप में प्राप्त होते हैं, जिन्हें हम सांस्कृतिक तथा साहित्यिक विरासत कह सकते हैं। जिस सम्बन्ध-संस्थापन का रूप जितना ही व्यापक और सार्वभौम होता है, आगे की पीढ़ियाँ उसे उतना ही महत्वपूर्ण घोषित करती हैं। इस प्रकार ऐसे ही विचार-कोश 'क्लासिक्स' की श्रेणी में आते हैं। इस दृष्टि से क्लासिक्स वह बोधगम्य अभिलेख है, जो आज भी, यदि पूर्णतया नहीं तो अंशतया उस जीवन-स्पन्दन को हमारे भीतर जगा सकता है जो उसकी प्रेरणा के मूल में था। कोई क्लासिक कितना सत्य है तथा महत्वपूर्ण है यह जानने के लिये यह देखना चाहिए कि वह देश तथा काल में कितने अधिक संस्कृत मनुष्यों को प्रभावित करता है।

यह प्रभाव दो प्रकार का होता है—एक यह कि क्लासिक मनुष्यों में जीवन तथा यथार्थ के उन रूपों तथा पक्षों की सबल अनुभूति उत्पन्न करता है, जिसकी ओर आज ध्यान दिया जा रहा है। इस प्रक्रिया द्वारा प्राचीन साहित्य सीधे हमारे व्यक्तित्व को समृद्ध करता है। इस प्रकार प्राचीन साहित्य की शिक्षा, हमारे व्यक्तित्व को समृद्ध करती है। इस प्रकार प्राचीन साहित्य की शिक्षा, हमारे व्यक्तित्व को विस्तार देती हुई

---

१. टॉयनबी द्वारा उद्‌धृत : 'ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री' डी. पी. सामरवेल कृत संक्षेप, (लन्दन, तीसरा मुद्रण १९४९) पृ. २१२।

प्राचीन उपलब्धियों को सुरक्षित रखती है। दूसरे यह कि उस शिक्षा द्वारा हम इस योग्य बनते हैं कि कलात्मक सौंदर्य, बौद्धिक तथा नैतिक क्षेत्रों में आगे चिन्तनात्मक प्रगति कर सकें। मानव जाति की सांस्कृतिक प्रगति का इतिहास मुख्यत: इन्हीं प्रतीकात्मक लेखों तथा ग्रन्थों के रूप में सुरक्षित है। मनुष्य की आत्मिक उपलब्धियाँ शिक्षा द्वारा ही आगे की पीढ़ियों को मिलती हैं।

कला या साहित्य का उद्देश्य होता है जीवन को विविध आयामों में उद्घाटित तथा रूपायित करना। इस कार्य में वह निश्चय ही जीवन मूल्यों अथवा जीवन-दर्शनों को ही अपना विषय बनाता है और उन्हें भिन्न-भिन्न आयामों में विश्लेषित तथा संश्लेषित करता है। इस सन्दर्भ में सम-सामयिक हिन्दी-साहित्य में उभरने वाले विघटन, कुण्ठा, अराजकता, निराशा, घुटन तथा तोड़-फोड़ और अनास्था के विभिन्न स्वरों को पहचाना जा सकता है। यद्यपि यह थोड़ा प्रसंगेतर विषय है, लेकिन साहित्य और संस्कृति के विश्लेषण में हमारी सहायता कर सकता है। आज के नये साहित्यिक आन्दोलनों में मूल्यों के विघटन तथा सांस्कृतिक संक्रमण की बात उठाई गई है और कहा गया है कि आज हमारी संस्कृति तथा जीवन मूल्यों का विघटन होता जा रहा है, जिससे कि हम मूल्यहीन, आस्थाहीन, कुण्ठापूर्ण तथा निराशापूर्ण रचनाएँ देने पर मजबूर हैं। इन नये लोगों का सर्वाधिक विद्रोह सांस्कृतिक मूल्यों के क्षेत्र में ही है। इन नये कलाकारों ने अपने कुछ नये मुहावरों यथा घुटन, पीड़ा, संत्रास, कुण्ठा आदि के सहारे अपना सांस्कृतिक इतिहास एक विचित्र तरह का गढ़ने का प्रयास किया है, जिसे कभी-कभी आधुनिकता के जोश में 'मूल्यहीनता' की स्थिति भी माना गया है और निरर्थकता तथा ऊल-जलूल के बोध को जीवन-दर्शन मान लेने की भी करामात दिखलाई गई है। किन्तु कहने की आवश्यकता नहीं कि इनका यह दृष्टिकोण मात्र पश्चिम की नकल भर है। इसमें उनका अपना निजी अनुभव कुछ भी नहीं है। जैसे हिप्पियों की नकल में पतलून-कुर्ता पहने तथा लम्बी कलमें रखाये दर्जनों भारतीय युवक आज आसानी से किसी भी महानगर में देखे जा सकते हैं, वैसे ही इन नये साहित्यिक नारों तथा आन्दोलनों में पश्चिमी नकल की गंध आप आसानी से पा सकते हैं। माना कि आज पुराने मूल्य घिस गए हैं, उनमें अर्थवहन की क्षमता समाप्त हो चुकी है, पर इससे क्या मूल्यहीनता की स्थिति में ही हम पड़े रहेंगे? क्या नये सिरे से नये मूल्यों की खोज नहीं की जा सकती? नई जीवनदृष्टि का निर्माण नहीं हो सकता? और इस प्रकार क्या नई नैतिकता तथा नवीन विश्वास हम पैदा नहीं कर सकते? हमारा आग्रह है कि यह सब कुछ हो सकता है और साहित्य के माध्यम से ही हो सकता है। साहित्य प्रत्यक्षत: किसी मूल्य की स्थापना भले न करे किन्तु वह मूल्यों की ओर संकेत अवश्य करता है। साहित्य में ये मूल्य रचनात्मक स्तर पर ही उद्घाटित

होते हैं, उनकी तरफ़ स्पष्ट ध्यान नहीं दिलाया जाता। तात्पर्य यह कि साहित्य में मूल्य व्यंजित होते हैं उनका स्पष्ट कथन नहीं होता, अन्यथा साहित्य या कला की अपनी मर्यादा ही समाप्त हो जाती है। क्योंकि साहित्यकार तथा कलाकार का लक्ष्य अंततः कला तथा साहित्य की ही सृष्टि करना होता है।

कला तथा साहित्य का सम्बन्ध न केवल मनुष्य के मूल्य-बोध से है, बल्कि उसके सौंदर्य बोध से भी है। जिस देश या जाति का सौन्दर्य बोध जितना अधिक विकसित और व्यापक होता है, उसकी कला भी उतनी ही अधिक विकसित और व्यापक होती है। सौन्दर्य बोध में परिष्कार निरन्तर होता चलता है। वस्तुतः सौन्दर्य बोध तथा मूल्य बोध में कोई बुनियादी पृथक्त्व नहीं है, दोनों का सन्तुलन ही जीवन को सन्तुलित और संयोजित करता है। प्रायः भ्रम के कारण ही लोग दोनों को अलग-अलग समझ लेते हैं। क्योंकि दोनों की सम्पूर्णता में ही जीवन की संपूर्णता निहित होती है। एक सुसंस्कृत व्यक्ति का जितना मूल्य बोध प्रौढ़ होता है उतना ही सौन्दर्य बोध भी। गाँधी और रवीन्द्रनाथ टैगोर ऐसे ही सुसंस्कृत व्यक्ति हैं, जिनकी मूल्य चेतना तथा सौन्दर्य चेतना दोनों ही प्रौढ़ रही हैं। साहित्य में इन्हीं सुसंस्कृत लोगों के साँस्कृतिक कार्य कलापों को उद्घाटित किया जाता है। प्रेमचन्द ने गाँधी जी के चरित्र को अपने कई उपन्यासों में नियोजित किया है जो उनके युगीन दृष्टिकोण का परिचायक है। रंगभूमि का सूरदास एक ऐसा ही चरित्र है जो अन्धा होने पर भी पूर्णतः संस्कृत है। आधुनिक युग में 'कामायनी' का तो आधारभूत विषय ही मानव तथा देव संस्कृतियों में संघर्ष दिखाना है। 'कामायनी' का समरसता सिद्धान्त उस भारतीय सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य को सूचित करता है जिनमें 'आनन्द' को जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य माना गया है। निश्चय ही इसमें आर्य संस्कृति के शैव दर्शन का 'आनन्द मार्ग' प्रतिध्वनित हुआ है। श्रेष्ठ साहित्य सदैव जीवन की चिरन्तन वृत्तियों का उद्घाटन करते हैं और यही उनका सांस्कृतिक पक्ष है। तुलसीदास का 'रामचरित मानस' इसलिए नहीं प्रसिद्ध है कि उसमें धर्म की प्रधानता है, बल्कि इसीलिये प्रसिद्ध है कि उसमें संस्कृति के चरम विकास की स्थितियों का चित्रण है। इसीलिये 'मानस' का महत्व आज के बदले हुए युग में भी वैसा ही बना हुआ है जैसा कि उसके लेखन काल में था।

भाषा सांस्कृतिक चेतना का आदि रूप है। उसके बिना संस्कृति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। संस्कृति का विकास मार्ग जैसा है वैसा ही भाषा का भी विकास मार्ग है। भाषा भी संस्कृति की तरह ही अपना विकास, परिष्कार तथा सुधार करती चलती है। किसी उच्च स्तरीय संस्कृति की अभिव्यक्ति के लिये समृद्ध भाषा ही उपयुक्त साधन बन सकती है। आज तो भाषा का महत्व साहित्य तथा कला के क्षेत्र

में और भी बढ़ गया है। कहा जा रहा है कि भाषा स्वतः अपने-आप में एक श्रेष्ठतम उपलब्धि है तथा उसका स्वरूप भी सृजनात्मक होता है जिसमें कल्पना तथा अनुभव का अनिवार्यतः योग होता है। इस प्रकार श्रेष्ठ भाषा की रचना भी अपने-आप में एक उपलब्धि है। यद्यपि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि श्रेष्ठतम विचारों तथा भावों की अभिव्यक्ति श्रेष्ठ तथा समृद्ध भाषा के माध्यम से ही सम्भव है, फिर भी भाषा के इस सृजनात्मक प्रकृति के सम्बन्ध में अभी निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि भाषा की समृद्धता तथा स्तरहीन साहित्यिक अभिव्यक्ति की समृद्धता तथा स्तरहीनता का कारण बन सकती है। अतः भाषा का समृद्ध तथा उच्चस्तरीय होना किसी भी साहित्य के लिए आवश्यक तथा अनिवार्य शर्त है।

सारांश यह कि मानव जीवन के लिये संस्कृति और साहित्य दोनों ही नितान्त आवश्यक हैं। इनके अभाव में मानव जाति अपना सौन्दर्य तथा मूल्य बोध सुरक्षित नहीं रख सकती।

उपन्यास साहित्य और संस्कृति

साहित्य और संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध के इस विस्तृत विवेचन के उपरांत हम साहित्य की महत्वपूर्ण सशक्त एवं अपेक्षाकृत नई विधा—'उपन्यास साहित्य' का संस्कृति से सम्बन्ध विवेचित करने का प्रयास करेंगे। वस्तुतः 'उपन्यास विधा' आधुनिक साहित्य की सबसे अधिक सबल एवं प्रौढ़ विधा के रूप में आज अपना स्थान ग्रहण कर चुकी है। महाकाव्य अब नहीं लिखे जाते—नहीं लिखे जा सकते। अब तो उपन्यास ही महाकाव्य का स्वरूप ग्रहण करता जा रहा है। वस्तुतः द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आदमी का जीवन अचानक इतना विषम एवं सामाजिक दशाओं से बोझिल हो गया कि उसकी सहजता तथा सरलता एक तेज झटके के साथ समाप्त हो गई। परिणामस्वरूप आदमी बहुत जटिल एवं दुरूह बन गया—दुरूह और जटिल बनने की प्रक्रिया अभी भी बन्द नहीं हुई है। सम्भवतः मानव सभ्यता के इतिहास में आज तक ऐसा युग कभी नहीं आया, जब कि आदमी इतना खूँखार और खतरनाक बन गया हो। इस दृष्टि से इतिहास के जिस दौर से हम गुजर रहे हैं वह अपने आप में अन्यतम और अभूतपूर्व दौर है, जब आदमी आदमी का शत्रु बनता जा रहा है, परंपरित सारे सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक मूल्य विघटित होते जा रहे हैं और हम वैज्ञानिक तथा भौतिक शक्तियों द्वारा निर्मित विनाशकारी अणु अस्त्रों के सम्मुख घुटने टेके भय और संत्रास की मुद्रा में जिन्दगी की अन्तिम घड़ियाँ गिनने में लगे हैं। असुरक्षा का भय इससे अधिक और क्या होगा? फिर भी हम कहते हैं कि हम सभ्यता का विकास कर रहे हैं, कि हमने प्रकृति

पर विजय पा ली है कि हम चाँद पर हो आये हैं। इससे बड़ा सामाजिक व्यंग्य और क्या होगा कि हम चाँद का तो पता लगा आये लेकिन मनुष्य ही अभी तक हमारी समझ में नहीं आया और मनुष्य को जिन्दा रहने का उसका बुनियादी अधिकार ही हम दे पाने में असमर्थ रहे। मानवता के समर्थन में जहाँ भी जिस किसी ने भी आवाज उठाई कि उसे गोली मार दी गई। मार्टिन लूथर किंग जैसे लोगों को जिन्दा नहीं रहने देना मानवता की हत्या नही तो और क्या है ? फिर भी हम कहते हैं कि हम समृद्ध सभ्यता तथा संस्कृति के युग में जी रहे हैं तो इसे विडम्बना नहीं तो और क्या कहा जाय ! तात्पर्य यह कि आज के युग जीवन की इस जटिलता तथा विषमता को उपन्यास अथवा कथा-साहित्य के अतिरिक्त और कोई साहित्यिक विधा ठीक-ठीक रूपायित ही नहीं कर सकती। महाकाव्य अथवा कविता सहज मनुष्य की भावोच्छ्वसित हृदय की अभिव्यक्ति होती है, उसमें मनुष्य की बुद्धि नहीं हृदय प्रधान होता है, क्योंकि उसमें जीवन रस की अभिव्यक्ति होती है जो सहृदय-हृदय संवेद्य होता है। लेकिन आज यह कहने की आवश्यकता नहीं कि रस न केवल साहित्य से ही बल्कि जीवन से भी समाप्त हो चुका है। वैसे भावुक हृदय सरस जीवन सम्पन्न लोगों को आज भी प्रेमकाव्य लिखते हुए देखा जा सकता है, लेकिन वे युग के प्रतिनिधि चरित्र नहीं हैं। युग का प्रतिनिधित्व तो आज बौद्धिकों के ही हाथ में है; जो वैज्ञानिक युग का जटिल व्यक्ति है, जिसे महाकाव्यकार की दृष्टि से समझा नहीं जा सकता। उसके लिये तो उपन्यासकार की तीक्ष्ण दृष्टि ही अपेक्षित है। अत: अगर साहित्य युग-जीवन तथा युगीन चरित्रों को अपना विषय बनाने को बाध्य माना जाय तो यह मानना भी अनिवार्य होगा कि आज के व्यक्ति तथा जीवन को हम कविता में नहीं पकड़ सकते। और जब तक युग जीवन तथा युगीन चरित्रों को साहित्यकार पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं कर पाता, तब तक वह गौरव ग्रन्थकार की श्रेष्ठ पंक्ति में अपना स्थान नहीं बना सकता। अत: आज प्रत्येक महान् साहित्यकार की यह लाचारी है कि वह कभी-न-कभी एक उपन्यास की रचना अवश्य करता है। इधर हिन्दी में तथा अंग्रेजी और फ्रेंच में भी कई महत्वपूर्ण कवियों ने अपनी महत्वपूर्ण काव्य-पुस्तकों के प्रकाशन के बाद उपन्यासों की रचना की है, जैसे यह उनके लिये पूर्ण कलाकार होने का प्रमाण-पत्र हासिल करना हो।

स्पष्ट है कि आज उपन्यास अपना साहित्यिक विधाओं में शीर्षस्थ स्थान प्राप्त कर चुका है। आज के युग-जीवन की संस्कृति को वास्तविक संरक्षण भी वही दे सकता है। हमने साहित्य और संस्कृति के सम्बन्ध की व्याख्या करते हुये यह स्वीकार किया है कि साहित्य संस्कृति की न केवल संरचना तथा सर्जना करता है बल्कि वह संस्कृति का सुयोग्य संरक्षक भी होता है। साहित्य के व्यापक परिवेश में ही संस्कृति सुरक्षित रहती है। साहित्य ही एकमात्र कला का ऐसा क्षेत्र है जहाँ संस्कृति की अधिकाधिक रक्षा

सम्भव है। वैसे प्रत्येक कलाकृतियों में, चाहे स्थापत्य कला हो, मूर्तिकला, चित्रकला हो या नृत्य-संगीत कला प्राय: सभी किसी-न-किसी रूप में अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखने का भरपूर प्रयत्न करते हैं, फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि संस्कृति के संरक्षण में अन्य कला रूपों की तुलना में साहित्य कला अथवा काव्यकला सर्वाधिक महत्वपूर्ण कला है और आज हम कह चुके हैं कि साहित्य तथा काव्य का पर्याय उपन्यास साहित्य बन गया है। जैसे कभी काव्य की विधा साहित्य का पर्याय थी, ठीक वैसे ही आज उपन्यास भी साहित्य का पर्याय बन गया है। इस दृष्टि से यदि आज के युग को गद्य का युग कहा जाता है तो वह ठीक ही है। क्योंकि आज गद्य के माध्यम से ही हम अपने को तथा समाज को, यानी कि अपने युग को अभिव्यक्त कर सकते हैं। अत: अभिव्यक्ति के इस स्तर पर उपन्यास-साहित्य का अपने युग जीवन की संस्कृति से अनिवार्यंत: सम्बन्ध जुड़ जाता है। उपन्यासकार के लिये यह महान चुनौती का विषय है कि वह अपने युगीन सांस्कृतिक तत्त्वों को अपने उपन्यासों में प्रकट कर सकता है अथवा नहीं। इस दृष्टि से हम उपन्यास साहित्य की श्रेष्ठता तथा अश्रेष्ठता का भी निर्णय कर सकते हैं। यद्यपि आलोचक के निर्णयकर्ता होने के प्रति हम बहुत आस्थावान् नहीं हैं, फिर भी इतना तो माना ही जा सकता है कि युगीन सांस्कृतिक तत्त्वों को पूर्ण अभिव्यक्त किये बिना कोई भी औपन्यासिक कृति अथवा साहित्य-कृति महत्वपूर्ण कृति नहीं बन सकती। अपनी कलात्मक सुघड़ता तथा समृद्ध सौन्दर्य विवृता के बावजूद भी कला कृति को महत्वपूर्ण तथा गौरवशाली बनने के लिये कुछ और बनना पड़ता है। यह कुछ और ही युगीन सांस्कृतिक चेतना के अन्तर्गत आता है जो कलाकार को उसकी समस्त सृजनात्मक परम्परा से सन्दर्भित करता है। इस व्यापक सांस्कृतिक चेतना के अभाव में कोई भी उपन्यासकार अथवा साहित्यकार महत् रचना नहीं कर सकता। हम किसी भी ऐसे महत् रचनाकार की कल्पना नहीं कर सकते जो बुद्ध तथा ईसा को न जानता हो। अत: उपन्यास साहित्य का संस्कृति से घनिष्ठतम सम्बन्ध होता है। मतलब यह कि कोई भी उपन्यास उसी मात्रा में महत्वपूर्ण तथा गौरव का अधिकारी हो सकता है, जिस मात्रा में उसने अपने समकालीन जीवन तथा संस्कृति से अपना साक्षात्कार किया हो।

कलाकार अपने युग-जीवन के यथार्थ को केवल व्यक्त ही नहीं करता, उसका साक्षात्कार भी करता है। यथार्थ का यह साक्षात्कार कम कठिन कार्य नहीं है। यही वजह है कि ऐसे रचनाकार सदियों में कभी पैदा होते हैं, जो अपने युगीन यथार्थ का साक्षात्कार कर सकें। ऐसे ही लेखकों का महत्व अक्षुण्ण रहता है। इसके अतिरिक्त और तरह के सारे लेखकों की कृतियाँ कालांतर में अपना महत्व खो बैठती हैं। उपन्यास इस दृष्टि से आज सबसे अधिक सशक्त माध्यम है क्योंकि उसका सम्बन्ध युग को यथार्थ

घटनाओं से अधिक है । उसका विषय ही जीवनगत यथार्थताओं को व्यक्त करना है । अतः यथार्थ के इस धरातल पर उपन्यास अनिवार्य रूप से संस्कृति से जुड़ जाता है और वे एक दूसरे को, इस प्रकार प्रभावित किये बिना नहीं रह सकते । एक श्रेष्ठ कलाकृति जिस स्तर तक श्रेष्ठ प्रतिभा की उपज होती है, लगभग उसी स्तर तक वह युगीन सांस्कृतिक समृद्धता की भी उपज होती है । सांस्कृतिक समृद्धता कलाकार के लिए उचित वातावरण का निर्माण करती है । इस उचित वातावरण अथवा परिवेश के अभाव में प्राय: श्रेष्ठ प्रतिभाएँ भी श्रेष्ठ रचना देने में चुक जाती हैं । इस दृष्टि से कालिदास और निराला की तुलना की जाय तो कोई असंगति नहीं लगती । कालिदास निश्चय ही सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध तथा अधिक उन्नत युग के कवि हैं, उसीलिए उनकी रचनाएँ अधिक उन्नत और समृद्ध हैं । लेकिन इसके विपरीत 'निराला' सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत ही सामान्य युग के कलाकार हैं, इसीलिये उनकी रचना भी सामान्य के धरातल से आगे नहीं बढ़ पाई हैं । तात्पर्य यह कि कालिदास तथा 'निराला' में अन्तर प्रतिभाओं तथा सृजन-क्षमताओं का नहीं है, बल्कि तत्कालीन सांस्कृतिक परम्परा तथा उसकी समृद्धता का है । इसका मतलब यह हुआ कि सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध एवं श्रेष्ठ युग ही श्रेष्ठ कला को जन्म दे सकता है अथवा यूँ कहें कि श्रेष्ठ साहित्य-सृजन का बहुत कुछ श्रेय युग की सांस्कृतिक प्रौढ़ता तथा उसकी समृद्धता को प्राप्त है ।

सारांश यह कि रचनाकार जहाँ अपने युग की संस्कृति को प्रभावित करता है, वहीं वह उससे अपने सृजन में प्रेरणाएँ भी ग्रहण करता है । दोनों का यह अन्तर्सम्बन्ध आदान-प्रदान का है । कलाकार अपने युग को कुछ देता है तो उससे कुछ लेता भी है । यह लेन-देन विशुद्धत: सांस्कृतिक तथा वैचारिक धरातल पर होता है । वस्तुत: प्रतिभाशाली कलाकार अपने सामयिक सन्दर्भों से अपने को काटकर नहीं देखता, वह उनसे गहरी सम्पृक्ति में ही अपनी सार्थकता समझता है । और यह समझना बहुत अंशों में सही भी है क्योंकि अपने युग के यथार्थ सन्दर्भों से गहरे स्तर पर सम्पृक्त हुये बिना कोई भी कलाकार महत् रचना-सृष्टि में सक्षम नहीं हो सकता । प्रेमचन्द अथवा गोर्की की सार्थकता इसी बात में है कि उन्होंने अपने युगीन सन्दर्भों की यथार्थताओं से गहरे स्तर पर अपना सम्बन्ध बनाये रखा, तभी 'गोदान' तथा 'माँ' की रचना कर सके । टाल्स्टॉय के 'युद्ध और शान्ति' जैसे महाकाव्यात्मक उपन्यासों की रचना में भी युगीन यथार्थ से सम्पृक्तता का यही संदर्भ निहित है । निश्चय ही ये उपन्यासकार अपनी युगीन संस्कृति को समृद्ध करने के साथ ही मौजूदा संस्कृति से स्वयं को भी परिष्कार तथा संस्कार देते रहे हैं । इस प्रकार उपन्यास साहित्य में सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के विभिन्न स्तर देखे जा सकते हैं, क्योंकि संस्कृति को ग्रहण करने तथा उसे समृद्ध करने के स्तर में अपनी शक्ति और क्षमता के अनुसार विविधता का होना आवश्यक है । यही कारण

है कि सांस्कृतिक स्तर पर सभी लेखकों का महत्व एक-सा नहीं होता—नहीं हो सकता। क्योंकि सभी की कृतियाँ समान स्तर पर संस्कृति को न तो प्रभावित ही करती हैं और न उसे समृद्ध करने की उनमें क्षमता ही होती है। अतः अपनी-अपनी रचना के स्तर के हिसाब से ही कलाकार सांस्कृतिक महत्व का स्तर प्राप्त करता है।

निष्कर्ष रूप में हम कहना चाहें तो निःसंकोच यह कह सकते हैं कि उपन्यास आज की सभ्यता तथा संस्कृति की महत्त्वपूर्ण साहित्यिक उपलब्धि है। बाह्य जीवन की आवश्यकताओं को समग्ररूप में चित्रित करने वाला यह एक ऐसा साहित्य रूप है, जो अपने पूर्व की कई साहित्यिक परम्पराओं को आत्मसात् करते हुए भी अभिनव आकर्षण के साथ प्रकट हुआ है। आज इस साहित्यिक विधा ने अपना पर्याप्त विकास कर लिया है जिससे कि उसमें जीवन के विस्तृत यथार्थ को व्यक्त कर सकने की क्षमता आ गई है। उसने हमारे युगीन सस्कारों तथा संस्कृतियों को व्यक्त करने में अभूतपूर्व सफलता पाई है। अतः हम बिना किसी हिचक के यह कह सकते हैं कि आज का उपन्यास-साहित्य संस्कृति से गहरे स्तर पर अपना सम्बन्ध बनाए हुए है तथा उसमें अपने समय के सांस्कृतिक तत्वों को अभिव्यक्त करने का गम्भीर प्रयत्न लक्षित किया जा सकता है। यही कारण है कि उपन्यास-साहित्य को समझने के लिए तत्कालीन सांस्कृतिक सन्दर्भों को समझना एक अनिवार्य कदम है। क्योंकि युगीन सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक पृष्ठभूमियों को विश्लेषित किये बिना उस युग विशेष के उपन्यास-साहित्य को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता। अतः अगले अध्याय में हम विवेच्यकालीन सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सन्दर्भों का विवेचन प्रस्तुत करके विवेच्यकालीन सांस्कृतिक दृष्टिकोण निर्धारित करने का प्रयास करेंगे जिससे उनके आधार पर विवेच्यकालीन उपन्यास-साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सके और इस प्रकार उपन्यासकारों के सांस्कृतिक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया जा सके।

⊙ ⊙ ⊙

अध्याय—२

आधुनिक भारतीय सांस्कृतिक चेतना और उपन्यास-साहित्य

पिछले अध्याय में हम संस्कृति तथा सभ्यता के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन कर चुके हैं, साथ ही यह भी संकेतित कर चुके हैं कि साहित्य का संस्कृति से अनिवार्यतः सम्बन्ध होता है। अतः यह आवश्यक है कि किसी भी युग के साहित्य को समझने के लिए उस युग की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को आत्मसात् किया जाय। हिन्दी उपन्यास का अध्ययन भी इस बात का अपवाद नहीं, उसके अध्ययन के लिए तो यह प्रक्रिया और भी आवश्यक है, क्योंकि हम देख चुके हैं कि उपन्यास-साहित्य का सम्बन्ध जीवन तथा संस्कृति से अन्य साहित्य-विधाओं की अपेक्षा कहीं अधिक होता है। अतः उपन्यासों के अध्ययन के पूर्व हम विवेच्यकालीन सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक पृष्ठभूमि पर विस्तार से प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

वस्तुतः विवेच्यकालीन सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण अथवा १९वीं शताब्दी के पुनरुत्थान को समझना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि यहीं से भारतीय सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक क्षितिज पर आधुनिक चेतना का प्रकाश तथा क्रांतिकारी परिवर्तन की रेखाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। अतः १९वीं शताब्दी को भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

उन्नीसवीं शताब्दी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना और उसका सुदृढ़ होना है। यह इतिहास सर्वविदित है। उसकी पुनरावृत्ति की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु अंग्रेजी राज्य की स्थापना ने भारत में दो ऐसी नवीन शक्तियों का जन्म दिया, जिन्होंने भारतीय जीवन और फलतः संस्कृति को उसके मध्य-युगीन रूप से एक नितान्त भिन्न रूप प्रदान किया। ये दो शक्तियाँ थीं—नवीन शिक्षा और नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों का भारत में प्रचार।

नवीन शिक्षा

उच्च शिक्षा भारत में पहले भी थी और मुसलमानों के समय में पंडितों और मौलवियों के माध्यम से उसका विकास होता रहा, लेकिन शिक्षा का यह रूप पूर्णतः धार्मिक हो गया था। वह परम्परागत धार्मिक विषयों के अध्ययन तक ही सीमित थी।

फिर अठारहवीं शताब्दी की उथल-पुथल और अंग्रेज़ी राज्य के प्रारम्भिक दिनों में शिक्षा के ये धार्मिक संगठन लगभग समाप्त होने लगे थे। लेकिन शिक्षा के प्रति सम्मान भावना इस समय भी लोगों में कायम थी, जब कि उस समय की शिक्षा समयोचित तथा उपयोगी नहीं रह गई थी। अत: उसमें परिवर्तन अपेक्षित और आवश्यक जान पड़ रहा था। पश्चिम के सम्पर्क से देश में दिनों-दिन नये-नये परिवर्तन उपस्थित हो रहे थे, ज्ञान-विज्ञान की नई-नई बातों का प्रचार बढ़ रहा था। ऐसी दशा में शिक्षा के परम्परागत धार्मिक रूप से अब काम नहीं चल सकता था। अब तो ऐसी शिक्षा की आवश्यकता थी जो युग की समवेदना के साथ लोगों को जोड़ सके और ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन-अध्यापन का माध्यम बन सके। इसके लिए जनता के हित-चिन्तकों ने प्रयास किया और फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में ही ईसाई मिशनरियों, डेविड हेअर (१८१६), स्टुअर्ट एलफिस्टन (१८२४), एलैक्जेंडर डफ़ (१८३०) और राजा राममोहन राय जैसे प्रगतिशील भारतवासियों के व्यक्तिगत प्रयत्नों के फलस्वरूप अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार प्रारम्भ हुआ।[1]' इस देश में उस समय धार्मिक और सामाजिक कुप्रथाओं का इतना अधिक बोलबाला था कि उन्हें समाप्त करके लोगों को स्वस्थ सामाजिक जीवन प्रदान करने के लिए यह नितान्त आवश्यक था कि तत्कालीन शिक्षा में परिवर्तन लाया जाय, जिससे समाज की नई रचना सम्भव हो सके। इसी बात को, साथ ही अपने स्वार्थ को, ध्यान में रखते हुए ईसाई मिशनरियों ने अंग्रेजी शिक्षा का कार्यक्रम प्रारम्भ किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि तत्कालीन समाज-सुधारक, आधुनिक भारत के आदिगुरु राजा राममोहन राय पहले भारतीय थे, जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा की आवश्यकता महसूस की और उसके व्यापक प्रचार-प्रसार पर ध्यान दिया। राजा राममोहन राय प्रगतिशील चेतना के व्यक्ति थे। वे यह चाहते थे कि पाश्चात्य शिक्षा का व्यापक प्रचार करके प्राचीन घिसी-पिटी शिक्षा-पद्धति में आवश्यक सुधार लाकर उसे पुनर्जीवन प्रदान किया जाय। उन्हें विश्वास था कि जब तक शिक्षा की दिशा में देश पिछड़ा रहेगा, तब तक वह सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में अपनी यथेष्ट उन्नति नहीं कर सकेगा। इसीलिए राजा साहब अंग्रेजी शिक्षा के प्रबल हिमायती बन गए थे जिससे कि भारत ज्ञान-विज्ञान की दिशा में विश्व के देशों से पीछे न पड़ने पाए और वह नई शिक्षा-पद्धति के कार्यान्वयन द्वारा ही सम्भव हो सकता था।

अंग्रेजी शिक्षा-प्रचार अभियान में ईसाई मिशनरियों का उत्साह यूँ ही नहीं

---

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—आ० हि० सा० सं० प० संस्करण : भारतीय हिन्दी परिषद, पृ० ८३।

अधिक था, वे ईसाई धर्म का भी प्रचार करना चाहते थे, जो भारत जैसे धर्मभीरु देश में, वैचारिक परिवर्तन के अभाव में सम्भव ही नहीं था। इसलिए नई शिक्षा के माध्यम से मिशनरियों ने वैचारिक परिवर्तन की बात पर विशेष बल दिया। उन्होंने यह बताने का भरपूर प्रयत्न किया कि भारत में नाना धर्म तथा नाना जातियाँ अनेकों धार्मिक अन्धविश्वासों तथा कुप्रथाओं की शिकार बनी हुई हैं। अगर ये ईसाई धर्म को अपना लें तो इनका सारा दु:ख-दर्द समाप्त हो जाय और इनकी सामाजिक दशा सुधर जाय। निश्चय ही मिशनरियों का दृष्टिकोण नि:स्वार्थ रूप से भारत में नई शिक्षा का प्रचार करना नहीं कहा जा सकता, फिर भी शिक्षा सम्बन्धी उनके कार्यों को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा, जिसके चलते देश में नवजागृति की लहर फैली और सारा देश आन्दोलित हो उठा।

कम्पनी सरकार का ध्यान बहुत दिनों तक अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार की ओर नहीं गया, कारण कि वह इसे भारतीय जनता पर अथवा भारतीय संस्कृति एवं धार्मिक रूढ़ियों पर कुठाराघात-सा समझती थी। लेकिन कम्पनी का शासन जैसे-जैसे विस्तार पाता गया और जटिल बनता गया, वैसे-वैसे उसे सरकारी दफ़तरों में काम करने के लिए अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों की आवश्यकता महसूस होने लगी। देश में जितने दफ़तर थे उन सब में काम करने के लिए कम्पनी सरकार अंग्रेजों को तो इंगलैण्ड से बुला नहीं सकती थी, वैसे भी बहुत से अंग्रेज अफसर तैनात थे, लेकिन सब काम तो वही नहीं कर सकते थे। इसलिए शासन को मजबूत बनाने की दृष्टि से १८३३ में सरकार ने अपनी शिक्षा-सम्बन्धी नीतियों में तबदीली की। मैकाले की मिनिट्स के अनुसार उसने अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार का कार्य हाथ में लिया। १८३५ में गवर्नमेंट का प्रस्ताव प्रकाशित हुआ। १८४४ में हार्डिंज का घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ कि सरकारी नौकरियाँ अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को ही दी जायें। इससे अंग्रेजी के प्रचार में बहुत बड़ी सफलता मिली।[1] यह बड़े ही महत्व की घोषणा थी, क्योंकि इसी के कारण भारत का मानसिक कायाकल्प हुआ। प्रत्येक जिले में एक-एक अंग्रेजी स्कूल खोले जाने का काम प्रारम्भ हो गया और उनकी देखा-देखी और भी बहुत से स्कूल खुलने लगे। कहते हैं, यह ज्ञान की अपूर्व जागृति का समय था। हिन्दू कालेज से निकले हुए नौजवान जगह-जगह स्कूल खोलकर लोगों को अंग्रेजी पढ़ाने का कार्य करने लगे और प्रत्येक अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्ति को सरकारी नौकरी से मिलने वाली सुविधाओं और प्रतिष्ठा का उपभोग करते देखकर बहुत से छात्र अंग्रेजी शिक्षा की ओर दौड़

---

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य, सं० प० संस्करण भारतीय हिन्दी परिषद्, पृ० ८३।

पड़े । अंग्रेजी शिक्षा सहसा इतनी लोकप्रिय हो उठी कि उत्सुक छात्रों के लिए स्कूलों और पुस्तकों का प्रबन्ध करना सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं के लिए लगभग असम्भव हो गया ।

सन् १८३५ के बाद अंग्रेजी शिक्षा का जोर और बढ़ने लगा तथा जनता के उत्साह को देखकर सरकार भी शिक्षा विषयक-व्यय में वृद्धि करने लगी, यद्यपि अन्दर-ही-अन्दर उसे मालूम था कि शिक्षा की जो व्यवस्था वह चला रही है उसका फायदा सिर्फ उच्च वर्ग वालों को ही प्राप्त हो सकता है । निम्नवर्ग अथवा मध्यम वर्ग के लिए सरकार ने कोई उत्सुकता नहीं दिखाई, वह मानती थी कि जब समाज का उच्च वर्ग शिक्षित हो जायगा तो वह देशी भाषाओं के माध्यम से मध्य तथा निम्नवर्ग को भी ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देकर उन्हें शिक्षित बना देगा । लेकिन यह सिर्फ़ अनुमान बनकर ही रह गया, प्रत्यक्षतः ऐसा हो नहीं पाया । हाँ, १६१६ के व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन के बाद पढ़े-लिखे लोग गाँवों में आम जनता के पास जाने लगे, तब थोड़ा-बहुत लाभ इससे अवश्य हुआ, लेकिन यह असमय की बात थी, इसे नहीं भुलाया जा सकता ।

जिस वर्ष भारत में सिपाही-विद्रोह हुआ उससे पहले भी देश के विभिन्न भागों में नवीन शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित हो चुकी थीं । ऐसी संस्थाओं में क्वींस कालेज बनारस और आगरा तथा बरेली कालेजों का नाम मुख्यतः लिया जा सकता है । इन संस्थाओं में भारतवासी नवीन शिक्षा प्राप्त करने लगे थे । हिन्दी में उनकी पाठ्य-पुस्तकों का भी निर्माण हो चुका था ।[1] विद्रोह के समाप्त होते-होते मद्रास और बम्बई में विश्व-विद्यालयों की स्थापना हुई । आगे चलकर सन् १८८२ में लाहौर में पंजाब विश्व-विद्यालय का श्रीगणेश हुआ और सन् १८८७ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हुई । फिर तो देश में स्कूल और कालेज खोलने की होड़-सी मच गई । यहाँ तक कि सन् १८८२ ई० में संस्थाओं में अंग्रेजी पढ़ने वाले भारतीय नवयुवकों की संख्या २०-२५ लाख तक पहुँच गई ।[2] यह संख्या महारानी विक्टोरिया के शासनकाल के अन्तिम वर्ष (१६०१) में चालीस लाख तक पहुँच गई थी ।[3] इन सभी शिक्षण संस्थाओं के

---

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, प्र० सं०, हिन्दी परिषद, पृ० ४२७-४३१ ।

२. दिनकर—संस्कृति के चार अध्याय, चतुर्थ संकरण, पृ० ५०३, ११६६ ई० ।

३. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य, सं० प०, संस्करण, भारतीय हिन्दी परिषद, पृ० ८३ ।

माध्यम से भारत में पाश्चात्य शिक्षा तथा पश्चिमी विचारधारा का बहुत अधिक प्रचार हुआ।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार में ईसाई मिशनरियों के उत्साह और सरकारी नीतियों को लेकर कई अनुमान लगाये गए हैं। विचारकों का एक अनुमान तो यह है कि ईसाई मिशनरियाँ भारतीयों के बीच अपने ढंग की शिक्षा पद्धति चलाकर इस देश को क्रिस्तान बनाना चाहती थीं। आदिम जातियों के बीच उनका प्रवेश शिक्षा के माध्यम से हुआ था और शिक्षा के सहारे ही उन्होंने इन जातियों के लोगों को अपने धर्म में दीक्षित भी किया था। कुछ उच्चवंशीय बंगाली हिन्दू भी शिक्षा के इस जाल में खिसकते-खिसकते क्रिश्चियन बन गये थे। इस प्रकार धर्म प्रचारकों को बहुत बड़ी आशा थी कि शिक्षा के माध्यम से ही वे सारे हिन्दू समाज को ईसाई बनाने में समर्थ हो जायेंगे। दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह कही जाती है कि अंग्रेजी शिक्षा भारत में इसलिए चलाई गई थी कि यहाँ के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग तन से भारतीय और मन से अंग्रेज हो जायँ, जिससे अंग्रेजों का विरोध करने की उनकी इच्छा ही कभी न हो। ये दोनों बातें अंशतः ठीक सिद्ध होती हुई भी पूर्णतः सत्य सिद्ध नहीं हो सकीं। घुणाक्षर न्याय के अनुसार हम कह सकते हैं कि नवीन शिक्षा में अनेक दोष रहते हुए भी उससे भारतीय जीवन अनेक अर्थों में लाभान्वित हुआ। अंग्रेजी शिक्षा के कारण ही लोगों में राष्ट्रीयता का उत्साह जाग्रत हुआ, जिससे भारतवासी अपने अधिकारों की माँग कर सके। अंग्रेजी भाषा और भारत में चलने वाले अंग्रेजी शासन में कभी सामंजस्य उपस्थित नहीं हुआ। अंग्रेजी के माध्यम से छात्रों को वे विचार पढ़ाये जाते थे, जो स्वतन्त्रता के विचार थे, जो क्रान्ति के विचार थे। इन विचारों से प्रेरित होकर भारतीय अपने मस्तक को ऊपर उठाना चाहते थे।

कहना नहीं होगा, कि इस प्रकार उच्च अंग्रेजी शिक्षा के परिणामस्वरूप भारत का शिक्षित वर्ग यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान का महत्व समझने लगा था। देश में कभी संस्कृत की शिक्षा दी जाती थी, लेकिन अब उसका ह्रास हो चुका था। यहाँ तक कि प्राचीन भारतीय शास्त्रों की खोज भी अब बिना यूरोपीय विद्वानों का सहारा लिए सम्भव नहीं थी। मैक्समूलर के कार्यों ने भारत की प्राचीन गरिमा की अभूतपूर्व श्रीवृद्धि की। कुछ भारतीय लेखकों ने भी प्राचीन भारत के महत्व को उद्घाटित, व्याख्यायित तथा विश्लेषित किया, जिससे राष्ट्र का गौरव और बढ़ा। अंग्रेजी का ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में एकछत्र राज्य स्थापित हो गया। यहाँ तक कि उर्दू-फ़ारसी के स्थान पर भी अब अंग्रेजी की शिक्षा दी जाने लगी। कुछ लोग तो ऐसे भी मौजूद थे, जो प्राचीन ज्ञान तथा पुरानी शिक्षा-पद्धति को रद्दी समझते थे, लेकिन इसकी वजह उनकी जानकारी का अभाव ही अधिक था, असहमति कम। एक बात इस संदर्भ में सदैव स्मरण रखने की

है कि नवीन शिक्षा और नवजागरण के इस परिप्रेक्ष्य में एक बहुत ही महत्वपूर्ण तत्व के रूप में भारत का अतीतोद्धार भी सहायक हुआ, जिसके फलस्वरूप भारतवासियों में आत्म-गौरव की भावना प्रबल हुई और वे भी अपने को किसी उच्चतर सभ्यता और संस्कृति के वंशज कहने का हक प्राप्त कर सके।

१९वीं शताब्दी में भी जो सांस्कृतिक क्रान्ति हुई उसकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि वह अपने में ही विकास की गति पाकर विदेशी संस्कृति के आक्रमण तथा प्रचार से परिवर्तित हुई। यह परिवर्तन अपनी स्वाभाविक गति से न होकर आकस्मिक रूप से हुआ तथा उसने संघर्ष और अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर दी। बात यह थी कि इस परिवर्तन के मूल में दो परस्पर विरोधी संस्कृतियों का सम्पर्क मुख्य कारण के रूप में वर्तमान था और यह बात किसी से अब छिपी नहीं रही है कि जब दो परस्पर विरोधी संस्कृतियों का मिलन होता है तो वे एक दूसरी को किस तरह हस्तगत करने का प्रयास करती हैं। ऐसी दशा में संघर्ष और अराजक स्थितियों का उत्पन्न होना सामान्य बात है। और विशेषत: ऐसी दशा में, जब विदेशी संस्कृति का प्रचार एक ऐसे देश में किया जाय, जिसकी प्राचीन संस्कृति श्रेष्ठ रह चुकी हो, तो संघर्ष की भूमिका काफी गम्भीर रूप ले सकती है। दूसरी बात यह कि राजनीतिक शक्ति प्राप्त वर्ग के प्रति राजनीतिक रूप से कमजोर लोगों का आकर्षण स्वाभाविक होता है। प्रसिद्ध समाज-शास्त्री हर्सकोविट्स इस सम्बन्ध में कहते हैं कि—"राजनीतिक तथा सामाजिक शक्ति-शाली वर्ग की संस्कृति के प्रति अन्य वर्गों का प्रतिष्ठा भाव रहता है तथा उनके रीति-रिवाज शीघ्र प्रचलित हो जाते हैं।[1] इन दो कारणों से दो अतिवादी दृष्टिकोणों की सृष्टि हुई। एक ओर शिक्षित मध्यम वर्ग, जो शासन प्रणाली में नौकरी पाना ही जीवन की बड़ी सफलता मानता था और अंग्रेज अफ़सर ही जिसका सांस्कृतिक प्रतीक था, यूरोपीय विचार-धारा तथा शिक्षा का पुजारी ही नहीं, बल्कि यूरोपीय रहन-सहन तथा जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण को भी आदर्श मानने लगा था। मैकाले का उद्देश्य अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के पीछे ऐसे ही भारतीयों का निर्माण करना था, जिसकी चर्चा हम पहले कर आये हैं। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा कि हमें ऐसे वर्ग का निर्माण करना चाहिये जो अंग्रेज शासकों तथा शासितों के बीच माध्यम का काम करे। जिसका रक्त और रंग भारतीय हो लेकिन जिसकी अभिरुचि, विचार, नैतिकता तथा बुद्धि अंग्रेजी हो।[2]

---

१. एम० जे० हर्सकोविट्स : 'मैन एण्ड हिज वर्क्स' प्रथम संस्करण (अल्फ्रेड ए० नाफ, १९४९), पृष्ठ ३३

२. डी० पी० मुकर्जी द्वारा माडर्न इण्डियन कल्चर' नामक पुस्तक में उद्धृत उद्धरण :
"We must at present do our best to form a class who may

मैकाले की नज़र में भारतीय संस्कृति बहुत ही हेय और तुच्छ थी। इसकी जगह वह भारत में भी यूरोपीय संस्कृति को स्थापित देखना चाहता था। इसके साथ ही तत्कालीन अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों के लिये भी यूरोपीय संस्कृति का आकर्षण कोई कम नहीं था। अत: इन नव शिक्षितों का ध्यान उधर विशेषत: गया और वे भी भारतीय प्राचीन संस्कृति को अवांछनीय मानने के समर्थन में आ गये। इन नवशिक्षितों ने यूरोपीय रहन-सहन में अपने को ढालना प्रारम्भ कर दिया और मैकाले की मनोकामना बहुत हद तक पूर्ण होती दीख पड़ने लगी। लेकिन साधारण जनता अभी भी अपनी पुरानी रफ़्तार से ही चलती जा रही थी। उसके पास तक अभी यूरोपीय संस्कृति की चकाचौंध नहीं पहुँच पाई थी। परिणाम यह हुआ कि भारतीय जीवन में एक भयंकर खाई बनती गई जिसके एक किनारे पर अँग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों का जत्था था तो दूसरे किनारे पर गाँवों की अपार भोली-भाली ग्रामीण जनता; जो परम्पराप्रिय थी और जिसमें हठात् कोई परिवर्तन लाना सम्भव नहीं था। वैसे भी यदि यूरोपीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रभाव साधारण जनता तक पहुँच गया होता तो स्थिति कुछ और ही होती।

सच पूछा जाय तो इन नवशिक्षित लोगों में भी वैचारिक दृढ़ता का अभाव ही बहुत दिनों तक दिखाई पड़ता रहा। वे शिक्षा तो नई लेते रहे लेकिन उनके घरों तथा परिवारों का वातावरण पुरानी चाल का ही बना रहा, जिसकी वजह से उस जमाने के बहुत से पढ़े-लिखे लोगों में यह विरोधाभास देखने को मिल जायगा कि वे पढ़ते तो वे मिल्टन, मिल आदि को थे और अपने घरों में फिर भी पंडे और पुरोहितों तथा मूर्ति पूजा आदि के भक्त बने हुए थे। बौद्धिक स्तर पर हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के तत्कालीन रूप में आस्था समाप्त हो जाने के बावजूद उनका सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन उसी से संचालित होता था। इस प्रकार एक विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था जिसे सरकार भी दूर कर सकने में अक्षम प्रतीत हुई। फिर भी यह तो मानना पड़ेगा कि यह सब सांस्कृतिक संक्रमण के कारण ही हुआ। अत: संक्रान्ति कालीन अनेक दोष उस समय उत्पन्न हो गए हों तो इसमें भला किसी को क्या आश्चर्य हो सकता है।

नवशिक्षा प्राप्त भारतवासियों के विचारों ने १९वीं शताब्दी के नवजागरण के लिए लोगों को प्रेरणा प्रदान की। लेकिन जिन भारतीयों पर अंग्रेजियत का नशा बुरी तरह हावी था उनसे इनकी स्थिति काफ़ी अलग देखी जा सकती है। क्योंकि जहाँ

---

be interpreters between us and the millions whom we govern, a class of persons Indian in blood and colour but English in tastes, opinions, morals and intelect."

अंग्रेज़ियत के रहनुमा भारतीय रहन-सहन तथा भारतीय तौर-तरीकों खान-पानों और वेश-भूषों को बेढंगा, दकियानूस और फूहड़ समझने लगे थे, वहाँ भारतीय राष्ट्रीयता तथा प्राचीन भारत पर गर्व करने वाले विचारक अंग्रेजी सभ्यता को ग्रहण कर लेने के बावजूद प्राचीन भारत में श्रद्धा और आदर कायम रखे हुए थे। प्रश्न उठ सकता है कि फिर इन लोगों ने अंग्रेजी सभ्यता क्यों ग्रहण की थी ? इसके उत्तर में हम यही कह सकते हैं कि तत्कालीन परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थीं कि जो लोग नई चाल-ढाल में नहीं आते थे, उनको सामाजिक गौरव नहीं प्राप्त होता था। क्योंकि यह तो निश्चित ही है कि उस समय अंग्रेजों को, चाहे राजनीतिक भय से ही, आदर और सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था और उनकी वेश-भूषा तथा खान-पान और रहन-सहन के तरीकों को भी लोग साहबी ठाट की संज्ञा से विभूषित करते थे। अत: स्वाभाविक था कि जिन भारतीयों को अंग्रेजों की तरह की प्रतिष्ठा समाज में पानी होती थी, उनके लिए अंग्रेज़ी ठाट-बाट में रहना एक तरह से आवश्यक समझा जाता था। इसीलिए तत्कालीन समाज में बड़े-बड़े देशभक्तों तथा राष्ट्रवादियों को भी अंग्रेज़ी लिबास में हम पाते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध तक आते-आते भारतीय अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे बुद्धि-जीवियों के तीन मुख्य वर्ग बन गए—एक वह वर्ग, जो भारतीय प्राचीन धर्म, समाज और सभ्यता तथा संस्कृति को पिछड़ी हुई, दकियानूस और घिसी-पिटी मानता था और यूरोपीय सभ्यता तथा संस्कृति की संसार की श्रेष्ठ संस्कृति के रूप में उपासना में तल्लीन था। दूसरा वर्ग वह था जो यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान को नफ़रत की नजर से देखता था और यूरोपियनों को धर्मच्युत जाति मानकर अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता लादने की कोशिश करता था। इस वर्ग के विचारकों के अनुसार अंग्रेजी राक्षसी भाषा थी जिसके पढ़ने से भारतीय नवयुवक आसानी से धर्मभ्रष्ट हो सकते थे। इस वर्ग का कहना था कि भारत को विदेशों से कुछ भी सीखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दुनिया भर की ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी बातों का उल्लेख तो उनके प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों तथा वेदों में ही उपलब्ध हैं। इसलिए आवश्यकता वेदों के अध्ययन-अध्यापन की है, न कि अंग्रेज़ी की खिड़की से पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान का वायुसेवन करने की। स्वामी दयानन्द सरस्वती का नाम इस वर्ग के विचारकों में उल्लेखनीय है, जिन्होंने पाश्चात्य संस्कृति के अन्धानुयायियों को मुँहतोड़ जवाब दिया। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि स्वामी जी का यह दृष्टिकोण पाश्चात्य सभ्यता के अन्धभक्तों की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था, लेकिन इससे भारतीय प्राचीन गरिमा की बहुत हद तक रक्षा भी हुई। ऐसे समय में जब कि चारों तरफ पाश्चात्य संस्कृति अपना जाल फैला चुकी थी, भारत की प्राचीन संस्कृति को जिलाए रखने की दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती का यह कार्य

अनायास ही ऐतिहासिक महत्त्व का बन जाता है। यद्यपि यह भी भुलाया नहीं जा सकता कि इससे एक दुष्परिणाम यह निकला कि पाश्चात्य संस्कृति के सभी पहलुओं को लोग अवांछनीय मानने लगे, जब कि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं थी।

इन दो अतिवादी विचारधाराओं के अतिरिक्त एक तीसरी विचारधारा भी धीरे-धीरे अपना मंच तैयार करने में लगी थी। यह विचारधारा दोनों विचारधाराओं के परस्पर सामंजस्य एवं सन्तुलन पर आधारित थी, जो निश्चय ही स्वस्थ और समीचीन कही जा सकती है। इस वर्ग के विचारकों का मत यह था कि पाश्चात्य तथा भारतीय दोनों संस्कृतियों के प्रति अंधभक्ति का त्याग कर युग के अनुसार उपयोगी तत्वों को; चाहे वे जिस संस्कृति के हों, स्वीकार किया जाय। वस्तुतः यह चुनाव-प्रक्रिया ही आधुनिक भारतीय संस्कृति की रीढ़ है और इसी से उसका निर्माण हुआ है। यह चुनाव-पद्धति निश्चय ही पाश्चात्य संस्कृति के ग्रहणीय तत्त्वों को अपनाने के लिये ही ग्रहण की गई थी। इस प्रकार यूरोपीय संस्कृति के उपयोगी तत्त्वों को ग्रहण करके भारतीय संस्कृति से उनका सामंजस्य बिठाने का प्रयत्न हुआ। इस नवीन पद्धति से भारतीय तथा पाश्चात्य संस्कृति के बहुत से ऐसे तत्त्व, जो मानव की बुनियादी जिन्दगी के लिये अनावश्यक और उपयोगी थे, आपस में घुल-मिल गए और दोनों के मेल से एक ऐसी मिली-जुली संस्कृति का विकास हुआ, जो मानवता की रक्षा और उसके कल्याण के लिए प्रतिश्रुत समझी गई। कहने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक भारतीय संस्कृति से तात्पर्य इसी नव विकसित संस्कृति से है। वस्तुतः जब तक संस्कृतियों का परस्पर आदान-प्रादान नहीं होता तब तक कोई नई संस्कृति नहीं उत्पन्न होती। रूथ बेनेडिक्ट ने भी कई संस्कृतियों से उपयोगी तथा आवश्यक तत्त्वों के चुनाव के द्वारा नई संस्कृति के निर्माण की बात स्वीकार की है[1]। राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी विवेकानन्द तथा रानाडे आदि सभी मनीषियों ने किसी भी संस्कृति को समग्र रूप से नहीं लिया। वरन् दोनों से उपयोगी तत्त्वों का चयन ही इनका भी लक्ष्य था। परस्पर आदान-प्रदान की यह पद्धति कोई पहली बार ही नहीं ग्रहण

---

१. रूथ बेनेडिक्ट, 'पैटर्न आफ कल्चर', १९५३, पृ० २१९।

—"Selection is the first requirement, without selection, no culture could even achieve intelligibilty and the intentions it selects and makes its own are a much more important matter than the particular details of technology or the marriage, formality that it also selects in similar fashion."

की गई थी। ऐसा अनेकों बार हो चुका था। दूसरी जातियों की बहुत सी बातें भारतीय संस्कृति इसके पहले भी पचा चुकी थी। सच तो यह है कि भारतीय संस्कृति का निर्माण ही इसी प्रक्रिया द्वारा हुआ था।

सारांश यह कि आधुनिक भारत के नव-निर्माणकर्ताओं को एक साथ दो ओर से संघर्ष लेना पड़ा। एक तो उन्हें पुराणपंथी तथा रूढ़िवादी विचारों से संघर्ष लेना पड़ा, जिसकी भावधारा सामाजिक सुधार-आन्दोलनों में प्रतिफलित हुई और दूसरे उन्हें पाश्चात्य संस्कृति के बढ़ते हुए प्रभावों से भी जूझना पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप हमें राष्ट्रीय जागरण तथा स्वाधीनता आन्दोलन के दर्शन हुये। यह सामाजिक तथा राजनीतिक—दोनों जागरण नवीन सांस्कृतिक जागरण के ही दो पहलू थे। समाज पर रूढ़िवादी लोगों का अधिकार था तथा शासन-सूत्र अंग्रेज़ों के हाथ में था। अतः सांस्कृतिक विकास के लिये यह आवश्यक था कि इन दोनों नियन्त्रणों को समाप्त किया जाय।

उन्नीसवीं शताब्दी के भारत की धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में शोचनीय स्थिति थी तथा परम्परा, रीति रिवाज तथा धर्म के नाम पर अनेकों बुराइयाँ समाज में फैली हुई थीं। समाज में, विशेषतः नारी का स्थान मानवीय भूमि पर न होकर उपभोग्य सामग्री के रूप में होना बहुत ही शर्मनाक बात थी। मनु की दुहाई देकर तत्कालीन समाज जीवन भर पिता, पति तथा पुत्र के रूप में नारी को अपने संरक्षण में रखता था वह पुरुष की दासी समझी जाती थी, माँ-बाप के लिये लड़की का जन्म दुःख तथा अभाग्य का प्रतीक समझा जाता था, अतः कहीं भी उसके जन्म पर कोई उत्सव नहीं मनाया जाता था। विधवा होने पर उसे पति की चिता पर जलकर अपने सतीत्व की परीक्षा देनी पड़ती थी और समाज आत्महत्या के इस सार्वजनिक समारोह में बड़े उत्साह तथा गौरव के साथ भाग लेता था। नारी को समाज की सदस्या भी नहीं माना जाता था। पिता, पति तथा पुत्र समाज में उसका प्रतिनिधित्व करता था। वर्ण व्यवस्था के महान आदर्शों के अनुसार अपने समाज का ही दूसरा सदस्य छूने योग्य नहीं समझा जाता था तथा उसकी छाया से भी लोग दूर रहने की कोशिश करते थे। खान-पान तथा शादी-ब्याह के नियम इतने कठोर थे कि प्रत्येक परिवार तथा उपजातियाँ दूसरे से बिलकुल अलग-अलग थीं। इसीलिए धार्मिक क्षेत्र में बहुदेवोपासना का भी प्रचलन हुआ, क्योंकि सभी उपजातियों के इष्टदेवता अपने अलग-अलग अस्तित्व वाले थे। साथ ही उनकी उपासना-पद्धतियाँ भी उन्हीं की तरह अलग-अलग मानी जाती थीं। धार्मिक अन्धविश्वासों का बोलबाला था और जो जाति इस दृष्टि से जितना ही आगे थी, उसे धार्मिक दृष्टि से उतनी ही उच्चता प्राप्त थी। ऐसी दशा में लोगों का स्वतन्त्र जीवन बिताना भी दूभर हो गया था, क्योंकि समाज उन्हें प्रत्येक क्षेत्र में

इस बात के लिये मजबूर कर देता था कि वे परम्परित रूढ़ियों का पालन करें ही। ऐसी बात नहीं कि लोग इस स्थिति से मुक्त नहीं होना चाहते थे, लेकिन रूढ़िवादी तत्त्व इतने शक्तिशाली थे कि उनके आगे इन परिवर्तनवादियों की एक नहीं चल सकती थी।

ऐसी ही उथल-पुथल और अराजकतापूर्ण स्थिति में ईसाई मिशनरियों के माध्यम से ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि ईसाई धर्म के प्रचार के लिये यह परिस्थिति सर्वोत्तम थी, क्योंकि परिवर्तनवादियों के लिए रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से अपने को मुक्त करने का इससे उचित अवसर दूसरा नहीं मिल सकता था। मिशनरियों ने धर्म के प्रचार के साथ-साथ समाज सेवा तथा नवीन सामाजिक विचारों का प्रचार भी किया, जो भारतीयों के लिये मुक्ति मार्ग की तरह का था। लेकिन यह धर्म में परिवर्तन द्वारा ही सम्भव था। अत: अनेकों हिन्दू ईसाई धर्म में दीक्षित होने लगे जहाँ उन्हें सामाजिक स्वतन्त्रता उपलब्ध थी। जाहिर है कि इन लोगों के आकर्षण का केन्द्र ईसाई धर्म नहीं था, बल्कि ईसाइयों के सामाजिक तथा धार्मिक स्वच्छन्द विचार थे जिनकी प्रेरणा से उन्होंने अपने धर्म तक का परिवर्तन कर डाला। ईसाई समाज में धार्मिक स्वतन्त्रता भले न हो लेकिन सामाजिक स्वतन्त्रता अवश्य होती है, जब कि हिन्दू समाज में ठीक इसके विपरीत, लोगों को धार्मिक चिन्तन मनन तथा उपासना की स्वतन्त्रता तो दी जाती है, पर समाज में मनुष्य का अस्तित्व निरपेक्ष नहीं माना जाता। हिन्दू इसी सामाजिक स्वतन्त्रता के प्रति सबसे अधिक आकर्षित हुए थे, क्योंकि उनके धर्म में यह उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती थी। यही कारण है कि मिशनरियों के बहुत प्रयत्न के बावजूद भी इस धर्म परिवर्तन ने कभी सामूहिक रूप नहीं लिया, क्योंकि धार्मिक दृष्टि से वे हिन्दू धर्म से बहुत अधिक असन्तुष्ट नहीं थे। उनकी असन्तुष्टि सिर्फ़ सामाजिक परिस्थितियों से थी, इसीलिये जो लोग हिन्दू समाज की कठोरता से क्षुब्ध थे, सबसे पहले उन्होंने ही ईसाई धर्म को ग्रहण किया। इस तरह से चाहे थोड़े अंशों में ही सही, हिन्दुओं को ईसाई बनाने का यह कार्यक्रम मिशनरियों के कार्य का एक प्रमुख अंग बन गया। ईसाई बनने का अर्थ था यूरोपीय आचार विचार को समग्र रूप से स्वीकार करना तथा भारतीय समाज और संस्कृति से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेना। ऐसी दशा में जितने लोगों ने हिन्दू धर्म को त्याग कर ईसाई धर्म को अपनाया, उन सबों ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति की खुले शब्दों में भर्त्सना की। यह देखकर भारतीय संस्कृति में रुचि रखने वाले तथा स्वाभिमानी हिन्दुओं का ध्यान अपने समाज, संस्कृति तथा धर्म की ओर गया। इसी प्रतिक्रिया का परिणाम था उन्नीसवीं शताब्दी का व्यापक सुधार आन्दोलन, जिसकी व्याप्ति न केवल धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों तक ही सीमित थी, बल्कि उसका क्षेत्र सभ्यता और

संस्कृति के क्षेत्रों के साथ ही राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों तक भी फैला हुआ था। इन सभी सुधार आन्दोलनों का लक्ष्य संक्षेप में धर्म तथा समाज और संस्कृति को समय के सन्दर्भ में पुनर्व्याख्यायित करके सामाजिक जीवन के साथ उनकी उचित संगति बैठाते हुए उन्हें पुनर्प्रतिष्ठित करना, विश्रृंखलित सामाजिक जीवन को एक नया सुगठित रूप देना और इस प्रकार आधुनिक भारत का नवनिर्माण करना था।

नवीन आधुनिक शिक्षा के अतिरिक्त अंग्रेज़ी शासनकाल के प्रारम्भ में देश का नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ भी सम्पर्क स्थापित हुआ, जिससे न केवल देश में राजनीतिक एकता स्थापित हुई और जागृति उत्पन्न हुई, वरन् उससे देश अपनी संकीर्ण परिधि से बाहर किकल कर बाहरी दुनिया से सम्पर्क स्थापित करने में भी सफल हुआ। और साथ ही अनेक सुधारवादी आन्दोलनों का जन्म हुआ। देश में जो मध्ययुगीन पौराणिक दृष्टिकोण था, उसे वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण प्रबल आघात पहुँचा। बाहर की दुनिया के इस सम्पर्क से आधुनिक भारत का नवनिर्माण भी सम्भव हो सका। रेलों के कारण भारत आर्थिक दृष्टि से एक इकाई बन गया। इस एकता के गठबन्धन में रेलों के अतिरिक्त सैनिक संगठन, सड़कों, तार, प्रेस, डाक विभाग आदि ने भी महत्वपूर्ण योग दिया साथ ही औद्योगिक तथा वैज्ञानिक उन्नति के क्षेत्र में देश को आगे बढ़ाया। इन वैदेशिक सम्बन्धों में इंग्लैण्ड के साथ का सम्बन्ध विशेष उल्लेख-नीय है, क्योंकि इसी के माध्यम से पश्चिमी प्रभाव भारत में आये जिनसे कि भारत के लोगों में नवजागरण की लहर उठी। यातायात के इन सम्बन्धों का देश के साधारण जीवन पर भी बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। लेकिन देश का आत्मगौरव तब तक उभर न सका जब तक कि कम्पनी का शासन समाप्त नहीं हुआ और शासन की बागडोर ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने न सम्हाल ली।

वैज्ञानिक आविष्कार

इस नवजागरण के पीछे छापे की मशीनों का भी योगदान महत्वपूर्ण माना जा सकता है, क्योंकि शिक्षा के प्रचार तथा साहित्यिक उन्नति के साथ प्रेसों का अभिन्न सम्बन्ध रहा है। जैसे-जैसे भारत में प्रेसों का प्रचार बढ़ा, वैसे-वैसे यहाँ की शिक्षा में भी तेजी आती गई। प्रेसों के साथ ही समाचारपत्रों का प्रचलन हुआ जो बाद में किसी भी तरह के आन्दोलनों की सफलता के लिए आवश्यक उपादान प्रमाणित हुए। हेस्टिंग्स और लार्ड कार्नवालिस के समय में बंगाल और मद्रास में कई प्रेसों की स्थापना हुई। इसी समय विलायती अखबारों का आना भी प्रारम्भ हुआ, जिनसे भारतीय अखबारों को उचित प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार पत्रकारिता की कला का भी श्रीगणेश भारतवर्ष में इसी समय हुआ, जिससे आगे चलकर हिन्दी गद्य का विकास हुआ। इस प्रकार

राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में इन अखबारों के माध्यम से वैचारिक एकता स्थापित होने लगी। इस काल में अंग्रेज़ी के साथ-साथ दर्जनों हिन्दी पत्र भी प्रकाशित हुए जिनके माध्यम से विविध क्षेत्रों की उन्नति के साथ-ही-साथ हिन्दी गद्य की भी अभूतपूर्व प्रगति हुई, जिसे हम 'पत्रकारिता की शैली' के नाम से जानते हैं।

आवागमन के इन विविध वैज्ञानिक या यान्त्रिक साधनों के अतिरिक्त अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से भी देश में एकता स्थापित करने में सफलता मिली। अंग्रेज़ों के आने से पूर्व भारत का बुरा हाल था। भारतवासी अपने इतिहास को भूल गये थे, तथा उन्हें अपने देश की भौगोलिक सीमा का भी ज्ञान नहीं था। वैयक्तिकता का विष, जो भारत में बहुत दिनों से चला आ रहा था, इस काल में आकर और भी बढ़ गया। समाज और देश के प्रति भी हमारा कोई कर्तव्य है, इस बात को लोग बिलकुल ही भूल गये थे। इस परिस्थिति में पहले-पहल अंग्रेज़ी शिक्षा के द्वारा ही वह दल आविर्भूत हुआ, जिसका उद्देश्य सामाजिक था, जो केवल अपने को ही नहीं, अपने देश और समाज को भी पहचानने की इच्छा रखता था। समाज और देश के प्रति जो नवीन चेतना जगी, उसी के भीतर से हमारी सारी राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्रान्तियों का जन्म हुआ। सामाजिक चेतना ही वह गुण है जो आज के औसत भारतवासी को प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारतवासी से पृथक् करता है और निश्चय ही यह चेतना भारत को यूरोपीय सम्पर्क तथा अंग्रेज़ी शिक्षा से प्राप्त हुई है। यह ठीक है कि भारतीय जनता को अशिक्षा एवं अन्धविश्वास के चंगुल से छुड़ाने अथवा उसके भीतर प्रगतिशील विचारों को प्रेरित करने का काम अंग्रेज़ी ने नहीं किया था, किन्तु नई शिक्षा के प्रचार से ये कार्य स्वतः ही सिद्ध हो गये। इस नई शिक्षा का एक सुपरिणाम यह भी हुआ कि अंग्रेज़ी के भीतर से यूरोप के तेजपूर्ण विचारों के सम्पर्क में आते-आते शिक्षित भारतवासियों की मानसिक एकता में भी वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त ध्यान देने योग्य एक बात यह भी है कि जब अंग्रेज़ी का प्रचार भारत में बढ़ रहा था, तब यूरोप में स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता, प्रजातंत्र और उदार भावनाओं के ज़ोरदार आन्दोलन चल रहे थे, अठारहवीं सदी में यूरोप में क्रान्तिकारी विचारों के जो नेता उत्पन्न हुये, अनेक हलचलों और क्रान्तियों के बाद उन्नीसवीं सदी में आकर उनके विचारों ने दर्शन का रूप ले लिया और वे यूरोप को आन्दोलित करने लगे। विचारों का यह आन्दोलन सहस्र धाराओं में चल रहा था, एवं कविता, नाटक, उपन्यास, आलोचना, निबन्ध, दर्शन, भाषण और शास्त्रार्थ तथा राजनीतिक दलों एवं सरकारों के संगठनों में से सब-के-सब इन विचारों से ओत-प्रोत हो रहे थे। स्वयं इंगलैण्ड में भी कुछ कानूनी संशोधनों को लेकर घमासान आन्दोलन चलाया जा रहा था। राज्य वही अच्छा है, जिसमें अधिकाधिक

लोगों का हित निहित हो, ये और ऐसे अनेक विचार इंगलैण्ड में भी स्वीकार किए जाने लगे थे। इन सारे विचारों और आन्दोलनों का उत्तराधिकार भारतवर्ष को आप-से-आप प्राप्त हो गया, क्योंकि अंग्रेज़ी भाषा के द्वारा इस देश के चिन्तक यूरोपीय विचारकों के गहन सम्पर्क में आ चुके थे। यूरोप की इन तथाकथित वैचारिक क्रान्तियों में उस समय भारत ने अपना योगदान, विचारक की हैसियत से भले ही न दिया हो, किन्तु उनका प्रभाव ग्रहण करने में यह देश यूरोप से कदापि पीछे नहीं रहा।

नवीन शिक्षा और वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण भारतवासियों के विचारों में, उनकी जीवन-पद्धति में तथा भारतीय जीवन में रूढ़िवादिता के साथ-साथ नवीन चेतना भी उत्पन्न हो गई थी, इसीलिए उस समय का भारतीय जीवन न तो पूर्णरूपेण प्राचीन ही था और न पूर्णरूपेण नवीन। इस सम्बन्ध में दूसरी बात स्मरण रखने की यह है कि यह नवीन चेतना केवल शिक्षित वर्ग तक ही सीमित थी। साधारण जनसमूह जहाँ था, वहीं बना रहा। इसलिए पाश्चात्य सभ्यता के साथ सम्पर्क स्थापित होने के कारण जो व्यापक क्रान्तिकारी परिणाम दृष्टिगोचर होना चाहिये था वह न हो सका। नवीन शिक्षा प्राप्त वर्ग ही भारतीय संस्कृति की स्थापना फिर से करने के लिए चिन्तित था। यह चेतना मूलतः सांस्कृतिक ही थी। भारतवासियों में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भारतीय संस्कृति सम्बन्धी खोजों, पुरातत्व विभाग द्वारा प्राचीन इमारतों के उत्खनन तथा नवीन शिक्षा और वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप उत्पन्न यह सांस्कृतिक चेतना निरन्तर दृढ़ होती गई, और बीसवीं शताब्दी तक आते-आते उसने और भी प्रमुखता ग्रहण कर ली। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, योगी अरविन्द, रमण महर्षि, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, गाँधी जी आदि इसी नवीन सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक बनकर आये। क्योंकि यह चेतना केवल शिक्षित वर्ग तक ही सीमित थी, इसलिए यह चेतना न तो अपने देश की धरती की बन सकी, और न उसका जो स्वस्थ रूप होना चाहिए था, वही उभर पाया और 'आधे तीतर आधे बटेर' की उक्ति चरितार्थ होने लगी। देश की जो नवीन संस्कृति थी, वह धीरे-धीरे भारतीय कम और पाश्चात्य अधिक होती गई। इस पर भी पाश्चात्य प्रभाव केवल जीवन के बाह्य उपकरणों तक ही सीमित रहा। यही कारण है कि आज भी जब अंग्रेज चले गये हैं, पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव देश में अनुदिन बढ़ता जा रहा है और भविष्य में इसके अधिकाधिक बढ़ने की ही सम्भावना दीख पड़ती है।

नवीन शिक्षा और वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के परिणाम दृष्टिगोचर हुए—जहाँ तक राज-नीतिक जीवन से सम्बन्ध है, नव शिक्षा प्राप्त भारतवासियों की राजनीतिक महत्वाकांक्षा

बढ़ने लगी थी, जिसके फलस्वरूप १८८५ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। उसकी स्थापना और उसके ऐतिहासिक विकास का इतिहास सर्वविदित है। उसकी पुनरावृत्ति की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। यही इण्डियन नेशनल कांग्रेस भारतवर्ष में राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा का प्रतीक बनकर उपस्थित हुई और अनेक राजनीतिक आन्दोलन चलाने के बाद भारतीय स्वतन्त्रता का माध्यम सिद्ध हुई। भारत के राष्ट्रीय संग्राम में अनेक उतार-चढ़ाव आये, किन्तु देश की स्वाधीनता भारतवर्ष जैसे प्राचीन देश के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लिए आवश्यक समझी गई। प्रासंगिक रूप में 'बंग-भंग-आन्दोलन' और 'होमरूल आन्दोलन' ने राष्ट्र-भावना को पुष्ट बनाया। इसके साथ ही अनेक महापुरुषों ने राष्ट्रीय भावना के प्रचार एवं प्रसार के लिए अथक परिश्रम और बलिदान किये। यह राष्ट्रीय आन्दोलन राजनीतिक तो था ही, किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी यह जानता है कि उसके पीछे सांस्कृतिक चेतना भी निहित थी।

नवीन शिक्षा और वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण न केवल राष्ट्रीय भावना ही पुष्ट हुई, वरन् विविध सुधारवादी आन्दोलनों को भी जन्म मिला। हिन्दी से जहाँ तक सम्बन्ध है, आर्य समाज आन्दोलन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों के क्षेत्र में भी परम्परा और नवीनता के बीच काफी संघर्ष हुआ। पुरातनत्व का मोह एकदम छूट भी नहीं सकता था। स्वामी दयानन्द सरस्वती, जहाँ एक ओर वैदिक धर्म की फिर से स्थापना करना चाहते थे, वहाँ वे गुरु कुल भी स्थापित करना चाहते थे, वहाँ आर्य समाज आधुनिक शिक्षा-पद्धति को भी ग्रहण करना चाहता था। इन सुधारवादी आन्दोलनों ने भी सांस्कृतिक चेतना को प्रोत्साहन प्रदान किया। अनेक प्राचीन पर्व और उत्सव फिर से मनाये जाने लगे और प्राचीन रीति-रस्मों का वैज्ञानिक आधार खोजा जाने लगा। इन सुधारवादी आन्दोलनों पर पाश्चात्य प्रभाव बिलकुल नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता। ब्राह्म समाज और आर्य समाज—दोनों आन्दोलनों की प्रचार-पद्धतियाँ बहुत कुछ ईसाई मिशनरियों से ग्रहण की गयी थीं। इसलिए इन सुधारवादी आन्दोलनों के कारण उत्पन्न सांस्कृतिक चेतना न तो विशुद्ध भारतीय ही थी और न तो पाश्चात्य। उसके विविध पक्षों पर आगे के अध्यायों में विचार किया जायगा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस नवोत्पन्न भारतीय सांस्कृतिक चेतना में दो बहुत बड़ी बाधाएँ थीं,—एक तो देश की पराधीनता और दूसरी अँग्रेजों द्वारा भारत का आर्थिक शोषण। जहाँ तक पराधीनता से सम्बन्ध है, गुलामों की कोई संस्कृति नहीं होती। वह तो शासकों का अनुकरण करते हैं और भारतवर्ष में यही हुआ भी। पराधीनता के कारण जहाँ भारतीय जीवन के विविध क्षेत्रों में गत्यवरोध उत्पन्न

हुआ, वहाँ अनुकरण की प्रवृत्ति भी प्रबल होती गई। देश की सांस्कृतिक चेतना इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। जहाँ तक आर्थिक शोषण से सम्बन्ध है, उसने राजनीतिक दासता में कोढ़ में खाज का काम किया। अंग्रेजों की आर्थिक नीति क्या थी और उन्होंने किस प्रकार देश का आर्थिक शोषण किया, इस पर विविध विद्वानों ने समय-समय पर काफी विस्तार से विचार किया है, जिनके निष्कर्ष आज भी सर्वमान्य हैं। अंग्रेजों की आर्थिक नीति के कारण भारतवर्ष दुनिया का सबसे अधिक निर्धन देश समझा जाने लगा था। साधारण जनता को, विशेषत: किसानों तथा मजदूरों के बहु-संख्यक वर्ग को, दोनों समय पेट भर भोजन भी नहीं मिल पाता था। इस शोचनीय आर्थिक अवस्था ने सांस्कृतिक चेतना को उभारने में सहायता करने की तो बात क्या, उसने देश के अपार जनसमूह को इस सांस्कृतिक चेतना से विहीन रखा। फटे-चिथड़े पहनने वालों की सांस्कृतिक चेतना हो ही क्या सकती है?

विवेच्य काल में शासन तथा आर्थिक व्यवस्था और नवशिक्षा के फलस्वरूप जहाँ अनेक परिवर्तन भारतीय समाज में हुए, वहाँ एक परिवर्तन, जो सर्वाधिक महत्व-पूर्ण है, यह भी हुआ कि भारतीय समाज में एक नये वर्ग की स्थापना हो गई। इस वर्ग को आर्थिक व्यवस्था से ही प्रेरणा तथा जीवन प्राप्त हुआ था। इस वर्ग को समाज-शास्त्रियों ने मध्यम वर्ग नाम दिया। इसके पहले मध्यम वर्ग के रूप में भारतीय समाज में कोई भी वर्ग इस स्तर का ऐतिहासिक महत्व नहीं प्राप्त कर सका था। इसके पहले भारतीय समाज में दो ही वर्ग स्पष्ट रूप से लक्षित होते थे—उच्च वर्ग अथवा सामंत वर्ग और निम्नवर्ग अथवा किसान तथा मजदूर वर्ग। मध्यम वर्ग तब रहा भी हो, तो उसको समाज में कोई विशेष गौरव नहीं प्राप्त था। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय इतिहास ने ऐसा पलटा खाया कि अचानक मध्यम वर्ग समाज में सर्वाधिक विवादास्पद और चर्चा का विषय बन गया। क्योंकि इसी वर्ग के माध्यम से सभी तरह के परिवर्तन प्रारम्भ हुए। यह उच्च वर्ग के नवीन प्रभावों से अलग रह कर अपनी कट्टरता में ही अपना महत्त्व समझ रहा था। उन्हें नई शिक्षा से भी कोई मतलब नहीं था, क्योंकि उन्हें उच्च शिक्षा दिलाने में अंग्रेजी सरकार भी दिलचस्पी नहीं ले रही थी। इसमें अवश्य ही कोई राजनीतिक कारण रहा होगा। दूसरी तरफ निम्न वर्ग निर्धन और अशिक्षित था तथा उसके पास इतने आर्थिक साधन भी उपलब्ध नहीं थे कि वह नई शिक्षा प्राप्त कर सकता। अत: यह मध्यम वर्ग ही ऐसा था जो कुछ कर सकता था, क्योंकि यह कुछ पढ़ा-लिखा भी था और उसके पास साधन भी मौजूद थे, जिनके माध्यम से वह अंग्रेजी शिक्षा ले सकता था। इस वर्ग के अन्तर्गत वकील, डाक्टर, प्राध्यापक, सामान्य व्यापारी, सरकारी कर्मचारी आदि आते थे जो स्वभाव से ही मेहनती तथा महत्त्वाकांक्षी होते थे। अत: यही वर्ग पाश्चात्य प्रभावों में सबसे

अधिक आगे रहा। नवीन विचारों से प्रेरणा ग्रहण करके इस मध्यम वर्ग ने भारतीय जीवन में अभूतपूर्व क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किये। इसी वर्ग के माध्यम से भारत आधुनिकता की ओर आगे बढ़ा तथा संसार के अन्य देशों से भी अपना सम्पर्क स्थापित किया। इस वर्ग की चेतना प्रारम्भ में राजनीतिक और आर्थिक थी तथा इसकी राष्ट्रीयता में हिन्दुत्व की मात्रा अधिक थी, साथ ही वर्ग, धर्म एवं साम्प्रदायिक विषयों से सम्बन्धित एक अन्य भावना का भी इसमें प्रादुर्भाव हुआ, जिसने साम्प्रदायिक निर्वाचन, सरकारी नौकरियों, आर्थिक सुविधाओं आदि की मांग की। लेकिन राजनीति के क्षेत्र में इन सुधारवादियों को बहुत अधिक सफलता तथा प्रोत्साहन नहीं प्राप्त हुआ—अतः वे निराश होकर समाज-सुधार तथा धार्मिक परिष्कार की ओर मुड़े। यूँ भी धर्म तथा समाज का विस्तृत क्षेत्र सरकार के भय से परे था, जब कि राजनीतिक कार्यक्रमों में यह भय हमेशा वर्तमान रहता था कि सरकार कहीं नाराज न हो जाय। लेकिन सामाजिक तथा धार्मिक कार्यक्रमों के संचालन में यह डर बिलकुल नहीं था, क्योंकि सरकार इस ओर से उदासीन थी। यद्यपि यह उदासीनता उसके लिए मँहगी पड़ी, क्योंकि सामाजिक तथा धार्मिक मंचों को आधार बनाकर सांस्कृतिक सुधार आंदोलनों के नाम पर भारतीय बुद्धिजीवियों ने जो व्यापक अभियान चलाया, उसमें अंग्रेज़-विरोधी बहुत सी बातें भी शामिल थीं उसी का परिणाम था राष्ट्रीय उत्थान और प्रबल राष्ट्रीय भावनाओं का उदय, जो आगे अंग्रेज़ों के कार्यों में बाधक बना।

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति के पूर्व रूप यदि भारतीय आर्य, और भारतीय इस्लामी थे, तो आधुनिक रूप भारतीय ब्रिटिश था। उसमें भारतीय तत्व तो ऐसे थे जो निस्पन्द और निष्प्राण हैं। भारतवासी भारतीय सांस्कृतिक तत्त्वों की दुहाई अवश्य देते थे, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से पश्चिम का मुँह देखते थे। न केवल राष्ट्रीय जागरण, शिक्षा-पद्धति और सुधारवादी आन्दोलनों में ही पश्चिम का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है, वरन् भारतीय प्रतिभा को पहचानने में भी पश्चिम की छाप ही हमने स्वीकार की। रवीन्द्रनाथ ठाकुर या सर सी० बी० रमण आदि की प्रतिभा जब पश्चिम ने स्वीकार की, तो हमने उसका अनुसरण किया। महात्मा गाँधी का व्यक्तित्व भी पश्चिम में ही बना था। हमारी राजनीतिक संस्थाएँ और पद्धतियाँ भी पश्चिम ही की हैं, इसलिए भारत की आधुनिक सांस्कृतिक चेतना को 'इण्डोब्रिटिश' नाम दिया जाय तो अनुपयुक्त न होगा। हिन्दी उपन्यासों के आधार पर आगे के पृष्ठों में भारतीय संस्कृति का जो अध्ययन प्रस्तुत किया जायगा, वह इस बात का प्रमाण है।

उपन्यास साहित्य

हम स्पष्ट कर चुके हैं कि विवेच्य काल की सांस्कृतिक, सामाजिक तथा

राजनीतिक अवस्था में किस तीव्रता के साथ परिवर्तन उपस्थित हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी का भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के इतिहास में पुनरुत्थान काल के नाम से सम्भवतः इसीलिए जाना जाता है, क्योंकि इसीके बीच भारतवासियों के जीवन में एक आमूल परिवर्तन उपस्थित हुआ। इसका प्रभाव न केवल धार्मिक सुधार अन्दोलन तक ही सीमित रहा, बल्कि व्यापक सांस्कृतिक धरातल पर सामाजिक तथा राजनीतिक रंगमंच भी बहुत कुछ बदल गया। भले ही हम पश्चिमी भाषा तथा साहित्य के सम्पर्क से अथवा विदेशी प्रभाव में आन्दोलित हुए हों, लेकिन हमने अपनी संस्कृति के विकास का मार्ग इसके माध्यम से निश्चय ही प्रशस्त किया और सांस्कृतिक प्रगति की दिशा में इतिहास-प्रसिद्ध कदम भी रखा। इस सांस्कृतिक परिवर्तन का प्रभाव व्यापक भारतीय जीवन पर पड़ना स्वाभाविक ही था, क्योंकि इतने बड़े आन्दोलन से सामाजिक जीवन आन्दोलित न हो सके, यह कैसे सम्भव हो सकता है। अतः इन परिवर्तनों का भारतीय जीवन तथा समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा। जीवन तथा समाज में इससे जो परिवर्तन उपस्थित हुआ, उसने साहित्य तथा कला का रास्ता भी मोड़ा और जो कला अब तक अमूर्त जगत् की वायवी कल्पना मात्र थी, वह अब ठोस जमीन पर उतर कर मानव को अपना विषय बनाने को मजबूर हुई। कला तथा साहित्य में मानव जीवन की यह प्रतिष्ठा एक महत्त्वपूर्ण घटना है, जो आधुनिक काल की ही उपज है। इस घटना के बाद कला तथा साहित्य में आदर्श की अपेक्षा यथार्थ को अधिक प्रश्रय मिला और यद्यपि आदर्श तथा काल्पनिक भाव लोक से कलाकार एकदम अपना सम्बन्ध तोड़ नहीं सके (कुछ तो आज भी नहीं तोड़ सके हैं) तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उनमें यथार्थ के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ और उत्तरोत्तर वे यथार्थवादी दृष्टिकोण को ग्रहण करते गये।

वस्तुतः सभ्यता तथा संस्कृति के विकास के समानान्तर ही कलाकारों के दृष्टिकोण का भी विकास होता है। दूसरे, अपेक्षाकृत सभ्य तथा सुसंस्कृत समाज यथार्थ को अधिकाधिक ग्रहण करके चलता है। यही कारण है कि हम ज्यों-ज्यों सभ्यता के स्तर पर विकसित होते गये, त्यों-त्यों हमारी यथार्थवादी दृष्टि भी पैनी और खरी होती गई। विवेच्यकाल में भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र में गद्य की उत्पत्ति का भी यही कारण है, क्योंकि यथार्थ कथन के लिए जितना उपयुक्त माध्यम गद्य की भाषा होती है, उतना उपयुक्त माध्यम पद्य की भाषा नहीं। इसलिए हमारी यथार्थ दृष्टि ने ही हमें गद्य में लिखने को मजबूर किया। आज यथार्थ के हमारे आग्रह ने गद्य का इतना अधिक प्रचार तथा विकास कर लिया है कि हमें बरबस आज के इस युग को साहित्य के सन्दर्भ में 'गद्ययुग' कहने पर मजबूर होना पड़ता है। सचमुच गद्य की शैली ने अपनी अभिव्यक्ति की विविधता या यथार्थता के कारण हमें चमत्कृत कर दिया है।

वस्तुतः मैकाले ने बहुत कुछ ठीक ही कहा है कि सभ्यता ज्यों-ज्यों विकसित होती जाती है, कविता की स्थिति समाप्त होती जाती है और गद्य अभिव्यक्ति का माध्यम बनता जाता है। आज इसीलिए कविताएँ सफल नहीं हो पाती, क्योंकि उनमें आज की जटिल जिन्दगी को पकड़ने की क्षमता प्रायः लुप्त हो चुकी है। यही वजह है कि आज जब पुराने एवं वयोवृद्ध तथा एक हद तक सफलता प्राप्त कवि भी कविताएँ लिखते हैं तो उनकी कविताएँ हवा में उछाली गई बातों जैसी लगती हैं, ऐसा लगता ही नहीं कि उनमें हमारा जीवन या हमारी भावनाएँ पिरोयी गई हैं। जब कि कथा साहित्य के साथ ऐसी बात नहीं है। कथा साहित्य तो आज के युग को अभिव्यक्त करने के लिए सर्वोत्तम माध्यम के रूप में आज दुनिया भर में अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है। उसमें हम अपने युगीन सन्दर्भों का सजीव चित्र प्राप्त कर सकते हैं। आज के जीवन की व्यापकता तथा विविधता अपनी सफल अभिव्यक्ति के लिए उपन्यास विधा जैसे माध्यम की ही अपेक्षा रखती है। हम पहले कह आये हैं कि जीवन की नवीन परिस्थितियों के फलस्वरूप भारत में मध्यम वर्ग का जन्म हुआ जो नवशिक्षा प्राप्त था। नवीन चेतना से अनुप्राणित इस वर्ग ने अपने चारों ओर का जीवन परखा और उसके सड़े-गले अंश को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया। उनका दृष्टिकोण अपने चारों ओर के जीवन पर आधारित था। और क्योंकि उपन्यास का सम्बन्ध वास्तविक जीवन से ही अधिक है, अतः मध्यम वर्ग की नवीन चेतना उपन्यासों के माध्यम से ही व्यक्त हुई। उपन्यास मध्यम वर्ग का महाकाव्य बना और उसके द्वारा मध्यम वर्ग का विद्रोही स्वरूप प्रस्फुटित हुआ।

यद्यपि प्रारम्भ में उपन्यास-साहित्य का एक लम्बे काल तक जमकर विरोध होता रहा, लेकिन समय के परिवर्तन के साथ ही इस आधुनिक साहित्यिक विधा ने आज के साहित्य में अपना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। सम्भवतः इसके पीछे कारण यही है कि यह मानव जीवन के सबसे अधिक निकट है। प्राचीनकाल में मानव समाज के लिए जो महत्त्व कविता का था, एलिजाबेथ और विक्रमादित्य के समय में जो महत्त्व नाटक का था, उससे भी कहीं अधिक महत्त्व आज के युग में उपन्यास का हो गया है। विश्व के साहित्य में अब तक साहित्यिक नोबुल पुरस्कार सबसे अधिक उपन्यासकारों को ही प्राप्त हुए हैं।[1] इसके अतिरिक्त संसार में जो महत्त्वपूर्ण तथा बड़ी क्रान्तियाँ हुई हैं उनमें भी उपन्यास ही सर्वाधिक प्रेरणा-स्रोत रहे हैं, चाहे वह १८७९ ई० की फ्रांस की क्रान्ति हो या सन् १९०५ की रूसी क्रान्ति, रूसो, वाल्टेयर, गोर्की आदि

---

१. विनोदशंकर व्यास : 'उपन्यास कला' प्रथम संस्करण (नोबुल पुरस्कार विजेता सूची) पृ० ८८

उपन्यासकारों की रचनाएँ ही इनका उत्स थीं। इस सम्बन्ध में भगवतशरण उपाध्याय लिखते हैं—'ईश्वरवादिता, ईसाई आचार शृंखला, परम्परा की शक्ति, प्राकृतिक कानून आदि की आधारशिला हिल गई, जब वाल्टेयर ने अपने लेखों और व्यंग्य कविताओं, गद्य तथा पद्य रचनाओं, प्राकृतिक कानून पर कविता, तथा रूसो ने अपने विचारों (१७५०-१७५५) और 'एमिल' (१७६१) द्वारा सबल आघात किया। दोनों ने अपनी कृतियों में अपने नये विचारों की शिला रखी।'[१] इसी प्रकार रूसी क्रांति में भी गोर्की की रचनाओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिसके लिए उसे क्रान्ति का पुरोहित तक कहा गया।

उपन्यास-साहित्य के इसी व्यापक महत्त्व को देखकर आचार्य शुक्ल ने कहा कि—'उपन्यास वर्तमान काल की सबसे बड़ी साहित्यिक देन है। वर्तमान जगत में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके निम्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनमें विस्तृत प्रत्यक्षीकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते हैं'।[२] 'वस्तुतः वैज्ञानिक विकासक्रम के अधिकाधिक प्रचार एवं प्रसार का परिणाम यह हुआ कि गीति काव्य और नाटक, साहित्य की ये दो विधाएँ अपना महत्त्व खोने लगीं। ऐसे समय में उपन्यास ही एकमात्र ऐसा साहित्यरूप सिद्ध हुआ जो विज्ञान से हर माने में होड़ ले सकता था। जिन नवीन मान्यताओं को विज्ञान जन्म दे रहा था, उन सब को आत्मसात् करने का सामर्थ्य उपन्यास ने प्रदर्शित किया। इस प्रकार वैज्ञानिक प्रभाव से चेतना के जो-जो स्वरूप निर्मित हुए, उन सब की अभिव्यक्ति केवल उपन्यास साहित्य द्वारा ही संभव हो सकी। इसके अतिरिक्त आगस्त काम्ते द्वारा समाजशास्त्र के आविष्कार के बाद तो उपन्यास-साहित्य सामाजिक ज्ञान और वैज्ञानिक चेतना दोनों का पूर्ण उपयोग करते हुए पूर्व प्रतिष्ठित सभी साहित्यिक विधाओं पर हावी हो गया।

सारांश यह कि उपन्यास-साहित्य और जीवन आज इतने पास-पास इकट्ठे हो गए हैं कि दोनों में आपसी दूरी एकदम समाप्त हो गई है। वस्तुतः उपन्यास और जीवन में पार्थक्य कर पाना कम मुश्किल नहीं है, क्योंकि उपन्यास जीवन का पुनर्सृजन ही होता है। इस दृष्टि से उपन्यासकार की भूमिका ईश्वरीय सत्ता के समकक्ष पहुँची हुई लगती है जो सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन करता है। उपन्यास उसी ईश्वरीय सृजन का

---

१. भगवतशरण उपाध्याय : 'विश्व साहित्य की रूपरेखा' प्रथम संस्करण—राजपाल एण्ड संस, पृ० ३८६-३८७।

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास—तेरहवाँ संस्करण, पृ० ५१३।

पुन: सृजन है। जो प्रत्यक्ष है, वह जीवन है और जो अप्रत्यक्ष है, वह जीवन का अभिन्न अंग है। सत्य की स्थिति दोनों में है, क्योंकि सत्य का महत्त्व सापेक्षिक होता है। उपन्यास केवल जीवन के प्रत्यक्ष को लेकर ही नहीं लिखा जाता, जो अप्रत्यक्ष तथा न दीखने वाला सत्य है, उसे लेकर भी लिखा जाता है। तात्पर्य यह कि उपन्यास मानव जीवन की समग्रता तथा उसके परिवेश की सम्पूर्णता को भाषा-बद्ध करके प्रकाशित करने का प्रयास करता है। यहाँ हम कह सकते हैं कि उपन्यासकार की यह भूमिका महाकाव्य-कार की भूमिका से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सम्भवत: इसीलिये आज उपन्यास तथा महाकाव्य में बहुत अधिक समता दिखाई पड़ने लगी है। दोनों ही अपने समय की जिन्दगी के इतिहास का साहित्यिक संस्करण कहे जा सकते हैं। और फिर उपन्यास तो अपने जमाने का वास्तविक रंग, अपने जमाने की फड़कती हुई जिन्दगी की साँस तथा लोगों के पारस्परिक कटु-मधु सम्बन्धों का विश्लेषण—सभी कुछ अपने में समेटे हुए है और इस प्रकार युग-सत्य का व्याख्याता बन गया है। विश्व साहित्य तथा भारतीय साहित्य के गम्भीर अध्येता इस तथ्य से अब भली भाँति परिचित हो चुके हैं।

उपन्यास के इस बढ़ते हुये प्रभाव से भलीभाँति परिचित दुनिया भर के विद्वानों ने पर्याप्त सतर्कता तथा गम्भीरता के साथ उसकी परिभाषा देते हुए उसके व्यापक स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं से यह स्पष्टत: ज्ञात हो जाता है कि उपन्यास केवल गद्य में लिखी गई कथा नहीं है, बल्कि वह मानव जीवन का गद्य है। उपन्यास कला का वह प्रथम गद्य रूप है, जो मानव को समग्रता में ग्रहण करने तथा अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है। उपन्यास वह विधा है जो यथार्थ जीवन का यथार्थवादी दृष्टि से अध्ययन करे, जिस काल में लिखा जाय उस काल के जीवन को रूपायित करे और तत्कालीन जीवन-मूल्यों का निर्माण तथा उनका महत्त्व प्रतिपादित करे। तात्पर्य यह कि उपन्यासकार जीवन का व्याख्याता होता है तथा उसका सम्बन्ध जीवन तथा उसके यथार्थ चरित्रों से सर्वाधिक होता है। जीवन से मतलब उन तमाम परिस्थितियों से है, जो परिवेश का निर्माण करती हैं। सामाजिक आवश्यकताओं के दबाव से मूल प्रकृति का नियमन होता है तो चरित्रों का निर्माण भी होता है। अधिकांश लोगों की मूल प्रकृति की उचित सन्तुष्टि में सामाजिक दबावों के कारण बाधा उपस्थित होती है तब समाज-व्यवस्था में परिवर्तन या क्रांति अपेक्षित होती है। उपन्यास साहित्य समाज-व्यवस्था एवं प्रकृति के सामंजस्य एवं असा-मन्जस्य का उद्‌घाटन करता है वह केवल मूल आवेगों के उपभोग तक ही अपने को सीमित नहीं रखता। इसीलिए वह मानव जीवन का समग्र रूप चित्रित करने वाला आधुनिक युग का, सबसे सशक्त साहित्यिक माध्यम है। मानव-जीवन की झाँकी तथा उसके चरित्र की विभिन्न परिस्थितियों में प्रतिक्रियात्मक संभावनाओं का जितना सफल

उद्घाटन इस विधा में सम्भव है, उतना किसी अन्य साहित्य-विधा में सम्भव नहीं। आधुनिक युग में उपन्यास साहित्य की लोकप्रियता और सर्वाधिक महत्त्व का मुख्य कारण यही है।

उपन्यास-साहित्य के विकास में एक बात और रेखांकित करने की है, वह यह कि उसके विकास की गति बड़ी तेज़ रही है। अभी हाल का जन्मा यह साहित्यिक रूप इतने कम समय में विकास की इतनी सारी उपलब्धियाँ प्राप्त कर लेगा, यह सम्भवतः किसी ने सोचा भी न होगा। इस दृष्टि से देखें तो उपन्यास अलौकिकता तथा वायवी कल्पना की भूल-भूलैया में बहुत कम दिन ही भटका है। वस्तुतः साहित्य तथा कला के काल्पनिक तथा अलौकिक जगत् से उद्धार के दिनों में ही उपन्यास का जन्म हुआ। इसलिए उपन्यासों में अपने जन्मकाल से ही अलौकिकता तथा अविश्वसनीयता के प्रति विद्रोह का संकेत देखने को मिलता है। उन्नीसवीं शताब्दी में सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं कला तथा साहित्य के क्षेत्र में जो मूलभूत परिवर्तन उपस्थित हुए, उसमें यह बात भी शामिल थी कि कला तथा साहित्य का विषय मानव तथा उसका वास्तविक जीवन है। और यहीं से उपन्यासों की शुरुआत होती है, अतः उपन्यासों में प्रारम्भ से ही जीवन की यथार्थता का आग्रह लक्षित किया जा सकता है। यह आग्रह जैसे-जैसे बढ़ता गया, वैसे-वैसे ही उपन्यासों से सस्ते मनोरंजन के तत्त्व नष्ट होते गए और वह गम्भीर वैचारिक महत्त्व प्राप्त करता गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि आज वह विशुद्ध विचारों का विषय बन गया है, क्योंकि आज उसका विषय मानव जीवन की यथार्थ समस्यायें तथा उसका स्वयं का जटिल एवं दुरूह जीवन हो गया है। पाश्चात्य विचारक भी इस मत से सहमत हैं कि उपन्यासकार जीवन का सृजन करता है—(टु क्रिएट लाइफ)। तात्पर्य यह कि उपन्यास में जीवन को कलात्मक स्तर पर फिर से जिया जाता है। फिर से जीने की यह प्रतिभा या क्षमता ही उपन्यासकार को साधारण मनुष्यों से अलग करती है, क्योंकि जीवन को अनुभव के स्तर पर फिर से जीना सभी के लिए सम्भव नहीं होता, कुछ विरले प्रतिभाशाली ही इसमें सक्षम हो पाते हैं।

उपन्यास और नैतिकता

उपन्यास में जहाँ जीवन के विविध पहलुओं का उद्घाटन होता है, वहाँ सांस्कृतिक दृष्टि से सामाजिक नैतिक नियमों तथा दृष्टिकोणों पर भी प्रकाश डाला जाता है। साथ ही प्रचलित नैतिकता के विरोध में नई नैतिकता की स्थापना भी की जाती है। एक प्रकार से आज के उपन्यासों को तो मुख्य भूमिका ही है, समाज में प्रचलित नैतिक मान्यताओं का विरोध करके नये नैतिक मूल्यों को स्थापित करना। नैतिक मर्यादा के परम्परागत नियम समय विशेष में अपनी सार्थकता सिद्ध करने के पश्चात्

निरर्थक तथा समाज विशेष के लिए भारस्वरूप लगने लगते हैं। समाज तथा उसका प्रबुद्ध वर्ग यह महसूस करता है कि इन रूढ़ तथा जर्जर नियमों में जीवंतता तथा सामयिक संदर्भों में उनकी अर्थवत्ता समाप्त हो चुकी है। अतः सामाजिक गतिविधि में परिवर्तन के समानान्तर ही समाज की नैतिक मर्यादाओं में भी परिवर्तन अपेक्षित होता है। प्रायः प्रत्येक नये युग का प्रतिभाशाली कलाकार जो उस युग विशेष के यथार्थ का प्रवक्ता होता है, इन रूढ़ तथा पुरानी मर्यादाओं के खिलाफ़ विद्रोह करने में ही अपनी संपूर्ण सार्थकता समझता है। साहित्य में यह विद्रोह अधिक व्यक्त होता है और उपन्यास-साहित्य में तो इसकी अभिव्यक्ति सबसे अधिक देखी जा सकती है।

वास्तव में इसका मूल कारण मनुष्य की कर्त्तव्य भावना के क्षेत्र में अनिश्चितता का होना है। आधुनिक उपन्यासकार उचित-अनुचित के निर्णय में परंपरित मानों से काम न लेकर नये प्रतिमानों की स्थापना करके उचित-अनुचित की नई व्याख्या करता है। इस कार्य में वह अपनी मानव और प्रकृति-प्रेम की दृढ़ता तथा विश्वास से प्रेरित होता है। वह यथार्थ के प्रत्येक पहलू को सम्पूर्णता में देखने का प्रयास करता है। वह मानता है कि कोई भी प्राकृतिक नियम मानव जीवन के विरोध में अथवा उसके अहित में नहीं है। नीति के व्यापक अर्थ में हमारे जीवन को आगे बढ़ाने वाली जितनी चीजें हैं, वे सब उसके अन्तर्गत हैं। मालिक-नौकर, अधिकारी-अधिकृत, अवर्ण-सवर्ण, साहूकार-कर्ज़दार, पूँजीपति-मज़दूर, पिता-पुत्र, पति-पत्नी तथा सास-बहू आदि के जितने सम्बन्ध हैं, वे सब नीति के ही अन्तर्गत आते हैं। और प्रेमचन्द, कौशिक और सुदर्शन आदि के उपन्यासों में इस मानवता-सम्बन्धी नीति का अच्छा उद्‌घाटन हुआ है। इसके अतिरिक्त नीति का एक संकुचित अर्थ भी है, जिसके अनुसार लोकमत में नीति का तात्पर्य केवल यौन नीति से ही होता है। किसी वस्तु को नैतिक या अनैतिक कहने का आधार या तो शास्त्र होता है, अथवा अंतःकरण या लोकमत। आजकल शास्त्र की बात भी लोकमत में ही अभिव्यक्त होती है। अंतःकरण का सम्बन्ध अधिकांशतः लोकमत से होता है। लोकमत से यदि कोई वस्तु ऊपर आती है तो वह है बौद्धिक विवेचना। इसके अतिरिक्त नीति अथवा नैतिकता में सौन्दर्य चेतना का भी समावेश होता है। अज्ञेय जी ने इसीलिए नीति को सौंदर्य आदि से जोड़कर उसकी व्याख्या करनी चाही है। वे लिखते हैं—नैतिक मूल्य, यानी शिवत्व के मूल्य और सौन्दर्य के मूल्य हैं तो अलग-अलग और अलग-अलग विचार माँगते हैं। विशुद्ध तर्क के क्षेत्र में मानना होगा कि ऐसा हो सकता है कि कोई कलाकृति सुन्दर हो और अशिव हो या कम-से-कम शिव न हो। यह मानकर भी मैं पहली बात कैसे मान सका, उसका कारण यही है कि उच्चकोटि का नैतिक बोध और उच्चकोटि का सौन्दर्य-बोध कम-से-कम कृतिकार में प्रायः साथ चलते हैं क्यों? इसलिए कि दोनों बोध, मूलतः बुद्धि के व्यापार हैं। मानव का विवेक ही दोनों के मूल्यों

का स्रोत है और दोनों के प्रतिमानों या मानदण्डों का आधार। विवेकशील मानव की—विशेषकर उस विवेकशील मानव की, जिसमें सृजनात्मक शक्ति या प्रतिभा भी है—ग्राहकता दोनों को ही पहचाननी है।[1]"

तात्पर्य यह कि उपन्यास और नीति का सम्बन्ध केवल घनिष्ठ ही नहीं, बल्कि जटिल भी है। आज परम्परागत नैतिक मान्यताओं का विघटन हो गया है। पुरानी मान्यताएँ रूढ़ तथा जर्जर घोषित हो चुकी हैं। यद्यपि अभी नैतिक मर्यादा सम्बन्धी कोई नई मान्यता सर्वमान्य स्वीकृत नहीं हुई है अथवा नई नैतिकता की प्रतिष्ठा में उपन्यासकारों को पर्याप्त सफलता नहीं मिली है, फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि आज का प्रत्येक प्रतिभाशाली उपन्यासकार उनकी प्रतिष्ठा के लिए जूझ रहा है और उनकी उपयुक्तता सामयिक सन्दर्भों में प्रमाणित करने का संकल्प व्यक्त करता है।

वस्तुतः जीवन परिस्थितियों के द्वन्द्व में प्रवाहित होता है। मनुष्य के अन्दर दो तत्त्व होते हैं—एक वासनाएँ और इच्छाएँ तथा दूसरा शुभ-अशुभ सम्बन्धी विचार। इच्छाओं को दबाकर आदर्श पर टिके रहना व्यक्ति की दृष्टि से बहादुरी है। परिस्थितियों द्वारा आदर्शों का त्याग अथवा कमजोरियों से समझौता करने को बाध्य होना समाज की दृष्टि से कष्टकर है। स्वार्थियों के प्रचार या अज्ञान के वश में होकर रूढ़ि को धर्म समझते हुए कष्ट उठाना बुद्धि या ज्ञान की दृष्टि से दुःखप्रद है। किन्तु आज के उपन्यासकारों की समस्या इससे भी कुछ भिन्न है। प्राचीन धर्मों की दार्शनिक स्थापनाओं तथा नैतिक नियमों के सम्बन्ध में वह अपना विश्वास खो चुका है। उसकी मुख्य समस्या तो यह है कि वह अच्छाई तथा बुराई के बुनियादी भेद को स्पष्ट करे तथा इस प्रकार की भलाई-बुराई के नये मानदण्डों का निर्धारण करे। इस दृष्टि से वे उपन्यासकार अनैतिक नहीं कहे जा सकते, जो परम्परागत नैतिक मान्यताओं का विरोध करते हैं बल्कि अनैतिक तो वे हैं जो उचित-अनुचित के भेद को ही रूढ़ि मात्र कह कर उड़ा देना चाहते हैं। प्रतिभाशाली कलाकार की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह इस बात को स्पष्ट कर सके कि कहाँ नैतिक मूल्य रूढ़ि हैं और कहाँ नहीं।

नैतिकता के संदर्भ में ऐसा कोई भी अकाट्य नियम नहीं हो सकता जिसके पालन से कुछ मनुष्यों को अनिवार्यतः कष्ट भोगना पड़े। अन्ततः जो वस्तु कुछ लोगों के लिए ही सही, कष्ट का कारण है, वह आदर्श नैतिक धर्म नहीं बन सकती। जो मानवमात्र के व्यक्तित्व के संवर्धन और विकास में सहायक हो सकने की क्षमता रखता हो वही धर्म का आदर्श माना जायगा।

---

१. अज्ञेय : आलोचना, अंक ९, पृ० १३२।

ज्यों-ज्यों सभ्यता के उपकरणों में वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों आदमी का परिवेश तथा उसकी प्रतिक्रिया जटिल होती जाती है। उपन्यासकार का एक प्रमुख दायित्व इस जटिलता की ओर संकेत करना तथा उसकी चेतना जगाना है। इसके अतिरिक्त उपन्यासकार इस चेतना के प्रकाश में मनुष्य के सुख-दुःख की बदली हुई सम्भावनाओं का निर्देशन करता है। ये सम्भावनाएँ अनिवार्यतः स्वीकृत नैतिक नियमों—यथार्थ मानवी सम्बन्धों के नियामक नियमों में परिवर्तन की घोषणा करती हैं। यंत्र युग में लगातार बदलते हुए भौतिक परिवेश में मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध वही नहीं रह सकते जो आध्यात्मिक युग में रहे हों। इसीलिए पारस्परिक सम्बन्धों के बदलते ही उनके नियामक नियमों में भी परिवर्तन अपेक्षित है। वर्ग चेतना के इस युग में आज का समझदार नेता यदि मजदूरों को खुलकर राजद्रोह की शिक्षा देता है तो हम उसे अनैतिक नहीं कह सकते और न उस सरकार को ही अनैतिक कह सकते हैं जो युद्धकाल में शान्तिवादी नागरिकों को देशद्रोही घोषित करती है।

कला या साहित्य का मुख्य कार्य मानव के सुख-दुःख में संवेदना प्रकट करना तथा ऐसी दशा में उनमें संजीवनी शक्ति का संचार करना है। नई सांस्कृतिक तथा भौतिक परिस्थिति में मानव के कष्ट क्या हैं और उनके कारण क्या हैं यह दिखाना कलाकार का ही काम है। अतः कलाकार को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह कैसे किन्हीं भी नियमों अथवा पद्धतियों का खुलकर विरोध करे जिनसे मानव के कष्टों को सहयोग तथा बल प्राप्त होता है। इस प्रकार उपन्यासकार के लिये भी ये सारे दायित्व महत्त्वपूर्ण एवं अनुकरणीय हैं। एक सशक्त कलाकार होने के नाते उपन्यासकार को भी अनिवार्यतः इन दायित्वों से मुँह नहीं मोड़ना चाहिये।

उपन्यास और यथार्थ

उपन्यास में सांस्कृतिक चेतना उसी समय उभर सकती है, जब वह यथार्थ से घनिष्ठ सम्बन्ध रखे। उपन्यासकार मानव जीवन के यथार्थ रूप को ही अपना विषय बनाता है। कहते हैं कि उपन्यास में मानव जीवन का यथार्थ और समग्र चित्रण मिलता है, वह बिलकुल ठीक है। वास्तव में उपन्यासकार अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा-शक्ति द्वारा जीवन के यथार्थ अर्थ संदर्भों को ही उपन्यास के विषय के रूप में चुनता है। कल्पित और उसमें भी एकमात्र वायवी घटनाएँ किसी भी सुसभ्य तथा सुसंस्कृत समाज के पाठकों को आकर्षित नहीं कर सकतीं। सामाजिक विकास के साथ ही लोगों की यथार्थ दृष्टि भी अधिक गहरी तथा अधिक प्राणवान् होती जाती है और यथार्थ के प्रति उनका पक्षपातपूर्ण आग्रह बढ़ता जाता है।

उपन्यासकार की सफलता इसी बात पर निर्भर करती है कि वह अपने

युग तथा जीवन के कितने बड़े तथा व्यापक क्षेत्र के यथार्थ को ग्रहण करता है। समाज शास्त्रीय समीक्षा का सर्वाधिक प्रमुख आधार यही है कि रचना को उसके व्यापक युगीन संदर्भों में विश्लेषित करके देखा जाना चाहिए कि उसमें उस काल के कितने बड़े तथा व्यापक यथार्थ को चित्रित करने का प्रयत्न मौजूद है। इस दृष्टि से अपने अन्य उपन्यासों की तुलना में 'वार एण्ड पीस' के लेखक के रूप में तालसताय तथा गोदान के लेखक के रूप में प्रेमचन्द ज्यादा बड़े तथा गौरवशाली लेखक हैं। यों यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि उपन्यास में लेखक कल्पना की सहायता भी लेता है एवं किसी सीमा तक भावात्मकता को भी ग्रहण करता है। किन्तु इनकी अभिव्यक्ति किन्हीं सीमाओं के भीतर ही होनी चाहिए। उनका अनुपात इतना ही अपेक्षित है जितने से मूल कथा की स्वाभाविकता नष्ट न होने पाये और यथार्थ के उभार में कोई कमी न रहने पाये।

सारांश यह कि सामान्यतः साहित्य में और विशेषतः उपन्यास में क्रमशः यथार्थ का आग्रह और उसके विश्लेषण की परिधि निरन्तर बढ़ती गई है। मनुष्य की जीवन दृष्टि से जैसे-जैसे अलौकिक तत्त्वों का बहिष्कार होता गया है, वैसे-वैसे उसकी यथार्थ विषयक जिज्ञासा में वृद्धि होती गई हैं। वस्तुतः पिछली शताब्दियों में विभिन्न देश अथवा जातियाँ, जिस अनुपात में उनके साहित्य में जीवनगत यथार्थ का चित्रण बढ़ता गया है, उसी अनुपात में क्रमशः यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाती गई है। आज किसी भी देश के कथा-साहित्य को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस देश में वैज्ञानिक यथार्थमूलक दृष्टिकोण किस सीमा तक विकसित हुआ है। इसके विपरीत जिस देश तथा समाज में रूढ़िग्रस्तता तथा अवैज्ञानिक दृष्टिकोण जब तक मौजूद हैं तब तक उस समाज तथा देश के लेखक यथार्थ जीवन को अभिव्यक्ति देने से कतराते रहेंगे। क्योंकि उनकी यथार्थमूलक रचनायें उस समाज तथा देश द्वारा स्वीकृत ही नहीं की जा सकेंगी जिसका वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा यथार्थबोध पर्याप्त विकसित नहीं हो पाया है। आज हम प्रेमचन्द की आदर्शवादिता को लेकर उन्हें बुरा-भला कहते हैं, लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि उस समय का भारतीय समाज उससे अधिक यथार्थ को, जितना प्रेमचन्द ने व्यक्त किया है, निगल भी नहीं सकता था। आज भी हमारे देश में यदि दास्ताएव्स्की तथा टामसमैन जैसे कलाकार पैदा नहीं हो रहे हैं तो इसका प्रमुख कारण यही है कि हम आज भी यथार्थ के उतने गहरे सम्पर्क में नहीं आ पाये हैं। हमारे दृष्टिकोण में आज भी स्वप्नदर्शिता, जिसे अकर्मण्य लोग आदर्श-वादिता कहते हैं, अधिक है, वैज्ञानिकता कम। हमारे यहाँ ऐसे विभिन्न विचारकों की भी बहुतायत नहीं है जो विभिन्न क्षेत्रों से कलाकार के यथार्थ दृष्टिकोण को प्रोत्साहन, बल तथा समृद्धि प्रदान करें। अतः हमारे यहाँ का कलाकार अभी इस दृष्टि से काफी

पीछे है संभवतः यही कारण है कि विश्व साहित्य की प्रगति-दौड़ में हम अभी अपने को पर्याप्त समर्थ नहीं पाते।

उपन्यास और युगीन समस्याएँ

प्रत्येक युग की सभ्यता और संस्कृति अपनी-अपनी समस्याएँ लेकर आती हैं। क्योंकि उपन्यास आज के युग में सबसे अधिक सशक्त साहित्यिक विधा समझा जाता है, इसलिए वह आज युगीन सत्य का वाहक भी समझा जाने लगा है। आज की जटिल ज़िन्दगी में सम-विषम समस्याओं का जो सामाजिक दबाव मनुष्य पर पड़ रहा है, उन सब को अगर कोई साहित्यिक विधा अभिव्यक्ति दे सकती है तो वह उपन्यास की विधा ही दे सकती है।[1] यदि उपन्यासकार युगीन समस्याओं को अपने उपन्यासों में उठाता है तो साहित्यक दृष्टि से उपन्यास का महत्त्व प्रायः कम हो जाता है। लेकिन कहने की आवश्यकता नहीं कि यह मानना केवल एक साहित्यिक भ्रम का प्रचार करना है। यह भ्रम असाहित्यिक प्रेरणा का परिणाम होता है। विशेषकर आज ऐसे भ्रमों को राजनीतिक दृष्टि से अधिक प्रश्रय मिल रहा है। साहित्य में कलावाद तथा सौंदर्यवाद और मूलवाद तथा सिद्धान्तवाद का द्वन्द्व नया नहीं है। हाँ, इतना ज़रूर है कि कभी पहले यह द्वन्द्व शुद्ध वैचारिक स्तर पर आत्मानुभूत सत्य का सहारा लेकर खड़ा किया गया था। इसीलिए तब के जमाने में इस द्वन्द्व की अपनी सार्थकता भी थी। लेकिन आज यह द्वन्द्व शुद्ध राजनीति-जगत से प्रेरित और उद्बोधित हो रहा है, इसलिए हम इस द्वन्द्व को साहित्यिक मानने पर अपने को सहमत नहीं पाते। हमारे लिए तो सौन्दर्य और मूल्य दोनों साहित्यक महत्त्व के लगते हैं और एक की भी अवहेलना करके श्रेष्ठ साहित्यिक कृति की रचना नहीं की जा सकती।

तात्पर्य यह कि महान लेखक का अपनी युगीन समस्याओं के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। युगीन समस्याओं को जितने व्यापक आयामों में वह प्रस्तुत करता है, उसकी व्यापकता और महानता उतनी ही अधिक समझी जाती है। हाँ, ध्यान रखने की बात यह ज़रूर है कि वह जो समस्या उठाये, उसके सम्बन्ध में उसका चिन्तन गम्भीर और अनुभव यथार्थ तथा पूर्ण हो। श्री इलाचन्द्र जोशी के अनुसार—'किसी भी श्रेष्ठ कला-कृति में युग की केवल उन्हीं समस्याओं को प्रधानता दी जाती है, जो सारे युग की समग्र मानवता की सामूहिक गति से सम्बन्ध रखती हों। जैसे युद्ध और स्थायी

---

१. "इट मे बी लेड डाउन दैट टु आल सच क्वेश्चन्स इफ़ दे बिगिन शुड द आन्सर इज़ नो, इफ़ दे बिगिन मे दे आन्सर इज़ यस।"

—आर० लिडेल : ट्रेटिज़ आन नावेल, प्रथम संस्करण, पृ० ५८।

शांति, जन-जीवन में पाई जाने वाली व्यापक आर्थिक विषमता बनाम स्थायी सामूहिक समता आदि-आदि। वैसे राशनिंग व्यवस्था भी आज के युग की एक समस्या है। कोई कलाकार चाहे तो इस समस्या को भी उठा सकता है और अपनी कहानी में अच्छी तरह से उसका निर्वाह भी कर सकता है। पर किसी बड़ी कला-कृति में उसके लिए इस कारण स्थान नहीं हो सकता कि वह आज के जीवन की कोई प्रधान समस्या नहीं है, बल्कि किसी एक मूल समस्या की उपशाखा है।[१]" इस प्रकार उपन्यासकार व्यापक स्तर पर ही किसी भी समस्या को उठाता है और अधिक से अधिक लोगों के हित में उसका निर्णय देता है। किसी भी लेखक का नैतिक कर्तव्य यही हो सकता है—यही होता है।

उपन्यास का क्षेत्र तथा दायित्व

अब तक के विवेचन को ध्यान में रखकर यह बात बग़ैर किसी हिचक के स्वीकृत की जा सकती है कि उपन्यास का क्षेत्र तथा उसका दायित्व आज के युग में बहुत अधिक बढ़ गया है। चूँकि मानव-चरित्रों का विश्लेषण तथा विवेचन उसका केन्द्रीय विषय है, इसलिए उपन्यास, मानव चरित्र अपने जिन भौतिक तथा आध्यात्मिक काल्पनिक एवं यथार्थ, सामाजिक और राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिवेशों से घिरा है, उन सब का उचित विश्लेषण और अपनी इयत्ता में उन सब को आत्मसात् करके उनको सानुपातिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। तात्पर्य यह कि उपन्यास मानव-व्यक्तित्व को उसकी सम्पूर्णता में चित्रित करता है। यहाँ सम्पूर्णता में चित्रण करने की बात के सम्बन्ध में कोई भ्रम नहीं पालना चाहिए। वस्तुतः कोई भी एक उपन्यास सम्पूर्ण जीवन का चित्रण नहीं कर सकता, वह जीवन के कुछ विशिष्ट तथा चुने हुए अंशों को ही लेता है लेकिन ये चुने हुए अंश खण्डित जीवन का चित्र न देकर समग्र जीवन का चित्र ही उपस्थित करते हैं, क्योंकि उनमें परस्पर एकसूत्रता सदैव बनी रहती है। यह एकसूत्रता ही जीवन की समग्रता होती है और यहीं उपन्यास और सांस्कृतिक चेतना का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यही कारण है कि उपन्यासों में युगीन सांस्कृतिक चेतना की सर्वाधिक अभिव्यक्ति पाई जाती है। आगे हम उपन्यासों के विश्लेषण के सन्दर्भ में अपनी इस बात को अधिक स्पष्टता के साथ रखने का प्रयत्न करेंगे और देखेंगे कि उनमें किस प्रकार संस्कृति के विविध सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक पहलुओं को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है।

⊙ ⊙ ⊙

---

१. इलाचन्द्र जोशी : आलोचना, अंक ३, पृ० ५०।

अध्याय—३

समाज-व्यवस्था

पिछले अध्याय में उपन्यास-साहित्य का विश्लेषण प्रस्तुत करते समय हमने यह रेखांकित किया है कि किस प्रकार उपन्यास-साहित्य अपने को निरंतर समाज से अधिक-से-अधिक जोड़ने का प्रयास करता रहा है। यहाँ हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि हिन्दी-उपन्यास-साहित्य ने अपने समय की समाज-व्यवस्था को किस स्तर तक अभिव्यक्ति दी है और विभिन्न सामाजिक वर्गों, उसके संगठन के आधारों, उसकी परम्पराओं, उसके रीत-रिवाजों, उसकी व्यवस्थाओं, संघटनों की मान्यताओं आदि को वह किस सीमा तक ग्रहण कर सका है। इसके लिए भारतीय समाज के परम्परागत ढाँचे को एक विहंगम दृष्टि से देखा जाना नितान्त आवश्यक है।

किसी भी समाज को रचना तथा उसका संघटन उसकी आर्थिक-व्यवस्था से निर्धारित होता है। आर्थिक व्यवस्था जितनी ही विकसित होगी, समाज भी उतना ही प्रगतिशील होगा। समाज की रचना में जो तत्त्व प्रमुख रूप से भाग लेते हैं, उनमें उत्पादन शक्तियों का वर्गीकरण, आर्थिक वर्गों के आपसी सम्बन्ध, भूमि-व्यवस्था तथा उत्पादन-पद्धति आदि हैं। इन्हीं तत्त्वों से समाज का संघटन सुदृढ़ होता है। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में दो बातें और ध्यान देने की हैं, एक तो यह कि विभिन्न सामाजिक वर्ग या समूह, जो समाज-संघटन की प्रेरणा प्रदान करते हैं, समाज के संघटन को बहुत कुछ प्रभावित करते हैं तथा दूसरी यह कि सामाजिक विचारधारा तथा उसका व्यक्त रूप, रीति-रिवाज, प्रथाएँ, परम्पराएँ तथा सामाजिक मान्यताऐं आदि अपने अनुसार समाज के संघटन को बहुत कुछ प्रभावित करती हैं। इन विभिन्न वर्गों या समूहों में जो संघटन स्थापित होता है, उसका आधार समाज की आर्थिक व्यवस्था ही निश्चित करती है। स्पष्ट है कि श्रम-विभाजन ही एकमात्र ऐसा सुस्पष्ट आधार दीख पड़ती है, जिसने समाज की रचना में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। मध्य युग में भारतीय समाज का संघटन वर्ण-व्यवस्था तथा संयुक्त-परिवार-व्यवस्था—इन दो संस्थाओं ने किया था। नवीन औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था के प्रचलन ने जहाँ नये सामाजिक वर्गों को जन्म दिया, वहाँ इन परम्परागत वर्गों का विघटन भी हुआ। इस दृष्टि से १९वीं शताब्दी के भारतीय सामाजिक इतिहास का इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इसी समय

से परिवर्तन की यह प्रक्रिया प्रारम्भ होती है जिसका दौर आज भी एकदम समाप्त नहीं हो पाया है।

वस्तुत: सामाजिक संघटन तथा व्यवस्था रीति-रिवाजों, प्रथाओं, तथा सामाजिक मान्यताओं की अपेक्षा अधिक दृढ़ और स्थायी होती है। यही कारण है कि रीति-रिवाजों, प्रथाओं तथा मान्यताओं का विघटन जिस गति से होता है, समाज का संघटन तथा उसकी व्यवस्था में उस गति से परिवर्तन नहीं उपस्थित होता। आज के समाज में नारी सम्बन्धी मध्ययुगीन दृष्टिकोण तथा अछूत-प्रथा जिस गति से समाप्त हुई है, वर्ण-व्यवस्था तथा संयुक्त परिवार प्रणाली उस गति से परिवर्तित नहीं हुई है। इस सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रीति-रिवाजों तथा सामाजिक मान्यताओं में स्थान-भेद के अनुसार विभिन्नता होती है, जब कि समाज-संघटन के मूल तत्त्व अधिक व्यापक और एकरूप होते हैं। जब तक समाज के आर्थिक ढाँचे में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो जाता, सामाजिक व्यवस्था तथा उसके संघटन में भी कोई विशेष परिवर्तन सम्भव नहीं हो पाता।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी उपन्यास अपने जन्मकाल से ही समाज की गतिविधियों को अपना विषय बनाता रहा है। उपन्यास आधुनिक युग की उपज है, इसमें किसी को भी सन्देह नहीं है। इसका विकास गद्य के विकास के साथ जुड़ा हुआ है और गद्य के विकास को हर युग में नव युग का आगमन कहा गया है। इस प्रकार भारत या पाश्चात्य देशों में भी उपन्यास आधुनिक औद्योगिक सभ्यता की देन है। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में—'पूर्व और पश्चिम के सम्पर्क से नवचेतना उत्पन्न हुई, समाज अपनी खोई हुई शक्ति बटोर कर गतिशील हुआ, नव युग के जन्म के साथ विचार-स्वातन्त्र्य का जन्म हुआ, साहित्य में गद्य की वृद्धि हुई और कवियों ने अपनी परिपाटी विहित और रूढ़िग्रस्त कविता छोड़कर दुनिया नई आँखों से देखनी शुरू की। उपन्यास, नाटक, निबन्ध, समालोचना आदि ने नवीन चेतना का अनुसरण किया[१]।' हिन्दी उपन्यास के विकास को नवीन चेतना तथा आधुनिक औद्योगिक सभ्यता से सम्बन्धित करते हुए पं० नलिन विलोचन शर्मा ने भी हिन्दी-उपन्यास के इतिहास को 'हिन्दी-भाषी क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति के नवीन रूप के विकास का साहित्यिक प्रतिफलन[२]' कहा है।'

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ', द्वितीय संस्करण, १९५८, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली की भूमिका से, पृ० ११।

२. पं० नलिनविलोचन शर्मा : 'हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ,' द्वितीय संस्करण, १९५८, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली की भूमिका से, पृ० २१।

हिन्दी में भारतेन्दु युग से मोटे तौर पर हिन्दी-गद्य का युग माना जाता है। अतः हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ भी भारतेन्दु से ही मानना समीचीन जान पड़ता है। भारतेन्दु ने यद्यपि स्वयं कोई मौलिक उपन्यास नहीं लिखा, लेकिन उन्होंने मराठी से अनूदित करके 'पूर्ण प्रकाश' और 'चन्द्र प्रभा' नामक हिन्दी का प्रथम सामाजिक उपन्यास अवश्य प्रस्तुत किया।[1]

विचारों के धरातल पर इस नये युग का प्रारम्भ धार्मिक विचारधारा के स्थान पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा व्यक्ति-मूलक विचारों के साथ हुआ। इससे भी उपन्यासों के विकास में सहायता मिली। वस्तुतः धार्मिक युग में उपन्यासों के लिए स्थान नहीं था, क्योंकि उपन्यासों का सम्बन्ध व्यक्ति के वास्तविक जीवन से होता है और उसमें साधारण दैनिक घटनाओं का भी पूर्ण समावेश रहता है। इस तरह हिन्दी का प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु'[2] नये युग का संकेत देता है। इसके पात्र न राजा-महाराजा हैं और न भारतीय किसान हैं, वल्कि दिल्ली शहर के मध्यवर्गीय पात्र हैं। यह आकर्षक तथ्य है कि जो वर्ग आधुनिक युग का सूत्रधार बनने को था, उसी को केन्द्र में रखकर हिन्दी का प्रथम उपन्यास लिखा गया। सेठ मदनमोहन तथा वकील ब्रजकिशोर का लेखक द्वारा चुनाव कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। उपन्यास-लेखक का मध्यम वर्गीय उपयोगितावादी एवं नैतिकतावादी दृष्टिकोण इस बात का द्योतक है कि लेखक ने प्रकट हो रहे मध्यम वर्ग का अस्तित्व पहचान लिया था। ब्रजकिशोर प्रकट हो रहे मध्यम वर्ग का प्रतिनिधि चरित्र है। तात्पर्य यह कि हिन्दी का प्रथम उपन्यास, कला की दृष्टि से भले ही प्रारम्भिक प्रयास-सा दीखे, लेकिन सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अपने युग की सीमा से काफी जागरूक है। उपन्यास का नायक ब्रजकिशोर धंधे से वकील है। राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सामाजिक सुधार आन्दोलन का सूत्रधार मुख्यतः वकील समुदाय ही था। आधुनिक भारत के प्रारम्भिक वर्षों में शिक्षित एवं उदीयमान मध्यमवर्ग का सही प्रतिनिधि वकील समुदाय ही रहा है।[3] इस तरह उपन्यासकार अपनी इस रचना में भावी इतिहास के संचालकों को साहित्यिक रंगमंच पर प्रतिष्ठित करके भावी इतिहास की दिशा निर्दिष्ट करता है। केवल एक देवकीनन्दन खत्री को छोड़ दिया

---

१. हिन्दी-साहित्य-कोष : प्रथम संस्करण, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, सम्वत् २०१५, पृ० १४५।

२. लाला श्रीनिवासदास द्वारा लिखित तथा १८८२ में कलकत्ता से प्रकाशित। वैसे प्रथम उपन्यास के रूप में कुछ लोगों ने श्रद्धाराम फिल्लौरी कृत 'भाग्यवती' का नाम भी सुझाया है, जिसका रचना-काल १८७७ ई० है। जो भी हो, हमें इस विवाद में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं।

जाय तो प्रारम्भिक युग का उपन्यास मध्यमवर्गीय सामाजिक समस्याओं से ही सम्बन्धित है तथा उसमें मध्यमवर्गीय चरित्रों की ही सृष्टि की गई है। स्पष्ट है कि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही उपन्यास-साहित्य अपने में सामाजिक तथा सांस्कृतिक चेतना को लेकर अवतरित हुआ। इस दृष्टि से उपन्यास-साहित्य सामाजिक तथा सांस्कृतिक चेतना का इतिहास बनकर आया, जिसमें विविध सामाजिक संस्थाओं, समस्याओं, संघटनों, परम्पराओं, रीति-रिवाजों, रूढ़ियों-मान्यताओं, पर्वों- त्योहारों, आचार-विचार के नियमों, धार्मिक विश्वासों, लोक प्रथाओं आदि तथा ऐसी ही अनेक बातों का समावेश था। उन्नीसवीं शताब्दी का सामाजिक तथा सांस्कृतिक इतिहास जानना हो तो हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के अन्तर्गत जितनी प्रचुर सामग्री प्राप्त हो सकती है, उतनी अन्यत्र नहीं हो सकती। हिन्दी उपन्यासों का राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत करते समय हम आगे उसके इस व्यापक क्षेत्र की चर्चा करेंगे। फिलहाल हम सामाजिक संदर्भों तक ही अपने को सीमित रखते हैं।

प्रारम्भकालीन हिन्दी-उपन्यासों में प्रवृत्ति तथा वैचारिक प्रगतिशीलता की दृष्टि से मोटे तौर पर दो प्रकार के लेखक मिलते हैं—एक परम्परावादी और दूसरे सुधारवादी। लेकिन प्रधानता परम्परावादियों की ही है, क्योंकि उनकी संख्या अधिक है। सुधारवादी लेखक एक तो बहुत कम हैं और जो हैं, वे भी कुछ न्यून सुधारों तक ही अपने को सीमित रखते हैं। वस्तुतः सुधारवादी लेखकों में जो अभिव्यक्ति की साहसिकता होती है, वह इस युग के लेखकों में प्रायः नहीं है। इस युग के प्रायः अधिकांश लेखक परम्परा के स्वर में स्वर मिलाने वाले ही हैं और रूढ़ियों तथा मान्यताओं के प्राचीन रूप को बनाये रखने में ही अपनी सार्थकता समझते हैं। वस्तुतः इन लेखकों में विद्रोही लेखन का अभाव है, इसीलिए इनकी रचनाओं में स्थापित समाज-व्यवस्था के खिलाफ़ प्रायः कुछ नहीं लिखा गया है। अधिकांशतः ये लेखक रूढ़ियों और प्राचीन मान्यताओं का समर्थन ही करते हैं।

वर्ण-व्यवस्था

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रारम्भिक युग के लेखक जहाँ सामाजिक व्यवस्था से अपने को सम्पृक्त करते हैं, वहाँ समाज-व्यवस्था के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को अपने उपन्यासों में उठाते हैं। वर्ण-व्यवस्था उनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और प्रारम्भकालीन उपन्यासों में तथाकथित उनके रूढ़िवादी और परम्परावादी दृष्टिकोण के अनुसार ही इसका प्रतिपादन तथा समर्थन मिलता है। ये लेखक जाति-प्रथा को बनाए रखने के पक्ष में हैं। मेहता लज्जाराम शर्मा तो अपने उपन्यासों में शूद्र वर्ण के भंगी, चमार आदि को चाण्डाल कहकर पुकारते हैं और नाना प्रकार के तर्कों द्वारा

वर्णाश्रम धर्म की स्थिरता को हिन्दू समाज के लिए कल्याणकारी बताते हैं।[१] रेल के एक मुसाफिर द्वारा कर्म से ही जाति-निश्चय की बात सुनकर अपने आदर्श पात्र द्वारा उसका खण्डन करते हैं और जन्म से ही जाति-निर्णय को सही बताते हैं। रेल के डिब्बे में चढ़ा हुआ एक भंगी उच्चवर्ण के लोगों द्वारा धक्के देकर निकाल दिया जाता है और मेहता जी इस घटना पर सहानुभूति प्रकट करने के स्थान पर इसकी उपयुक्तता सिद्ध करने का बौद्धिक व्यायाम करते हैं। इस सम्बन्ध में उनका तर्क यह है कि 'यदि आपने उनका पेशा छुड़ाकर उन्हें उच्च वर्णों में संयुक्त कर लिया तो किसी दिन आपको नाई, धोबी, भंगी और चमार नहीं मिलेंगे। उस समय आपको उन लोगों की जगह लेनी पड़ेगी ! इस कारण उन्नति के बहाने से हिन्दू समाज में अधर्म का गदर न मचाइये।...इसलिए ब्राह्मणों को ब्राह्मण ही रहने दीजिए। उनसे जूता सिलवाने का काम न लीजिए। यदि उनमें कोई गिर गया हो तो उस पर लातें न मारिये।[२]" मेहता जी ने बहुत ही जोरदार किन्तु हास्यास्पद ढंग से जन्म से ही जाति-निर्णय का समर्थन किया है। वे लिखते हैं—"कोई व्यक्ति ब्राह्मण के घर पैदा ही क्यों हुआ ? इसीलिए न कि भगवान उसको ब्राह्मण बनाना चाहते हैं, जब आप पुनर्जन्म मानते हैं, पुनर्जन्म के शुभ-अशुभ फलों से उच्च और नीच जाति में जन्म ग्रहण करना मानते हैं, तब आप कैसे इसे नहीं मान सकते[३]।" वर्ण व्यवस्था से उत्पन्न एक अन्य सामाजिक बुराई छुआछूत के सम्बन्ध में भी समर्थनपूर्ण मन्तव्य व्यक्त करते हुए मेहता लज्जाराम इसे कोई गम्भीर समस्या नहीं मानते। उनका कहना है कि 'छुआछूत देश को चौपट करने वाला नहीं है[४]।' बल्कि इसे वे आवश्यक मानते हैं।

विवेच्य युग में शिक्षा का प्रचार धीरे-धीरे बढ़ रहा था और निम्न वर्ग तथा छोटी जातियों के लोग भी शिक्षा ग्रहण करने लगे थे जो उच्च कुल ब्राह्मणों के लिए ईर्ष्या का विषय बन गया था। वे यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि शूद्र वर्ण के लोग भी उच्च शिक्षा लेकर समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करें तत्कालीन समाज-सुधारकों में कुछ निम्न जातियों के समाज-सुधारक भी सामने आये, जिन पर उच्च कुल के परम्परा-वादी लोगों का विश्वास नहीं हुआ। वे मानते हैं कि प्राचीनकाल में भले ही वाल्मीकि, नारद तथा रैदास जैसे निम्न वर्णों के व्यक्ति भी सन्त और महात्मा हो गये हों, आज कल के शूद्रों में उनका सर्वथा अभाव ही है। इस सम्बन्ध में मेहता लज्जाराम कहते

---

१. आदर्श हिन्दू : प्रथम संस्करण, भाग २, पृ० २२८
२. ,, ,, ,, पृ० २३४-२३५
३. ,, ,, ,, पृ० २४१
४. ,, ,, ,, पृ० २३०-२३३

हैं—"आप लोग नई टकसाल खोलकर शूद्रों को द्विजत्व का सर्टीफिकेट देना चाहते हैं, उनमें कोई वाल्मीकि और नारद के समान है भी ?[१]

प्रारम्भिक काल के सर्वाधिक लोकप्रिय तथा चर्चित उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी ने भी अपने उपन्यासों में वर्ण-व्यवस्था का पक्ष-समर्थन किया है और छुआ-छूत की भावना को प्रश्रय प्रदान किया है। वे शूद्रों को अलग रखने की हिदायत देते हैं तथा उनके उपन्यासों में शूद्र वर्ण के प्रति घृणा की चरम अभिव्यक्ति मिलती है। अपने एक उपन्यास में एक दुष्ट पात्र की मृत्यु कराने के पश्चात् एक खास उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे उसकी लाश मेहतर से फेंकवाते हैं, जिस घटना को लेकर उनके उच्चकुल-चरित्र इस प्रकार चर्चा करते हैं—"हाय-हाय बेचारे को मेहतर ने फेंका।" मैंने कहा, "वह इसी योग्य था।[२]"

इस प्रकार गोस्वामी जी शूद्रों को हद दर्जे का घृणित पात्र समझते हैं, जिससे उच्च कुल के किसी व्यक्ति को मृत-लाश भी नहीं छुआई जा सकती। कहने की आवश्यकता नहीं कि जाति-व्यवस्था सम्बन्धी यह दृष्टिकोण कितना दकियानूस और जर्जर हो गया है। लेकिन तत्कालीन लेखकों में इसके प्रति विद्रोह की कोई भावना नहीं दृष्टिगत होती। अछूतों की दशा में सुधार के लिए कुछ प्रयत्न अवश्य किये गए हैं, जो उनकी दया-दृष्टि का परिचायक ही कहा जा सकता है। इसके पीछे कोई उदार मानवीय भावना तथा समानता की चेतना नहीं है। वस्तुत: ये लेखक मानसिक रूप से शूद्रों को बराबरी का दर्जा देने को तैयार भी नहीं थे, क्योंकि उनकी मानसिक बनावट तथा उनके संस्कार प्रगतिशील समाजिक चेतना से सम्बन्ध नहीं रखते थे। स्पष्ट है कि जाति तथा वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में जो क्रान्तिकारी विचार परवर्ती युगों में अभिव्यक्त हुआ, वह अभी नहीं बन पाया था।[२]

फिर भी जैसा कि हम बता चुके हैं, प्रारम्भिक कालीन उपन्यासकारों में कुछ ऐसे उपन्यासकार भी अवश्य हैं, जो युगीन सुधार-आन्दोलनों की वैचारिक, क्रान्तियों से प्रभावित हैं और उनके अनुसार समाज में बहुत परिवर्तन की आकांक्षा रखते हैं। मन्नन द्विवेदी, जिनसे बाद में प्रेमचन्द को हिन्दी में लिखने की प्रेरणा मिली, एक ऐसे ही उपन्यासकार हैं, जिन्होंने समाज-व्यवस्था की बुराइयों को सबसे पहले इंगित किया। इन्होंने अपने उपन्यासों में जहाँ अन्य सामाजिक पहलुओं को उद्घाटित किया, वहाँ दो महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रश्न भी इनके विश्लेषण और विवेचन के विषय बने—नारी-समस्या और ब्राह्मण-समस्या के प्रश्न। ब्राह्मणों के उच्चवर्गीय अहंकार को वे व्यंग्य की नजर

---

१. आदर्श हिन्दू : प्रथम संस्करण, भाग २, पृ० २३०-२३२

२. माधवी माधव वा 'मदन मोहिनी', भाग ३, प्रथम संस्करण, १९०९, पृ० ४८।

से देखते हैं, साथ ही निम्न वर्ग के सुधार के लिए भी कार्यक्रम निर्धारित करते हैं। उनके उपन्यास 'रामलाल' का आत्माराम अछूतों की दशा सुधारने के लिए 'भारतीय पतितोद्धारक समिति' की स्थापना करना चाहता है। अछूतों को इकट्ठा बसाकर, उनको पढ़ा-लिखाकर, उन्हें कोई कारीगरी सिखाना तथा चमारों के लिए स्कूल खोलना उसका लक्ष्य है[१]। अपने 'कल्याणी' उपन्यास में द्विवेदी जी जन्म से ब्राह्मण बनने वाले, बड़े-बड़े पाग-धारी, त्रिपुण्डधारी तोंदवाले धनवान कान्यकुब्ज ब्राह्मणों पर कसकर व्यंग प्रहार करते हैं—"यहाँ के ब्राह्मणों में सबसे बड़ी बात है विद्या का अभाव, सरस्वती देवी पर इनकी अकृपा। अँग्रेजी पढ़ना ये लोग पाप बतलाते हैं, संस्कृत उनको पढ़ना चाहिए, जिनको भीख माँगनी हो, हिन्दी पढ़ने में कुछ बुराई नहीं है, लेकिन जिसको नौकरी नहीं करनी है, वह पढ़कर क्या करेगा[२]। लेखक ब्राह्मणों की लालची वृत्ति का भी पर्दाफ़ाश करता है। जब मुसलमान दरोगा के कहने पर ठाकुर के विरुद्ध कोई भी झूठी गवाही के लिए तैयार नहीं होता तो ब्राह्मण तैयार हो जाता है। लेखक इस घटना पर अपनी टिप्पणी इस प्रकार देता है—"भला सैय्यद की मदद ब्राह्मण नहीं करेंगे। ब्राह्मण लोग कहते हैं कि झूठ पचा लेना मामूली आदमियों का काम नहीं है, इसके लिए तेज चाहिए तेज। ब्राह्मण भृगु ने खुद भगवान को लात मार दी, ठीक छाती में बड़े ज़ोर का जमाई, ऐसी कस के कि ज़िन्दगी भर उनको याद रहेगा—कोई शूद्र 'वैक्सीनेटर' ही को मार कर देख ले। शूद्र दिन भर फावड़ा चलाता है, एक आना पाता है, ब्राह्मण सेकेण्ड भर के 'कल्यान' कहने में उससे कहीं अधिक बना लेता है। तिसपर भी जो ब्राह्मणों का महत्त्व न माने उसको 'आरियासमाजी' छोड़कर और क्या कहिएगा[३]।" एक ओर ब्राह्मण का जन्मजात अहम् और दूसरी ओर वर्तमान अधोगति दोनों में कितना विरोध और कैसा मेल है। द्विवेदी जी खीझकर आगे लिखते हैं—"अगर ऐसा न होता तो कश्यप और भारद्वाज के वंशज आज पंखा-कुली बनकर पेट के लिये न तरसते।"[४] तात्पर्य यह कि मन्नन द्विवेदी ब्राह्मणों के इस अधःपतन से से विक्षुब्ध हैं और वे चाहते हैं कि ब्राह्मण अभी भी अपने जन्मना अहम् को छोड़कर प्रगति करें। उनका अपना विचार यह है कि वर्ण तथा जाति का निर्णय जन्म के आधार पर न होकर गुण, कर्म तथा स्वभाव के आधार पर हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह बात स्वीकृत हो जाने पर अनेक सामाजिक बुराइयाँ स्वतः समाप्त हो जाती हैं।

---

१. 'रामलाल' : प्रथम संस्करण, पृ० १४६-१६२।

२. 'कल्याणी' : प्रथम संस्करण, पृ० ८६

३. 'कल्याणी' : प्रथम संस्करण पृ० १५०-१५१

४. 'कल्याणी' : प्रथम संस्करण, पृ० २४

प्राचीन वर्ण-व्यवस्था में अछूतों के प्रति उच्च वर्ण की उपेक्षा भी एक महत्त्व-पूर्ण सामाजिक बुराई थी, जिसे दूर किए बिना समाज का सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं था। अत: १९०६ ई० में भारतीय दलित-जाति-संघ, नामक एक ऐसी संस्था की स्थापना की गई जिसने अछूतोद्धार तथा हीन जातियों को ऊपर उठाने में अपना महत्त्वपूर्ण योग-दान दिया। विवेच्यकालीन समाज सुधारक जातिप्रथा तथा इस अछूत समस्या से अत्य-धिक चिंतित थे। लेकिन इससे भी महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि अछूत वर्ग स्वयं अपनी स्थिति में सुधार लाने के लिए प्रस्तुत हो गया था और अपनी जागरूकता से अपने अधिकारों के लिए लड़ने लगा था। देश भर में अछूत वर्ग अपने-अपने धन्धों के अनुसार संगठित होने लगा था और अपनी माँगों के समर्थन में विभिन्न आन्दोलनों तक के लिए भी प्रस्तुत था। जालंधर में मेहतरों ने मिलकर इसी समय 'वाल्मीकि समाज' नामक एक जातीय संस्था का संगठन किया, जिसने आगे चलकर अछूतों के उद्धार के लिए अपना विस्तुत कार्यक्रम तत्कालीन समाज के सम्मुख रखा। इस प्रकार हम देखते हैं कि विवेच्यकाल में सामाजिक धरातल पर यद्यपि विभिन्न क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हो रहे थे और समाज-सुधार सम्बन्धी विविध कार्यक्रम प्रस्तुत किये जा रहे थे, लेकिन उपन्यासकारों का ध्यान इस ओर प्रारम्भ में अधिक नहीं आकृष्ट हो पाया। वस्तुत: प्रारम्भकालीन उपन्यासकार अपने युग जीवन को समग्रता में नहीं ग्रहण कर पाये। उनके पास युगीन यथार्थ दृष्टि का अभाव ही लक्षित होता है। इस दृष्टि से प्रारम्भ-कालीन उपन्यास अधिकांशत: मनोरंजन के विषय ही बने रहे, सत्य का वाहक बनने के लिए उन्हें वास्तव में तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ी, जब तक प्रेमचन्द ने उनका अछूतो-द्धार नहीं किया।

वर्ण-व्यवस्था तथा जाति प्रथा के सम्बन्ध में वैचारिक धरातल पर जो संघर्ष प्रारम्भिक काल में प्रारम्भ हो गया था, उससे उस युग के उपन्यासकार तो उतने प्रभावित नहीं हुए, लेकिन बाद में उपन्यासकारों को इस समस्या ने काफी प्रभावित किया। हमारा तात्पर्य प्रेमचन्द काल से है। स्वयं प्रेमचन्द ने भी इस सम्बन्ध में प्रेमशंकर (प्रेमाश्रम) के माध्यम से क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किए। 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर जब अमेरिका से लौटते हैं तो ज्ञानशंकर उनकी सम्पत्ति हड़पने के लिए रूढ़ि-वादी लोगों की सहायता से उनका सामाजिक बहिष्कार करता है। यहाँ तक कि स्वयं श्रद्धा भी पति का बहिष्कार करती है। यह रूढ़िवादी हिन्दू समाज की मान्यता थी कि विदेश जाने से अन्य जातियों के सम्पर्क में आने के कारण हिन्दू अपने धर्म की रक्षा नहीं कर सकता, अत: उसे हिन्दू समाज से निकाल देना चाहिए, अन्यथा वह प्रायश्चित्त करे। लेकिन प्रेमशंकर अन्त तक समाज से बहिष्कृत रहना स्वीकार करते हैं, परन्तु प्रायश्चित्त नहीं करते। अन्तत: श्रद्धा के विचारों में ही परिवर्तन होता है जो लेखकीय

वैचारिक क्रांति का प्रमाण है ।

'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर की ही भाँति 'तितली' के इन्द्रदेव विदेश यात्रा करके लौटते हैं । उनकी माता श्यामदुलारी, जो अभिजात कुल की विधवा हैं, इन्द्रदेव द्वारा चरण-स्पर्श करने पर फिर से स्नान करती हैं । वे अंग्रेज़ युवती शैला को बहू रूप में स्वीकार नहीं कर पातीं । इन सामाजिक रूढ़ियों के पालन के प्रति श्यामदुलारी का इतना अधिक आग्रह है कि उनका मातृत्व भी दब-सा जाता है । लेकिन अन्तत: उन्हें वर्ण-व्यवस्था धर्म की मर्यादा तोड़ने पर मजबूर होना पड़ता है और शैला को बहू रूप में स्वीकार करना पड़ता है । प्रसाद जी का यह परिवर्तित दृष्टिकोण युगीन दृष्टिकोण के परिवर्तन को सूचित करता है । यह काल एक प्रकार से प्राचीन तथा नवीन दृष्टिकोण का संघर्ष काल था, जहाँ यद्यपि नये दृष्टिकोण को स्वीकार किया जा रहा था, लेकिन अभी पुराना दृष्टि-कोण एकदम समाप्त नहीं हो पाया था । इस प्रकार यह एक ऐसा मिला-जुला वैचारिक मिश्रण का काल है, जब जीवन तथा समाज-सम्बन्धी सभी तरह की मान्यताएँ नये सिरे से अपना संस्कार करने को प्रस्तुत हो रही थीं और धीरे-धीरे उनमें परिवर्तन लक्षित किया जा रहा था ।

वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में भी काफी गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है । अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'प्रत्यागत' में वर्मा जी इस समस्या को विभिन्न कोणों से उठाते हैं । मोपलों के दंगे में मंगल को बलपूर्वक मुसलमान मान लिया जाता है तथा उसका सम्बन्ध असहयोग आंदो-लन से जोड़ा जाता है, जिसमें निश्चय ही कुछ राज है, जिसे उपन्यासकार खोलना चाहता है । मंगल के इस समाज-बहिष्कार को लेकर बाँदा की हिन्दू सभा में खलबली मचती है, उससे तत्कालीन हिन्दू जाति तथा वर्ण की आन्तरिक स्थिति पर काफी प्रकाश पड़ता है । साथ ही इस घटना से हिन्दू वर्ण-व्यवस्था की संकीर्णता, विभिन्न वर्णो की वैमनस्य-भावना, समाज के रूढ़िवादी नेताओं का रहस्योद्‌घाटन हो गया है । बाँदा 'हिन्दू-सभा' का नेतृत्व नवलबिहारी करते हैं, वे सबसे कट्टर, संकीर्ण तथा पाखण्डी ब्राह्मण हैं । ब्राह्मणों का बिलकुल टिपिकल रूप नवलबिहारी का है । तात्पर्य यह कि ऐसी साम्प्र-दायिक तथा जातिगत सभाओं का नेतृत्व नवलबिहारी जैसे धूर्त तथा पाखण्डी लोग करते हैं । ऐसी हालत में समाज, देश तथा स्वयं उस सम्प्रदाय और जातिविशेष का भविष्य क्या होगा, यह सहज अनुमेय है । टीकमराम का चरित्र भी इस उपन्यास में नवल की तरह का ही है, जिसका पुत्र मंगल धर्म-भ्रष्ट होकर दक्षिण से लौटता है तो वह कहता है—'तू यदि होते ही मर जाता तो आज यह दिन देखने को न मिलता ।'[1] रूढ़िवादी

---

१. 'प्रत्यागत' : पाँचवाँ संस्करण (२०११ वि०), पृ० ११६ ।

पिता टीकमराम न केवल अपने पुत्र मंगल का बल्कि नवलबिहारी तथा हिन्दू सभा का भी विरोध करता है। पति को मान्यता देने वाली टीकमराम की पत्नी सोमवती भी मंगल को निष्कासित करती है। अन्ततः अन्य कोई उपाय शेष न होने के कारण मंगल के लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था की जाती है, लेकिन मंगल है कि किसी भी कीमत पर वह पंचगव्य पीना स्वीकार नहीं करता। अतः पुनः 'हिन्दू महासभा' में सक्रियता आ जाती है, मानो उसे बहुत बड़ा धार्मिक कार्य मिल गया हो। 'हिन्दू सभा' का प्रत्येक सदस्य अपने वर्णों, जातियों तथा उपजातियों पर अहंकार करता है। देवी सिंह ठाकुर होने की वजह से पीताराम से घृणा करता है, क्योंकि वह ग्वाला है। लखपत को न केवल वैश्य होने का दम्भ है, बल्कि अग्रवाल होने का भी। जो जितने ऊँचे वर्ण का है, उसमें उतना ही बड़ा अहंकार और उतनी ही अधिक कटुता है। नवलबिहारी में इस अहंकार और कटुता की मात्रा अपनी चरम अवस्था में पहुँची हुई दिखायी पड़ती है। इसीलिए वह उपन्यास का खलनायक भी बन जाता है। अन्त में मन्दिर की मूर्ति उल्टी दशा में खड़ी करके वह चमत्कारिक ढंग से लोगों की धार्मिक आस्था को आकृष्ट करना चाहता है। इस प्रकार इस उपन्यास में वर्ण-व्यवस्था-सम्बन्धी बुराइयों को कलात्मक स्तर पर उपन्यास की विधा में पिरोकर प्रस्तुत किया गया है।

'प्रत्यागत' की भाँति अपने एक-दूसरे उपन्यास 'संगम' में भी वर्मा जी ने वर्ण-संकर पुत्र, वर्ण-व्यवस्था तथा जातिगत बहिष्कार की समस्या को उठाया है। 'संगम' का सुखलाल यद्यपि जाति से ब्राह्मण है, लेकिन उसने एक ग्वालिन से विवाह कर रखा है, जिससे उसे रामचन्द्र नामक एक पुत्र उत्पन्न होता है। लेकिन रामचन्द्र से उसका पिता सुखलाल खान-पान का कोई सम्बन्ध नहीं रखता, क्योंकि वह ग्वालिन से जन्मा है। सुखलाल असल में जाति से बहिष्कृत होने के डर से अपने पुत्र के साथ ऐसा व्यवहार करता है। हिन्दू परिवार की मर्यादा खान-पान को ही सर्वाधिक महत्त्व देती है, इसलिए इसके सम्बन्ध में नियन्त्रण बहुत आवश्यक होता है। लेकिन अन्त में जाति-प्रेम पर पुत्र-प्रेम की विजय होती है और समाज का विरोध करके तथा उसकी घृणा का शिकार बनकर भी सुखलाल रामचन्द्र को अपने पुत्र के रूप में स्वीकार करता है। स्पष्ट है कि उपन्यासकार युगीन परिवर्तन के स्तरों से भलीभाँति परिचित है, यद्यपि पुराने संस्कारों को वह एकदम छोड़ नहीं सका है, क्योंकि सुखलाल द्वारा त्याग दिये जाने के बावजूद भी रामचन्द्र में अपने पिता के प्रति कोई घृणा नहीं उत्पन्न होती। बल्कि वह तो—'सुखलाल के साधारण प्रेम को ही बहुत मानता था।'[1]

'निरुपमा' उपन्यास का नायक डा० कुमार लन्दन विश्वविद्यालय से उच्च

---

१. 'संगम' : चौथा संस्करण (१९५५), पृ० ३३।

शिक्षा प्राप्त करके लौटा है, लेकिन भारतीय विश्वविद्यालयों में इस कदर भ्रष्टाचार फैला हुआ है कि उसे बेकार रहना पड़ता है। उन बेकारी के दिनों में डा० कुमार चमार का धन्धा आरम्भ करता है, क्योंकि वह आधुनिक विचारों का है और किसी भी काम को छोटा नहीं समझता। उसके अनुसार सभी काम बराबर होते हैं, लेकिन चूँकि धन्धे के आधार पर यहाँ की वर्ण-व्यवस्था स्वीकृत की गई है अतः यहाँ कामों में ऊँच-नीच का भेद-भाव पहले से ही मान्य रहा है। श्रेष्ठ जातियाँ निम्न कार्यों को करने से इन्कार करती थीं और प्राचीनकाल में सवर्ण हिन्दू कोई भी निम्न तथा छोटा काम नहीं करता था। क्योंकि ऐसा करने पर उसे जाति से निकाले जाने का भय था। डा० कुमार इस समस्या से जूझता है और अकेला विद्रोह करता है। लेकिन उसके इस नये धंधे के कारण उसके परिवार के सदस्यों को समाज के धर्मरक्षक निकाल बाहर करते हैं। कुमार की माता तथा उसका भाई बहिष्कृत जीवन बिताने पर मजबूर किए जाते हैं। यह निष्कासन अशिक्षित ग्रामीण समाज तो करता ही है, लेकिन आधुनिकता से प्रभावित लखनऊ शहर का वैष्णव भोजनालय भी रूढ़िवादी धार्मिक संस्कारों में किसी से पीछे नहीं है। वैष्णव भोजनालय में काम करने वाले गँवार तथा अशिक्षित कहार ही नहीं, बल्कि उसके ग्राहकों का शिक्षित बाबू समुदाय भी कुमार का होटल में रहना धर्म-संकट समझता है। शिक्षित समुदाय के एक सदस्य जगदीश बाबू होटल के मैनेजर से कहते हैं—'यह इंग्लिस्तान नहीं, जैसा देश वैसा भेष। यहाँ तो इस तरह चमारों में ही रहा जा सकता है।'[१] रूढ़िवादी वर्ग अगर शिक्षित होता है तो उसके पास रूढ़ियों के पक्ष-समर्थन की भ्रमपूर्ण, लेकिन प्रभावकारी तर्क-शक्ति भी होती है, जिसके बल पर वह अक्सर लोगों को निरुत्तर कर देने की सफल चेष्टा करता है। ऐसे लोग रहते तो हैं अपने सम-सामयिक परिवेश में ही, लेकिन मानसिक परिवेश तथा संस्कारों में ये बहुत पीछे होते हैं। ऐसी हालत में सम-सामयिक वस्तुओं में से उन्हीं के साथ उनका समझौता हो पाता है, जिनके बिना उनकी सुरक्षा खतरे में पड़ जाय। ऐसे लोग प्रगतिशीलता तथा हर प्रकार के नये प्रयोगों के विरुद्ध होते हैं और अतीत का राग अलापते हुए ही मानसिक सन्तोष-लाभ करते हैं। वस्तुतः ऐसे लोगों के साथ मुश्किल यह होती है कि ये लोग इतने प्रतिभाशाली नहीं होते कि समकालीन प्रयोगों तथा प्रगतिशील आन्दोलनों में कोई महत्त्वपूर्ण हिस्सा ले सकें। अतः अपनी इस असमर्थताओं को ध्यान में रखते हुए जब वे देखते हैं कि उनके बीच के ही बहुत से लोग प्रतिभा के क्षेत्र में उनसे कहीं आगे हैं तो, उन्हें ईर्ष्या होती है और इसी ईर्ष्या के कारण वे प्राचीनता का अस्त्र लेकर हर तरह के नये प्रतिभा-सम्पन्न प्रयोगकर्त्ताओं की आलोचना करते

---

१. 'प्रत्यागत' : पाँचवाँ संस्करण (२०११ वि०), पृ० ३१।

हैं। कुछ समय तक उनका यह आलोचनात्मक आक्रमण अपना प्रभाव भी दिखाता है, लेकिन अन्ततः ऐसे लोग धाराशायी ही होते हैं। यह प्रत्येक युग में और प्रत्येक काल में होता आया है। जगदीश बाबू 'प्रत्यागत' के व्यक्तिगत चरित्र नहीं हैं, उनमें तत्कालीन समाज तथा तथा युग की रूढ़िवादी समाज-दृष्टि साकार हो उठी है।

तात्पर्य यह कि प्रेमचन्दकालीन उपन्यास-साहित्य में वर्ण-व्यवस्था के परम्परित रूप के प्रति आस्था समाप्त दिखाई पड़ती है। इस युग के अधिकांश उपन्यासकारों का दृष्टिकोण रूढ़िवादी समाज के लिए व्यंग्यपूर्ण तथा हास्यास्पद हो गया है। इन लेखकों द्वारा सर्जित प्रत्येक आदर्श चरित्र इस व्यवस्था के खिलाफ आन्दोलन चलाता हुआ दीख पड़ता है। स्वयं प्रेमचन्द के पात्रों में अमरकान्त हरद्वार में जाकर चमारों की बस्ती में रहता है तथा उनके साथ खाने-पीने का सम्बन्ध भी स्थापित करता है। प्रेमचन्द के अतिरिक्त बेचन शर्मा 'उग्र', वृन्दावनलाल वर्मा, जयशंकर प्रसाद तथा 'निराला' भी वर्ण-व्यवस्था की अमानवीयता का विरोध करते हैं। इन उपन्यासकारों का दृष्टिकोण निश्चय ही प्रगतिशील तथा आधुनिक है, फिर भी उनकी अपनी सीमा तो है ही। तात्पर्य यह कि अपने युग की सापेक्षता में ही इन्हें आधुनिक कहा जा सकता है, आज की आधुनिकता के सन्दर्भ में नहीं।

लेकिन सामाजिक चेतना का आधुनिक सन्दर्भ में प्रगतिशील दृष्टिकोण सम-सामयिक उपन्यासों में, यानी कि प्रेमचन्दोत्तर काल में स्पष्टतः उभर कर सामने आया है, जिसमें व्यापकता तथा गम्भीरता भी है। जैनेन्द्र, अज्ञेय तथा यशपाल के उपन्यासों में इसका स्वर विशेष मुखरित हुआ है। लेकिन इनका धरातल थोड़ा भिन्न है, जिसका कारण तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियाँ हैं। वस्तुतः अब तक वर्ण-व्यवस्था के प्रति कट्टरता लोगों में नहीं रह गई थी। निम्न जाति के लोग भी सुशिक्षित होकर समाज का नेतृत्व संभालने लगे थे। लेकिन यह सिद्धान्त की बात थी व्यवहार में अभी भी जाति-भेद बना हुआ था और शूद्र वर्ण को लोग अभी भी अछूत समझते थे तथा उनके साथ उठना-बैठना, खाना-पीना नहीं हो पा रहा था। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था की समस्या यहाँ अछूत समस्या के रूप में उपन्यासकारों का ध्यान आकृष्ट करती है। निश्चय ही इस समस्या की ओर ध्यान आकृष्ट करने का बहुत कुछ श्रेय महात्मा गाँधी के 'हरिजनोद्धार कार्यक्रमों' को है।

अछूत समस्या

वर्ण-व्यवस्था से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध अछूत समस्या है। १९३६-३७ के आसपास भारतीय समाज में रूढ़ियों और अंध-परम्पराओं का बहुत कुछ अंत हो गया था। समाज में अछूत वर्ग तथा निम्न जातियों को राजनीतिक स्तर पर समानता का

अधिकार प्राप्त हो गया था। राष्ट्रीय रंगमंच पर इसी समय हम डा० अम्बेदकर और जगजीवन राम जैसे निम्नवर्गीय पात्रों को उच्चवर्गीय पात्रों के साथ बराबरी के स्तर पर काम करते हुये पाते हैं। राजनीतिक सन्दर्भों में गाँधीजी ने अछूत तथा हरिजनों की समस्या को काफी गम्भीरता से लिया और उनके उद्धार के लिए विविध रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत किए। फलतः गाँधी का यह युग जातियों की समानता की दृष्टि से बहुत कुछ उपलब्धियों के स्तर तक पहुँचा हुआ कहा जा सकता है। इसी समय हम उपन्यास-साहित्य में भी निम्नवर्गीय पात्रों को समाज का प्रतिनिधित्व करते हुए पाते हैं। 'मनुष्यानन्द' उपन्यास का भंगी बुधुआ सवर्ण हिन्दू, अंग्रेज सरकार तथा पुलिस, तीनों से एक साथ ही विद्रोह करता है। तात्पर्य यह कि सामाजिक संगठन संबन्धी बुराइयों के कारण समाज में युगों से भिन्न जातियों का शोषण चला आ रहा था, वह प्रायः मिट चुका था और राजनीतिक स्तर पर प्रत्येक वर्ण के लोगों को समानता का अधिकार प्राप्त हो चुका था। अतः इस सामाजिक स्थिति में परिवर्तन के कारण समाज की समस्याओं में भी परिवर्तन अपेक्षित था। साथ ही विद्रोह तथा संघर्ष की भूमिका के भी बहुत कुछ बदल जाने की सम्भावना दीख पड़ी। जब तक समाज में परम्परागत कुप्रथाओं का प्राधान्य था तथा जर्जर सामाजिक मूल्यों के फलस्वरूप कुछ समुदाय शोषित तथा पीड़ित थे, तब तक संघर्ष की स्थिति रूढ़िवादी तथा प्रगतिशील लोगों के बीच थी। लेकिन इस भिन्न परिस्थिति में जब कि सबको समान अधिकार प्राप्त हो गया था तथा जाति के नाम पर शोषण समाप्त हो गया था, संघर्ष के केन्द्र में भी परिवर्तन आया और पहले का वर्गीय संघर्ष अब समाज तथा व्यक्ति के संतुलन के प्रश्न पर केन्द्रित हो गया। आधुनिक युग में अधिकांश लेखक इसी प्रश्न के चिन्तन में लगे रहे। लेकिन साथ ही कुछ स्थूल सामाजिक समस्याओं के प्रति उनकी गहरी दिलचस्पी से भी इन्कार नहीं किया जा सकता।

छुआछूत के रूप में अन्ततः उपन्यासकारों ने वर्ण व्यवस्था की परम्परागत अवस्था को ही अपने आक्रमण का आधार बनाया है। वस्तुतः इस समस्या पर पिछले युग (प्रेमचन्द काल) में भी विचार किया गया था। जैसा कि हम सब जानते हैं, उस समय राजनीतिक तथा राष्ट्रीय रंगमंच पर गाँधी जी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। गाँधीजी ने अपने युग को प्रभावित भी खूब किया और उनके रचनात्मक कार्यक्रमों का प्रभाव तो सर्वविदित रहा है। गांधीजी ने वर्ण-भेद, छुआछूत तथा अन्तर्जातीय विवाह के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किए। उपन्यासकारों ने गाँधी जी के विचारों से ही प्रेरणा ग्रहण की। गाँधीजी द्वारा हरिजनों की बस्ती में सेवा कार्य का संचालन ही 'कर्मभूमि' के अमरकान्त की प्रेरणा के रूप में कार्य करता रहा है। यही कारण है कि 'कर्मभूमि' का अछूतोद्धार आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप ले लेता है। रैदास चमारों

का लगान-बन्दी आन्दोलन केवल जमींदार के विरुद्ध नहीं अंग्रेज सरकार से भी टक्कर लेता है। इसी प्रकार बेचन शर्मा 'उग्र' के उपन्यास 'मनुष्यानन्द' में मन्त्री वर्ग म्यूनिसिपैलिटी के खिलाफ़ आन्दोलन करता है और अंततः म्युनिसिपैलिटी से अपनी सम्पूर्ण माँगें मनवा लेने में सफल भी हो जाता है, क्योंकि उसका नेतृत्व उन्हीं के वर्ग का बुधुआ करता है। कर्मभूमि का आन्दोलन व्यापक तो है, पर उसमें तेजी नहीं है, उसमें अंग्रेज सरकार के शोषण का विशद चित्रण भले हुआ हो, लेकिन अन्ततः वह कमजोर ही लगता है। गवर्नर की प्रशंसा करके समझौते में उसका अन्त इसीलिए होता है। लेकिन 'मनुष्यानन्द' में म्यूनिसिपैलिटी, भद्र समाज तथा अंग्रेजी सत्ता सभी मिलकर भी भंगियों की संघबद्ध सत्ता का मुकाबला नहीं कर पाते और अन्ततः उनका वेतन दुगना बढ़ाना पड़ता है। उनके रहने के लिए मकान की व्यवस्था की जाती है। दलित विद्यालय खोलकर-उनके लिए शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता है तथा उन्हें हस्तकला की शिक्षा भी दी जाती है। इसका मतलब यह नहीं कि 'कर्मभूमि' के अछूत शक्तिहीन हैं और नव-जागरण की चेतना से अनभिज्ञ हैं, बल्कि सत्य तो यह है कि उनकी उग्रता तथा अदम्य शक्ति का ही यह परिणाम है कि आशावादी और समझौतावादी अमरकान्त महन्त का विश्वास त्याग करके सक्रिय आन्दोलन को क्रियान्वित करता है, दोनों उपन्यासों के अछूतों की संघ-बद्ध शक्ति तथा नव-चेतना से ऐसा स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि थोड़े दिन बाद ही अछूत वर्ग अपनी दासता से मुक्त हो जायगा।

लेकिन आधुनिक युग में अज्ञेय आदि ने एक नये धरातल पर ही इस समस्या को उठाया है। यहाँ इस समस्या का रूप नितान्त वैयक्तिक है और व्यक्तिगत विद्रोह में इसका समाधान ढूंढा गया है। विद्रोही शेखर ब्राह्मणों का छात्रावास छोड़कर अछूत छात्रों के बीच उनके छात्रावास में रहने लगता है। वह सदाशिव, राघवन आदि अछूत छात्रों की सहायता से एक अछूतोद्धार समिति का भी निर्माण करता है। यही नहीं, वह अछूत छात्रों में शिक्षा की भी उचित व्यवस्था के लिये चिन्तित है और स्वयं उन्हें मुफ्त शिक्षा देने के कार्यक्रम को संचालित करता है। पहली बार शेखर को हम वैयक्तिक स्तर पर ऐसे सामाजिक सवालों से जूझते हुए पाते हैं। वस्तुतः यह संघर्ष वैयक्तिक स्तर का नहीं है, सामाजिकता के व्यापक धरातल पर ही इसे क्रियान्वित किया जा सकता है। लेकिन व्यक्ति का वैयक्तिक बोध इस काल में इतना अधिक प्रबल हो गया है कि वह अकेले भी समाज का मुकाबला करने को प्रस्तुत है। इस युग के साहसी प्रगतिशील चरित्रों की यह विशेषता ही कही जायगी जिसने इन्हें इस व्यापक विद्रोह का मुकाबला अकेले ही करने की प्रेरणा प्रदान की।

---

१. 'शेखर : एक जीवनी' दो भागों में प्रकाशित अज्ञेय के उपन्यास का नायक।

वस्तुतः वर्ण-भेद, जाति-भेद, छुआछूत आदि हमारे समाज की कुछ ऐसी बुराइयाँ हैं, जो समाज को अनिवार्यतः पतन तथा पाशविकता की ओर ले जाती हैं। मनुष्य चूँकि अविकसित अवस्था में था, तब से सारी बुराइयाँ समाज में थीं, लेकिन अब इस प्रगतिशील तथा वैज्ञानिक युग में कोई भी समाज इन बुराइयों को कायम रखने के पक्ष में नहीं होगा। फिर भी हम खेद के साथ कहने पर मजबूर हैं कि ये तथाकथित सामाजिक बुराइयाँ किसी-न-किसी रूप में आज भी कायम हैं। चाहे होटलों में खाना खाने में, भंगी-चमार के साथ बैठकर काम करने में लोग हिचकिचाहट भले न व्यक्त करते हों, लेकिन अन्य मामलों में जातिगत संगठन आज भी सुदृढ़ हैं। ब्राह्मण समाज हो या क्षत्रिय समाज अथवा वैश्य समाज हो या शूद्र समाज—ये सभी आज भी संघबद्ध जीवन बिताते हैं। वस्तुतः इन जातियों का अस्तित्त्व भी इस संघबद्धता में ही है। संभवतः महाकवि की वाणी 'संघे शक्ति कलौ युगे' का यह साक्षात् रूप ही है जो विविध संगठनों के माध्यम से अपनी प्रामाणिकता घोषित कर रही है। हालत यहाँ तक है कि अकेले रहना किसी के लिये भी सम्भव नहीं रहा है।

हिन्दी के उपन्यास-लेखकों ने भी वर्ण-भेद तथा छुआछूत समस्या का समाधान संघबद्ध होकर संगठित शक्ति अर्जित करने में ढूँढ़ा है। स्वयं प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्द युग के प्रमुख उपन्यासकार पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ने भी अछूतों के संगठन पर विशेष बल दिया है। वास्तव में हमारे उपन्यासकार युगीन राजनीतिक नेताओं की अपेक्षा इस समस्या को कहीं अधिक व्यापक धरातल पर देखते हैं। गाँधी तथा डा० अम्बेदकर इस समस्या को केवल राजनीति के स्तर पर ही देखते हैं, लेकिन हमारे उपन्यासकार अछूतों की दयनीय सामाजिक अवस्था का वास्तविक कारण खोज निकालने का प्रयास करते हैं। कर्मभूमि के रैदास चमारों की दयनीय अवस्था का वास्तविक कारण महन्त तथा जमींदार का दुहरा शोषण तथा १९२९-३० की संसारव्यापी आर्थिक मन्दी है। इसलिये सबसे पहले प्रेमचन्द लगान बंदी आन्दोलन का सूत्रपात करते हैं। 'मनुष्यानन्द' के अघोरी बाबा तो वेतन बढ़ाने की ट्रेड यूनियन जैसी पेशेवर संस्थाओं का संगठन करते हैं। वह अछूतों के सम्मुख अपने विचार इस प्रकार रखते हैं—'क्योंकि आजकल के संसार की सबसे बड़ी समस्या पैसों की समस्या है। इस पैसे के प्रश्न को हल करने के लिये तुम्हें सबसे पहले आपस में एका करना चाहिये। अपना एक संघ बनाना चाहिए, पंच चुनने चाहिये और उनकी आज्ञाओं को मानकर सब काम करना चाहिये। ज्यों ही तुम संघबद्ध होकर काम करोगे, त्योंही समाज तुम्हारे सामने झुक जायगा। लोग समझने लगेंगे कि तुम्हारा भी कोई अस्तित्त्व है और आवश्यक अस्तित्त्व है।'[1] तात्पर्य यह

---

१. 'मनुष्यानन्द' : दूसरा संस्करण (१९५५), पृ० १३८।

कि इस युग के प्रमुख उपन्यास-लेखक भी यही मानते हैं कि निम्नवर्गीय जातियों तथा अछूतों की दशा में तब तक सुधार नहीं आ सकता, जब तक कि संगठित होकर अपने में सामाजिक संगठन की शक्ति न अर्जित कर लें।

अन्तर्जातीय विवाह

वर्ण-व्यवस्था से ही उत्पन्न आधुनिक समस्याओं में अन्तर्जातीय विवाह की समस्या भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या है, जिसका जन्म आधुनिक भारत की प्रगतिशील चेतना का परिणाम है। पिछले युग में अछूतों के साथ बैठकर भोजन करने की बात तो दूर रही, उसके स्पर्श मात्र से सवर्ण हिन्दू अपने को अपवित्र मानता था और तब तक शुद्ध नहीं मानता था, जब तक पुनः स्नान करके आत्मशुद्धि न कर ले। मन्दिर-प्रवेश तथा धार्मिक उत्सवों में भी वह सम्मिलित नहीं हो सकता था और न भगवान की मूर्ति के दर्शन ही उसे नसीब हो सकते थे। हिन्दी उपन्यासकारों ने इन तीनों मान्यताओं के प्रति विद्रोह किया। यह उनके सामाजिक तत्त्वों के विश्लेषण की प्रवृत्ति को सूचित करता है।

वर्णाश्रम धर्म के अनुसार सवर्णों तथा उच्च वर्णों में भी परस्पर शादी-ब्याह का सम्बन्ध नहीं होता, फिर अछूत तथा निम्न वर्ण के साथ उच्च वर्ण का विवाह-सम्बन्ध तो कल्पना से भी परे की बात थी। शादी-ब्याह की बात तो दूर रही, अछूतों तथा निम्न वर्ण की जातियों को तो उच्च वर्ण की जातियों के घर शरण तक नहीं मिल सकती थी। 'मनुष्यानन्द' उपन्यास में मन्त्री बुधुआ की अनाथ अवजन्मा बालिका के पालन-पोषण का प्रश्न उग्र जी ने उठाया है और यह दिखाया है कि उस बालिका को रखने के लिये कोई तैयार नहीं होता। इस सामाजिक संकीर्णता तथा अमानुषिकता पर उग्र जी कठोर व्यंग्य करते हैं—'यद्यपि वहाँ पर ऐसे अनेक हिन्दू हैं, जिनके यहाँ कुत्ते भी पले हैं—और एक नहीं अनेक। भंगी समाज का मैला ही फेंकने के कारण पतित है और उस मैले को खाने वाला कुत्ता शुद्ध है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सिद्धान्त आदि के आविष्कारक इन हिन्दुओं का ऐसा पतन हो गया, पादरी साहब और अंततः बुधुआ की बेटी राधा का पालन-पोषण कोई हिन्दू नहीं, ईसाई पादरी करता है। युवती राधा से घनश्याम जैसे सवर्ण हिन्दू तो शादी की बात सोच भी नहीं सकते, लेकिन भोगलिप्सा की तृप्ति अवश्य चाहते हैं। घनश्याम उससे अपनी वासनाओं की तृप्ति तो करता है, लेकिन उसके साथ सच्चा प्रेम-सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता।

अन्तर्जातीय विवाह के सम्बन्ध में प्रारम्भिक काल के उपन्यासकारों का दृष्टिकोण भी बहुत कुछ उदारवादी तथा प्रगतिशील रहा है, यद्यपि ऐसे लेखकों की संख्या भी कम नहीं है जो सनातनधर्मी तथा परम्परागत भावनाओं के पोषक हैं। फिर भी

कुछ प्रगतिशील तथा उदारवादी लेखक भी हैं, जिनके विचार उस युग में भले ही आलोचना के विषय रहे हों, लेकिन बाद में समाज उन्हीं के विचारों पर चलने को प्रस्तुत हुआ। मन्नन द्विवेदी का नाम भी ऐसे उपन्यासकारों में लिया जा सकता है, जिन्होंने सनातनी व्यवस्था की बुराइयों को उखाड़ फेंकने की भरपूर कोशिश की और समाज के सम्बन्ध में प्रगतिशील दृष्टिकोण को स्थापित किया। यों मन्नन द्विवेदी भी पूरी तरह नई सभ्यता को स्वीकार नहीं कर पाते, लेकिन फिर भी सुधारों का स्वागत करते हैं। ईसाइयों की पश्चिमी नकल उनको पसन्द न थी, लेकिन उनके सद्गुणों के प्रति उनके मन में आदर-भाव था। उन्हें ईसाइयों से चिढ़ नहीं, लेकिन पश्चिमी सभ्यता से असन्तोष था। वह हिन्दुओं के लिए, तात्त्विक मतभेद होते हुए भी एक सामान्य सुधारवादी योजना बनाना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में उनका ध्यान दो लक्ष्यों की ओर जाता है—ब्राह्मण और नारी। अपने 'रामलाल' उपन्यास में कलाकार की पुत्री धनराजया को क्षत्री नायक रामलाल की धर्म-बहिन और सेठ शिवदास की पत्नी बना कर मन्नन द्विवेदी ने जाति-प्रथा को तोड़ने का ही नहीं, बल्कि अन्तर्जातीय विवाह के क्षेत्र में भी सम्भवतः प्रथम महत्त्वपूर्ण कदम रखा है। सरताजी कहार और बुद्धसेन भर का 'कल्याणी' उपन्यास में जो विवाह सम्बन्ध कराया गया है, वह भी इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। सिद्धान्तों को मानते हुए भी बिरादरी के भय से दब्बू बने रहने वालों को लेखक ने अच्छी डाँट बताई है—'अगर बिरादरी के नियमों की ही दुहाई देनी थी तो आर्य समाजी होने से क्या फ़ायदा हुआ ?'[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भिक युग के उपन्यासों में भी ऐसे उदाहरण मौजूद हैं, जिनके आधार पर उनके प्रगतिशील दृष्टिकोण को प्रमाणित किया जा सकता है। निश्चय ही प्रेमचन्द तथा उनके समय के अन्य लेखकों ने इन प्रारम्भिक उपन्यास-कारों से इस दिशा में प्रेरणा ग्रहण की और इसके अनुसार ही अपने दृष्टिकोण का निर्माण किया।

प्रेमचंद 'गोदान' में सिलिया तथा ब्राह्मण मातादीन का संबंध कराकर इस अंतर्जातीय विवाह की मान्यता को और भी पुष्ट और सुदृढ़ बनाते हैं। मातादीन का सिलिया चमारिन से प्रणय तथा काम सम्बन्ध है, लेकिन उससे शादी करना तो दूर रहा, वह उसके हाथ का छुआ पानी भी नहीं पीता। प्रेमचन्द का विद्रोही स्वर सिलिया की माँ के शब्दों में व्यक्त होता है—'तुम बड़े नेमी-धरमी हो। उसके साथ सोओगे, लेकिन उसके हाथ का पानी न पिओगे। यही चुड़ैल है कि यह सब सहती है। मैं तो

---

१. 'कल्याणी' : प्रथम संस्करण, पृ० २२९

ऐसे आदमी को माहुर दे देती ।[1] चमार अपने वर्ग की प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए मातादीन के मुँह में हड्डी का टुकड़ा डालकर उसे धर्म-भ्रष्ट करते हैं। चमारों का आक्रोश इसलिए है कि मातादीन ने सिलिया का सतीत्व नष्ट किया है अत: वह उसे पत्नी के रूप में स्वीकार करे। सिलिया का बूढ़ा बाप कहता है—'हमें ब्राह्मण बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह सामरथ नहीं है तो फिर तुम भी चमार बनो। हमारे साथ खाओ-पिओ, हमारे साथ उठो-बैठो। हमारी इज्जत लेते हो तो अपना धर्म हमें दो।'[2] अछूत को ब्राह्मण बनने का अधिकार नहीं लेकिन किसी सवर्ण हिन्दू के कुकर्म करने पर तथा धर्म भ्रष्ट होने पर उसे पुन: जाति विशेष में प्रवेश पाने की व्यवस्था है। प्रेमचन्द लिखते हैं—'मातादीन को कई सौ रुपए खर्च करने के बाद अन्त में काशी के पण्डितों ने फिर से ब्राह्मण बना दिया। उस दिन बड़ा भारी हवन हुआ, बहुत से ब्राह्मणों ने भोजन किया और बहुत से मंत्र तथा श्लोक पढ़े गये। मातादीन को शुद्ध गोबर और गो-मूत्र खाना-पीना पड़ा। गोबर से उसका मन पवित्र हो गया। मूत्र से उसकी आत्मा में अशुद्धता के कीटाणु मर गये।'[3] लेखक तीव्र व्यंग्य से इस प्रायश्चित्त विधान तथा ढकोसले का भंडाफोड़ करता है जिससे मातादीन की आँखें खुल जाती हैं और मातादीन रूढ़िवादी धर्म छोड़कर सिलिया चमारिन को पत्नी रूप में स्वीकार कर लेता है। मातादीन कहता है—'मैं बाह्मन नहीं, चमार ही रहना चाहता हूँ। जो अपना धर्म पाले वही बाह्मन है, जो धरम से मुँह मोड़े, वही चमार।'[4] अछूत समस्या के समाधान के लिए यह आवश्यक था कि उनके साथ सवर्ण लोगों का विवाह-सम्बन्ध कराया जाय।

प्रेमचन्द की भाँति जयशंकर प्रसाद भी अपने उपन्यास 'तितली' में अन्तर्जातीय विवाह की समस्या प्रस्तुत करते हैं और बड़े साहस के साथ उसका समर्थन करते हैं। 'प्रसाद' जी का उक्त दृष्टिकोण इस उपन्यास में शैला तथा इन्द्रदेव को वैवाहिक सूत्र में बाँधकर भारतीय तथा पाश्चात्य संस्कृति का समन्वय स्थापित करना रहा है। शैला अंग्रेज युवती है, लेकिन हिन्दू धर्म की दीक्षा लेती है। लेकिन इस पर भी रूढ़िवादी विचारों वाली इन्द्रदेव की माँ श्यामदुलारी उससे छूत मानती हैं और बहू के रूप में उसे स्वीकार करना तो दूर रहा, उसका घर में रहना भी बर्दाश्त नहीं कर पातीं। फलत: कई वर्षों तक दोनों पति-पत्नी के रूप में नहीं रह पाते और उन्हें अनेक संघर्ष करने

---

१. 'गोदान' : तेरहवाँ संस्करण (१९५६), पृ० २६१

२. 'गोदान' : तेरहवाँ संस्करण (१९५६), पृ० २६०

३. 'गोदान' : तेरहवाँ संस्करण (१९५६), पृ० ३५३।

४. 'गोदान' : तेरहवाँ संस्करण (१९५६), पृ० ३५७।

पड़ते हैं। लेकिन अन्ततः मृत्यु-शैय्या पर पड़ी श्यामदुलारी शैला को बहू रूप में स्वीकार कर लेती हैं। श्यामदुलारी के रूप में उच्च वर्ण से सम्बन्धित अन्तर्जातीय विवाह का यह समर्थन भारतीय सामाजिक इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना बन जाती है, जो प्रसाद के माध्यम से घटित होती है।

सम-सामयिक युग में (प्रेमचंदोत्तर काल में) अन्तर्जातीय विवाह कोई समस्या नहीं रह गया है, समाज में धड़ल्ले से अन्तर्जातीय विवाह होने लगे हैं। इस सम्बन्ध में 'नारी-समस्या' पर विचार करते हुए अन्यत्र पुनः हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

मन्दिर-प्रवेश

वर्ण भेद और अछूत समस्या का एक रूप यह भी था कि अछूतों को भगवान् के मन्दिर में भी जाने का अधिकार नहीं प्राप्त था। वे इतने अभागे समझे जाते थे कि उनके लिए मन्दिरों में जाकर भगवान का दर्शन भी कर पाना दुर्लभ था। उपन्यासकारों ने इस अमानुषिकता के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त किया। यह समस्या प्रारम्भिक काल के उपन्यासों में प्रायः नहीं मिलती, हाँ, प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में इस समस्या को अवश्य प्रस्तुत किया है 'कर्मभूमि' में ठाकुर जी के मन्दिर में रामायण की कथा का आयोजन है। एक दिन अछूतों को भी कथा सुनते देखकर रूढ़िवादी दल हंगामा मचा देता है—'ये दुष्ट रोज यहाँ आते थे। रोज सब को छूते थे। इनका छुआ प्रसाद लोग रोज खाते थे। इससे बढ़कर अनर्थ क्या हो सकता है ? धर्म पर इससे बड़ा आघात और क्या हो सकता है। धर्मात्माओं के क्रोध का पारावार न रहा। कई आदमी जूते लेकर उन ग़रीबों पर पिल पड़े।'[1] इस बर्बरता का मानो स्वयं प्रेमचन्द आक्रोश-भरे शब्दों में डा० शान्तिकुमार के माध्यम से नये युग के विद्रोही स्वर में धनी, पण्डे-पुरोहित वर्ग को चेतावनी देते हैं—'अंधे भक्तों की आँखों में धूल झोंककर यह हलवे बहुत दिन खाने को न मिलेंगे महाराज, समझ गये। अब वह समय आ रहा है, जब भगवान् भी पानी से स्नान करेंगे, दूध से नहीं।'[2] अन्ततः डा० शान्तिकुमार और सुखदा के नेतृत्व में समस्त अछूत वर्ग संघबद्ध होता है और सवर्ण धनी वर्ग की सहायता के लिए नियुक्त पुलिस की गोलियाँ सहते हुए भी कई व्यक्तियों का बलिदान देकर अछूत वर्ग मन्दिर में प्रवेश करता है। यह अछूत वर्ग को उनकी एकता, अटूट संघर्ष तथा जागरूकता और बलिदान से मिली हुई वास्तविक विजय है।

---

१. 'कर्मभूमि' : आठवाँ संस्करण (२०११), पृ० २०५-२०६।

२. 'कर्मभूमि' : आठवाँ संस्करण (२०११) पृ० २०७।

इसी प्रकार बेचन शर्मा 'उग्र' ने भी अपने उपन्यास 'मनुष्यानन्द' में इस समस्या को भी उठाया है। बुधुआ अपनी मृत्यु-शय्या पर यह अभिलाषा व्यक्त करता है कि वह बाबा विश्वनाथ जी का दर्शन करना चाहता है। अतः अघोरी बाबा के नेतृत्व में भंगियों का जुलूस विश्वनाथ जी के दर्शन के लिए जाता है। मन्दिर की पवित्रता की रक्षा करने के लिए पंडे-पुरोहित हिंसात्मक संघर्ष की तैयारी करते हैं, लेकिन उग्र जी अघोरी बाबा के अलौकिक चरित्र का सहारा लेकर संघर्ष बचा लेते हैं और अछूत विश्वनाथ जी के दर्शन भी कर लेते हैं। यों उस समय की सामाजिक स्थिति को देखते हुए इस संघर्ष की सम्भावना अनिवार्य थी, जिसे प्रेमचन्द ने दिखाया।

खान-पान

खान-पान की समस्या जाति-भेद से ही उत्पन्न होती है। वस्तुतः खान-पान का सम्बन्ध बहुत ही आत्मीय और स्नेहिल होता है। लेकिन समाज में जातिगत भेद-भाव के कारण 'खान-पान' में भी परहेज तथा भेद-भाव की स्थिति पाई जाती थी। उच्च वर्ण के लोग निम्न वर्ण तथा शूद्र वर्ण का छुआ अन्न-जल ग्रहण नहीं करते थे। समाज में इसके कारण अनेकानेक भेद-भाव तथा वर्ण-वैषम्य की स्थितियाँ उत्पन्न हुईं, जिनके कारण समाज का स्वस्थ विकास अवरुद्ध हो गया। इस समस्या पर समाज-सुधारकों ने भी ध्यान दिया और आधुनिक युग में गाँधीजी ने इसे दूर करने की दिशा में ठोस रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत किए। उपन्यासकारों पर भी इसका प्रभाव पड़ा और उन्होंने भी अपने उपन्यासों में इस अमानुषिक समस्या का विरोध किया। 'कर्म-भूमि' के अमरकान्त को प्रेमचन्द ने हरद्वार में चमारों के एक पहाड़ी गाँव में चमारिन बुढ़िया सलोनी की दरिद्र झोपड़ी में पुत्र की भाँति रहते और उसका बनाया खाते-पीते दिखाया। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रारम्भिक काल के उपन्यासकार यह दिखाने का साहस नहीं कर सकते थे, उनमें धार्मिक रूढ़िवाद हावी था, इसलिए वे सनातनी मुद्रा में बात करते हैं। 'चन्द्रकान्ता संतति' में बाबू देवकीनन्दन खत्री खान-पान में छुआछूत के परहेज पर जोर देते हैं। उपन्यास का चरित्र आनन्द सिंह कहता है—'क्या मैं तेरा छुआ खाऊँ ?'

औरत—क्यों क्या हर्ज है ? खुदा सब का एक है। उसी ने हमको भी पैदा किया, आपको भी पैदा किया, जब एक ही बाप के सब लड़के हैं तो आपुस में छूत कैसी ?

आनन्द सिंह—(चिढ़कर) खुदा ने हाथी भी पैदा किया, उसी ने गदहा भी पैदा किया, कुत्ता भी पैदा किया, मुर्गा भी पैदा किया, जब एक ही बाप के सब

लड़के हैं तो परहेज काहे का ।[१]

स्पष्ट है कि पिछले युग का लेखक किस प्रकार रूढ़ियों और अंध-परम्पराओं से ग्रसित था। लेकिन प्रेमचन्द-काल में यह स्थिति लगभग समाप्त हुई-सी दीखती है और लोगों में इस संकीर्णता के खिलाफ़ विद्रोही भावना का निर्माण लक्षित किया जा सकता है। आगे चलकर अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' में भी शेखर के माध्यम से हम इसका भरपूर समर्थन पाते हैं।

सारांश यह कि वर्ण-व्यवस्था तथा उससे उत्पन्न अछूत समस्या तथा अन्तर्जातीय विवाह की समस्या आदि ने हिन्दी उपन्यासकारों को बहुत कुछ प्रभावित किया है और समय तथा तत्कालीन समाज की प्रगति के साथ-साथ समस्याओं के प्रगतिशील समाधानों की ओर भी अपने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। वस्तुतः उपन्यास साहित्य सामाजिक गतिविधि को उद्घाटित करने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा सार्थक विधा है। इसलिए साहित्यकारों में उपन्यासकार ही सबसे अधिक समाजोन्मुखी होता है। इस प्रकार हिन्दी उपन्यास-साहित्य वर्ण-व्यवस्था तथा छुआछूत और अन्तर्जातीय विवाह जैसी समस्याओं के चित्रण में काफी सफल रहा है और विभिन्न युगों के बदलते हुए विभिन्न दृष्टिकोणों का विवेचन प्रस्तुत करता है।

संयुक्त परिवार

प्राचीन काल में हिन्दू समाज-संगठन का एकमात्र आधार संयुक्त परिवार था। सामाजिक संस्थाओं का रूप तथा संगठन किसी भी देश की आर्थिक परिस्थितियों द्वारा निश्चित होता है, क्योंकि मुख्यतः नवीन आर्थिक सुविधाओं की दृष्टि से ही सामाजिक संस्थाएँ नये स्वरूप में संगठित होती हैं। यों आर्थिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त सांस्कृतिक रुचि सम्बन्धी परिवर्तन भी सामाजिक संगठन को प्रभावित करते हैं।

आधुनिक युग में औद्योगिक राष्ट्रीय प्रणाली ने ग्रामीण सीमा-बद्ध तथा कृषि-प्रधान आर्थिक व्यवस्था का स्थान ग्रहण कर लिया, अतः संयुक्त परिवार के सम्मुख नई आर्थिक समस्याएँ तथा दुविधाएँ उत्पन्न हुईं। इस परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि संयुक्त परिवार, जो मुख्यतः आर्थिक व्यवस्था का सामाजिक संगठन था, नया रूप धारण करने लगा। परम्परागत रीति-रिवाजों तथा रूढ़ियों का निर्वाह सम्भव नहीं रहा। फलतः नवीन आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में संयुक्त परिवार प्रणाली में भी परिवर्तन उपस्थित हुआ।

---

१. चन्द्रकान्ता संतति : लहरी बुक डिपो, बनारस, पहिला हिस्सा, प्रथम भाग, पृ० ३७-३८।

समाजशास्त्रियों के अनुसार परिवार दो प्रकार के होते हैं—एक संयुक्त परिवार और दूसरा व्यक्तिवादी परिवार। संयुक्त परिवार में पति-पत्नी के अतिरिक्त नाबालिग बच्चे तथा पितृकुल के चार-पाँच पीढ़ियों के बंधु-बांधव तथा निःसहाय स्त्रियाँ होती हैं। लेकिन व्यक्तिवादी परिवार, जिसे पाश्चात्य परिवार तथा आणविक परिवार भी कहा गया है, केवल पति-पत्नी तथा उनके नाबालिग बच्चों तक ही सीमित होता है। लेकिन इस सम्बन्ध में स्थिति यह है कि जहाँ संयुक्त परिवार विघटित हुए हैं, वहाँ एकदम नये परिवार यानी व्यक्तिवादी परिवार की व्यवस्था नहीं लागू हुई है, बल्कि एक नई पारिवारिक व्यवस्था का जन्म हुआ है, जिसे पूरी तरह न तो व्यक्तिवादी कहा जा सकता है और न संयुक्त। वस्तुतः यह दोनों के बीच की स्थिति है, जिसमें कुछ मात्रा में नये तत्त्वों का आगमन हुआ है तो कुछ प्राचीन तत्त्व भी बचे रह गये हैं। यह परिवार प्रायः तीन पीढ़ियों का होता है—माता-पिता, पुत्र तथा बच्चे इसके सदस्य होते हैं। वस्तुतः यह इसलिए है, क्योंकि अभी हम पूरी तरह औद्योगिक आर्थिक प्रणाली नहीं अपना सके हैं। कृषि प्रणाली आज भी किसी-न-किसी रूप में कायम है। यही कारण है कि आज भी हम पूरी तरह व्यक्तिवादी परिवार व्यवस्था को लागू नहीं कर पाते हैं। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की एक बात और है, वह यह कि परिवारों के विघटन के बावजूद भी अभी लोगों में परस्पर प्रेम-भावना समाप्त नहीं हुई है, इसलिए वे टूट कर भी सन्तुष्ट नहीं हैं, बल्कि उस टूटने की स्थिति के लिए बार-बार पश्चात्ताप करते हैं। हिन्दी के उपन्यासकारों ने लोगों की इस स्थिति को अच्छी तरह समझा है तथा यथासम्भव उसे अपनी रचनाओं में व्यक्त भी किया है।

इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भिक काल महत्त्वपूर्ण सामग्रियाँ प्रस्तुत करता है। यद्यपि इस काल में नवीन सुधार आन्दोलनों का दौर बहुत तेज था और उससे प्रभावित लेखकों में भी इन सुधारों के प्रति उत्साह देखा जा सकता है, लेकिन अधिकांश लेखक सनातनी तथा रूढ़िवादी विचारों के ही हैं, जो अन्य सुधारों की भाँति पारिवारिक परिवर्तन को भी अपनी स्वीकृत नहीं दे पाते। इन कट्टर सनातन धर्मी उपन्यासकारों में पं० किशोरीलाल गोस्वामी तथा मेहता लज्जाराम शर्मा का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। गोस्वामी जी प्रायः प्रत्येक उपन्यास में सुधारवादियों का खण्डन करते हैं तथा सनातन धर्म के मार्ग को उपयुक्त तथा श्रेष्ठ प्रमाणित करते हैं। अपने प्रसिद्ध उपन्यास मालती-माधव में गोस्वामी जी सभी तरह के पुराने रीति-रिवाजों का आँख मूँद कर समर्थन करते हैं। इसी प्रकार मेहता लज्जाराम शर्मा भी संयुक्त परिवार व्यवस्था का समर्थन करते हैं। 'आदर्श दंपति' उपन्यास के दम्पति सम्मिलित परिवार के पक्षपाती हैं, लेकिन सुखदा जेठ-जेठानी से अलग रहना चाहती है, जिसके लिए लेखक उसे 'कर्कशा' कहकर सम्बोधित करता है। मेहता जी

का दृष्टिकोण इन शब्दों में व्यक्त हुआ है—'आजकल के लोग चाहे हजार 'संयुक्त कुटुम्ब' की चाल को नापसन्द करें, परन्तु जब तक बूढ़े बाबा के दम में दम रहा सारा घर उसकी आज्ञा के अधीन सुखी रहा, ।[1] इस प्रकार इन सनातन धर्मी तथा कट्टर रूढ़िवादी लेखकों ने संयुक्त परिवार को भरसक बनाये रखने को ही उचित ठहराया, अब यह बात अलग है कि अपने पक्ष-समर्थन में वे बहुत अधिक प्रभावशाली तथा तर्क-संगत नहीं प्रतीत होते ।

प्रारम्भिक उपन्यासकारों में जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है, केवल प्रतिक्रियावादी तथा रूढ़िवादी लेखकों की ही स्थिति नहीं है, प्रगतिशील तथा सुधार-वादी लेखकों का भी अपना अस्तित्व है जो प्रत्येक समस्याओं के संदर्भ में अपनी प्रगतिशील चेतना तथा सुधारवादी जागरूकता का परिचय प्रस्तुत करते हैं। संयोग से हिन्दी का प्रथम उपन्यास 'सौभाग्यवती' भी विविध प्रगतिशील तत्त्वों से भरा पड़ा है। पं० श्रद्धाराम फ़िल्लौरी इस उपन्यास में स्पष्ट दिखाते हैं कि आर्थिक व्यक्तिवाद संयुक्त परिवार के विघटन का कारण बन रहा है। भाग्यवती का भाई लालमणि जब लिख-पढ़कर कमाने लगता है तो अपने माँ-बाप से अलग रहता है। उसका विचार है कि 'अलग रहना अच्छा होता है।...ईश्वर ने हमको चार अक्षर दिए हुए हैं, उनके प्रताप से रोटी कमा-खाते हैं।' भाग्यवती अपने ससुर द्वारा घर से निकाली जाकर आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करती है। इसी प्रकार कार्तिक प्रसाद खत्री के उपन्यास 'दीनानाथ' में भी आर्थिक कारणों से संयुक्त परिवार-व्यवस्था टूटती हुई दिखाई पड़ती है। कहानी कहने वाला दीनानाथ है, जो उपन्यास का नायक और अपने परिवार का होनहार युवक है। यह उपन्यास मध्यम वर्ग के परिवार का इतिवृत्त होने के साथ-साथ एक युवक का आत्म-चरित भी है। इसमें सुशीला और कर्कशा भाभी की चारित्रिक विभिन्नता पूरी तरह उभारी गई है। दीनानाथ की पहली भाभी का स्वभाव अत्यन्त सरल और निर्मल है। वह उसके परदेश जाने के समय उसे अच्छी तरह खिलाती है, सुपारी कतर कर देती है और दही का टीका लगाती है। वह उसे दवा की दूकान खोलने के लिये अपने गहने तक उतार कर दे देती है और बदले में गहना लिए बिना उसके ब्याह के लिए गहने बनवाने की चिन्ता करती है। लेकिन नई भाभी के घर में पाँव रखते ही दोनों सगे भाई अलग हो जाते हैं, पर उसकी अनुपस्थिति में फिर साथ रहने लगते हैं। लेखक ने संयुक्त परिवार के वातावरण में भाभी के स्नेह का मार्मिक उद्घाटन किया है। यहाँ यद्यपि आर्थिक कारण प्रधान नहीं है, तो भी संयुक्त परिवार का विघटन मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। स्पष्ट है कि

---

१. 'आदर्श दम्पति' : प्रथम संस्करण, १९०४, पहला भाग, पृ० २७

संयुक्त परिवार धीरे-धीरे आर्थिक स्थिति में परिवर्तन के साथ-साथ बिखरता गया, जिसे हिन्दी उपन्यास-साहित्य के माध्यम से भली प्रकार देखा जा सकता है।

यद्यपि प्रारम्भिक युग में उपन्यासकारों ने संयुक्त परिवार के विघटन का दबी जबान से ही सही समर्थन किया, लेकिन तो भी उपन्यासों में इस समस्या को पूरी ईमानदारी तथा साहसिकता के स्तर पर ग्रहण नहीं किया जा सका। यह कार्य उपन्यासों के विकास के साथ-साथ प्रेमचन्द-युग में सम्पन्न हुआ। इस युग तक आते-आते भारतीय समाज का ढाँचा बहुत कुछ बदल चुका था और संयुक्त परिवार की पुरानी प्रथा काफी कुछ समाप्त हो चुकी थी। अतः इस काल के उपन्यासकारों ने अधिक साहस के साथ इस समस्या का साक्षात्कार किया, यद्यपि प्रेमचन्द ने इस सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाई। प्रेमचन्द तो अपने उपन्यासों में संयुक्त परिवार का समर्थन ही करते पाये जाते हैं। जैसे 'प्रेमाश्रम' के प्रभाशंकर का परिवार प्रेमचन्द का आदर्श परिवार है तथा प्रेमशंकर इस दृष्टि से उनके आदर्श चरित्र, क्योंकि बड़े भाई जयशंकर से वे इस मर्यादा को निभाते रहे हैं—'स्त्रियों में तू-तू, मैं-मैं होती थी, किन्तु भाइयों पर इसका असर न पड़ता था।'[1] लेकिन दूसरे उपन्यासकारों ने इस सम्बन्ध में परिवर्तित दृष्टिकोण का परिचय प्रस्तुत किया है तथा संयुक्त परिवार की सम-सामयिक परिस्थितियों में अनुपयुक्तता प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है।

संयुक्त परिवार के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्रचलित कुप्रथाओं के कारण उत्पन्न निरीह व्यक्तियों से संयुक्त परिवार की जटिलता और भी बढ़ जाती है। हिन्दू समाज में विधवाओं के पुनर्विवाह की व्यवस्था न होने से तथा मुस्लिम समाज में बहु-पत्नी प्रथा के कारण संयुक्त परिवार और भी भारग्रस्त बन जाता है।

लेकिन इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कारण इस युग में वैचारिक तथा रुचिगत विभेद रहा· जिसने संयुक्त परिवार-व्यवस्था के विघटन में सहयोग दिया। भगवती प्रसाद वाजपेयी इसे वैचारिक वैषम्य के धरातल पर ही उठाते हैं। उनके उपन्यास 'प्रेमपथ' में दो भाइयों के परिवार रुचि-वैभिन्न्य के कारण एक साथ नहीं रह पाते, क्योंकि रमेश अपनी पत्नी रमा को बुद्धिजीवी बनाकर रखना चाहता है, जिसे उसकी भाभी सहन नहीं कर पाती। ऐसे परिवारों में प्रायः देवरानी शिक्षित होती है तथा जेठानी अशिक्षित, क्योंकि आधुनिक भारत में समाज तथा संस्कृति तीव्र संक्रमण की स्थिति में हैं, अतः कुछ ही वर्षों का अन्तराल दो व्यक्तियों की सांस्कृतिक रुचियों तथा संस्कारों में अन्तर ला देता है। वस्तुतः यह रुचि-वैभिन्न्य भी संयुक्त परिवार के लिए एक महत्त्वपूर्ण बाधक तत्त्व है, क्योकि इसके होते हुए परिवार के सभी सदस्य मुक्त जीवन नहीं

१, 'प्रेमाश्रम' : सरस्वती प्रेस, वाराणसी (१९२१), पृ० ३९।

व्यतीत कर सकते । 'तितली' उपन्यास का इन्द्रदेव भी इसी तरह की मानसिक स्थिति का शिकार है । वह अपनी डायरी के पन्नों को पढ़कर संयुक्त परिवार की घुटन को स्पष्ट करता है— 'प्रत्येक प्राणी अपनी व्यक्तिगत चेतना का उदय होने पर एक कुटुम्ब में रहने के कारण, अपने को प्रतिकूल परिस्थिति में देखता है। इसलिए सम्मिलित कुटुम्ब का जीवन दु:खदायी हो रहा है[१] ।' वस्तुतः आधुनिक युग में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है तथा इसके लिए व्यक्ति अपनी तमाम परम्पराओं को ताक पर रखने को प्रस्तुत हो गया है, क्योंकि वह स्वतन्त्र-जीवन का आकांक्षी है ।

इधर इस दिशा में सामाजिक कानून भी अड़चनें नहीं डाल रहे हैं । इन कानूनों के कारण संयुक्त परिवार, जो कभी स्नेह, सहानुभूति तथा उदारता का उत्स माना जाता था, आज ईर्ष्या, द्वेष तथा षड्यन्त्र का केन्द्र बन गया है । 'तितली' की माधुरी की ईर्ष्या तथा उसका षड्यन्त्र आर्थिक सुविधा प्राप्त करने के लिए ही है । लेकिन प्रसाद जी संयुक्त परिवार-व्यवस्था का समर्थन भी करते हैं । पति की अनुपस्थिति में 'तितली' धैर्य के साथ न केवल अपना ही बल्कि अपने लड़के का भी पालन-पोषण करती है । इतना ही नहीं, उनका घर नि:सहाय लोगों के लिए सहायता-केन्द्र भी बन जाता है जिसे देख कर अन्ततः इन्द्रदेव का भी विचार-परिवर्तन होता है । वह सोचता है कि संयुक्त परिवार के प्रति घृणा करके उसने भूल की है, क्योंकि इसके अभाव में जिन्दगी प्रेम और सहानुभूतिहीन बन जाती है–'उन्होंने देखा कि संयुक्त परिवार के प्रति उनकी जितनी घृणा थी, वह कृत्रिम थी, रामजस, मनिया, राजो और तितली उसके साथ ही और भी कई अनाथ स्वेच्छा से एक नया कुटुम्ब बनाकर सुखी हो रहे हैं ।[२]' वस्तुतः तितली तथा इन्द्रदेव का यह अन्तर भारतीय तथा पाश्चात्य दृष्टिकोणों का ही अन्तर है । प्रसाद जी भारतीय संस्कृति के पुजारी हैं, अतः अन्त में वे इन्द्रदेव में परिवर्तन उपस्थित करके संयुक्त परिवार-व्यवस्था का समर्थन प्रस्तुत करते हैं ।

इसी प्रकार 'आत्मदाह' उपन्यास में आचार्य चतुरसेन शास्त्री भी संयुक्त परिवार की समस्या को उठाते हैं । इस उपन्यास का नायक एकमात्र कमाने वाला व्यक्ति है, जिस पर एक विशाल परिवार आर्थिक दृष्टि से आश्रित है । वह कुल-मर्यादा तथा भ्रातृ-स्नेह के लिए अपना मकान गिरवी रख देता है और अन्ततः पूरे परिवार के पालन-पोषण में स्वयं टूट कर बिखर जाता है, लेकिन तो भी परिवार की एकता चल नहीं पाती । क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रकृति के स्त्री-पुरुषों का एक साथ एक परिवार में रह

---

१. 'तितली' : चौथा संस्करण, १९५५, पृ० ११७ ।

२. 'तितली' : चौथा संस्करण १९५५, पृ० १५९ ।

सकना सम्भव नहीं दीखता[1]। परिणामतः संयुक्त परिवार अंत में चरमरा कर टूट जाता है।

'पतिता की साधना' उपन्यास में भगवती प्रसाद वाजपेयी संयुक्त परिवार के विघटन को अधिक व्यापक धरातल पर महसूस करते हैं। लेखक गाँव-गाँव तथा घर-घर में इस समस्या को इंगित करता है तथा उपन्यास का नायक हरिनाम इस विषय पर एक लम्बा वक्तव्य तक दे डालता है। हरिनाम तथा कृष्णगोपाल का परिवार विशृंखलित ही नहीं होता, वरन् वे एक-दूसरे के घोर शत्रु भी बन जाते हैं। यही स्थिति गिरधारीलाल तथा बनवारीलाल की है। उनके लिए विधवा बहन भार-सी है और 'सेवा सदन' तथा 'निर्मला' का मर्यादा-पालन का मोह भी अब समाज में नहीं रहा है। नन्दा से मुक्ति पाने के लिए, उसे प्रयाग के मेले में निःसहाय छोड़ दिया जाता है। जहाँ तक वस्तुस्थिति के चित्रण का प्रश्न है, लेखक की यथार्थवादी दृष्टि उसके चित्रण में सफल रही है, लेकिन वह गहराई में पैठकर कारणों को ढूंढ पाने में असमर्थ ही रहा है। हरिनाम अपढ़ तथा कुपढ़ स्त्रियों के हाथ में पुरुषों के सौंपे जाने में इसका कारण ढूंढता है।[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कारण कोई बहुत व्यावहारिक नहीं है।

इस युग के अन्य उपन्यास-लेखकों में प्रेमचन्द तथा जैनेन्द्र ने भी संयुक्त परिवार की इस दुःखद स्थिति का वर्णन अपने उपन्यासों में किया है और अपने-अपने ढंग से इसके कारणों पर प्रकाश भी डाला है। वैसे सबसे प्रमुख कारण आर्थिक ही है, यद्यपि रुचि तथा संस्कार और वैचारिक मतभेद भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आधुनिक सभ्यता में वैचारिक संघर्ष बहुत अधिक गम्भीर रूप लेता जा रहा है। दूसरे विश्व-युद्ध के बाद आदमी पर उपस्थित संकट ने आदमी को अपने अस्तित्व के प्रति अधिक सजग तथा संवेदनशील बना दिया है। पश्चिम में इसी सन्दर्भ में अस्तित्ववादी दर्शन की स्थापना हुई है और आज वह विश्व में काफ़ी लोकप्रिय दर्शन के रूप में जाना जाता है। वस्तुतः हिन्दी उपन्यासों का तीसरा दौर इसी अस्तित्ववादी दर्शन से प्रभाव ग्रहण करता रहा है। जैनेन्द्र के व्यक्तित्व का यह बोध विद्रोह नहीं कर पाता, लेकिन उसे अन्दर-ही-अन्दर घुटन महसूस करने को मजबूर करता है। उनके पात्र इसीलिये अन्दर-ही-अन्दर घुटते रहते हैं, पर सामने कुछ नहीं कहते। सम्भवतः जैनेन्द्र का यह गांधीवादी आत्म-पीड़न का सिद्धान्त है, जो उन्हें हर वक्त चुप रहने को बाध्य करता है। सचमुच हिन्दी उपन्यासकारों में गांधी का इतना बड़ा अनुयायी शायद ही कोई मिले। प्रेमचन्द पर

---

१. 'आत्मदाह' : चौधरी एण्ड सन्स प्रकाशन, १९३४, पृ॰ २०५।

२. 'पतिता की साधना' : चौथा संस्करण, १९६५, पृ॰ १६९।

गाँधीवादी होने का आरोप किन्हीं ठोस वस्तुगत अर्थों में ही सच है, वैचारिक सूक्ष्मता के धरातल पर जैनेन्द्र गाँधी के कहीं अधिक निकट हैं।

उपन्यास-साहित्य के इस तीसरे दौर में देश के निर्माण तथा समाज-रचना में मध्य वर्ग का नेतृत्व समाप्त हो चुका है। नवीन समाज को अपना अस्तित्व-बोध तथा उस पर छाया हुआ संकट तेजी से उसे प्रभावित करते हैं अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए वह अपनी ही समस्याओं में उलझकर शक्तिहीन होता जा रहा है। ऐसी दशा में उसका निराशा तथा कुण्ठा का शिकार हो जाना नितान्त आवश्यक है। अपनी सही दिशा को न ढूंढ़ पाने की विवशता में वह शिथिल-सा भटकन की स्थिति में अपने को पाता है। उसे विकास का मार्ग नहीं मिल पा रहा है। बाह्य संघर्ष में असफल होकर उसका आक्रोश समाज पर उतरता है। जिस समाज में उसकी हालत दयनीय हो उसे वह समाप्त कर देना ही उचित समझता है। इसी मध्यमवर्गीय मनोवृत्ति के कतिपय उपन्यासकार समाज के प्रति इस धरातल पर विद्रोह का रूप अख्तियार करते हैं और सामाजिक संस्थाओं एवं परंपरागत मूल्यों का निषेध करते हैं।

'शेखर : एक जीवनी' का शेखर परिवार की मूलभूत सत्ता माता-पिता के विरुद्ध ही विद्रोह करता है। वह माँ-बाप के प्रति घृणा का व्यवहार करता है। नारी भारतीय परिवार के केन्द्र में होती है। अतः शेखर सबसे पहले अपनी माँ के विरुद्ध ही सर्वाधिक घृणा का व्यवहार करता है। अज्ञेय जी अपने नायक को जन्मना विद्रोही मानते हैं। अतः शेखर के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह समाज तथा परिवार की सत्ता स्वीकार न करे। इसके लिए उन्होंने तर्क यह दिया है कि बचपन में माँ-बाप का उचित संरक्षण उसे प्राप्त नहीं हुआ है तथा उसे कठोर नियंत्रण में रखा गया है। उस पर मार भी पड़ी है जिससे उसकी प्रवृत्ति विद्रोह में बदल गई है। लेकिन शेखर माता-पिता के कठोर शासन का ही विरोध नहीं करता, बल्कि वह, चूँकि जन्मना विद्रोही चित्रित किया गया है, अतः माता-पिता की स्थूल भावनाओं तथा सामाजिक संस्कारों का भी निषेध करता है। वह स्नेह तथा वात्सल्यपूर्ण भावनाओं का भी विरोध करता है तथा उन्हें अपने लिए बन्धन मानता है। शेखर के जन्म लेने पर पिता निश्चय करते हैं—"मैं इसे इन्जीनियर बनाऊँगा ताकि यह नये नगरों का निर्माण करे।" माँ ने मन-ही-मन कहा—"मेरा टाऊँ बैरिस्टर होगा वह प्रपीड़ितों का रक्षक होगा।" लेकिन शेखर इन वात्सल्यपूर्ण भावनाओं को भी बन्धन के रूप में देखता है—"इस प्रकार बोध होने से पहले ही बालक का जीवन एक रूढ़ि में बँध गया। बहुत से अभी तक अननुभूत किन्तु सुदृढ़ बन्धन उसके जीवन में छा गए, वह बिक गया।"[१]

१, शेखर : एक जीवनी' : प्रथम भाग, पाँचवाँ संस्करण, पृ० ४८।

कहने की आवश्यकता नहीं कि परिवार समाज की प्राथमिक और आवश्यक इकाई है। व्यक्ति परिवार की देख-रेख में ही सामाजिकता के गुणों को सीखता है। लेकिन शेखर प्रारम्भ से ही इस प्रथम सामाजिक इकाई के प्रति असन्तुष्ट और विरोधी भाव रखता है। परिवार के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न-सा वह उसकी सामाजिक अनुपयुक्तता प्रमाणित करने की चेष्टा में स्वतः अपने-आपको असन्तुलित कर लेता है। वह बार-बार परिवार से अपने को अलग कर लेना चाहता है, अनेक बार घर छोड़कर जंगलों में भटकता फिरता है, लेकिन अन्ततः उसे घर लौटना पड़ता है। शेखर को तर्क-संगत प्रमाणित करने के लिए लेखक ने माँ-बाप को अतिरंजित ढंग से कठोर तथा नियन्त्रणप्रिय रूढ़िवादी माँ-बाप के रूप में चित्रित किया है और उसकी प्रतिक्रिया में शेखर के इस अहम्‌जनित विद्रोह को सही प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार शेखर घर में रहकर भी घर का नहीं है। वह पूरे परिवार से तटस्थ रहता है। यह स्थिति बचपन के शेखर की है, अभी वह किशोर भी नहीं हो पाया है। अज्ञेय जी भूमिका में उसके सम्बन्ध में लिखते हैं—"शिशु-मानस के चित्रण की सच्चाई के लिए मैंने शेखर के प्रारम्भ के खण्डों के घटनास्थल अपने ही जीवन से चुने हैं, फिर क्रमशः बढ़ते हुए शेखर का जीवन और अनुभूति क्षेत्र मेरे जीवन और अनुभूति क्षेत्र से अलग चला गया है।"[1] स्पष्ट है कि शेखर और अज्ञेय की बाल्यावस्था का व्यक्तित्व लगभग समान है। इसीलिए बचपन का शेखर युवावस्था के शेखर की अपेक्षा कहीं अधिक असामान्य है। बचपन का शेखर लेखक के विद्रोहात्मक विचारों एवं वैयक्तिक अनुभवों की प्रतिमूर्ति है। यही कारण है कि वह अधिक उग्र और विद्रोही है। परिवार एवं समाज के प्रति शेखर के माध्यम से लेखक स्वयं विद्रोह करता हुआ प्रतीत होता है। लेखक का यह व्यक्तिवादी विचार-दर्शन है जो अस्तित्व की रक्षा में सतत प्रयत्नशील शेखर जैसे शिशु का निर्माण करता है। समाज की परिस्थितियों तथा सामाजिक आवश्यकताओं से उसका सम्बन्ध बहुत न्यून ही है।

आगे चलकर आधुनिक युग के प्रसिद्ध उपन्यासकार यशपाल को भी हम अपने उपन्यासों में संयुक्त परिवार का टूटना चित्रित करते हुए पाते हैं। यशपाल के उपन्यासों में इस दृष्टि से दो उपन्यासों का महत्व है—'देशद्रोही' तथा 'मनुष्य के रूप' का। 'देशद्रोही' का ईश्वरदास खन्ना अपने छोटे भाई की आधी सम्पत्ति हड़प लेना चाहता है। उसके भाई को वजीरिस्तान के लुटेरों ने क़ैद कर रखा है। डा० खन्ना विश्वास के साथ तावान के लिए रुपये भेजने के लिए अपने बड़े भाई को लिखता है, लेकिन बड़ा भाई ईश्वरदास खन्ना रुपए इसलिए नहीं भेजता कि उसका छोटा भाई अगर छूटकर आ गया

१. 'शेखर : एक जीवनी' : प्रथम भाग, पाँचवाँ संस्करण, पृ० ६।

तो उसकी सम्पत्ति उसे नहीं मिल पायेगी। अतः वह चाहता है कि उसका भाई जीवित न लौटे। संयुक्त परिवार का सबल आधार भ्रातृ-प्रेम है, जिस पर परिवार की एकता बहुओं के आपसी वैमनस्य के बावजूद भी बनी रहती है, लेकिन इस उपन्यास में यह मूलभूत आधार ही टूटता हुआ दिखाया गया है। संयुक्त परिवार के भावात्मक खोखलेपन को लेखक इन शब्दों में व्यक्त करता है—'नये-नये ढंग की पढ़ी-लिखी बहू के घर आने से बुआ और जेठानी ने परेशानी अनुभव की थी, लेकिन डाक्टर के ऊँची नौकरी पा जाने के उत्साह में वह भुला दी गई थी। घर में बहू के आने पर लक्ष्मी के चरण पड़ने के कारण वह लाला ईश्वरदास की दृष्टि में सुलक्षणा लक्ष्मी और लाड़ली बन गई थी। सास के आसन की अधिकारी बुआ तथा जेठानी उसे कुछ न कह सकती थीं, लेकिन कुलक्षणा विधवा बन जाने पर वही बहू बोझ बन गई [१]।'

संयुक्त परिवार में प्रेम तथा भावना का एकमात्र आधार धन होता है। यही कारण है कि 'मनुष्य के रूप' उपन्यास के सेठ ज्वाला सहाय का परिवार एक बहुत ही मामूली घटना से टूट कर बिखर जाता है। बड़ी भाभी के अहम् को इसलिए चोट पहुँचती है, क्योंकि सभी को पहनाने की एक जैसी ही साड़ियाँ खरीद लाई गई है, यहाँ तक कि घर की नौकरानी के लिये भी उन्हीं साड़ियों में से एक साड़ी खरीदी गई है।[२] उन्हें जेठानी तथा कमाऊ पति की पत्नी होने का विशेष सम्मान क्यों नहीं दिया गया, इस बात को लेकर वह नाराज़ हो जाती हैं। यशपाल जी का मतलब यहाँ साफ़ है कि संयुक्त परिवार अब इतना अधिक जर्जर हो गया है कि उसका अस्तित्व अब अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता। उनमें बहुत मामूली बातों पर भी संघर्ष ठन जाता है, जिससे स्पष्ट है कि संयुक्त रूप से रहने के बावजूद भी परिवारों में प्राचीन भावात्मक एकता तथा स्नेहगत सम्बन्ध नहीं रह गये हैं। वे मात्र सामाजिक लोकमत के भय से ही केवल दिखाने भर को एक साथ संयुक्त परिवार में रहते हैं, वरना उनमें परस्पर कोई मैत्री-भाव नहीं रह गया है।

'गिरती दीवारें' उपन्यास में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' मध्यमवर्गीय समाज का सूक्ष्म चित्रण करते हैं। निम्न वर्ग अनेक संघर्षों को झेलते हुए भी यहाँ संयुक्त परिवार की मर्यादा बनाए रखता है। शादीराम कठोर, निर्भय तथा संकीर्ण है, फिर भी वह निठल्ले पुत्र रामानन्द के विशाल परिवार का बोझ सँभाले हुए है। रामानन्द की पत्नी मायके से ही झगड़ालू स्वभाव लेकर आती है, क्योंकि वह संयुक्त परिवार की लड़की है। संयुक्त परिवार में द्वेष, संघर्ष तथा गृह-कलह का वातावरण व्याप्त हो गया है, जिसके

---

१. देशद्रोही : चौथा संस्करण, १९५३, पृ० ४२।

२. 'मनुष्य के रूप' : दूसरा संस्करण १९५२, पृ० १९५-१९६।

प्रभाव में पड़कर चम्बाती भी झगड़ालू बन गई है। सामाजिक संगठन व्यक्ति का स्वभाव निश्चित करता है, अश्क जी प्रकारांतर से यही कहना चाहते हैं। वस्तुतः अश्क जी का यह दृष्टिकोण बहुत हद तक सही भी है, व्यक्ति के मानसिक विकास में सामाजिक संगठनों का आश्चर्यजनक प्रभाव होता है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अश्क जी संयुक्त परिवार के भविष्य के विषय में निराशापूर्ण दृष्टिकोण ही व्यक्त करते हैं।

परिवार-व्यवस्था विवाह-व्यवस्था के साथ अनिवार्यतः जुड़ी हुई है। विवाह के अभाव में परिवार की कल्पना नहीं की जा सकती। लेकिन इस नये युग के उपन्यासकारों ने विवाह-व्यवस्था का ही विरोध किया है। जिससे परिवारों की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। जिन लोगों ने विवाह का विरोध नहीं किया है, वे भी विशृंखल दाम्पत्य जीवन से उदासीन नहीं रहे हैं। प्रश्न यह है कि क्या समसामयिक समाज में विवाह-व्यवस्था की कोई आवश्यकता नहीं है? इस सम्बन्ध में हम यही निवेदन करेंगे कि विवाह-व्यवस्था समाज-निर्माण की प्रक्रिया में प्रथम और अनिवार्य कदम है अतः इसे समाप्त करना समाज के अस्तित्व को ही समाप्त करना है। हाँ, व्यक्तिगत रूप से विवाह न करने की छूट प्रायः स्त्री-पुरुष को होनी चाहिए, क्योंकि यह कोई आवश्यक नहीं कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष विवाह करें ही। हिन्दी के आधुनिक उपन्यासों यथा 'पिपासा', 'जीजी जी' 'कल्याणी', 'देशद्रोही', 'अचल मेरा कोई', 'गिरती दीवारें' 'संघर्ष', 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', 'मनुष्य के रूप' आदि में इस समस्या को उठाया गया है। भगवती प्रसाद वाजपेई के उपन्यास 'पिपासा' की शकुन्तला दाम्पत्य जीवन का निषेध करती है और कमलनयन से अवैध प्रेम सम्बन्ध स्थापित करती है। पाण्डेय बेचन शर्मा के उपन्यास 'जीजी जी' में पत्नी स्वेच्छाचारी तथा अत्याचारी पति से त्रस्त रहती है जिसके कारण अंततः उसकी मृत्यु हो जाती है। जैनेन्द्र कुमार के उपन्यास 'कल्याणी' में कल्याणी अपने अमानुषिक तथा बर्बर पति से पीड़ित है, जिससे अन्ततोगत्वा वह काल का ग्रास बनती है। यशपाल के 'देशद्रोही' में चंदा एवं राजाराम के दाम्पत्य जीवन में खन्ना का प्रवेश होता है, जिससे पति-पत्नी के बीच सन्देह तथा क्षोभ का भाव बढ़ता है तथा चन्दा आत्महत्या का प्रयत्न करती है। वृन्दावनलाल वर्मा के 'अचल मेरा कोई' में कुन्ती तथा सुधाकर के बीच अचल को लेकर तनाव उत्पन्न होता है और अंततः कुन्ती आत्महत्या करती है। अश्क जी के उपन्यास 'गिरती दीवारें' में चेतन की माँ पति के निर्मम व्यवहारों से पीड़ित है, यद्यपि वह परम्परागत हिन्दू नारी की तरह अटूट साधना से अपना अपमान पीकर भी जीवित रहती है। विश्वम्भरनाथ शर्मा के उपन्यास 'संघर्ष' में स्वेच्छाचारी तथा विलासी राजा के व्यवहारों के कारण रानियाँ दुःखी हैं। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की महालक्ष्मी पति द्वारा

ठुकराई गई स्त्री है जो तमाम अपमान बर्दाश्त करके भी किसी तरह ज़िन्दा रहती है। तात्पर्य यह कि इन सभी उपन्यासों में शोषित तथा पीड़ित नारी का चित्रण किया गया है। परिणामतः विवाह-व्यवस्था पर से लोगों का विश्वास उठता हुआ दिखाया गया है। लेकिन अन्ततः यह है अराजकतावादी दृष्टिकोण ही, क्योंकि विवाह-व्यवस्था को समाप्त कर देने से सामाजिक और पारिवारिक जीवन की कल्पना ही समाप्त हो जाती है। अतः आज भी विवाह की अनिवार्यता में सन्देह की गुंजाइश नहीं है। जिन लेखकों ने विवाह का विरोध किया है, उनके आदर्श पात्र प्रायः अविवाहित हैं जो निश्चय ही समाज-विरोधी कार्य ही अधिक करते हैं। अवैध प्रेम का ऐसा वातावरण इन उपन्यासों में उपस्थित हुआ है कि पढ़ने पर समाज की सारी नैतिकता ताक पर धरी रह जाती है। भगवती प्रसाद वाजपेयी के उपन्यासों की यह अराजकता सामान्य-नैतिकता की भी रक्षा नहीं कर पाती। मार्क्सवादी लेखकों में यशपाल ने भी यह अराजकतावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, क्योंकि वह पति द्वारा पत्नी का शोषण मानते हैं। ऐसी सामाजिक व्यवस्था को, जिससे किसी वर्ग, जाति, व्यक्ति तथा समाज का शोषण होता हो, मार्क्सवाद स्वीकार नहीं करता। लेकिन फिर भी वह विवाह- व्यवस्था का विरोध नहीं करता, उसके स्वरूप में परिवर्तन भले चाहता हो। स्वयं मार्क्स—साम्यवादी विचारधारा के जन्मदाता और एंजिल्स या लेनिन कहीं भी विवाह-व्यवस्था का विरोध नहीं करते, क्योंकि वे विवाह-व्यवस्था को सामाजिक शोषण का अंग नहीं मानते। लेकिन मार्क्सवाद के अनुयायी भारतीय लेखकों के प्रतिनिधि यशपाल जी इसे शोषण के अंग विशेष के रूप में देखते हैं। यही कारण है कि वे विवाह-व्यवस्था को समाप्त करने के पक्ष में हैं। आगे हम इस विषय पर 'नारी समस्या' के संदर्भ में विचार करेंगे।

सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि संयुक्त परिवार-व्यवस्था आज के वैज्ञानिक तथा औद्योगिक प्रगति के युग में व्यावहारिक दृष्टि से बहुत उपयोगी नहीं है। हिन्दी उपन्यासकारों ने इस बात को अच्छी तरह आत्मसात् कर लिया है। और अपने उपन्यासों में जगह-जगह वे इसका आभास भी देते हैं। प्रेमचन्द काल में ही यद्यपि इस व्यवस्था के प्रति असन्तोष व्यक्त किया जाना प्रारम्भ हो गया था, लेकिन वहाँ मात्र विद्रोह का संकेत ही स्पष्ट हुआ, अपनी सम्पूर्णता में यह विद्रोह प्रभावकारी स्तर पर प्रस्फुटित नहीं हो पाया था। लेकिन इस युग में आकर उसका समाजव्यापी प्रभाव देखा जा सकता है। इस नये दौर में सामाजिक प्रगति ने रूढ़िगत मान्यताओं से अपने को मुक्त कर लिया है और अन्य दूसरे तत्त्वों के आधार पर संगठित होने लगी है। धीरे-धीरे सामाजिक मान्यताएँ बदलती जा रही हैं और इस परिवर्तन के साथ ही संयुक्त परिवार की धारणा में भी परिवर्तन आ रहा है। अतः सामयिक उपन्यासकारों

ने समय के परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए अपना प्रगतिशील तथा आधुनिक, लेकिन साथ ही कुछ अर्थों में असंतुलित और कहीं-कहीं अराजक तथा समाज-विरोधी दृष्टिकोण भी व्यक्त किया है। इस प्रकार हिन्दी उपन्यास-साहित्य में वर्ण-व्यवस्था तथा संयुक्त परिवार के विविध पहलुओं पर विविध दृष्टियों से विचार हुआ है तथा तत्सम्बन्धी समस्याओं के लिए उपन्यासकारों ने अपनी-अपनी क्षमता तथा विवेक सम्पन्नता के अनुसार समाधान भी प्रस्तुत किए हैं। इस दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास बहुत कुछ वास्तविक जगत से सम्बन्धित, समाज-सापेक्ष तथा सोद्देश्य कहा जा सकता है। यह मात्र कल्पना की उपज और मनोरंजन की सृष्टि ही नहीं है, उसमें जीवन का सत्य और समाज की नब्ज की गहरी पकड़ मौजूद है।

⊙ ⊙ ⊙

अध्याय—४

नारी की स्थिति

आधुनिक भारतीय उत्थान-काल में समाज-सुधारकों ने अगर किसी समस्या को सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा गम्भीर समस्या के रूप में लिया तो वह समस्या थी—नारी-समस्या। १९वीं शताब्दी के सभी तरह के समाज-सुधारकों के दिमाग में नारी-समस्या ही थी। यही स्थिति प्रारम्भकालीन हिन्दी-उपन्यासकारों की भी रही। युगों से प्रताड़ित नारी की विभिन्न समस्याओं को इन उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों का विषय बनाया। वस्तुतः भारतीय समाज में नारी की स्थिति अत्यन्त चिन्त्य थी जिससे अनेकानेक सामाजिक समस्याएँ तथा बुराइयाँ उत्पन्न हो रही थीं। यही कारण है कि इन बुराइयों को दूर करने वाले प्रत्येक समाज-सुधारकों का ध्यान नारी-समस्या की ओर बरबस चला जाता है।

वस्तुतः नारी का स्थान समाज में बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। किसी भी समाज की श्रेष्ठता तथा अश्रेष्ठता का निर्णय मुख्यतः इसी बात के निर्णय पर आधारित होता है कि उस समाज में नारी की क्या स्थिति है। अतः नारी समाज की उन्नति तथा अवनति का द्योतक बन जाती है। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी में सबसे अधिक नारी की स्थिति में ही सुधार हुआ तथा सम्पूर्ण प्रगति का केन्द्र नारी ही बनी।

नारी की स्थिति तथा उसकी समस्या पर सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही विचार किया जा सकता है, क्योंकि वह समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। समाज का सबसे छोटा रूप परिवार होता है। अतः पारिवारिक सन्दर्भों में नारी के विविध रूप हिन्दी उपन्यास-साहित्य में देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त नारी को सामाजिक दायरे में रखकर भी हिन्दी उपन्यासकारों ने उसकी समस्याओं पर विचार किया है। तात्पर्य यह कि हिन्दी-उपन्यास में मोटे तौर पर नारी को दो धरातलों पर विश्लेषित किया गया है—परिवार के धरातल पर और समाज के धरातल पर। आगे हम इन दोनों धरातलों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

परिवार में नारी के विविध रूप और उनकी समस्याएँ

उन्नीसवीं शताब्दी की भारतीय नारी अनेकानेक समस्याओं से जकड़ी हुई थी। एक तरफ पुरुषों को तो अनेक सामाजिक सुविधाएँ प्राप्त थीं, दूसरी तरफ नारी पुरुष के हाथ की कठपुतली बनी हुई थी। प्राचीन धर्म-शास्त्रों में भी उसके लिए कम प्रतिबन्ध नहीं थे। उसे किसी भी उम्र में स्वतन्त्र रखने की स्वीकृति शास्त्रों ने नहीं दी थी। उसके लिए मनु ने कहा था कि बचपन में माता-पिता के अधीन, जवानी मे पति के अधीन तथा बुढ़ापे में लड़के के अधीन उसे रहना है। फलतः नारी का जीवन एक अभिशाप बन गया था। समाज तथा परिवार में नारी को पुरुषों की तुलना में हेय समझा गया। लड़के की पैदाइश पर जहाँ माँ-बाप अपनी प्रसन्नता रोक नहीं पाते थे, वहीं लड़की के पैदा होते ही उनमें हाय-तोबा मच जाती थी। परिवार में लड़कों की तुलना में लड़कियों को बहुत कम लाड़-प्यार मिलता था। फलतः उसमें बचपन से ही हीनता ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती थी, जिसका शिकार वह जीवन भर बनी रहती थी तथा समाज के सभी तरह के अत्याचारों को चुपचाप सहती रहती थी। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी की नारी पारिवारिक तथा सामाजिक धरातल पर अनेकानेक समस्याओं से घिरी हुई थी।

पर्दा प्रथा

इन समस्याओं में पारिवारिक धरातल पर जो समस्याएँ थीं, उनमें सबसे पहले हमारा ध्यान पर्दा प्रथा की ओर जाता है। भारतीय समाज में पर्दा-प्रथा बहुत प्राचीन नहीं है, आर्य-वैदिक काल में या संस्कृत-काल में स्त्रियाँ पर्दा नहीं करती थीं। इस प्रथा का प्रचार यहाँ मुस्लिम सभ्यता तथा संस्कृति के प्रचार के साथ हुआ। मुस्लिम सभ्यता में स्त्रियों को खुला रखने पर प्रतिबन्ध होता था तथा आज भी मुसलमान इस प्रथा से अपने को एकदम मुक्त नहीं कर पाये हैं। दूसरे, मुस्लिम राजाओं की कामुक चेष्टाएँ भी इतिहास में प्रसिद्ध रही हैं और इस तरह की कितनी ही कथाएँ सुनने में आती हैं कि मुस्लिम शासकों ने जहाँ भी जिस-किसी की भी कोई सुन्दर लड़की देखी उसे अपनी रानी बना ले गए। इस तरह की घटनाओं के आतंक से ही हिन्दुओं में पर्दा-प्रथा धीरे-धीरे सुदृढ़ हुई होगी।

इस पर्दे की प्रथा के कारण नारी की सारी प्रगति रुक गई और वह केवल घर की चारदीवारी में ही बन्द रहने लगी, जिसके कारण उसका स्वस्थ सामाजिक विकास नहीं हो पाया। अतः नारी की स्थिति में सुधार के लिये सर्वप्रथम पर्दा-प्रथा का उन्मूलन अत्यन्त आवश्यक था और इसीलिए उन्नीसवीं शताब्दी के समाज-सुधारकों ने सबसे पहले इसी प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई। क्योंकि पर्दा-प्रथा को समाप्त किए

बिना नारी-सुधार-सम्बन्धी सारे कार्यक्रम व्यर्थ सिद्ध हो सकते थे। जब तक वह पर्दे में बन्द रहती, उसकी शिक्षा तथा उसके अधिकारों की बात का कोई अर्थ नहीं था। अतः नारी सम्बन्धी समस्त प्रगतिशीलता इसी बात पर निर्भर करती थी कि नारी पारिवारिक बन्धन से मुक्त होकर समाज के खुले तथा व्यापक परिवेश में आये और अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों को ठीक-ठीक समझे। अतः नवजागरण काल के समाज सुधारकों ने जहाँ अन्य बातों पर ध्यान नहीं दिया, वहाँ पर्दा-प्रथा का भी खुलकर विरोध किया। लेकिन इन प्रगतिशील समाज-सुधारकों की तुलना में प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यासकार रूढ़िवादी तथा कट्टर सनातनी ही अधिक थे, अतः उनकी रचनाओं में पुरानी रीतियों तथा प्रथाओं के प्रति आसक्ति ही व्यक्त हुई है। पर्दा-प्रथा के प्रति भी उपन्यासकारों का दृष्टिकोण समर्थनपूर्ण ही अधिक रहा है।

प्रारम्भिक युग के उपन्यासकार पर्दे को नारी का शीलगुण मानते हैं। उनके अनुसार लज्जा नारी का एकमात्र आभूषण है। मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यास 'आदर्श हिन्दू' की प्रियंवदा जो उपन्यासकार की दृष्टि में आदर्श हिन्दू नारी की प्रतिमूर्ति है, मेहता जी के अनुशासन को इन शब्दों में स्वीकार करती है—'उनका सुख उन्हें ही मुबारक रहे। हम पर्दे में रहनेवालियों को ऐसा सुख नहीं चाहिए। हम अपने घर के धंधे में मगन हैं।'[1] वैसे मेहता जी कहीं-कहीं स्त्रियों को घर से बाहर निकलने का भी परामर्श देना नहीं भूलते तथा 'घर की चारदीवारी' को 'कैद' की संज्ञा भी प्रदान करते हैं, लेकिन अन्ततः उनका दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में रूढ़िवादी ही है। लज्जा का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए वे प्रकारान्तर से पर्दा-प्रथा का ही समर्थन करते हैं। उनकी ('आदर्श हिन्दू' की) नायिका एक स्थान पर लेखक के विचारों को इस प्रकार रखती है—'स्त्रियों का लज्जा ही प्रधान भूषण है और पर्दा ही उसकी रक्षा करने वाला है, इसलिए पर्दे को तोड़ना अच्छा नहीं।'[2] एक अन्य स्थान पर लेखक नैतिकता की दुहाई देकर इस प्रथा को बनाए रखने पर जोर देता है। 'सुशीला विधवा' की सुशीला भी 'आदर्श हिन्दू' की प्रियंवदा की भाँति पर्दे को स्त्रियों की नैतिक पवित्रता के लिए आवश्यक बताती है—'मेरी समझ में पर्दा-प्रणाली अच्छी है। जो लोग पर्दा-प्रणाली की निन्दा करते हैं वे भूलते हैं, झख मारते हैं। पर्दे का प्रयोजन यह नहीं है कि स्त्रियों को सात ताले में बन्द रखना चाहिए, इसका मतलब यही है कि उन्हें ऐसे कुकर्म

---

१. आदर्श हिन्दू : प्रथम संस्करण, भाग १, पृ० ६-७।

२. आदर्श हिन्दू : प्रथम संस्करण, भाग १, पृ० ३।

करने का अवसर न देना चाहिए।'[१]

इस प्रकार मेहता जी यद्यपि पर्दे की बुराइयों को भी समझते हैं लेकिन अपने पुराने संस्कारों के कारण उसके विरोध में कुछ लिख नहीं पाते। पं० किशोरीलाल गोस्वामी का दृष्टिकोण भी इस सम्बन्ध में लगभग मेहता जी के दृष्टिकोण से मिलता-जुलता है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में लिखे गए अपने कतिपय उपन्यासों में वे अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हैं तथा घोर आस्थावादी ढंग से इस प्रथा का समर्थन करते हैं।'[२] स्पष्ट है कि इन उपन्यासकारों की दृष्टि में रूढ़िवादी तथा सनातन हिन्दू संस्कार का जो पुरातन तथा जर्जर रूप है, वही इन्हें सामाजिक आवश्यकता तथा प्रगतिशील सामाजिकता पर ध्यान देने से रोकता है। निश्चय ही इनका दृष्टिकोण एकांगी तथा मध्यकालीन है, जिसके अनुसार नारी को सदैव शंकालु, संदेहास्पद तथा अशक्त प्राणी के रूप में देखा जाता था तथा उसे व्यक्तित्वहीन और पापों की खान कहकर पुकारा जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भिक युग के उपन्यासकार अपने युग की प्रगतिशील विचारधारा की तुलना में काफी पीछे रहे और उन्होंने सामयिक सुधार-सम्बन्धी कार्यक्रमों में अपनी उदासीनता ही अधिक दिखलाई।

आगे चलकर इस प्रथा ने उपन्यासकारों का ध्यान विशेष आकृष्ट किया और सामाजिक परिवर्तनों के कारण नारी की स्थिति में भी अनेकानेक परिवर्तन उपस्थित हुए। फलतः इस प्रथा को समाप्त करने की दिशा में उपन्यासकारों ने अपना कदम बढ़ाया और काफी हद तक वे इस कार्य में सफल भी हुए। लेकिन इन उपन्यासकारों ने इस प्रश्न को घर-बाहर की समस्या, नारी-शिक्षा की समस्या तथा नारी-स्वातन्त्र्य की समस्या आदि के रूप में उठाया। अतः आगे चलकर हम इन्हीं शीर्षकों के अन्तर्गत इस समस्या का विवेचन पुनः करेंगे।

दाम्पत्य जीवन

पारिवारिक परिपार्श्व में नारी-सम्बन्धी दूसरा सबसे महत्त्वपूर्ण सवाल दाम्पत्य-जीवन अर्थात् विवाह द्वारा जिस पुरुष के साथ पत्नी के रूप में वह सम्बद्ध कर दी जाती है, उस व्यक्ति और उसके बीच के पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारित है। पति-पत्नी का यह दाम्पत्य-सम्बन्ध भारतीय धर्म और संस्कृति में बड़ा ही पवित्र तथा ब्रह्म-जीव-सम्बन्ध के समकक्ष माना गया था। अतः यहाँ भी पुरुष धर्म तथा ईश्वर की दुहाई देकर स्त्रियों पर अन्याय कर ले जाता था, क्योंकि पत्नी के लिए वह परमेश्वर था। उसे

---

१. 'सुशीला विधवा' : प्रथम संस्करण पृ० ११६
२. 'राजकुमारी' : " पृ० ५६

कुछ भी करने की स्वतन्त्रता थी, जब कि स्त्री उसके अधीन हो रह सकती थी। अपनी मर्जी से उसे कुछ भी नहीं करना था। पति-पत्नी के इस सम्बन्ध को जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध भी माना गया था और उसकी एकनिष्ठता और उसके निर्वाह पर विशेष बल दिया गया था। इस प्रकार दाम्पत्य जीवन में यद्यपि पति-पत्नी देखने में दो आधार से दीख पड़ते थे, लेकिन उनकी आंतरिक स्थिति समानता की नहीं थी। पत्नी कभी भी पति की बराबरी नहीं कर सकती थी। अतः यह एक प्रकार का पुरुष वर्ग द्वारा नारी का शोषण ही था जो परिवार के छोटे दायरे में होते हुए भी नारी-समाज को कमज़ोर और असहाय बनाने के लिए पर्याप्त था। पति को अधिकार था कि वह एक पत्नी के होते भी दूसरी शादी करे जबकि पत्नी को यह अधिकार पति की मृत्यु के बाद भी नहीं था।

इस प्रकार पति-पत्नी का सम्बन्ध पारिवारिक धरातल पर अनेक रूपों में हमारे सामने उपस्थित होता है। लेकिन प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यासकार यहाँ भी परम्परा-नुमोदन तथा अपनी सनातनी मनोवृत्ति का ही परिचय देते हैं। उनकी दृष्टि में नारी की सार्थकता पति की दासी होने में ही है। इस काल के उपन्यासकार इसीलिए विवाह के प्राचीन रूप का समर्थन करते हैं और यह प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं कि विवाह-सम्बन्ध किसी एक जन्म का सम्बन्ध नहीं है, वह तो जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है। मेहता लज्जाराम शर्मा इस सम्बन्ध में अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'आदर्श हिन्दू' में लिखते हैं—'उसका प्रियतम ही उसका सच्चा हृदयेश्वर है, उसका स्वामी है, और वही स्वामी है जिसने पाँच पंचों में बैठकर सूर्य-चन्द्रमा की साक्षी से ध्रुवतारे का दर्शन करके अपने अटल संयोग की प्रतिज्ञा के साथ एक के दु:ख में दूसरे के दु;खी होने और एक के सुख में दूसरे के सुखी होने का वादा करके जन्म-जन्मान्तर तक मरने के बाद भी साथ न छोड़ने के प्रण के साथ पाणिग्रहण किया था।'[१]

जन्म-जन्मान्तर तक चलने वाले इस सम्बन्ध-सूत्र में बँध जाने के बाद नारी और पुरुष पति-पत्नी के रूप में अपना पारिवारिक दाम्पत्य जीवन प्रारम्भ करते हैं। पति को परमेश्वर और पत्नी को दासी मानने वाले संस्कार भी सामने हैं। इस युग में प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण उपन्यासकारों ने परम्परागत नारी-सम्बन्धी आदर्श की विस्तार से चर्चा की है। लेकिन अन्ततः सभी रूढ़िवादी तथा सनातनी दृष्टिकोण के ही लगते हैं। मेहता लज्जाराम शर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी तथा 'हरिऔध' आदि सभी लोकप्रिय तथा बहु-चर्चित उपन्यासकारों ने इस सम्बन्ध में परम्परागत दृष्टिकोण का ही सहारा लिया है। मेहता जी के उपन्यासों का तो यह एक प्रकार से केन्द्रीय विषय ही रहा है। लेकिन

---

१. आदर्श 'हिन्दू' : प्रथम संस्करण, भाग १, पृ० ४।

मेहता जी भी पुरुषों के विशेषाधिकार का समर्थन करते हैं। सिद्धांततः तो वे यह मानते हैं कि दाम्पत्य जीवन में पति-पत्नी का अनन्य प्रेम होना आवश्यक है, लेकिन व्यावहारिक स्तर पर इसका सम्पूर्ण दायित्व वे स्त्री पर ही छोड़ देते हैं। नारी द्वारा किए गए व्यभिचार को पाप घोषित कर पति पर सम्पूर्ण अनुरक्ति को इस व्यभिचार का निदान बताकर नारी से वह यहीं आग्रह करते हैं कि वह प्रत्येक स्थिति में अपनी अनुरक्ति सारी समग्रता में पति पर ही केन्द्रित रखे। चाहे पति जैसा भी हो, कोढ़ी, कुकर्मी, क्रोधी और अपंग, स्त्री के लिए पति के सिवा दूसरी कोई गति नहीं। मेहता जी की नायिकाएँ इसी शिक्षा के अनुरूप ढली हैं, जिनके सम्बन्ध में वे लिखते हैं—'बस इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रियंवदा को शिक्षा दी गई। उसको सिखाया गया कि वह पति की दासी बनकर रहे, पति को अपना जीवन सर्वस्व समझे। चाहे पति काना हो, कुरूप हो, कलंकी हो, कोढ़ी हो, कुकर्मी हो, क्रोधी हो—स्त्री के लिए पति के सिवाय दूसरी गति नहीं। संसार में परमेश्वर के समान कोई नहीं, किन्तु स्त्री का पति ही परमेश्वर है। जिन स्त्रियों का यही अटल सिद्धांत है, वे व्यभिचारिणी नहीं हो सकतीं और व्यभिचार से बढ़कर कोई पाप नहीं।'[1]

इस सम्बन्ध में किशोरीलाल गोस्वामी का दृष्टिकोण भी लगभग यही है। उनकी नायिकाओं का हृदय तो इतना विशाल है कि वह अपने अन्तिम समय में एक ओर तो दूसरे जन्म में अपने उसी पति की दासी बनने की कामना करती हैं, साथ ही अपने पति से अपनी मृत्यु के उपरान्त दूसरा विवाह कर लेने का आग्रह करना भी नहीं भूलतीं। जिससे इस लोक में अपने पति को सुखी देखकर वह भी परलोक में सुखी रह सकें। उनकी एक नायिका एक स्थान पर कहती है—'आज मेरे बड़े ही आनन्द का दिन है कि तुम्हारे चरणों का दर्शन करके मरती हूँ। अब तुम मुझे ऐसी शिक्षा दो कि जिससे दूसरे जन्म में मैं तुम्हारी चरण-सेवा की अधिकारिणी होकर चिरकाल तक इन चरणों में स्थान पाऊँ और तुम्हें सच्चे जी से शपथ दिलाकर करती हूँ कि तुम दूसरा विवाह करके अवश्य सुखी होना। यदि तुम ऐसा करोगे तो तुम्हारा सुख देखकर मैं परलोक में सुख पाऊँगी।'[2]

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की नायिका भी इन्हीं संस्कारों में पली है तथा उसे भी अपनी माँ से यही शिक्षा मिली है। 'अधखिला फूल' की नायिका को उसकी माँ यही उपदेश देती है कि जो स्त्री अपने पति के चरणों की सेवकाई करती है, पति को ही देवता मानती है, उन्हीं की पूजा करती है, उन्हीं में मन लगाती है, सपने

---

१. 'आदर्श हिन्दू' : संस्करण, भाग १, पृ० ३३।
२. 'तरुण तपस्विनी वा कुटीर बासिनी' : प्रथम संस्करण, पृ० ७५।

में भी उनके साथ बुरा बर्ताव नहीं करती, भूलकर भी उनको कड़ी बात नहीं कहती, कभी उनके साथ छल-कपट नहीं करती, वह मरने पर भी इसी भाँति अपने पति के साथ रहकर स्वर्ग-सुख लूटती है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन उपन्यासकारों ने पति-पत्नी के सम्बन्ध को इस रूप में चित्रित करके परम्परागत भारतीय नारी के आदर्शों की ही स्थापना की है। इनकी नायिकाएँ आदर्श भारतीय नारी का ही प्रतिनिधित्व करती हैं, जो परम्परा से पतियों के कठोर अनुशासन में रहती आई हैं तथा जिसने मौन भाव से सब कुछ बर्दाश्त किया है। इन स्त्रियों की दृष्टि में प्रगतिशील चेतना तथा नये युग की समवेदना का कोई आभास नहीं मिलता। सामाजिक परिवर्तित दृष्टिकोण की ये खुलकर निंदा करती हैं। निश्चय ही तत्कालीन समाज-सुधारकों की प्रतिक्रिया में ही इन लेखकों ने सनातन आदर्श का समर्थन किया है। वस्तुतः प्रारम्भिक युग के उपन्यासकार सामाजिक प्रगतिशीलता के समर्थक नहीं थे, यही कारण है कि इस समस्या को भी उन्होंने रूढ़िवादी दृष्टिकोण से ही देखा-परखा।

लेकिन नारी की स्थिति के सम्बन्ध में इस सनातनी विचार-धारा में धीरे-धीरे परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। वैवाहिक रूपों में परिवर्तन की आवश्यकता सर्वप्रथम महसूस की गई और विवाह द्वारा पत्नी को पति की दासी बनाने के स्थान पर उसे जीवन-साथी बनाने की भावना का विकास हुआ। फलतः पत्नियाँ बराबर की हक़दार मानी जाने लगीं और उन्हें परिवार में पति के बराबर अधिकार दिलाने की बात का समर्थन किया जाने लगा। विवाह का आधार लग्न, ग्रहयोग तथा जन्म गणना न रहकर प्रेम बना और प्रेम की स्थिति में पति-पत्नी की सत्ता बराबर मानी गई। अतः सामाजिक धरातल पर भी उसे पुरुष के मुकाबले की समझा जाने लगा। पुरुष पहले से ही कई शादियाँ कर सकता था और पत्नी की मृत्यु के बाद तो वह सामान्यतः दूसरी शादी करता ही था, स्त्रियों में विधवाओं के लिए विवाह की कोई सुविधा नहीं थी। पहले तो विधवाएँ सती होकर अपना जीवन समाप्त कर लेती थीं, लेकिन जब से इस प्रथा पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया गया, विधवाएँ समाज के लिए एक महत्त्वपूर्ण समस्या बन गईं। समाज सुधारकों ने धीरे-धीरे इस दिशा में कार्य प्रारम्भ किया और अन्ततः वे विधवा-विवाह के प्रचार में सफल हुए। इससे नारी की स्थिति में बहुत कुछ सुधार आया और पारिवारिक धरातल पर दाम्पत्य-सम्बन्ध भी इस परिवर्तन से अप्रभावित नहीं रह सका।

दूसरी तरफ घर-बाहर की समस्या को लेकर भी विचारकों ने अपने क्रान्ति-

---

१. 'अधखिला फूल' : प्रथम संस्करण, पृ० ५३।

कारी विचार प्रस्तुत किए जिससे पति-पत्नी का परम्परागत दाम्पत्य-सम्बन्ध बहुत प्रभावित हुआ। घर-बाहर का यह संघर्ष नारी-जागरण के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण संघर्ष था, जो युग की आवश्यकता की उपज था। स्त्रियों को युगों से पुरुष वर्ग ने गुलाम रख छोड़ा था तथा उसके साथ मनमानी करता आया था। अतः समय पाकर नारी अपने खोये हुए अधिकारों के लिए संघर्ष करने को प्रस्तुत हुई और इस दिशा में उसने विद्रोह के स्तर तक अपने को आगे बढ़ाया। फलतः नारी के सम्बन्ध में सामाजिक दृष्टिकोण में भी आवश्यक परिवर्तन उपस्थित हुआ। इस विद्रोह को हिन्दी उपन्यासकारों ने ही सबसे अधिक मुखरित किया और इसे अपने उपन्यासों में चित्रित किया, जिसके सम्बन्ध में हम आगे यथासमय विचार करेंगे।

नारी और विवाह

भारतीय सामाजिक संगठन में विवाह-व्यवस्था में जितनी विविधता रही है, उतनी और किसी व्यवस्था में नहीं रही है। कभी पहले यहाँ विवाह के अनेकानेक रूप प्रचलित थे, यथा देव विवाह, राक्षस विवाह, स्वयम्वर विवाह, गान्धर्व विवाह आदि। लेकिन धीरे-धीरे वे सब समाप्त हो गए और विवाह की एक सामान्य पद्धति ही प्रचलित रही। इस पद्धति के अनुसार लड़के-लड़कियों का विवाह उनके माँ-बाप की अनुमति से होता था। यह पद्धति किसी-न-किसी रूप में आज भी प्रचलित है। जिस प्रकार नारी अन्य मामलों में पराधीन थी, उसी प्रकार वह वैवाहिक मामले में भी पराधीन ही रही। उसे अपनी इच्छानुसार वर चुनने का अधिकार नहीं था। माता-पिता जिस किसी से भी उनका विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। इससे समाज में अनेकानेक वैवाहिक रूप प्रचलित हुए। वैवाहिक रूपों में इस विविधता का कारण बहुत हद तक आर्थिक भी था। विवाह संस्कार में शास्त्रानुसार धन-धान्य से परिपूर्ण लड़की को लड़के के हाथ दान कर दिया जाता था। इस प्रथा ने एक ओर नारी को दान में दी जाने वाली तुच्छ और निरीह वस्तु के रूप में बदल दिया तो दूसरी ओर दहेज की प्रथा का रूप धारण करके आर्थिक लाचारी में अनमेल विवाह को भी प्रश्रय प्रदान किया, क्योंकि धन-धान्य पहले तो स्वेच्छा से दिया जाता था, लेकिन बाद में इसका रूप दहेज-प्रथा के रूप में आर्थिक विवशता बनकर सामने आया, जिससे लड़कियों का विवाह समाज में एक कठिन आर्थिक समस्या बन गया। इन समस्त परिवर्तनों को नारी मौन भाव से स्वीकार करती गई, क्योंकि उसे तो कुछ भी बोलने की स्वतन्त्रता कभी नहीं थी।

फलतः समाज में इस वैवाहिक व्यवस्था की विकृतियाँ उभर कर सामने आईं और अनमेल-विवाह, बाल-विवाह, बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि के रूप में विवाह के विविध विकृत रूप समाज में प्रचलित हुए। इन वैवाहिक विकृतियों ने यथासंभव सामा-

जिक संगठन को कमज़ोर तथा जर्जर ही बनाया। विशेषकर नारी वर्ग तो इन विकृतियों का सबसे अधिक शिकार बना। सभी जगह नारी ही कमज़ोर पड़ती थी, अतः हर तरह के अत्याचार अन्ततः उसी से सम्बन्धित किए जाते थे।

भारतीय नवजागरण काल में नारी की स्थिति में सुधार लाने के व्यापक प्रयत्न किए गए, जिनका हम पहले भी उल्लेख कर चुके हैं। तत्कालीन समाज-सुधारकों का ध्यान नारी की वैवाहिक समस्या की ओर भी गया तथा लोगों ने विवाह के मामले में नारी को अधिकाधिक मुक्त करने पर जोर दिया, लेकिन हमारे उपन्यास-लेखक इस प्रश्न पर भी सदा की भाँति परम्परावादी ही रहे और सनातनी विवाह-प्रणाली को ही महत्त्व देते रहे। किशोरीलाल गोस्वामी अपने उपन्यास 'तरुण तपस्विनी वा कुटीर वासिनी' में ऐसे विवाह का ही समर्थन करते हैं। उपन्यास की नायिका चपला घनश्याम नामक एक युवक से प्रेम करती है। चपला की माँ अपनी लड़की की मनोवृत्ति से परिचित है। फलतः वह समस्या को व्यावहारिक ढंग पर उठाती है। लेकिन अन्ततः पिता भूरी सिंह का हुक्म ही लागू किया जाता है। इस समस्या से सम्बन्धित भूरी सिंह तथा उनकी पत्नी निर्मला की बातचीत का एक अंश द्रष्टव्य है—

भूरी सिंह—स्त्रियों का मतामत सभी विषयों में ग्राह्य नहीं होता।

निर्मला—यदि इस अनमिल विवाह में चपला के प्राणों पर आ बनेगी तो क्या होगा?

भूरी सिंह—होगा क्या! प्राण देना तो स्त्रियों के लिए सहज बात है। तो फिर इस धमकी से क्या हम डरते हैं।

निर्मला—हा! पशु-पक्षी भी अपने शिशु-सन्तानों के सुख-दुःख पर सदा ध्यान रखते हैं और तुम मनुष्य होकर भी ऐसा कहते हो।

भूरी सिंह—बाल-बच्चों को उसी में अपना कल्याण समझना चाहिए, जिसे उनके बड़े लोग विधान करें।

निर्मला—हाँ! यदि वस्तुतः वह उचित हो।

भूरी सिंह—चुप रहो। उचितानुचित के निर्णय का अधिकार तुझे किसने दिया है, जो व्यर्थ बकबक कर रही है।

निर्मला—ईश्वर ने! क्योंकि मेरी कन्या है। देखो! स्मरण रक्खो कि इस विवाह को चपला कदापि स्वीकार न करेगी, वरन् घनश्याम बिना उसका जीना कठिन है। ऐसा ही करना था तो जब वह कुछ भला-बुरा नहीं जानतीं थी, तभी जिसे चाहते, उसे दे डालते। और फिर घनश्याम क्या बुरा है। वह देखने में, सुनने में, विद्या में, बुद्धि में, गुण में, वयस में और सर्वांश में सुन्दर और चपला के अनुरूप है।

भूरी सिंह—दूर हो सामने से, कुटनी, राँड़। यह सब तेरा ही कोयला घोला है। हम ऐसी कुलटा लड़की की मृत्यु की ही कामना करते हैं।'

इसके पश्चात् उपन्यासकार महोदय आगे लिखते हैं—'अनन्तर गृहिणी ने सिंह जी का चरण पकड़ कर बहुत क्रन्दन किया, पर सब व्यर्थ हुआ। केवल पाद-प्रहार उसे उपहार मिला और सिंह जी आगकर को ही कन्या देने को दृढ़-प्रतिज्ञ बने रहे।'[1]

विवाह के सम्बन्ध में नारी की पराधीनता का इससे अधिक प्रामाणिक विवरण और क्या हो सकता है। यद्यपि इसमें नारी के प्रति समवेदना की हल्की गंध भी है, फिर भी अन्ततः उसमें रूढ़िवादी विचारों को ही स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार 'सुन्दर सरोजिनी' उपन्यास में भी पं० देवीप्रसाद शर्मा, यद्यपि विवाह में पारस्परिक प्रेम का महत्त्व स्वीकार करते हैं, लेकिन आधुनिक कोर्ट-शिप का मखौल ही उड़ाते हैं। लेखक ने नायक-नायिका के आदर्श-प्रेम का वर्णन करते हुए उसका आधुनिक कोर्ट-शिप से भेद स्पष्ट किया है—'पाठक भ्रम में न पड़ें कि ये आजकल के नये नायक-नायिका हैं—और यहाँ कोर्ट-शिप का अवसर इन्होंने पाया है, क्योंकि कोर्ट-शिप, प्रेम नहीं काम का प्रभाव है। जिस प्रकार तेज शराब के नशे में कोई हत्या करे तो उसका प्रेरक मुख्यतः मद्य ही समझा जाता है, उसी प्रकार युवावस्था में महात्मा मदन देव के अधिकार से जो प्रेम उपजता है, वह यथार्थतः मैत्रीकृत नहीं है, किन्तु कामकृत है।'[2]

तात्पर्य यह कि विवेच्यकालीन उपन्यासकार वैवाहिक समस्या से संबंधित अपने रूढ़िवादी विचार स्थान-स्थान पर व्यक्त करते हैं। वैसे उनमें इस प्रथा की विकृतियों के प्रति सहानुभूति दिखाई पड़ती है, जैसे अनमेल विवाह तथा बाल और वृद्ध विवाह के मुक्तभोगियों के प्रति कहीं-कहीं ये लेखक संवेदित भी होते हैं। लेकिन अन्ततः वे इस संबंध में विद्रोही की भूमिका तक किसी भी सामाजिक सवाल को लेकर नहीं पहुँचते। ये स्वभाव से ही पुराने सनातनी तथा परम्परावादी हैं।

लेकिन औपन्यासिक विकास का अगला चरण जो इतिहास प्रेमचन्द-युग के नाम से में जाना जाता है, इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस काल में सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने की तीव्र आकांक्षा लेखकों में देखी जा सकती है। वैवाहिक समस्या के सम्बन्ध में भी इस काल में क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किए गए हैं और विवाह के प्रचलित रूपों की भी मीमांसा की गई है।

भारतीय समाज में वैवाहिक समस्या के विवादास्पद होने का कारण यह है कि उसके सामाजिक संगठन, संयुक्त परिवार तथा आधुनिक युग में कोई सन्तुलित सम्बन्ध-

---

१. 'तरुण तपस्विनी वा कुटीर वासिनी' : प्रथम संस्करण, पृ० ४४-४५

२. 'सुन्दर सरोजिनी' : प्रथम संस्करण, पृ० ३६

सूत्र नहीं है। फिर २०वीं शताब्दी में भारतीय समाज एवं संस्कृति अर्थात् सम्पूर्ण भारतीय जीवन-पद्धति तीव्र संक्रमण की स्थिति से गुज़र रही है। सम्भवत: पुरानी पीढ़ी तथा नई पीढ़ी के विचारों, संस्कारों तथा मान्यताओं में इतना अधिक वैषम्य पहले कभी नहीं रहा। जिन परिवारों में पुरानी पीढ़ी अशिक्षित है और नई पीढ़ी शिक्षित वहाँ यह वैषम्य अकल्पनीय है। किसी भी हालत में वहाँ समझौता सम्भव नहीं दीखता। अतएव संघर्ष और घुटन की स्थिति स्वाभाविक रूप में उत्पन्न हो जाती है। लेकिन समाज की वर्तमान संरचना को देखते हुए न तो परम्परागत विवाह-प्रथा का ही समर्थन किया जा सकता है और न संयुक्त परिवार-व्यवस्था की स्थिति में नई पीढ़ी को ही पूरी छूट दी जा सकती है। क्योंकि संयुक्त परिवार की इस जर्जर अवस्था में भी माता-पिता अपनी वृद्धावस्था में अपने लड़कों पर ही निर्भर रहते हैं। लेकिन विवेच्यकाल में सामाजिक रूढ़ियाँ चूँकि अभी समाप्त नहीं हुई थीं, इसलिए राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के साथ-ही-साथ इन जर्जर सामाजिक रूढ़ियों की दासता से व्यक्ति को मुक्त करने तथा उसे प्रतिष्ठित करने की विशेष आवश्यकता महसूस की जा रही थी। यही कारण है कि इस विषय पर एकांगी दृष्टिकोण से विचार हुआ और आज भी यह समस्या किसी न किसी रूप में अपना अस्तित्व बनाए हुये है। फिर भी परम्परागत वैवाहिक पद्धति के दोष स्पष्ट करके व्यक्ति की स्वतन्त्र रुचियों को स्वीकार करने तथा व्यक्ति को सामाजिक रूढ़ियों से मुक्त करने के सन्दर्भ में वैवाहिक समस्या पर इन उपन्यासों का विवेचन द्रष्टव्य है।

वैवाहिक चुनाव के आधार एकदम निश्चित नहीं होते—निश्चित हो भी नहीं सकते। आर्थिक संगठन तथा सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन के साथ ही साथ यह आधार भी बदलता रहता है। यही कारण है कि पुरानी तथा नई पीढ़ी में सदैव संघर्ष की स्थिति बनी रहती है। अत: भारतीय समाज में माता-पिता जो वैवाहिक निर्णय लेते हैं, वह उन्हीं के जीवन-मूल्यों के आधार पर लिया गया निर्णय होता है। आवश्यक नहीं कि नव दम्पति के जीवन-मूल्यों के सन्दर्भ में भी वह निर्णय संगत हो ही। अक्सर ऐसे निर्णय नव-दम्पति के प्रतिकूल ही जाते देखे गये हैं। ऐसी हालत में पीढ़ियों का मूल्यगत संघर्ष नितांत अनिवार्य है। हिन्दी उपन्यासकारों ने विशेषकर प्रेमचन्द युग के उपन्यासकारों ने इस संघर्ष को ही अपना विषय बनाया है और नई पीढ़ी के मूल्यगत विद्रोह को वाणी प्रदान की है।

स्वयं प्रेमचन्द ने इस समस्या को अपने उपन्यासों में उठाया है—अपने प्रारम्भिक उपन्यासों यथा—'वरदान' आदि में तथा बाद के उपन्यासों यथा—'सेवा-सदन', 'कर्मभूमि', 'गोदान' आदि में भी। लेकिन अपने विषय का ध्यान रखते हुए इस संदर्भ में प्रेमचन्द पर विस्तार से प्रकाश डालना हमारे लिये सम्भव नहीं है, क्योंकि

प्रबन्ध के लिये प्रेमचन्द प्रधान नहीं प्रासंगिक विषय ही हैं। प्रेमचन्द के अतिरिक्त पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के 'शराबी' उपन्यास में यह समस्या हीरा और मानिक के परस्पर प्रेम के माध्यम से उठाई गई है। हीरा-मानिक दोनों परस्पर प्रेम करते हैं, लेकिन उनका विवाह उनकी इच्छा से नहीं हो पाता। बल्कि हीरा का ब्याह एक पशु-वृत्ति के पुरुष से कर दिया जाता है, जिसका दृष्टिकोण स्त्रियों के विषय में इस प्रकार है—'स्त्री खाने और कपड़े के दामों पर मुफ्त के माल की तरह लूट लेने की चीज है। स्त्रियों का केवल यही कर्त्तव्य होता है कि जिसके हाथों बिके, उसके लिये, उसके परिवार के लिये, उनके संसार के लिए अपने तन-मन के लहू की एक-एक बूंद गार दे।'[1]

'तितली' उपन्यास में जयशंकर 'प्रसाद' ने मधुवन के वैवाहिक प्रसंग में मूलभूत वैवाहिक मानदण्डों का विश्लेषण ही प्रस्तुत कर दिया है। तितली के लिए यद्यपि एक ओर गाँव के जमींदार, विलायत-रिटर्न उच्च शिक्षित इन्द्रदेव का वैवाहिक प्रस्ताव आता है, तो दूसरी तरफ़ उसकी शादी गुरु रामनाथ की देखरेख में उसके बचपन के मित्र मधुवन से तय होती है। इस प्रतिकूल निर्णय को सफल बनाने में गुरु रामनाथ को काफी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। लेकिन अन्ततः वे तितली तथा मधुवन का वैवाहिक संबंध करा पाने में सफल हो ही जाते हैं। इस सम्बन्ध में गुरु रामनाथ का विचार अलग है, जिसके अनुसार विवाह का आधार धन-दौलत नहीं, बल्कि प्रेम है। वह मधुवन की बुआ राजो के सभी रूढ़िवादी तर्कों का जवाब देते हुए कहते हैं—'तुम भूल करती हो राजो। तितली को मधुवन के साथ परदेश जाना पड़े, यह भी मैं सह लूँगा, पर उसका ब्याह दूसरे से होने पर वह बचेगी नहीं।'[2]

गुरु रामनाथ के इस दृष्टिकोण का समर्थन उपन्यास के अन्य पात्र, जैसे वाट्सन तथा शैला भी करते हैं। क्योंकि पश्चिमी समाज में वैवाहिक चुनाव का प्रतिमान प्रेम ही होता है तथा निर्णय का अधिकार अभिभावक को न होकर स्वयं प्रेमी-प्रेमिका को होता है। भारतीय संस्कृति के प्रबल समर्थक होने के बावजूद 'प्रसाद' जी पश्चिमी सभ्यता की अच्छी बातों को अपनाने का सुझाव पेश करते हैं। 'प्रसाद' जी इस दृष्टि से उदारवादी सांस्कृतिक विचारक हैं, क्योंकि देश-काल की सीमाओं को तोड़कर वे एक विश्व संस्कृति की कल्पना करते हैं। मधुवन और तितली परस्पर वैवाहिक सूत्र में बँध कर एक आदर्श दम्पति का प्रमाण उपस्थित करते हैं। यद्यपि प्रेम-विवाह की पद्धति पश्चिमी सभ्यता की देन कही जा सकती है, लेकिन आदर्श गृहिणी तथा तितली का

---

१. 'शराबी' : तीसरा संस्करण, १९५४, पृ० ४३।
२. 'तितली' : चौथा संस्करण, १९५५, पृ० १०९।

पतिव्रता रूप भारतीय संस्कृति की ही देन है। इस प्रकार 'प्रसाद' जी सदा की भाँति इस विषय पर भी अपना समन्वयवादी समाधान प्रस्तुत करने में पीछे नहीं रहे हैं। अतः आधुनिक भारत की सामाजिक संस्कृति के निर्माण में जयशंकर 'प्रसाद' का स्थान अप्रतिम है।

इसी प्रकार 'प्रेम की भेंट' में अभिभावक के कठोर नियंत्रण के फलस्वरूप सरस्वती की मृत्यु हो जाती है। पश्चिमी समाज में पारिवारिक नियंत्रण व्यक्ति पर नहीं रहा है, लेकिन भारतीय समाज में दासता का यह रूप आज भी किसी-न-किसी रूप में प्रचलित है। अगर पुरुष वर्ग इस नियन्त्रण से थोड़ा-बहुत मुक्त हो भी जायँ, यद्यपि यह कम मुश्किल नहीं है, तो स्त्रियों के लिये तो यह एकदम असम्भव ही समझिए। इसीलिए उपन्यास की नायिका सरस्वती घुल-घुल कर मर जाती है, लेकिन पिता द्वारा किए गए अन्याय का विरोध नहीं कर पाती। पारिवारिक नियन्त्रण के भय से वह धीरज से अपना प्रेम तक नहीं व्यक्त कर पाती और अन्ततः भावनाओं के इस दमन का परिणाम सरस्वती का अन्त होता है। सरस्वती के पिता भारतीय परम्परागत कृषक वर्ग के प्रतिनिधि चरित्र हैं, जो विचारों में बहुत ही रूढ़िवादी तथा अप्रगतिशील हैं। वे आतिथ्य-सेवा को अपना धर्म समझते हैं, तथा दूसरे की कमाई हड़पने को धर्म-विरुद्ध मानते हैं, वही पिता सरस्वती तथा धीरज का प्रेम-सम्बन्ध नहीं देख सकते, उसे देखकर वे दानव बन जाते हैं। यह और कुछ नहीं, समाज में गलत मान्यताओं का ही परिणाम है।

इस युग के प्रायः सभी उपन्यासकार सिद्धान्ततः यह स्वीकार करते देखे जा सकते हैं कि विवाह का आधार वास्तव में प्रेम ही होना चाहिये। इस दृष्टि से लेखकों ने अभिभावकों तथा परिवारों के कठोर नियंत्रण की जी भर कर निन्दा की तथा इस सम्बन्ध में उनके विशेषाधिकारों का विरोध किया। इसके अतिरिक्त दूसरा पहलू इसका यह था कि प्रेम-विवाहों को प्रश्रय दिया जाय और उनके मार्ग में पड़ने वाली बाधाओं का विश्लेषण किया जाय। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' अपने उपन्यास 'भिखारिणी' में दो पीढ़ियों का संघर्ष चित्रित करते हैं। नन्दराम जमींदार का लड़का है, लेकिन वह एक निर्धन कृषक की मामूली लड़की सोना से प्रेम करता है। नन्दराम में विवाह कर सकने का साहस है, अतः वह अपनी इच्छा अपने पिता के सम्मुख व्यक्त करता है, जिस पर उसके पिता अर्जुन सिंह बिगड़ खड़े होते हैं—'शंभुसिंह जिसके घर में भूनी भाँग नहीं, जो मेरा खेतिहर है, जो मेरे सामने बात करते हुये थर्राता है—उसे मैं अपना समधी बनाऊँ। यह तो सात जनम नहीं हो सकता।'[1] अर्जुन सिंह आगे कहते हैं—

---

१. 'भिखारिणी'। चौथा संस्करण, १९५६, पृ० ४३।

'मेरे होते हुए तू होता कौन है। तेरे जी से मुझे क्या मतलब। जो मैं करूँगा, वह होगा। नंदराम की माता का विचार भी इस सम्बन्ध में लगभग यही है।[1] वह भी यही कहती है कि निर्धन के घर शादी करने में सामाजिक प्रतिष्ठा को चोट पहुँचेगी। लेकिन साहसी नायक नन्दराम पर इन सारी बातों का कोई असर नहीं होता, अन्त तक वह अपने निश्चय पर अटल रहता है और जब कोई और चारा नहीं देखता तो अपनी प्रेमिका सोना के साथ घर त्याग कर दर-दर का भिखारी बन जाता है। सोना इसी बीच यशोदा नामक लड़की को जन्म देती है, जिससे उपन्यास की दूसरी कथा प्रारम्भ होती है। यशोदा का प्रेम-सम्बन्ध एक खत्री लड़के रामनाथ के साथ होता है। लेकिन जातिगत वैषम्य यहाँ विवाह में बाधक होता है। इस प्रकार लेखक अनमेल विवाह के एक दलदल से निकलकर भी अन्तर्जातीय विवाह के दूसरे दलदल में फँस कर रह गया है।

इसकी तुलना में हम कहना चाहेंगे कि 'गोदान' का रुद्रपाल सिंह स्वेच्छा से सरोज के साथ विवाह करके नई दिशा की सूचना देता है। 'गोदान' के रायसाहब नहीं चाहते कि सरोज के साथ रुद्रपाल सिंह का विवाह हो। प्रतिष्ठा की दृष्टि से वे रुद्रपाल सिंह का विवाह सूर्यप्रताप की लड़की से करना चाहते हैं। इसलिये वे सरोज तथा रुद्रपाल के प्रेम-विवाह को रोकने के लिये पुलिस का सहारा भी लेते हैं, लेकिन अंत में उनकी एक नहीं चलती और रुद्रपाल तथा सरोज परस्पर प्रेम-विवाह कर ही डालते हैं। प्रेमचन्द राय साहब तथा राजा सूर्यप्रताप सिंह के विचारों का विश्लेषण करते हैं—"इन दोनों व्यक्तियों के संस्कार एक-से थे। गुफावासी मनुष्य दोनों ही व्यक्तियों में जीवित था। रायसाहब ने उसे ऊपरी वस्त्रों से ढक दिया था। राजा साहब में वह नग्न था"[2] व्यक्ति पर यह कठोर पारिवारिक नियंत्रण सामन्तवादी संस्कृति का ही एक पहलू है। आधुनिक युग में मानवतावाद की स्थापना के फलस्वरूप व्यक्ति को समाज के रूढ़िगत कठोर नियंत्रण से मुक्त करके प्रतिष्ठित किया गया। इस स्वतन्त्र प्रतिष्ठा का ही परिणाम है वैवाहिक चुनावों की छूट लड़के-लड़कियों को प्रदान करना। प्रेमचन्द ने इस स्वच्छन्द प्रेम की समस्या को अपने अन्य उपन्यासों में भी उठाया, और यद्यपि वे उसे विद्रोह की भूमिका तक ले नहीं जा सके तो भी, उन्होंने समस्या को सम्पूर्ण सामाजिक परिपार्श्व में विश्लेषित करके भावी परिवर्तन की दिशाओं को तो सूचित किया ही। निश्चय ही इससे आगे की स्थिति काफ़ी स्पष्ट हुई और विनय तथा सोफ़िया, अमरकान्त तथा सक़ीना आदि के प्रेम-प्रसंगों के चित्रण से वैवाहिक समस्या के सम्बन्ध में आधुनिक

---

१. 'भिखारिणी। चौथा संस्करण, पृ० ४३।
२. 'गोदान' : तेरहवाँ संस्करण, १९५९, पृ० ३३३

मानवतावादी विचार-दर्शन का स्पष्टीकरण हुआ तथा अन्तर्धार्मिक वैवाहिक सम्बन्धों की संभावना भी स्पष्ट हुई।

प्रेमचन्द की भाँति ही पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने भी अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'चन्द हसीनों के ख़तूत' में मुरारी कृष्ण तथा नर्गिस के प्रेम-प्रसंग के माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक एकता की स्थापना के साथ-ही-साथ अन्तर्धार्मिक विवाह का समर्थन करके वैवाहिक समस्या के सम्बन्ध में भी अपना क्रान्तिकारी विचार व्यक्त किया। नर्गिस तथा मुरारी के सम्बन्धों की सफलता के लिए लेखक ने यहाँ सूफ़ी कवियों का सहारा लेकर नर्गिस के पिता का हृदय-परिवर्तन कराया है।[1] लेकिन इस प्रसंग को लेकर हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगा होकर ही रहता है, जिसमें मुरारी कृष्ण मारा जाता है और उपन्यास का अन्त दुःखद होता है। फिर भी नर्गिस अन्त तक मुरारी कृष्ण को ही अपना पति मानती है और वह हिन्दू धर्म भी स्वीकार कर लेती है।[2] नर्गिस इस बात की प्रतिज्ञा करती है कि वह ग़लत इस्लाम को मिटाकर रहेगी। लेकिन 'उग्र' जी इस सम्बन्ध में पूरी तटस्थता नहीं बरत पाते। उनमें हिन्दुत्व अधिक तीव्र है और अन्तर्धार्मिक विवाह से कहीं अधिक उनका लक्ष्य मुसलमान लड़की को हिन्दू बनाने में निहित है। कहीं-कहीं तो साम्प्रदायिक भावना को भड़काया भी गया है जो निश्चय ही लेखक के अपने विचार हैं। मुरारी कृष्ण अपनी माता को लिखे गए पत्र में लिखता है—"विदेशी और विजातीय अपवित्र और नरक के कीड़े, सदियों से हमारी माताओं, बहनों, बेटियों और बहुओं का पग-पग पर अपमान करते हैं, अपहरण करते हैं और उन पर पाशविक अत्याचार करते हैं।"[3] स्पष्ट है कि 'उग्र' जी हिन्दुओं की ओर से पक्षपात रहित नहीं हो पाए हैं। चूँकि सूफ़ी कवियों का सहारा लेकर उन्होंने एकता स्थापन का प्रयास किया है, फिर भी अगर सूफ़ी कवियों का जिक्र न आता तो उपन्यास का अन्त साम्प्रदायिकता को कम करने की जगह और अधिक बढ़ावा ही देता।

इस प्रकार विवेच्य-काल में विवाह-प्रथा से सम्बन्धित कतिपय नई बातों की स्थापना की गई है। फिर भी इस सम्बन्ध में जयशंकर 'प्रसाद' का दृष्टिकोण, जो उनके 'तितली' उपन्यास में इन्द्रदेव तथा शैला के वैवाहिक सम्बन्ध के माध्यम से व्यक्त हुआ है, विवेच्यकाल का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा क्रान्तिकारी दृष्टिकोण है। इसमें न केवल जातीय तथा धार्मिक दृष्टि से ही, वरन् राष्ट्रीय तथा विश्वगत दृष्टि से भी वैवाहिक चुनाव की समस्या को एक नये आयाम में विश्लेषित किया गया है। 'प्रसाद' जी का

---

१. 'चन्द हसीनों के ख़तूत' : आठवाँ संस्करण, १९२६, पृ० १०८।

२. 'चन्द हसीनों के ख़तूत' : आठवाँ संकरण, १९२६, पृ० १३८।

३. 'चन्द हसीनों के ख़तूत' : आठवाँ संस्करण, १९२६, पृ० ११७-११८

उद्देश्य भारतीय तथा पाश्चात्य सांस्कृतिक एकता ही नहीं, सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से जातिगत, धर्मगत तथा देशगत संकीर्ण सीमाओं के बन्धन को तोड़ कर विश्व के स्तर पर एक अभिनव संस्कृति की रचना भी रहा है। उनकी 'कामायनी' का 'समरसता सिद्धान्त' इसी विश्व संस्कृति का सिद्धान्त है।

इसके अतिरिक्त इस काल के अन्य लेखकों में वृन्दावनलाल वर्मा, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', भगवती प्रसाद वाजपेयी, 'निराला' तथा जैनेन्द्रकुमार ने भी वैवाहिक समस्या को अपने उयन्यासों में उठाया है और अपने-अपने ढंग से उसका समाधान प्रस्तुत किया है। वृन्दावनलाल वर्मा प्रत्येक प्रश्नों की भाँति इस प्रश्न को भी रोमांटिक शैली में उठाते हैं और अपने ग्रामीण पात्रों के स्वच्छन्द प्रेम के माध्यम से वैवाहिक चुनाव में सामाजिक कठोर नियंत्रण की निन्दा करते हैं। इनके उपन्यासों के ग्रामीण चरित्र शहरी चरित्रों की तुलना में अधिक प्रगतिशील हैं और सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने में अधिक सचेत भी हैं। मध्यमवर्गीय शिक्षित चरित्र रतन तथा रञ्जन बेटी से कहीं अधिक पूना और गंगा का चरित्र सुदृढ़ और प्रगतिशील है। पैलू जैसा निम्नवर्गीय अशिक्षित किसान भी सामाजिक कुप्रथाओं के विरोध में सक्रिय है। अपने 'लगन' उपन्यास में वह दहेज-प्रथा का विरोध करते हैं तथा 'प्रेम की भेंट' में वैवाहिक चुनाव के सम्बन्ध में माता-पिता की कट्टरता का दुष्परिणाम दिखलाते हैं। 'प्रत्यागत' में वर्णाश्रम समाज-व्यवस्था की कट्टरता पर प्रहार करने के साथ ही वह 'संगम' में विधवा-विवाह का समर्थन करते हैं। भगवती प्रसाद वाजपेयी ने यद्यपि अपने उपन्यास 'लालिमा' में प्रगतिशील सामाजिक दृष्टिकोण का परिचय दिया है, लेकिन अन्य उपन्यासों में वे प्रायः देवर-भाभी तथा जीजा-साली जैसे सामान्य सम्बन्धों को ही लेकर भावुक रोमांस की भी सृष्टि करते रहे हैं। रमेश तथा तारा ('प्रेम-पथ') हरिराम तथा नन्दा ('पतिता की साधना') वाजपेयी जी की ऐसी ही सृष्टियाँ हैं, जो सामाजिक दृष्टि से कहीं-कहीं उच्छृंखलता की सीमा में भी पहुँच जाती हैं। इस प्रकार वाजपेयी जी प्रेम के सम्बन्ध में स्वच्छन्दता के सवाल तक ही सीमित कहे जा सकते थे, यदि 'पतिता की साधना' में उन्होंने प्रगतिशील भूमिका पर विधवा तथा वेश्या-विवाह को सम्पन्न न कराया होता। वस्तुतः इस वैवाहिक प्रश्न से कहीं अधिक वे व्यक्ति की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए अपनी छटपटाहट व्यक्त करते हैं और व्यक्ति पर सामाजिक नियंत्रण को अनावश्यक तथा अवहेलना की वस्तु मानते हैं।

वैवाहिक स्वतन्त्रता के इस सवाल पर 'निराला' जी के उपन्यासों में भी विचार किया गया है तथा उसे विद्रोह की भूमिका तक पहुँचाया गया है। 'निराला' जी के उपन्यासों का नारी पात्रों के नाम पर नामकरण इस बात को प्रमाणित करता है कि उनकी दृष्टि स्त्रियों की दशा पर अधिक है। निरुपमा तथा डा० कुमार का वैवाहिक

सम्बन्ध स्थापित करके 'निराला' जी रूढ़िवादी सामाजिक बन्धनों को तोड़ने का ही प्रयत्न करते हैं। 'निराला' जी के अन्य विद्रोही पात्रों में राजकुमार एक वेश्या की लड़की से शादी करता है तथा अजित विधवा वीणा के साथ। इस प्रकार 'निराला' जी समाज को समय से बहुत आगे खींच ले जाते हैं।

प्रसिद्ध दार्शनिक उपन्यासकार जैनेन्द्रकुमार भी वैवाहिक समस्या को उठाते हैं, लेकिन अन्ततः गाँधीवादी आत्मपीड़न के सिद्धान्त में ही उनका अन्त होता है। विद्रोह के स्तर पर उनके भी चरित्र विकसित नहीं हो पाते। कट्टो का वैधव्य विद्रोह करता है, लेकिन फिर उसे अपने में ही शान्त हो जाना पड़ता है। मृणाल पति के अत्याचारों से विद्रोह करती है, लेकिन पति से टूटकर वह अपने पाँवों पर खड़ी हो सकने में समर्थ नहीं है। अतः आत्मपीड़न का दर्शन देकर सदैव के लिए टूट जाती है। सुनीता भी कुछ क्षण के लिए अपने दाम्पत्य जीवन से विद्रोह करती है, लेकिन अन्ततः गृहस्थी की चहारदीवारी में ही वह नारी की मर्यादा, संतोष तथा सुख ढूँढती है। जैनेन्द्र की नारियों में अपना व्यक्तित्व तो है, लेकिन समाज के लिए उनका कोई अर्थ नहीं है। वस्तुतः जैनेन्द्र का सामाजिक दृष्टिकोण अन्तर्विरोधी रहा है, जिसे उनके प्रथम उपन्यास 'परख' में ही देखा जा सकता है। सत्यधन विवाह पर आस्था रखता है, लेकिन प्रेम को वह मनबहलाव समझता है, उसे वह सामाजिक रूप नहीं प्रदान कर पाता। लेखक का यह विश्वासघाती पात्र है जो स्वयं के अन्तर्विरोधों से मुक्त नहीं हो पाता। दूसरी ओर बिहारी लेखक का आदर्श चरित्र है, जो विवाह को सामाजिक मान्यता तो प्रदान नहीं करता, फिर भी कट्टो के साथ विवाह-प्रतिज्ञा में बँधता है। लेखक इसे वैधव्य तथा विवाह दोनों की प्रतिज्ञा मानता है, जो सामाजिक दृष्टि से स्वस्थ विचार नहीं कहा जा सकता। फिर भी जैनेन्द्र में व्यक्तिवाद के प्रति आस्था है और आगे के उपन्यासों के लिए उन्होंने नवीन विचार दर्शन का आधार प्रस्तुत किया है।

वैवाहिक समस्या के सम्बन्ध में सबसे अधिक विद्रोही भूमिका आधुनिक उपन्यासकारों ने निभाई है। प्रेमचन्दोत्तर काल के उपन्यासों में जगह-जगह इस संबंध में विचार किया गया है। पिछले युग में ही प्रेमचन्द मालती के माध्यम से आधुनिक नारी का रूप स्पष्ट कर चुके थे। प्रेमचन्द के आदर्शवाद ने मालती का चारित्रिक परिवर्तन करके अन्ततः उसे भारतीय नारी के प्रतिष्ठित पद पर आसीन किया। लेकिन लेखक यथार्थ सत्य की अवहेलना नहीं कर सका और मालती को भारतीय नारी के रूप में परिवर्तित करने के समस्त प्रयत्नों के बावजूद अविवाहित ही रखना पड़ा। मालती प्रो० मेहता से अटूट प्रेम करती है लेकिन उन्हें पुरुष की दासता स्वीकार नहीं। लेकिन इस प्रेमचन्दोत्तर काल में मालती जैसी नारियों की संख्या बढ़ती ही गई है, जिनका चरित्र लेखकों ने यथार्थ के धरातल पर चित्रित किया है।

विवाह तथा वैवाहिक चुनाव वह बिन्दु है, जिसके आधार पर व्यक्ति के सामाजिक विचारों को परखा जा सकता है, विशेषकर आधुनिक भारत की सामाजिक स्थिति में, जो संक्रमण की स्थिति से गुज़र रही है। जीवन के निश्चित मानदण्डों के अभाव में व्यक्ति के लिए और अधिक चिन्त्य है। युगों से त्रस्त भारतीय नारी जब पुरुष की दासता से मुक्त हुई तो उसके लिए यह नितान्त स्वाभाविक था कि वह उस समाज के प्रति घृणा का प्रदर्शन करे, जिसने उसे युगों से दासी बनाकर उसका शोषण किया। अतः आधुनिक शिक्षित नारी विवाह-व्यवस्था के प्रति ही विद्रोह के लिए तैयार हुई और विवाह को उसने पुरुष की दासता समझा। आचार्य चतुरसेन शास्त्री अपने 'नीलमणि' उपन्यास में इस समस्या को उठाते हैं। 'नीलमणि' की नोलू अभिजात्य पिता की शिक्षित पुत्री है, जिसकी शादी बिना उसकी सहमति के सुयोग्य एवं विद्वान् महेन्द्र से की जाती है। यहाँ अनमेल सम्बन्ध नहीं है, लेकिन फिर भी नीलू का स्वाभिमान आहत हो जाता है और वह पति को मानसिक रूप से सामान्य धरातल पर स्वीकार नहीं कर पाती।

'पर्दे की रानी[1]' उपन्यास की निरंजना का इस सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण है कि स्त्री-पुरुष की मूलवृत्ति प्रेम की नहीं, वरन् घृणा की है और यह घृणा अंततः हत्या में परिवर्तित हो सकती है। अन्तर केवल यह है कि कोई पुरुष स्त्री की हत्या एक ही बार करता है और कोई तिल-तिल कर मारता है[2]। इसीलिए विवाह को वह पुरुष की गुलामी समझती है। पुरुष के सम्बन्ध में वह कहती है—' वे नारी को केवल अपनी प्यास या आग बुझाने के साधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझते[3]।' इसकी पुष्टि के लिए वह महाभारत से द्रौपदी चीर हरण का उदाहरण रखती है। निरंजना के इन्द्रमोहन से स्वच्छन्द प्रेम का परिणाम शीला की आत्महत्या की तैयारी होता है और इन्द्रमोहन भी इसीलिए अपनी हत्या करता है। जोशी जो मुख्यतः मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं अतः पात्रों के चारित्रिक विकास तथा कथानक के निर्माण में उन्होंने अनेक मनोवैज्ञानिक तथ्यों का सहारा लिया है। लेकिन सामाजिक धरातल पर सम्पूर्ण कथा एक ही सूत्र से जुड़ती है कि निरंजना तथा इन्द्रमोहन स्वच्छन्द प्रेम करना चाहते हैं, जिसका अन्तिम परिणाम दुःखद होता है। लेखक का आदर्श चरित्र मनोवैज्ञानिक चन्द्रशेखर निरंजना के अवैध गर्भ का समर्थन करता है।

---

१. इलाचन्द्र जोशी का उपन्यास : तीसरा संस्करण, १९४१।
२. 'पर्दे की रानी' : तीसरा संस्करण, १९४१, पृ० २२
३. " " " पृ० २१

'दादा कामरेड[1]' की शैलबाला एम० ए० की छात्रा है तथा क्रान्तिकारी विचारधारा रखती है, यद्यपि आभिजात्य परिवार की है। वह पिता की लाड़ली होने के कारण स्वतन्त्र प्रकृति की है अतः नारी की स्वतन्त्रता तथा सामाजिक दासता से उसको मुक्ति के लिए विद्रोह करती है। विवाह के सम्बन्ध में वह कहती है—'जब स्त्री को एक आदमी से बँध जाना है और सामाजिक अवस्थाओं के अनुसार उसके अधीन रहना है, उस पर निर्भर करना है, उस सम्बन्ध को चाहे जो नाम दिया जाय, वह है स्त्री की गुलामी ही। अच्छे साथी तो एक व्यक्ति के कई हो सकते हैं ? स्त्री के कई पति होना तुम्हें सहन हो सकता है ? शैलबाला की यह विकृत स्वतन्त्रता सम्पूर्ण नारीत्व को ही उपेक्षित कर देती है। वह हरीश से कहती है—'पुरुष कभी स्त्री के दृष्टिकोण से समस्या को देख नहीं सकता। स्त्री की सबसे बड़ी मुसीबत तो यह है कि उसे सन्तान पैदा करनी है। इसीलिए पुरुष जमीन के टुकड़े की तरह उस पर मिल्कियत जमाने के लिए व्याकुल रहता है।[2]' शैलबाला का यह सामाजिक तथा वैवाहिक विद्रोह क्षणिक बौद्धिक आक्रोश का परिणाम नहीं है वरन् दीर्घकालीन जीवन में यह व्यवहार के कुत्सित धरातल पर भी देखा जा सकता है। शैलबाला महेन्द्र से प्रेम करती है तथा भ्रूण हत्या करती है। इसके अतिरिक्त उसका सम्बन्ध खन्ना, राबर्ट, हरीश तथा किशोरावस्था में भी अन्य कई लड़कों से होता है। अन्त में हरीश से वह दुबारा गर्भवती होती है, फिर भी उसके साथ शादी के बन्धन में नहीं बँधती। इस सम्बन्ध में वह अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए हरीश से कहती है—'इसके बाद कई लड़के नज़रों में आये। तुम बताओ, जो अच्छा हो, वह अच्छा कैसे न लगे ? उसके लिए चाह थी, प्यार कैसे न हो ? जिस समय जो लड़का नज़रों में रहा, उस समय वही मुझे आदर्श जँचता रहा।[3]' यहाँ हम देखते हैं कि शैलबाला का यह दृष्टिकोण सामाजिक आचार-विचार के सामान्य नियमों को भी स्वीकार नहीं करता तथा सांस्कृतिक विरासत की पूरी अवहेलना करता है। शैलबाला सांस्कृतिक दृष्टि से अराजकतावादी विचार-दर्शन को प्रस्तुत करती है जो लेखक पर इसी प्रभाव का सूचक माना जा सकता है। वैसे आचार-व्यवहार की जैसी उपेक्षा यशपाल जी करते हैं, वैसी शायद स्वयं मार्क्स तथा मार्क्सवादी उपन्यास-कारों ने भी नहीं की होगी। लेखक शैलबाला के स्वच्छन्द व्यवहार का चित्र प्रस्तुत करता है—'शैल बिना किसी संकोच के हरीश की कुर्सी की बाँह पर बैठने के प्रयत्न में फिसल

---

१. यशपाल का उपन्यास।

२. 'दादा कामरेड' : चौथा संस्करण, १६५६, पृ० ३१

३. " " " पृ० ३६-३७।

कर हरीश की गोद में जा पहुँची ।' और फिर यशपाल लिखते हैं--'इस असाधारण व्योहार से जिसे आसाधारणत: अभद्रता कहा जा सकता था, न जाने क्यों यशोदा को घृणा न हुई । वह केवल मुस्करा कर रह गई, मानों वह केवल निर्दोष परिहास मात्र था[1] ।' शैल का व्यवहार बिलकुल अभारतीय है ।' शैल एक ओर राबर्ट की ओर दूसरी ओर हरीश की बाँहों में अपनी बाँहें डाले शनैः शनैः कदम उठाती हुई कोठी के फाटक की ओर जा रही है[2] ।' एक साथ दो पुरुषों से प्रेम करने की यह पद्धति किस देश की संस्कृति में मिलती है यह लेखक ही बता सकता है ।

'निमन्त्रण'[3] की नायिका मालती भी शैलबाला की तरह की ही है । वह भी राजनीतिक कार्य करती है, लेकिन उसके लिये राजनीति, देश-सेवा पुरुषों का सम्पर्क पाने की एक विशेष सुविधा है । वह भी भ्रूण हत्या करती है, लेकिन शैल की भाँति उसने प्रेम का विस्तार पाने के लिए अनेक पुरुषों के आश्रय को नहीं ग्रहण किया । वह पाश्चात्य संस्कृति की भक्त है और वह समाज का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करती । वह कहती है कि—'मैं इन रिश्तों की सीमाओं से परिचित नहीं हूँ भाभी । मेरी इन पर कोई विशेष आस्था भी नहीं है । एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध एक साथी का ही मेरी समझ में आता है[4] ।' मालती का यह समाज-विद्रोह एकमात्र वैवाहिक संस्था का विरोध करके उन्मुक्त जीवन व्यतीत करना है । वह विवाह के विरोध में कहती है—'यह एक पत्नीव्रत या पातिव्रत धर्म भी एक प्रकार की कट्टरता ही है । इसमें जीवन ने अपने को रास्ते में लेकर एक जगह छोड़ दिया है । कल्पना और बुद्धि का स्वतन्त्र चिन्तन और पदक्षेप उसने अवरुद्ध कर रखा है । केवल अपनी ही सन्तान को मनुष्य ने त्याग, प्रेम और समर्पण की केन्द्र भूमि मान लिया है । मनुष्य के बीच भेदाभेद की वीभत्स क्षुद्रता इसी की देन है ।'[5] मालती अपनी आधुनिकता के जोश में समाज, परिवार, पारिवारिक सम्बन्ध नैतिक मान्यताएँ आदि को स्वीकार नहीं करती क्योंकि वह विवाहित गिरधारी लाल से स्वच्छन्द प्रेम करने की स्वतंत्रता समाज से चाहती है । मालती की आधुनिकता का दूसरा पहलू यह है कि वह साम्यवादी नेता गिरधारी लाल के साथ मजदूर बस्तियों में जाकर उनकी दशा सुधारने को उत्सुक दिखाई पड़ती है ।

---

१. 'निमन्त्रण' : साहित्य प्रकाशन १६५८, पृ० १२८
२. 'दादा कामरेड' : चौथा संस्करण, १६५६, पृ० २६-२७
३. ,, ,, ,, पृ० १४२
४. 'निमन्त्रण': साहित्य प्रकाशन, १६५८, पृ० १०६
५. 'निमंत्रण : साहित्य प्रकाशन १६३८ पृ० १०६-१०७

इस दृष्टि से 'निर्वासित' उपन्यास की श्रीमती खन्ना आधुनिक नारी हैं, जो चार-चार पुत्रियों की माँ हैं और 'कोर्टशिप' की वैवाहिक पद्धति को मान्यता देती हैं। श्रीमती खन्ना की लड़की नीलिमा के सामने वैवाहिक चुनाव का प्रश्न आता है जिसके लिये दो प्रत्याशी मौजूद हैं—एक हैं महीप जो आदर्श प्रेम के प्रतीक हैं और दूसरे हैं ठाकुर लक्ष्मीनारायण, जो भौतिक प्रेम के प्रतीक हैं। नीलिमा दोनों व्यक्तियों से एक साथ प्रेम-व्यापार चलाती रहती है। लेकिन, चूँकि नीलिमा ने अपना आभिजात्यपन बिलकुल ही नहीं छोड़ दिया है; इसलिए शादी वह ठाकुर लक्ष्मीनारायण के साथ ही करती है। वस्तुत: लेखक का अभीष्ट यहाँ नीलिमा के माध्यम से तत्कालीन आभिजात्य वर्ग की नारियों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करना रहा है। नीलिमा इसीलिए न तो राज-नीति के क्षेत्र में और न विवाह के क्षेत्र में, कहीं भी आधुनिका नहीं लगती। वस्तुत: जोशी जी ने अपने इस उपन्यास में श्रीमती खन्ना तथा ठाकुर लक्ष्मीनारायण के माध्यम से आभिजात्य वर्ग के पतनोन्मुख सामाजिक दृष्टिकोण को ही व्यक्त किया है। इन चरित्रों की तुलना में शारदा और प्रतिभा जैसे उग्र क्रान्तिकारियों को रखकर उसने इस आभि-जात्य सामाजिक दृष्टिकोण के प्रति विद्रोह का स्वर व्यक्त किया है।

रांगेय राघव के 'घरौंदे' उपन्यास में भी स्वच्छन्द प्रेम तथा वैवाहिक चुनाव के सवाल को उठाया गया है लवंग लीला तथा ऊषा कालेज की छात्राएँ हैं और स्वच्छन्द प्रेम को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझती हैं। लवंग लीला के विषय में लेखक लिखता है—'लवंग हँस पड़ी। उसकी हँसी में वह चुलबुलापन था जो फ्रांस की मांसल नाचने वाली लड़कियों में।'[1] वास्तव में लवंग उद्दाम प्रवृत्ति की आधुनिक नारी है, समाज, आदर्श एवं मूल्यों के सम्बन्ध में उसका कोरा बौद्धिक आक्रोश है। वह समाज, आदर्श तथा मूल्य सब का निषेध करती हुई कहती है कि माता-पिता का कोई अस्तित्व नहीं, वह एक पुत्र के लिए गुलामी की जंजीरें हैं। माता-पिता से उसका सम्बन्ध एकमात्र 'एक प्रकृति की अकस्मात् होने वाली घटना से जुड़ा रहता है।'[2] यह प्रगल्भ नारी वीरेश्वर से यहाँ तक कहा जाती है 'माँ कहकर नारी का गला घोंटा गया है। मैंने महाभारत में पढ़ा है, किसी समय स्त्रियाँ गायों की तरह स्वतन्त्र थीं।'[3] लेखक ने सचमुच में लीला के माध्यम से वैवाहिक स्वतंत्रता का समर्थन तथा आधुनिकतम नारी की सृष्टि की है। लेखक का दृष्टिकोण, लीला जैसी स्वच्छन्द प्रवृत्ति की आधुनिक नारियों के चित्रण में, स्पष्टतया अन्य समकालीन उपन्यासकारों से भिन्न उनके विकृत

---

१. 'घरौंदे' : प्रथम संस्करण, १९४६ पृ० ६१।

२. 'घरौंदे' : प्रथम संस्करण, १९४६, पृ० १७६

३. ” ” ” ” पृ० १७६

सामाजिक दृष्टिकोण तथा पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण और मूल्यविहीन, आस्था-विहीन जीवन-दर्शन का पर्दाफ़ाश करना रहा है।

'अचल मेरा कोई' उपन्यास की कुन्ती भी एक सम्पन्न परिवार की स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाली लड़की है जो अचल तथा सुधाकर दो पुरुषों के साथ प्रेम सम्बन्ध स्थापित करती है, लेकिन आर्थिक साधनों की सुविधा का ख्याल करके वह विवाह के लिए सुधाकर को ही चुनती है, लेकिन हालत यह है कि राजनीतिक सिद्धान्तों, साहित्यिक रुचियों तथा कलागत और जीवनगत दृष्टियों में अचल से अधिक निकट होने के कारण वह सुधाकर से विवाह कर लेने के बाद भी अचल को भूल नहीं पाती। विवाह के बाद का यह अचल के प्रति प्रेम-भाव उसका पति सुधाकर सहन नहीं कर पाता। फलतः पति-पत्नी में मानसिक संघर्ष होता है और इसकी परिणति होती है कुन्ती द्वारा आत्महत्या। कुन्ती का व्यक्तित्व प्रारम्भ में नारी-विद्रोह की उच्चतम भूमिका में प्रस्तुत किया गया है और विवाह के सम्बन्ध में तथा उसके पश्चात् भी पति-पत्नी के सम्बन्ध में अगर पटरी न बैठ पाये तो उसके सम्बन्ध में भी वह बड़ा मौलिक समाधान सुझाती है—'पति-पत्नी के मत-वैभिन्न्य की स्थिति में तत्क्षण सम्बन्ध विच्छेद के लिये मैं एक और उपाय ज्यादा अच्छा समझती हूँ। बिलकुल मौलिक, अत्याचारी पति को पत्नी सवेरे-शाम गिन-गिनकर इतने जूते लगाए कि वह सम्बन्ध-विच्छेद की लिखा-पढ़ी करने को हा हा करता फिरे। कहाँ का प्रमाण और कहाँ की हाईकोर्ट।'[1] लेकिन स्वयं ऐसी परिस्थिति में वह आत्म-हत्या का समाधान ही वरण क्यों करती है, समझ में नहीं आता। वैचारिक रूप से विद्रोहिणी लगने वाली कुन्ती अन्ततः मध्यवर्गीय दुर्बल नारी का ही प्रतिरूप बनकर रह गई है।

'कौशिक' जी के 'संघर्ष' उपन्यास की नायिका स्नेहलता इस सम्बन्ध में पति तथा प्रेमी का अन्तर स्पष्ट करती है और शादी को एक तरह का आर्थिक अनुबंध मानती है—पति तो पारिवारिक जीवन के लिए आवश्यक है, प्रेम के लिए नहीं।'[2] अतः वह एक ऐसे मजिस्ट्रेट से विवाह करती है जो प्रौढ़, नीरस तथा निर्बल और सौन्दर्यहीन है, लेकिन उसके पास भौतिक सुख-सुविधाएँ पर्याप्त हैं। भावुकता, प्रेम तथा नैतिक मर्यादा को वह बकवास समझती है। व्यावहारिक, स्वच्छन्द तथा उन्मुक्त होकर ऐश्वर्य और काम का भोग ही वह जीवन का लक्ष्य समझती है। मजिस्ट्रेट से विवाह के बाद भी वह अपने कालेज के दिनों के दोस्त शर्मा और पति के दोस्त राजा साहब से अवैध काम-सम्बन्ध स्थापित करती है।

---

१. 'अचल मेरा कोई' तीसरा संस्करण, १९५४, पृ० ६४
२. 'संघर्ष' : द्वितीय संस्करण, १९५७, पृ० १४६

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी उपन्यास-साहित्य में नारी की वैवाहिक समस्याओं तथा वैवाहिक चुनाव के उचित आधारों पर काफ़ी गहराई के साथ तथा विस्तार में विचार किया गया है। सम्पूर्ण उपन्यास-साहित्य के विभिन्न कालखण्डों में विभिन्न सामाजिक दृष्टियों में परिवर्तन के समानान्तर ही उपन्यासकारों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आता गया है। इस दृष्टि से सामाजिक दृष्टिकोण के विविध परिवर्तनों को उपन्यास साहित्य के माध्यम से भली-भाँति समझा जा सकता है। आज विवाह के सम्बन्ध में पुरानी सामाजिक मान्यता लगभग समाप्त हो चुकी है और बहुत कम परिवार ऐसे बचे हैं, जिनमें लड़के-लड़कियों का विवाह उनके माता-पिता की मर्ज़ी से होता है। दूसरी तरफ स्वच्छन्द प्रेम की पद्धति भी बहुत अधिक लोकप्रिय होती जा रही है और ग्रामीण अंचलों के लोग भी इसके आधार पर विवाह सूत्र में बँधने लगे हैं। ग्रामीण पिछड़ी जातियों में तो लड़की देखकर शादी करने की परम्परा काफ़ी पहले से है, लेकिन पहले माँ-बाप देखने जाया करते थे, अब साथ में या अकेले लड़का भी जाने लगा है। मध्यवर्गीय परिवारों में तो शादी से पहले ऐसे लड़के-लड़कियों को साथ-साथ रहने का प्रशिक्षण तक दिया जाता है और उन्हें शादी से पूर्व कुछ दिनों तक अकेले रहने की छूट दी जाती है, ताकि दोनों एक-दूसरे की आदतों, प्रवृत्तियों, स्वभावों को जान-समझ लें। जिससे शादी के बाद कोई रुचिगत तथा स्वभावगत वैभिन्न्य न उठ खड़ा हो। यह पद्धति काफी सुलझी हुई और स्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण से उत्थित कही जा सकती है। यहाँ तक कि स्वच्छन्द विवाहों की तुलना में भी ऐसे विवाह सामाजिक संगठन की दृष्टि से श्रेयस्कर माने जा सकते हैं।

कुछ अन्य समस्याएँ

अनमेल विवाह

अनमेल विवाह वैवाहिक समस्या का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है जो दहेज-प्रथा तथा आर्थिक निर्धनता के कारण समाज में प्रचलित हुआ। हिन्दी उपन्यासकारों ने इस समस्या के प्रति भी रूढ़िवादी तथा सनातनी दृष्टिकोण का ही परिचय दिया, फिर भी इस समस्या की बुराइयों के प्रति वे उदासीन नहीं रहे। अनमेल विवाह की तुलना में इन उपन्यासकारों ने सदैव प्रेम-परक वैवाहिक सम्बन्धों को श्रेष्ठ तथा वरेण्य माना और अनमेल विवाहों की परिणति अंततः किसी-न-किसी रूप में दुःखद ही दिखलाई। ऐसे विवाहों में स्त्री का आंतरिक असन्तोष खुलकर भले ही व्यक्त न हो पाये, लेकिन अन्दर-ही-अन्दर वह घुट-घुट कर अपना जीवन समाप्त अवश्य कर देती है। बाबू ब्रजनन्दन सहाय अपने उपन्यास 'सौन्दर्योपासक' में एक ऐसे ही अनमेल विवाह की समस्या को प्रस्तुत करते हैं। लेखक स्वयं प्रेम का समर्थन करता है तथा इसी रूप में उसने समस्या

को प्रस्तुत किया है। 'सौंदर्योपासक' का नायक विवाह के समय अपनी साली को देखकर उस पर मोहित हो जाता है और वह भी उससे प्रेम करने लगती है। इस प्रेम का कोई परिणाम नहीं निकलता और नायक की साली मालती का विवाह एक अन्य व्यक्ति से कर दिया जाता है। उधर नायक की पत्नी को सारी बातें मालूम हो जाती हैं और वह अन्दर-ही-अन्दर घुटन महसूस करने लगती है, इधर मालती को भी शांति नहीं मिलती, उसे तपेदिक हो जाता है और धीरे-धीरे दोनों बहनें घुल-घुल कर इस दुनियाँ से चल बसती हैं। नायक रोने-तड़पने के लिए रह जाता है।

स्पष्ट है कि अनमेल विवाहों की परिणति दुःखद होती है और लेखक प्रकारांतर से कहना यही चाहता है कि समाज में ऐसे अनमेल विवाहों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। पं० किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में भी इस सम्बन्ध में विचार किया गया है। स्वच्छंद प्रेम और विवाह के अन्तस्संघर्ष का यह चित्रण सदैव वियोगसूचक अथवा दुखान्त अंतपूर्ण ही होता है। लेखक ने ऐसे दुःखद अंत पर दुराचारियों को बहुत फटकारा है,—'कुसुम मर गई, पागल वसन्त भी मर गया और उन दोनों के मरने पर गुलाब ने भी अपनी जान देकर अपने पाप अर्थात् सपत्नीवध और पतिहत्या का प्रायश्चित कर डाला।...हा ! खेद ! भला हम आपसे यह पूछते हैं कि कुसुम या वसन्त ने धर्म, कर्म, समाज, लोक, परलोक, देश, विदेश या किसी वियोगांत प्रेमी विशेष का क्या बिगाड़ा है कि ये दोनों संसार से निकाल बाहर किए जायँ और जिन अर्थ-पिशाच नर-राक्षसों से धर्म, कर्म, संसार, समाज, देश, विदेश और व्यक्ति विशेष का सत्यानाश हो रहा है, वे दुराचारी लोग मूँछों पर ताव फेरते हुए मार्कण्डेय बनकर दीर्घजीवी हों ! हा धिक्।'[1]

आगे चलकर प्रेमचन्द 'निर्मला' उपन्यास में अनमेल विवाह से उत्पन्न कटुता, संदेहास्पद वातावरण, दुखी दाम्पत्य जीवन तथा जर्जर कौटुम्बिक विशृंखलता का विशद चित्रण करते हैं। निर्मला का विवाह प्रौढ़ तथा वयस्क वकील तोताराम से होने का कारण समाज में प्रचलित दहेज-प्रथा ही है, क्योंकि दहेज की व्यवस्था न हो सकने के कारण निर्मला की डा० भुवन से निश्चित हुई सगाई टूट जाती है। लेकिन फिर भी उसका विवाह तो करना ही है। प्रेमचन्द लिखते हैं—'अब अच्छे घर की जरूरत न थी। अभागिनी को अच्छा घर-वर कहाँ मिलता, अब तो किसी भाँति सिर का बोझा उतारना था, किसी भाँति लड़की को पार लगाना था—उसे कुएँ में झोंकना था।'[2]

---

१. 'स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी' : प्रथम संस्करण, पृ० ७६।

२. 'निर्मला' : ग्यारहवाँ संस्करण, १९५५, पृ० ३२-३३।

और वकील तोताराम से विवाह करके निर्मला सचमुच कुएँ में गिर जाती है। क्योंकि तोताराम को पहली शादी के तीन लड़के हैं, जिनमें से बड़ा लड़का निर्मला की उम्र का है। फलत: तोताराम निर्मला तथा अपने लड़के को लेकर तरह-तरह के सन्देह करते हैं और निर्मला पर अविश्वास करते हैं। फलत: निर्मला अन्दर-ही-अन्दर घुल-घुल कर मर जाती है, क्योंकि इसके पहले तोताराम का लड़का स्वयं इस आक्षेप को बर्दाश्त नहीं कर पाने के कारण आत्मपीड़न सिद्धान्त के अनुसार अपने को बीमार डाल कर समाप्त कर लेता है। लेखक इस समस्या का समाधान मृत्यु-शय्या पर पड़ी निर्मला के मुँह से ही प्रस्तुत करता है—'बच्ची को आपकी गोदी में छोड़े जाती हूँ। अगर जीती-जागती रहे तो किसी अच्छे कुल में विवाह कर दीजिएगा—चाहे क्वारी रखिएगा, चाहे विष देकर मार डालियेगा, पर कुपात्र के गले न मढ़ियेगा, इतनी ही आपसे विनय है।'[1]

'त्यागपत्र' उपन्यास में जैनेन्द्र कुमार मृणाल के अनमेल विवाह से न केवल सामाजिक समस्या को प्रस्तुत करते हैं, वरन् नारी-धर्म, मानव धर्म तथा पातिव्रत धर्म जैसा गंभीर सामाजिक सांस्कृतिक प्रश्न भी उपस्थित करते हैं। मातृ-पितृ-विहीन मृणाल अपने भाई तथा भावज को आश्रित है। वह शीला के भाई से विवाह के पूर्व ही प्रेम करने लगती है, जिसे आर्य गृहिणी के आदर्शों में ढली भावज स्वीकार नहीं कर पाती और उसकी शादी एक बड़ी आयु के दुहाजू व्यक्ति से कर दी जाती है। लेकिन 'मृणाल नये घर में समझौता न कर सकी और प्राय: वह अपने पति के हाथ बेतों से मार खाती है।'[2] और अन्तत: यह भेद खुल जाने पर कि मृणाल शादी के पूर्व शीला के भाई—जो अब कहीं सिविल सर्जन हैं तथा आजन्म अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा किए हैं—से प्रेम करती थी, पति उसे घर से निकाल देता है। मृणाल अपने भतीजे प्रमोद से इस सम्बन्ध में अपना स्पष्टीकरण देती है—'मैं स्त्री-धर्म को पति-धर्म ही मानती हूँ। उसको स्वतन्त्र धर्म मैं नहीं मानती। क्या पतिव्रता को यह चाहिये कि पति उसे नहीं चाहता तब भी वह अपना भार उसपर डाले रहे। वह मुझे नहीं देखना चाहते, यह जानकर मैंने उनकी आँखों के आगे से हट जाना स्वीकार कर लिया। उन्होंने कहा—'मैं तेरा पति नहीं हूँ—तब मैं किस अधिकार से अपने को उनपर डाले रहती। पतिव्रता का यह धर्म नहीं है।'[3]

इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द के 'ग़बन' उपन्यास में रतना तथा इन्दुभूषण वकील

---

१. 'निर्मला' : ग्यारहवाँ संस्करण, १९५५, पृ० ३७
२. 'त्यागपत्र' : सातवाँ संस्करण, १९५५, पृ० २८
३. ,, ,, ,, पृ० ६२

और 'गोदान' में रूपा तथा रामसेवक के भी अनमेल विवाह हुए हैं, लेकिन लेखक उन्हें समस्या के रूप में प्रस्तुत नहीं करता । 'ग़बन' की रतना तथा 'गोदान' की रूपा का ब्याह केवल प्रौढ़ व्यक्ति से नहीं, वरन् वृद्ध व्यक्तियों से होता है, लेकिन फिर भी दोनों में से कोई भी विद्रोह नहीं करती, क्योंकि आर्थिक विषमता तथा निर्धनता से उनका व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाता है ।

बहु विवाह

भारतीय समाज में बहु विवाह के प्रचलन के कारण भी नारी की पारिवारिक स्थिति में जटिलता उत्पन्न हुई, क्योंकि प्रश्न सिर्फ पति-पत्नी का रहा नहीं, बल्कि परिवार में एक पुरुष की कई-कई पत्नियों के अधिकारों का प्रश्न उभर कर सामने आया । प्रारम्भिक उपन्यासकारों में पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने इस जटिलता के बावजूद भी बहु विवाह का समर्थन किया । उनके उपन्यास चाहे सामाजिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध हों, चाहे ऐतिहासिक से—इस समर्थन की अभिव्यक्ति करते हैं । 'कनक कुसुम वा मस्तानी' उपन्यास में नायक बाजीराव की पत्नी काशीबाई, बाजीराव और मस्तानी के परिणय को सहर्ष स्वीकृति प्रदान करती है और बाजीराव से कहती है—'लीजिये, अब व्यर्थ के सोच-विचारों को छोड़िए और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इस गुणवती देवी समान, सुशीला यवन कुल-बाला को ग्रहण कीजिए।'[1] उनके एक अन्य उपन्यास का नायक भी एक पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह करता है और यहाँ भी दोनों पत्नियाँ एक-दूसरे की सौत बनने के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो जाती हैं । तथा दोनों ही नायक से पूर्ववत् प्रेम भी करती हैं ।[2] यही क्रम 'पुनर्जन्म वा सौतिया डाह' उपन्यास में है । उपन्यास के नायक सज्जनसिंह से सुन्दरी का पूर्वजन्म का प्रेम है । इस जन्म में भी वह सज्जन सिंह के अतिरिक्त किसी दूसरे से विवाह करने को प्रस्तुत नहीं है । सज्जन सिंह की पहली पत्नी सुशीला सपत्नीजन्य ईर्ष्या की स्थिति स्वीकार करते हुये भी लेखक द्वारा सज्जनसिंह और सुन्दरी के विवाह के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो जाती है । सुशीला सज्जन सिंह से कहती है—'यही कि धर्मशास्त्र में स्त्री के लिए केवल एक ही विवाह के लिये व्यवस्था है, पर पुरुष असंख्य विवाह कर सकते हैं । अतएव जब मैंने यह बात जानी कि तुम दोनों निष्कलङ्क हो, तब मुझे क्या उज्र हो सकता था कि मैं तुम्हारे सुख में व्यर्थ काँटे बोती । सुनो, तो प्यारे । क्या बहिन-बहिन और सहेली-सहेली एक साथ

---

१. 'कनक कुसुम वा मस्तानी' : प्रथम संस्करण, पृ० ५१
२. 'तरुण तपस्विनी वा कुटीर वासिनी' : प्रथम संस्करण, १९०५

नहीं रहतीं। और क्या, आज तक दो सौतिनें कभी आपस में मिल-जुलकर नहीं रही हैं ?'[१]

स्पष्ट है कि प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने बहु विवाह का समर्थन ही किया। यद्यपि इसके परिणामों की ओर से वे उदासीन नहीं रहे, फिर भी उनकी नारियाँ इसके प्रति विद्रोह कर पाने में असमर्थ ही दीखती हैं। उनमें सभी कुछ बर्दाश्त कर लेने का भाव ही अधिक है।

बहु विवाह भारतीय समाज में आगे के युगों में भी चलता रहा, यानी कि प्रेमचन्द काल में समाज में बहु विवाह प्रचलित रहे। मुस्लिम समाज में तो कम-से-कम चार विवाहों को कुरान ने भी स्वीकार किया था, लेकिन हिन्दू धर्म में तो ऐसा कोई विधान नहीं था। फिर भी नारी को भारतीय हिन्दू समाज में सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार न मिलने के कारण पैतृक-सम्पत्ति की रक्षा के लिए पुत्र-लालसा के नाम पर पुरुष के लिए आज भी कई विवाहों की छूट मिल जाती है। प्रेमचन्द के उपन्यास 'कायाकल्प' के राजा विशालसिंह तीन पत्नियों के पति हैं और अब पुत्री की समवयस्का मनोरमा से शादी करने की योजना बनाने के लिए मुंशी बज्रधर से कहते हैं—

"राजा—मैं खुद इस फिक्र में हूँ। कुयें क्या, मैं तो एक नहर बनवाना चाहता हूँ। अरमान तो दिल में बड़े-बड़े हैं, मगर सामने अँधेरा देखकर कुछ हौसला नहीं होता। सोचता हूँ, किसके लिए यह सब जंजाल बढ़ाऊँ।

प्रेमचन्द लिखते हैं—"इस भूमिका के बाद विवाह की चर्चा अनिवार्य थी।"[२]

प्रेमचन्द ने बहु विवाह की समस्या को राजा विशाल सिंह के माध्यम से इसलिए प्रस्तुत किया, क्योंकि सामंत वर्ग में ही बहु विवाह का विशेष प्रचलन था। यह वर्ग आर्थिक रूप से सम्पन्न भी था और प्रवृत्तियों से विलासी तथा कामुक भी था। इसीलिए इसी वर्ग में अधिकतर बहु विवाह होते थे।

'कुण्डली चक्र' उपन्यास की पूना तथा 'भिखारिणी' की यशोदा इस युग की एकमात्र ऐसी नारियाँ हैं, जो इस प्रथा का विरोध करती हैं और किसी भी शर्त पर दूसरी पत्नी बनना स्वीकार नहीं करतीं। पूना अपने जीजा भुजबल के षड्यन्त्रों से संघर्ष लेती है और इसी उद्देश्य से अपने प्रेमी अजित को पत्र लिखकर सहयोग माँगती है। उसे आत्महत्या कर लेना स्वीकार है, लेकिन वह भुजबल से विवाह नहीं कर सकती। अंततः भुजबल अपने प्रयत्नों में असफल होता है, क्योंकि इस विवाह के विरुद्ध

---

१. **'पुनर्जन्म वा सौतिया डाह' : प्रथम संस्करण, १९०७, पृ० ३१**

२. **'कायाकल्प' : तीसरा संस्करण, पृ० २०८**

लेखक स्वयं नारी को खड़ा करता है और फलतः पूना की शादी उसके प्रेमी अजित से ही होती है।

'भिखारिणी' उपन्यास में 'कौशिक' जी ने मध्यमवर्गीय शिक्षित, भावुक प्रेमी रामनाथ तथा भिखारिणी यशोदा की रोमाण्टिक कथा का ऐसा निर्माण किया है कि रामनाथ के एक शादी कर लेने पर भी यशोदा के पिता को यशोदा के लिए यही सूझता है कि उसकी शादी विवाहित रामनाथ से कर दी जाय। वह यशोदा से कहता हैं—"तो क्या हुआ, एक आदमी के क्या दो विवाह नहीं होते।" यशोदा इसके उत्तर में कहती है—"वह मान भी लें, लेकिन मैं तो नहीं मानूंगी।"[1] यशोदा के पिता नन्दराम प्राचीन सामाजिक मान्यताओं के प्रतीक हैं, जिसे बहु विवाह में कोई दोष नजर नहीं आता। लेकिन यशोदा सर्वस्व त्यागकर भिखारिणी बन जाती है, लेकिन रामनाथ से विवाह करना स्वीकार नहीं करती।

जाहिर है कि प्रेमचन्द-काल में बहुविवाह के खिलाफ़ लेखक वर्ग अपनी आवाज उठाने लगा था और समाज में इसके खिलाफ़ जनमत तैयार होने लगा था, जिसका संकेत उपर्युक्त उपन्यासों के माध्यम से मिल जाता है। आगे चलकर यह समस्या उतनी महत्त्व की नहीं रह गई, क्योंकि समाज में बहु विवाह स्वतः कम पड़ते गए और दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्याएँ उपन्यासकारों को उत्तेजित करती गईं। इसीलिए प्रेमचन्दोत्तर काल में इस समस्या का जिक्र प्रायः नहीं मिलता।

दहेज प्रथा

यह प्रथा भारतीय समाज में कब से प्रारम्भ हुई, यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, लेकिन इसका उद्भव अवश्य ही धन-धान्यपूर्ण कन्या के दान से हुआ होगा। शास्त्रों में विवाह का विधान इसी रूप में था कि कन्या का पिता आभूषण तथा वस्त्रों से परिपूर्ण कन्या को वर के हाथों में दान कर देता था। कालातन्र में यह धन-धान्य तथा वस्त्राभूषण नकद रुपए के रूप में लिए-दिए जाने लगे होंगे, जिसे दहेज कहना प्रारम्भ किया गया होगा। आगे चलकर यह एक सामाजिक प्रथा बन गई होगी। दहेज प्रथा आज भी समाप्त नहीं हुई है और आज भी लड़कियों का विवाह इसके कारण एक समस्या बना हुआ है।

दहेज प्रथा के कारण भारतीय समाज में अनेकानेक वैवाहिक विकृतियाँ उत्पन्न हुईं, यथा बाल विवाह तथा वृद्ध विवाह। जिसके कारण नारी का जीवन अभिशाप बन गया। प्रारम्भिक युग के उपन्यासकारों में पं० शिवनाथ शर्मा, रामफेरन सिंह तथा कृष्णलाल वर्मा आदि बाल विवाह तथा वृद्ध विवाह को दहेज प्रथा के कारण

---

१. 'भिखारिणी' : चौथा संस्करण, १९५६, पृ० २२५।

ही सम्पन्न होता हुआ चित्रित करते हैं। शिवनाथ शर्मा का उपन्यास 'चण्डूलदास' तो वृद्ध नायक की रसिकता पर व्यंग्य-प्रहार के लिए विख्यात रहा है, जिसमें वृद्ध नायक चकलामल साठ वर्ष का बूढ़ा होने पर भी वेश्या से सम्बन्ध रखता है और फिर चार वर्ष की बालिका से विवाह की इच्छा व्यक्त करता है, क्योंकि उसके पास पैसा है और वह लड़की खरीद सकता है और लड़की का बाप धनाभाव के कारण उचित दहेज की व्यवस्था न कर सकने की वजह से अपनी लड़की के लिए योग्य वर नहीं ढूँढ़ पाता। इसी प्रकार रामफेरन सिंह के उपन्यास 'चम्पा दुर्दशा' में भी तिलक-दहेज की प्रथा के कारण नायक-नायिका का स्वाभाविक प्रेम विवाह में परिणत नहीं हो पाता। यहाँ भी वृद्ध विवाह होते-होते बचता है।

आगे चलकर प्रेमचन्द को भी हम दहेज प्रथा के कुपरिणामों को चित्रित करते हुए पाते हैं और 'सेवासदन' की कथा का मूल सूत्र यही बना है। सुमन के पिता दारोगा कृष्णचन्द्र विवेकी तथा सच्चरित्र हैं। वे पुलिस विभाग में नौकरी करते हुए भी कभी घूस नहीं लेते। वे विचारों में प्रगतिशील भी हैं और समाचार पत्रों में दहेज प्रथा जैसी कुरीतियों के विरोध में लिखे गए लेखों को पढ़-पढ़कर प्रसन्न होते हैं[1]। लेकिन जब वह सुमन की शादी का प्रबन्ध करने लगते हैं तो उनके सामने समाज की दूसरी ही स्थिति स्पष्ट होती है, जो लेख के समाज से काफी भिन्न है। प्रेमचन्द लिखते हैं—वे शिक्षित परिवार चाहते थे। वह समझते थे कि ऐसे घरों में लेन-देन की चर्चा न होगी, पर उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वरों का मोल उनकी शिक्षा के अनुसार है[2]।' शिक्षित समाज पर लेखक यहाँ कठोर व्यंग्य प्रहार करता है। जिस शिक्षित वर्ग से समाज के अन्य वर्ग आदर्श, स्वस्थ मान्यताओं तथा उच्च संस्कृति की माँग करते हैं, वही समाज के विभिन्न भ्रष्टाचारों का आश्रय-स्थल है। केवल उस पर आधुनिकता तथा थोथी आदर्शवादिता की चमक है और यही कारण है कि अन्ततः समाज में फैले इस भ्रष्टाचार की प्रतिक्रिया दारोगा कृष्णचन्द्र में होती है और सुमार्ग छोड़कर कुमार्ग की ओर अग्रसर होते हैं। प्रेमचन्द कृष्णचन्द्र के इस चारित्रिक परि-वर्तन का मनोवैज्ञानिक उद्घाटन इन शब्दों में करते हैं—'पश्चाताप के कड़वे फल कभी-न-कभी तो चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दारोगा कृष्णचन्द्र अपनी अच्छाइयों पर पछता रहे थे। उन्हें थानेदारी करते हुए पच्चीस वर्ष हो गए लेकिन उन्होंने अपनी नियत को कभी बिगड़ने न दिया था। यौवन काल में भी जब चित्त भोग-विलास के लिए व्याकुल रहता है, उन्होंने निःस्पृह भाव से अपना

---

१. 'सेवा सदन' : चौदहवाँ संस्करण, पृ० ३
२. „ „ पृ० ३

कर्त्तव्य पालन किया था। लेकिन इतने दिनों के बाद आज वह अपनी सरलता और विवेक पर हाथ मल रहे थे। उनकी पत्नी गङ्गाजली सती-साध्वी स्त्री थी। उसने सदैव कुमार्ग से अपने पति को बचाया था। पर इस समय वह भी चिन्ता में डूबी हुई थी। उसे स्वयं सन्देह हो रहा था कि वह जीवन भर की सच्चरित्रता बिलकुल व्यर्थ तो नहीं गई।'[१]

स्पष्ट है कि जब समाज में दहेज आदि भयंकर कुप्रथाएँ इतने उग्र रूप में हैं कि शिक्षा के अनुसार ही दहेज की माँग बढ़ती है, तो फिर इस समाज में आदर्शवादी सच्चरित्र व्यक्ति कब तक सही रास्ते पर चल सकता है। लेखक का मत यह है कि व्यक्ति बुरा नहीं होता, वरन् समाज उसे भला-बुरा बनने पर मजबूर करता है। सामाजिक परिस्थितियाँ ही व्यक्ति का निर्माण करती हैं। पुत्री की शादी में दहेज के लिए दारोगा कृष्णचन्द्र घूस लेते हैं और भ्रष्टाचार में अभ्यस्त न होने के कारण पकड़े जाते हैं तथा जेल की सजा भुगतते हैं। इधर अनाथ की अवस्था में तथा दहेज के अभाव में सुमन की शादी गजाधर नामक अशिक्षित निर्धन व्यक्ति के साथ कर दी जाती है, जिससे पीड़ित होकर सुमन वेश्या बनती है।

'सेवा सदन' में दहेज प्रथा दुष्परिणाम वेश्या-समस्या के रूप में चित्रित होता है तो 'निर्मला' में अनमेल विवाह के रूप में जिसका जिक्र हम अनमेल विवाह के संदर्भ में पहले भी कर चुके हैं। प्रेमचन्द समस्या की गहराई में जाकर यह दिखाते हैं कि शिक्षित नवयुवक भी दहेज प्रथा को बनाए रखना चाहते हैं। भुवन अपनी माँ को उत्तर देता है कि 'किसी धनी लड़की से शादी हो जाती तो चैन से कटती। मैं ज्यादा नहीं चाहता, बस एक लाख नकद हो, फिर कोई ऐसी जायदाद वाली बेवा मिले जिसके एक ही लड़की हो।'

रँगीली बाई—'चाहे औरत कैसी भी मिले।'

भुवन —'धन सारे ऐबों को छिपा देगा। मुझे वह गालियाँ भी सुनाये तो भी चूँ न करूँ। दुधारू गाय की लात किसे बुरी मालूम होती है।'[२]

लेकिन प्रेमचन्द के चरित्रों में 'कायाकल्प' का चक्रधर इस प्रथा को समाप्त करने के प्रति दृढ़ संकल्प है और उसके माध्यम से प्रेमचंद इस प्रथा के विरुद्ध जनमत तैयार करने में काफी हद तक सफल होते हैं। चक्रधर न केवल राजनीतिक क्षेत्र में गाँधीवादी तथा राष्ट्रीयतावादी है, वरन् अपने वैयक्तिक जीवन में भी वह सामाजिक रूढ़ियों

१, 'सेवा सदन' : चौदहवाँ संस्करण, पृ० १

२, 'निर्मला' : ग्यारहवाँ संस्करण, पृ० २५

का विरोध करता है। वह अपनी माँ से इस सम्बन्ध में दो-टूक कहता है—

'चक्रधर ने उग्र होकर कहा—'अगर तुम मेरे सामने देने-दिलाने का नाम लोगी तो मैं जहर खा लूँगा।'

निर्मला—'वाह रे! तो क्या पचीस बरस तक यों ही पाला-पोसा है क्या? मुँह धो रखें।'

चक्रधर—'बाजार में खड़ा करके बेच क्यों नहीं लेतीं। देखो कै टके मिलते हैं।'[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय समाज आज भी इस दहेज प्रथा से मुक्त नहीं हो पाया है और एक ज्वलन्त समस्या के रूप में लोगों का ध्यान आकृष्ट करती रही है।

इसी प्रसंग में नारी-विक्रय की समस्या भी स्मरणीय है, जो दहेज-प्रथा का ही कुपरिणाम है। उपन्यासकारों ने इस समस्या के प्रति भी अपनी रुचि दिखलाई है। प्रेमचन्द 'गोदान' में तथा यशपाल 'मनुष्य के रूप' में नारी-विक्रय की समस्या चित्रित करते हैं। होरी आर्थिक दरिद्रता के कारण अपनी लड़की रूपा का ब्याह रुपए लेकर करता है। 'मनुष्य के रूप' उपन्यास में लड़की बेचने को प्रथा के रूप में चित्रित किया गया है। शोभा को शादी इसी प्रथा के अनुसार होती है और विधवा होने पर ससुराल वाले उसे पुनः वेचना चाहते हैं, क्योंकि शादी के समय उन्होंने भी उसे धन देकर खरीदा है। अतः शोभा उनकी दृष्टि में क्रय-विक्रय की वस्तु बन जाती है। विवाह की इस प्रथा का परिणाम यह होता है कि नारी व्यापार की वस्तु बन जाती है और अन्ततः उसे वेश्या के रूप में अपने व्यापार का क्रम जारी रखना पड़ता है। इस तरह का नारी-व्यापार हिमालय की तराई वाले क्षेत्रों में एक चिन्तनीय समस्या बना हुआ है। यह व्यापार आज भी भारत-नेपाल की सीमा पर प्रचलित है जो किसी भी सुसंस्कृत समाज के लिए शर्म की बात है। हिमालय जैसे पवित्र और उदात्त क्षेत्र में ऐसा कुत्सित व्यापार, कम आश्चर्यंजनक नहीं है।

तलाक-समस्या

स्त्री-पुरुष के दाम्पत्य-सम्बन्ध का एक पहलू तलाक-समस्या से भी सम्बन्धित है। हिन्दू धर्म शास्त्र में भी किन्हीं विशेष परिस्थितियों में तलाक की व्यवस्था है। लेकिन हिन्दी-उपन्यासकारों ने विशेषकर प्रारम्भिक युग के उपन्यासकार जैसे मेहता लज्जाराम शर्मा तथा किशोरीलाल गोस्वामी ने इसे समाज के लिए हितकर नहीं माना है। मेहता

१. 'कायाकल्प' : तीसरा संस्करण, पृ० २०-२१

लज्जाराम शर्मा तो जैसे समस्त सनातनी तथा रूढ़िवादी लेखकों का प्रतिनिधित्व करते-से जान पड़ते हैं। उन्होंने अपनी एक नायिका से इस विषय का स्पष्टीकरण इस प्रकार कराया है—'जो हिन्दू समाज में विधवा-विवाह अथवा तलाक का प्रचार करना चाहते हैं वे दम्पति के प्रेम पर, जन्मान्तरों के साथ पर, पवित्र सतीत्व पर और यों हिन्दू धर्म पर वज्र मारना चाहते हैं। यदि, भगवान् न करें, ऐसी प्रथा चल पड़े तो अनेक नारियाँ दूसरा खसम करने के लिए अपने पति को जहर दे देंगी। पति-पत्नी के सैकड़ों मुकदमें अदालत की सीढ़ियाँ चढ़ने लगेंगे और आजकल का हिन्दू समाज, हिन्दू समाज न रह जायगा। पति-पत्नी का अलौकिक प्रेम नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा।'[1]

स्पष्ट है कि प्रारम्भिक युग के इन सनातनी उपन्यासकारों ने आर्य समाज के सुधार आन्दोलन का खुलकर विरोध किया और अपने को पुरातन संस्कारों तथा रीति-रिवाजों से जोड़े रखा। तत्कालीन आर्य समाज-आन्दोलन सामाजिक क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन तथा सुधार की माँग कर रहा था और उसके कार्यक्रमों के अन्तर्गत बाल-विवाह, बहु विवाह, वृद्ध विवाह, तलाक आदि समस्याएँ आती थीं, जिन पर आर्य समाजी विचारकों ने सनातनी पंडितों से भिन्न अपनी प्रगतिशील प्रतिक्रिया प्रकट की। वस्तुतः आर्य समाज का उद्देश्य रूढ़ियों और प्राचीन जर्जर मान्यताओं का खण्डन करके नवीन सामाजिक मान्यताओं के आधार पर समाज का पुनर्गठन करना था। आर्य समाज ने इस दृष्टि से अपनी ऐतिहासिक भूमिका निभाई भी, लेकिन तत्कालीन उपन्यासकार इस प्रगतिशील चेतना के खिलाफ ही रहे, उन्हें प्राचीन परम्पराएँ ही पुराने फिल्मी गानों की भाँति अधिक आकर्षित करती रहीं। यही कारण है कि प्रारम्भिक युग के उपन्यासकार आर्य समाज के सुधार-आन्दोलन सम्बन्धी सारे कार्यक्रमों का विरोध करते हैं और प्राचीन मान्यताओं को बनाए रखने पर जोर देते हैं।

आर्य समाजियों के खिलाफ व्यक्त की जाने वाली इस प्रतिक्रिया का स्वरूप आगे के उपन्यासों में भी थोड़े भिन्न धरातल पर कायम रहा। प्रेमचन्द-युग में नारियाँ दाम्पत्य सम्बन्ध से विद्रोह तो करती हैं, लेकिन पति को तलाक देने पर सहसा तैयार नहीं हो पातीं। यहाँ मानवीय दृष्टिकोण तथा मानवतावादी विचारधारा उन्हें ऐसा करने से रोकती है। गाँधीवादी आत्म-पीड़न का सिद्धांत भी उन्हें ऐसा करने को प्रस्तुत नहीं होने देता। जैनेन्द्र तथा प्रेमचन्द की अनेक नायिकाएँ अपने दाम्पत्य जीवन से असन्तुष्ट हैं, लेकिन फिर भी तलाक लेने का साहस नहीं करतीं। तलाक लेने के मार्ग में, विशेषकर स्त्रियों के लिये, आर्थिक साधनों का अभाव भी एक बाधा रहा है। उनके सामने प्रमुख प्रश्न तो यह रहता है कि तलाक के बाद अपना जीवन वह कैसे

---

१. 'आदर्श हिन्दू' : संस्करण, पहला भाग, पृ० ९५

निर्वाह करेगी। यद्यपि तलाक में स्त्रियों को गुजारे की कुछ रकम तो मिलती है, फिर भी वह एक सीमित रकम ही है, जिस पर स्त्रियों का गुज़ारा हो पाना मुश्किल पड़ता है। साथ ही बच्चों के संरक्षण का प्रश्न भी इसके साथ ही जुड़ा हुआ है, जिसकी यों ही उपेक्षा नहीं की जा सकती।

तलाक के साथ, कहने की आवश्यकता नहीं कि बच्चों के संरक्षण का क्या होगा, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण रूप से पति-पत्नी को तलाक लेने से रोकता रहता है। सचमुच पति-पत्नी के सम्बन्ध सूत्रों को बच्चे ही मजबूत करते हैं। यही कारण है कि जिस स्त्री के बच्चे नहीं होते उसके साथ उसके पति का सम्बन्ध-सूत्र मजबूत नहीं हो पाता। इस प्रकार तलाक का प्रश्न कई अन्य समस्याओं के साथ अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है।

तलाक के वैसे तो विविध रूप होते हैं अथवा हो सकते हैं, लेकिन वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने उपन्यास 'अचल मेरा कोई' में एक बिलकुल मौलिक रूप को ही उद्घाटित किया है। इस उपन्यास में कुन्ती तथा निशा तलाक के प्रश्न पर आपस में विचार-विमर्श करती हैं, लेकिन उनके विचार का विषय यह नहीं है कि तलाक की प्रथा उपयोगी है अथवा नहीं, जैसा विषय पिछले युग का उपन्यासकार उठाता था, बल्कि वे सरकार द्वारा स्वीकृत तलाक व्यवस्था की सीमाओं के विषय में विचार करती हैं। उनके अनुसार तलाक के लिए सरकार ने जो नियम स्वीकृत किए हैं, वह पर्याप्त नहीं हैं। कुन्ती का विचार है कि पति-पत्नी के मत-वैभिन्य की स्थिति में तत्क्षण सम्बन्ध-विच्छेद के लिये कोई अन्य व्यवस्था होनी चाहिए। वह ऐसी पत्नियों को प्रतिदिन सुबह अपने पतियों को जूते मारने की सलाह देती है, जिससे तंग आकर पति शीघ्र ही तलाक लेने पर राजी हो जाय[1]। सचमुच तलाक के सम्बन्ध में जो कानूनी व्यवस्था सरकार ने स्वीकृत की है, उसके अनुसार सौ में दो-चार मुकदमे ही तलाक दिलाने में सफल हो पाते हैं। परिणाम यह है कि आज भारतीय समाज में अनेकों ऐसी पत्नियाँ पड़ी हुई हैं, जिनके पतियों ने उन्हें छोड़ रखा है, लेकिन कानूनी तौर पर उन लोगों ने कोई कार्रवाई नहीं की है। जाहिर है कि तलाक की कानूनी व्यवस्था बड़ी कठिन और जटिल है, जिससे गुजर कर तलाक ले पाना सहज नहीं है।

अवैध प्रेम की समस्या

जिस सामाजिक संगठन में विवाह-सम्बन्धी नियमों की कठोरता तथा पारिवारिक नियन्त्रण होगा, उसमें अवैध प्रेम की स्थिति नितान्त स्वाभाविक होगी।

---

१. 'अचल मेरा कोई' : तीसरा संस्करण, १९५४, पृ० ६४

हिन्दी के उपन्यास-लेखक अपने मध्यवर्गीय नैतिकतावादी संस्कारों तथा आर्य समाज के पवित्रतावादी दृष्टिकोण से प्रभावित होने के कारण इस समस्या को समग्रता में नहीं उठा पाते। वे परिवार तथा समाज के व्यक्ति पर नियन्त्रण से अपने को मुक्त नहीं कर पाते। अवैध प्रेम के साथ ही तलाक तथा दूसरे विवाह का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है, लेकिन उपन्यासों में तलाक तथा दूसरे विवाह—दोनों के चित्रण में ही लेखकों ने प्राय: अपनी असहमति का परिचय दिया है। इसीलिए इन प्रश्नों से सम्बन्धित कोई क्रान्तिकारी भावना प्रारम्भ के उपन्यासों में नहीं मिलती।

अवैध प्रेम की समस्या अक्सर विधवा नारी के सम्बन्ध में उठाई गई है। 'प्रेमाश्रम' की गायत्री, 'प्रतिज्ञा' की पूर्णा, 'प्रेमपथ' की तारा, 'तपोभूमि' की धारिणी आदि सभी विधवा-नारी हैं। इस प्रसंग में विधवा नारी को इसलिए रखा गया है, क्योंकि समाज में उसी की स्थिति सर्वाधिक निरीह तथा शोषित रही है। दूसरे इन प्रसंगों द्वारा लेखक अन्य सामाजिक दुराचारों, जैसे भ्रूण-हत्या की परिणति तक पहुँच जाता है। 'प्रसाद' जी ने 'कंकाल' में ऐसे अनेक अवैध प्रेम-सम्बन्धों का चित्रण किया है, लेकिन उसके पीछे उनका उद्देश्य समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार का पर्दाफ़ाश करना रहा है। साथ ही इन भ्रष्टाचारों से उत्पन्न अवैध-सन्तानों पर भी वे अधिक केन्द्रित रहे हैं। 'कंकाल' की किशोरी अपने पति को छोड़कर अपने बचपन के मित्र देव निरंजन के साथ रहने लगती है, जिससे विजय नामक अवैध संतान का जन्म होता है। यह अवैध संतान विजय समाज के पवित्रतावादी नैतिक मूल्यों के सामने एक प्रश्नचिह्न-सा बन जाता है। विजय जैसी न जाने कितनी अवैध संतानें आज भी समाज में मौजूद हैं जिनको सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं है तथा समाज जिन्हें उपेक्षित नज़रों से देखता है।

'हृदय की प्यास' उपन्यास का प्रवीण अपनी पत्नी सुखदा की कुरूपता के कारण उससे अरुचि रखने लगता है तथा प्रतिक्रिया स्वरूप अपने मित्र भगवती की पत्नी से प्रेम करने लगता है। लेकिन लेखक आचार्य चतुरसेन शास्त्री के नैतिकतावादी दृष्टिकोण के कारण भगवती द्वारा पत्नी को निष्कासित किये जाने पर प्रवीण का हृदय परिवर्तन होता है और वह बहन के रूप में उसे स्वीकारता है। 'लालिमा' उपन्यास में त्रिवेणी की शादी संध्या से होती है, लेकिन उसके माध्यम से वह उसकी सहेली कौशल्या को प्राप्त करना चाहता है। इस उपन्यास में भगवतीप्रसाद वाजपेयी त्रिवेणी के अवैध प्रयत्नों को यथार्थ वर्णन करते हैं। 'गोदान' में गन्ना मिल के डाइरेक्टर मिस्टर खन्ना और लेडी डाक्टर मिसमालती का अवैध प्रेम-सम्बन्ध इस प्रश्न को सही परिप्रेक्ष्य में उठा सकता था, लेकिन प्रेमचन्द का उद्देश्य केवल यहाँ मालती का तितली रूप

ही चित्रित करना रहा है, इसीलिये अन्त में मिस मालती का हृदय परिवर्तन भी करा दिया गया है।

'कायाकल्प' में हरिसेवक तथा लौंगी का अवैध प्रेम-सम्बन्ध बहुत कुछ लेखकीय सहानुभूति प्राप्त कर सका है। लौंगी रखैल होने पर भी विवाहिता स्त्री से श्रेष्ठ दिखाई गई है। इस प्रकार हिन्दी-उपन्यासकारों ने इस सम्बन्ध में अपने नैतिक आग्रहों तथा सामाजिक मूल्यों का ही अधिक परिचय दिया है। स्पष्ट है कि ये लेखक इस तरह के अवैध प्रेम-सम्बन्धों को भारतीय संस्कृति तथा समाज के लिये ग्राह्य नहीं मानते।

विधवा नारी

भारतीय समाज-व्यवस्था में नारी के प्रति जो सामाजिक तथा धार्मिक मान्यता थी, उसका हम उल्लेख कर चुके हैं कि कैसे उसे पहले पिता-माता तथा फिर पति और अन्त में पुत्रों के अधीन रखा जाता था। वह कभी भी स्वतन्त्र नहीं हो पाती थी। जहाँ सामान्यत: नारी वर्ग के प्रति ही सामाजिक दृष्टिकोण इतना अनुदार था, वहाँ विधवा नारी के प्रति वह कैसा दृष्टिकोण रखता होगा, यह सहज अनुमेय है। समाज में विधवा का जीवन एक तरह से अभिशापित जीवन होता था। उसका उठना-बैठना खाना-पीना, ओढ़ना-पहनना सब समाज की नज़र में आलोचना की वस्तु थे। पग-पग पर उसे परिवार में झिड़कियाँ मिलती थीं। सौभाग्यवती स्त्रियाँ उनकी छाया से भी परहेज रखती थीं। ऐसी दशा में सचमुच उनके लिये पति के साथ सती हो जाना आसान था, लेकिन यह समाधान ऐसा ही था जैसे अत्याचार सहते-सहते ऊब कर आत्महत्या कर ली जाय। स्पष्ट है कि यह समाधान स्वस्थ समाधान नहीं था, यद्यपि सती प्रथा के प्रचलन में यह समाधान-जनित अर्थ भी भले ही शामिल रहा हो। क्योंकि सती हो जाने में कुछ क्षण के लिये असह्य वेदना तो होती थी, लेकिन जिन्दगी भर तिल-तिल कर जलने से यह एक बार का जलना कहीं बेहतर समझा जा सकता था।

ऐसी दशा में सुधारकों को चाहिए तो यह था कि विधवा नारी के सम्बन्ध में जो तत्कालीन सामाजिक दृष्टिकोण था, उसके खिलाफ़ आवाज उठाते और विधवाओं को पुनर्जीवन प्रदान करने के लिए उनके पुनर्विवाह सम्बन्धी कार्यक्रम को आगे बढ़ाते तथा उसे सामाजिक मान्यता दिलाते। लेकिन तत्कालीन समाज सुधारकों ने सती प्रथा बन्द कराने में जितनी तत्परता दिखाई, उतनी उनके लिए जीवन की सुविधाएँ जुटाने के लिए नहीं। सरकार ने भी केवल सती प्रथा को रोकने के लिए ही कानून बनाया। उनका सामाजिक जीवन फिर कैसे संभव होगा इस पर अंग्रेजी सरकार भी मौन ही रही। राजाराम मोहन राय जैसे समाज-चेता पुरुष भी सती प्रथा को समाप्त करने तक में ही सीमित रहे।

परिणाम यह हुआ कि सती प्रथा पर कानूनी रोक तथा उनके विरुद्ध सामाजिक दृष्टिकोण का निर्माण हो जाने के कारण विधवा नारी, जो पहले पति की चिता में जलकर अपना जीवन समाप्त कर लेती थी, अब समाज के सम्मुख एक जटिल समस्या बनकर उपस्थित हुई। इस समस्या का सर्वाधिक उपयुक्त हल यही हो सकता था कि उनका पुनर्विवाह कराया जाय, लेकिन हिन्दू धर्मशास्त्र में ऐसी कोई भी व्यवस्था नहीं थी, जिसके अनुसार विधवाओं का पुनर्विवाह हो सकता हो। अतः उनका जीवन पीड़ा और दर्द का पर्याय बन गया। लेकिन इस पीड़ा और दर्द को भूलने के लिये उनके लिए धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था की गई तथा विधवा-जीवन की व्याख्या इन धार्मिक विचारकों द्वारा साधना तथा तपस्या के जीवन के रूप में की गई। विधवा-जीवन की मर्यादाएँ निश्चित हुईं तथा उसकी पवित्रता तथा कठोरता पर लम्बे-लम्बे भाषण दिए गए और उन मर्यादाओं के भीतर जीवन व्यतीत करने वाली विधवाओं की लम्बी प्रशस्तियाँ की गईं। साथ ही इन मर्यादाओं को तोड़ने की इच्छा रखने वाली विधवाओं को पतित, भ्रष्ट तथा व्यभिचारी घोषित किया गया। समाज में जो भी प्रगतिशील विचारक विधवा नारी के इस कठोर सामाजिक नियंत्रण के विरुद्ध आवाज उठाने को प्रस्तुत हुए, उनका भी समाज ने मुँहतोड़ जवाब दिया। प्रारम्भिक युग के उपन्यासकार भी समाज की इसी मान्यता को स्वीकार करते हैं और उनके आदर्श नारी पात्र भी उनके विचारों के ही प्रतिरूप हैं। इसीलिए जब सती प्रथा का प्रचलन समाप्त हो जाता है तब भी वे उसके प्रति अपना मोह व्यक्त करने से अपने को रोक नहीं पाते तथा उसे एक गौरवमयी प्रथा के रूप में चित्रित करते हैं। इनके अनुसार विधवा नारी की सद्गति इसी बात में है कि वह पति की चिता पर जलकर भस्म हो जाय। मेहता लज्जाराम शर्मा के 'आदर्श हिन्दू' उपन्यास में एक स्थल ऐसा आता है, जब एक वृद्धा नारी पात्र पति की मृत्यु का समाचार पाकर अपना शरीर छोड़ देती है। इस पर लेखक टिप्पणी करता है—'लोग कहा करते थे कि उसकी समझ मोटी है, परन्तु आज उसने दिखला दिया कि पढ़ी-लिखी औरतों से वह हजार दर्जे अच्छी निकली। दोनों की बैकुण्ठियाँ साथ निकलीं, दोनों एक ही चिता पर जलाए गए...। वास्तव में ऐसे ही लोगों का जन्म सार्थक है—भारत में ऐसे सज्जनों की आवश्यकता है। पतिव्रता की पराकाष्ठा—सरकारी कानून भी परमेश्वर के कानून के आगे कुछ नहीं।'[1] स्पष्ट ही यहाँ 'सरकारी कानून' कहकर सती प्रथा को रोकने के सरकारी कानून की ओर ही संकेत किया गया है, जो लेखक की दृष्टि में उचित नहीं। अब लेखक की प्रगतिशीलता का अन्दाजा आप लगा लीजिए।

---

१. 'आदर्श हिन्दू' : प्रथम संस्करण, पृ० १५०-१५१

इसी प्रकार इस युग के एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार पं० किशोरीलाल गोस्वामी भी अपने उपन्यास 'राजकुमारी' में सती प्रथा का औचित्य स्वीकार करते हैं। 'राजकुमारी' की एक नारी चरित्र जमना अपने पति के साथ जलकर सती हो जाती है, जिस पर लेखक अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है—'यद्यपि सती-दाह की चाल उस समय के बहुत पहले ही से उठा दी गई थी, पर तो भी जो सती हैं, वे क्या कभी रुक सकती हैं ? लोग उन्हें रोकने की हज़ार कोशिशें करते हैं, पर जो सती हैं, वे पति के मरने पर किसी-न-किसी तरह अपने प्राण दे ही डालती हैं।'[1] सती प्रथा के सम्बन्ध में यह रोमांटिक प्रतिक्रिया ही थी, जो इन उपन्यासकारों के माध्यम से व्यक्त हो रही थी। आगे इन उपन्यासकारों ने विधवा जीवन की मर्यादा तथा उसके कठोर नियंत्रण पर भी प्रकाश डाला। मेहता लज्जाराम शर्मा का विचार है—'पति के मरने पर सबसे बड़ा धर्म तो यही है कि उसकी चिता में भस्म होकर पति का साथ दे, परन्तु आजकल ऐसा ज़माना नहीं रहा, इसलिए जब तक जिए, सदा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाली कभी पराए पुरुष का स्वप्न में भी ध्यान न करने वाली विधवा मरने पर स्वर्ग में पति को पाती है और फिर कभी दम्पति का साथ नहीं छूटता है।'[2] पं० किशोरीलाल गोस्वामी भी लगभग इसी विचार के हैं और वे भी विधवा-नारी के लिए ब्रह्मचर्य धर्म तथा पवित्र आचरण को आवश्यक मानते हैं।

ऐसा नहीं है कि विधवा-नारी के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में उस युग में सोचा ही नहीं गया हो। उस समय भी प्रगतिशील सामाजिक सुधारकों का एक वर्ग ऐसा था जो विधवा-समस्या का समाधान उनका 'पुनर्विवाह' समझता था। इस वर्ग ने विधवाओं के पुनर्विवाह के प्रचलन का प्रयत्न भी किया और उस पर स्वयं भी अमल किया। महर्षि कर्वे का नाम ऐसे लोगों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, जिन्होंने ऐसे रूढ़िवाद-प्रधान पिछड़े युग में भी विधवा नारी से विवाह करने का साहस किया। लेकिन जहाँ तक हिन्दी के उपन्यास-लेखकों से सम्बन्ध है, वे सनातनी तथा रूढ़िवादी ही रहे। उनकी दृष्टि में विधवाओं के पुनर्विवाह से बढ़कर और कोई पाप नहीं है। मेहताजी की नायिका प्रियंवदा एक स्थान पर कहती है—'जो हिन्दू समाज में विधवा विवाह अथवा तलाक का प्रचार करना चाहते हैं, वे दम्पति के प्रेम पर, जन्मजन्मान्तर के साथ पर वज्र मारना चाहते हैं।'[3] 'सुशीला विधवा' की सुशीला इस बात को और भी दृढ़ता के साथ सामने रखती है, जिसके कारण लेखक अन्त में उसकी इन शब्दों में प्रशस्ति करता

---

१. 'राजकुमारी' : प्रथम संस्करण, पृ० १३४

२. 'सुशीला विधवा' : प्रथम संस्करण, १९०७, पृ० १५२

३. 'आदर्श हिन्दू' : प्रथम संस्करण, भाग १, पृ० ९५

है—'धन्य सुशीला ! तुझे धन्य है। तेरे माता-पिता को धन्य है, जिन्होंने तुझे ऐसे सांचे में ढाला। सुशीला वास्तव में सच्ची सुशीला निकली। उसने घोरतम कष्ट सहने पर भी संसार को दिखा दिया कि हिन्दू नारियाँ विधवा होने पर अपने धर्म का निर्वाह किस तरह करती हैं। सुशीला ने यह दिखा दिया कि सनातन धर्म के तत्त्वों पर विचार किए बिना जो लोग विधवाओं को खसम करने की सलाह देते हैं, वह झख मारते हैं। सुशीला का चरित्र आजकल की विधवाओं के लिए नकल करने का नमूना है। जो विधवा सुशीला के चरित्र के अनुसार चलेगी वह कभी दुःख न पावेगी, सदा ही उसकी कीर्ति होगी, ईश्वर उससे प्रसन्न होगा और अन्त में उसका विधवापन से सदा के लिए छुटकारा होकर परलोक में अपने पति को पावेगी और फिर कभी उससे वियोग न होगा।'[1]

स्पष्ट है कि विधवा-समस्या को इन उपन्यासकारों ने सामाजिक समस्या के रूप में लिया ही नहीं। इनकी दृष्टि में यह व्यक्तिगत समस्या थी, जो विधवा-नारी के व्यक्तिगत आचरणों से सम्बन्धित थी। अप्राकृतिक नियन्त्रणों तथा दृढ़ बन्धनों के कारण समाज में बढ़ते हुए व्यभिचार की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। कहीं-कहीं गई भी तो उनको विधवा नारी का आचरण ही वहाँ भी दोषपूर्ण तथा पापपूर्ण लगा। 'मालती माधव व मदन मोहिनी' उपन्यास की विधवा जमनादेई के लिये किशोरीलाल गोस्वामी ने लिखा—'हाय जमनादेई। तेरे ऐसे कर्म ! धिक्कार है। अपने मुलजिम के साथ तेरा ऐसा कुकर्म। राम ! राम ! ! क्या अब संसार से एकदम धर्म उठ ही गया।'[2] इसी प्रकार मेहता लज्जाराम ने विधवा द्वारा विवाह के सम्बन्ध में लिखा—'वह विवाह नहीं, मेरी समझ में तो केवल मात्र व्यभिचार है।'[3]

लेकिन इन सब के बावजूद भी ये लेखक विधवा नारी की सामाजिक-पारिवारिक स्थिति पर अपनी सहानुभूति व्यक्त करने में नहीं चूकते। मेहता लज्जाराम शर्मा अपने उपन्यास 'सुशीला विधवा'[4] में विधवा नारी की मार्मिक दशा का ईमानदारी के साथ वर्णन करते हैं और उनकी इस दयनीय स्थिति पर पाठकों की सहानुभूति अर्जित करते हैं। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' विधवा-नारी के लिए आश्रम खोलने की बात करके अपने आदर्शवादी विचारों का परिचय प्रस्तुत करते हैं। अपने उपन्यास

१. 'सुशीला विधवा' : प्रथम संस्करण, १९०७, पृ० १५३
२. 'माधवी माधव व मदन मोहिनी' : प्रथम संस्करण, १९०९, पृ० २४
३. 'आदर्श हिन्दू' : प्रथम संस्करण, पहला भाग, पृ० ९५
४. 'सुशीला विधवा' : प्रथम संस्करण, १९०७, पृ० ९३-१४९

'अधखिला फूल'[1] में हरिऔधजी ने विधवा-समस्या पर आदर्शवादी ढंग से विचार किया है, जिससे विधवा समस्या को किसी व्यावहारिक समाधान तक नहीं पहुँचाया जा सकता।

तात्पर्य यह कि अन्य समस्याओं की भाँति विधवा नारी की समस्या के सम्बन्ध में भी हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकारों का दृष्टिकोण प्रगति-शून्य और सनातनी तथा रूढ़िवादितापूर्ण ही है। वे भारतीय प्राचीन संस्कृति के नाम पर जहाँ अन्य सभी सामाजिक बुराइयों का समर्थन करते हैं, वहाँ विधवाओं के कठोर नियन्त्रणपूर्ण तथा मर्यादित जीवन का महत्त्व भी प्रतिपादित करते हैं और सती प्रथा जो कब की बन्द हो चुकी थी, के प्रति भी भावुकतापूर्ण मोह पालते हैं तथा विधवा-विवाह को सामाजिक व्यभिचार तक की संज्ञा देते हैं।

लेकिन यह स्थिति हिन्दी उपन्यास-साहित्य के इतिहास में तभी तक देखी जा सकती है, जब तक कि प्रेमचन्द के उपन्यास प्रकाश में नहीं आये थे। प्रेमचन्द-काल में इस समस्या को उपन्यासकारों ने काफी गम्भीरता से लिया है और अपने उपन्यासों में इस समस्या के प्रति सहानुभूतिपूर्ण ढंग से विचार किया है। वहीं-कहीं तो इस समस्या को उपन्यासकारों ने मुख्य कथा के रूप में ग्रहण किया है और सम्पूर्ण उपन्यास की रचना भी इसी समस्या को चित्रित करने के उद्देश्य से की है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में 'वरदान', 'प्रेमाश्रम' तथा 'प्रतिज्ञा' में विधवा-समस्या ही केन्द्रीय वस्तु है, जिस पर कथा का निर्माण होता है। प्रेमचन्द इस समस्या के मूलभूल कारणों के विशद् विवेचन तक तो अपने को ले जाने में सफल हैं, लेकिन समाधान तक उनकी गति नहीं मालूम पड़ती, यद्यपि इसका उचित समाधान उन्होंने अपने व्यक्तिगत यथार्थ जीवन में एक विधवा नारी से विवाह करके अवश्य प्रस्तुत किया, लेकिन अपने उपन्यासों में वे इस समाधान का सैद्धान्तिक समर्थन भर करके ही रह गये—उसे साक्षात् घटित होते हुए नहीं दिखाया। वैसे—'प्रतिज्ञा' में प्रथम संस्करण की प्रतियों में पूर्णा की शादी तो कराते हैं, लेकिन बाद के संस्करणों में उसे विधवाश्रम की शरण में रख छोड़ा है। इस सम्बन्ध में हंसराज रहबर का अनुमान यह है कि सतीत्व की रक्षा करने के लिए ही बाद के संस्करणों में उसे विधवाश्रम में डाल दिया गया है।[2]

तात्पर्य यह कि इस काल में विधवा-समस्या को महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्या के रूप में स्वीकार करते हुए भी उसके समाधान में कोई ठोस व्यावहारिक उपाय नहीं सुझाये गये, न ही विधवा जीवन की मर्यादा सम्बन्धी कठोर नियंत्रण में ही कोई परि-

---

१. 'अधखिला फूल' : प्रथम संस्करण, पृ० २३६

२. हंसराज रहबर : 'प्रेमचन्द जीवनी और कृतित्व', १९५२, पृ० २८२

वर्तन लाया गया। प्रेमचन्द ने पूर्णतया बिरजन के माध्यम से विधवा नारी का सहानुभूतिपूर्ण विवेचन किया, लेकिन अन्ततः वे भी सतीत्व-रक्षा पर ही जोर देते रहे। विधवा-विवाह के विरुद्ध प्रतिक्रियावादियों का तर्क ही सतीत्व की रक्षा करता रहा है और उसके समर्थन में वह हिन्दू समाज में विवाह का आधार आध्यात्मिक बताते हैं, जिसे भौतिक जगत् में बदला नहीं जा सकता। यह व्याख्या यो चाहिए तो स्त्री-पुरुष दोनों पर लागू होनी, लेकिन पुरुष के लिए सतीत्व जैसी कोई व्यवस्था भारतीय समाज में प्राप्त नहीं है। यही कारण है कि आध्यात्मिक विवाह का महत्त्व केवल नारी के लिए ही निश्चित किया गया। सतीत्व धर्म तथा आध्यात्मिक विवाह की सामाजिक मान्यता ने अन्ततः स्त्री वर्ग को परतंत्र ही बनाया।

वस्तुतः विवाह संस्था जिन प्रश्नों पर आधारित है, वही प्रश्न विधवा समस्या में भी निहित है। वैधव्य को जब समस्या का रूप दिया जाता है तो यह मानकर चलना पड़ता है कि वैवाहिक संस्था, आदर्श, प्राकृतिक तथा वांछनीय है। आधुनिक समाजशास्त्रियों के अनुसार समस्त देशों तथा सभी सभ्य समाजों ने युगों पूर्व से ही प्रेम, सेक्स आदि को नियमबद्ध करने के लिए तथा आर्थिक सुविधा की दृष्टि से वैवाहिक संस्था को जन्म दिया तथा जीवन और समाज की स्वस्थता के लिए सभ्यता को एक आवश्यक अंग उसे स्वीकार किया। आज भी भारतीय समाज विवाह संस्था को छोड़ नहीं सका है। समाज की स्वस्थता के लिए उसकी अनिवार्यता से सचमुच इन्कार नहीं किया जा सकता। लेकिन उसे एक सामाजिक समझौते के रूप में ही देखा जाना चाहिए, न कि आध्यात्मिक। क्योंकि गतिरोध उत्पन्न होने पर किसी भी विधवा अथवा विधुर को दूसरा सामाजिक समझौता स्वीकार करने का अधिकार मिलना चाहिए। तभी समाज की स्वस्थता कायम रह सकती है।

विधवा-समस्या को १९२९ में 'परख' के प्रकाशन के पश्चात् एक नया मोड़ मिला और जैनेन्द्र कुमार ने इसे बहुत कुछ भिन्न आयामों में ही प्रस्तुत किया। इसके पहले व्यक्ति के सामाजिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर ही उसकी समस्याओं पर विचार किया जाता था, लेकिन जैनेन्द्र ने पहली बार व्यक्ति को प्रमुखता देकर सामाजिक समस्या को प्रस्तुत किया। इसके पूर्व के लेखकों के समक्ष इस समस्या से उत्पन्न बुराइयाँ ही प्रमुख थीं, अतएव परिवर्तन की ठोस तथा क्रान्तिकारी भूमिका के स्थान पर उन्होंने सुधारवाद का मार्ग पकड़ा और विधवाओं को कुत्सित समाज से बाहर निकाल कर विधवा आश्रमों तक पहुँचाया। इस प्रकार अबला नारी को समाज ने सुरक्षित रखने की व्यवस्था अवश्य की लेकिन नारी स्वयं रूढ़िगत मान्यताओं के प्रति विद्रोह करती हुई नहीं दिखलाई पड़ी। जैनेन्द्र कुमार 'परख' में इस समस्या की तह में गये और उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि यह समस्या सामाजिक ही नहीं, वरन्

वैयक्तिक स्तर पर भी अपना महत्त्व रखती है। उन्होंने विधवा-समस्या को मनोवैज्ञानिक प्रतिमानों पर परखा तथा उसके समाधान में न केवल सामाजिक, बल्कि वैयक्तिक दृष्टिकोण को भी स्वीकृत किया। 'परख' में इस समस्या का बहुत कुछ रूप वैयक्तिक ही है।

'परख' की कट्टो बाल विधवा है। पाँच वर्ष की उम्र में ही उसका विवाह हुआ, तब वह अपने पति को जानती तक नहीं थी। इसके तुरन्त बाद उसके पति का देहान्त हो गया, जिसके कारण, विधवा का अर्थ जानने से पहले ही कट्टो विधवा बन गई। उसने अभी तक किसी से प्रेम तक नहीं किया। फलतः किशोरावस्था में वह जब अपने मास्टर जी के सम्पर्क में आती है तो उनसे प्रेम करने लगती है। सामाजिक रूढ़ मान्यताओं के प्रति कट्टो का यह विद्रोह सराहनीय है और पाठकों की सहानुभूति भी लेखक के साथ-साथ उसे प्राप्त है। लेकिन अन्ततः सत्यधन उसके साथ विश्वासघात करता है, तब पहली बार उसे महसूस होता है कि वह विधवा हो गई है। वैधव्य का अनुभव कट्टो रूढ़िगत मान्यताओं तथा सामाजिक संस्कारों से प्रभावित होकर नहीं कर सकी, लेकिन वैयक्तिक अनुभव के आधार पर उसे वैधव्य स्वीकार करना पड़ता है। अनुभव करने का यह ढंग जैनेन्द्र का बिलकुल अपना है जो सामाजिक संस्कारों की मजबूरी की अपेक्षा कहीं अधिक तर्कसंगत और समीचीन जान पड़ता है। उपन्यास का यह भाग इतना अधिक प्रभावकारी बन गया है कि उसके आगे की कथा फालतू तथा सिद्धान्तवादिता के लिए कृत्रिम तरीके से जोड़ी गई लगती है। उपन्यास का अन्त वस्तुतः यहीं हो जाना चाहिए था, तब कट्टो के वैधव्य की समस्या मनोवैज्ञानिक धरातल पर एक प्रमुख विचारणीय प्रश्न बनकर अपना महत्त्व स्थापित कर लेती। लेकिन बिहारी जैसे रहस्यमय पात्र की सृष्टि और कट्टो-बिहारी सम्बन्ध की रहस्यमयी भूमिका तथा दोनों की एक साथ 'विवाह तथा वैधव्य की प्रतिज्ञा' की अबूझ पहेली ने विधवा-समस्या की यथार्थता तथा उसके वास्तविक रूप को बहुत कुछ धुँधला कर दिया है। यह एक विचित्र संयोग ही है कि 'परख' की कथा प्रारम्भ तो होती है कट्टो के सामाजिक मान्यताओं के विद्रोह से, लेकिन उसका अन्त होता है वैधव्य सम्बन्धी लेखकीय आध्यात्मिक, किंवा दार्शनिक व्याख्या से। कट्टो अपनी वैधव्य तथा ब्याह दोनों की प्रतिज्ञा को स्पष्ट करती हुई कहती है—"हम दोनों वैधव्य यज्ञ की प्रतिज्ञा में एक-दूसरे का हाथ लेकर आजन्म बँधते हैं। हम एक होंगे—एक प्राण, दो तन। कोई हमें जुदा न कर सकेगा।" कट्टो ने कहा।

"हम दोनों वैधव्य यज्ञ की प्रतिज्ञा में एक-दूसरे का हाथ लेकर आजन्म बंधते हैं। हम एक होंगे—एक प्राण, दो तन। कोई हमें जुदा नहीं कर सकेगा।"[१] बिहारी ने दोहरा दिया।

कट्टो ने कहा—"आज मेरा विवाह पूर्ण हुआ, वैधव्य सार्थक हुआ।[१]"

विवाह और वैधव्य की क्रमशः पूर्णता और सार्थकता आसानी से समझ में आने वाली चीज नहीं है। जैनेन्द्र कुमार जैसा दार्शनिक ही इसे समझ सकता है। सामान्य पाठक तो इस पहेली में उलझकर ही रह जाता है। कट्टो के चरित्र का यह अन्त विधवा समस्या का कोई ऐसा समाधान नहीं प्रस्तुत कर पाता, जिससे सामाजिक स्तर पर विधवाओं की कोई समुचित व्यवस्था हो सके। बल्कि इससे तो विधवा प्रथा की पुष्टि ही होती है। हाँ, इतना जरूर है कि यह पुष्टि भी सामाजिक धरातल पर न होकर रहस्यमयी कल्पना-लोक में होता है। जिस सामाजिक निर्भीकता के साथ लेखक ने समस्या की अतल गहराई प्रारम्भ में पकड़ी थी, वह अन्त में निराकार में विलुप्त हो जाती है। जैनेन्द्र इस समस्या के सन्दर्भ में अपने युगीन विचार-दर्शनों से कितने पीछे हैं, यह युग-पुरुष महात्मा गांधी के तत्सम्बन्धी विचारों से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है। गांधीजी ने बाल-विधवा-समस्या पर अपना विचार व्यक्त किया था कि उनका विवाह कुमारी लड़कियों की भाँति होना चाहिए। उन्हें विवाहित समझना ही अनुचित है।[२] कहने की आवश्यकता नहीं कि विधवा-समस्या का इससे बढ़कर अधिक व्यावहारिक समाधान और क्या हो सकता है?

लेकिन जैनेन्द्र जहाँ अन्य समस्याओं में गांधीजी के साथ हैं, विधवा-समस्या के सम्बन्ध में गांधी के विचारों से मेल नहीं खाते। उन्होंने कट्टो से विधवा-विवाह का विरोध करवाया है। वह अपने को विधवा मानकर बड़े गौरव के साथ कहती है—"विधवाओं का ब्याह होता है। छिः।"[3] बिहारी के साथ स्थापित अपने नये सम्बन्धों को कट्टो विवाह नहीं, वरन् एक प्रतिज्ञा मानती है। यह एक ऐसा विचित्र सम्बन्ध है जो सामाजिक यथार्थ के धरातल पर सम्भव नहीं।

विधवा समस्या को भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने भी उठाया है, लेकिन उनकी दृष्टि इस समस्या के आर्थिक पहलू पर ही विशेष गई है। अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'पतिता की साधना' में लेखक संयुक्त परिवार के विघटन के परिवेश में विधवाओं की आर्थिक सुरक्षा

---

१. 'परख' : दूसरा संस्करण, १९४१, पृ० ७५-७६

२. The Reform must being by those who have girl widows taking courage in both their hands and seeing that the child widows in their charge are duly and well married not remarried. They were never realy married."

'Women and Social Injustice'. (1945) Page-111.

३. 'परख' : दूसरा संस्करण, १९४१, पृ० ८५

का प्रश्न उठाता है। परम्परा से संयुक्त परिवार भारतीय समाज-व्यवस्था में असहाय, निर्बल तथा अबला नारियों के लिए सुरक्षा का दृढ़ आधार माना जाता था। विधवा मानवोचित अन्य अधिकारों से वंचित भले रही हो, लेकिन परिवार की ओर से उसे आर्थिक सुरक्षा प्राप्त थी। लेकिन आधुनिक सभ्यता में संयुक्त परिवार के इस विघटन ने विधवाओं की इस आर्थिक सुरक्षा को भी समाप्त कर दिया। पिता की मृत्यु के पश्चात् नन्दा के दोनों भाई एक-दूसरे के कट्टर शत्रु बन जाते हैं और संयुक्त परिवार आणविक परिवार में विभाजित हो जाता है। विधवा नन्दा के लिए न तो ससुराल में स्थान है और न मायके में। दोनों भाई उसे भार समझते हैं और अंततः देवर हरिनाम से गर्भ होने की स्थिति में लोक लज्जा के नाम पर उसे प्रयाग के मेले में छोड़ दिया जाता है। दूसरा कोई उपाय न देख नन्दा अंततः माया नाम से वेश्या-जीवन अपनाने पर मजबूर होती है। नन्दा की इस परिणति के माध्यम से लेखक सामाजिक बुराइयों का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रकाशित करता है। विधवा-समस्या के कारण अवैध-प्रेम की समस्या उत्पन्न होती है, जिससे पुनः गर्भपात की समस्या तथा अंततः वेश्या-समस्या का जन्म होता है। पाठक अन्त तक नन्दा के चरित्र के साथ सहानुभूति रखता है। यद्यपि वाजपेयीजी ने रोमाण्टिक एवं नाटकीय ढंग से विधवा-विवाह का भी संकेत दिया है, लेकिन विधवा-विवाह की परिणति दिखा सकने में वे भी असमर्थ ही रहे हैं। फिर भी सामाजिक जर्जर दृष्टिकोण के प्रति पाठकों की घृणा जगाने में उन्हें बहुत हद तक सफलता प्राप्त हुई।

लेकिन प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावन लाल वर्मा विधवा-समस्या को बिलकुल पृथक स्तर पर उठाते हैं। विधवा चरित्रों को उन्होंने खलनायिकाओं के रूप में चित्रित किया है। 'प्रेम की भेंट' उपन्यास की विधवा उजियारी काम-जनित ईर्ष्या, द्वेष आदि भावनाओं से ओत-प्रोत दिखाई गई हैं। विधवा होने के कारण वह भविष्य की आशाओं से भी निराश तथा कुण्ठित है। धीरज, जो उस परिवार में शरण लेता है, वही उसका अन्तिम सहारा है। वह समाज द्वारा तिरस्कृत है। उसका उग्र और अशान्त प्रेम सामाजिक दमन की ही प्रतिक्रिया है लेकिन उसे सहानुभूति नहीं दे पाता, क्योंकि वह उपन्यास की रोमाण्टिक भूमि में खलनायिका के रूप में उपस्थित होती है। वर्मा जी का विषय मूलतः प्रेम और रोमांस है, अतः उनके चरित्र भी इन्हीं प्रतिमानों के आधार पर निर्मित होते हैं। सामाजिक समस्याएँ यहाँ रोमाण्टिकता के विकास के लिए ही उपस्थित की जाती हैं।

लेकिन 'संगम' उपन्यास में वर्माजी का विधवा-सम्बन्धी दृष्टिकोण बिलकुल भिन्न धरातल पर स्पष्ट हुआ है, यानी विधवा-समस्या का उसके सम्पूर्ण आयामों में यहाँ साक्षात्कार किया गया है और विधवा गंगा का चरित्र गौरवमय तथा महत्त्वपूर्ण

चरित्र के रूप में चित्रित किया गया है। गंगा का चरित्र स्वस्थ तथा साहसी नारी का चरित्र है। उसकी चारित्रिक महत्ता का दिग्दर्शन कराने के लिए रंजन के चरित्र के साथ लेखक कई बार उसके चरित्र की तुलना करता है और अंततः उपन्यास के आदर्श नायक रामचरण से उसकी शादी होती है, क्योंकि वे एक-दूसरे को अटूट प्रेम करते हैं। रामचरण तथा गंगा विधवा के इस साहसी चरित्र तथा आदर्श से सुखलाल जैसे व्यक्ति का भी हृदय परिवर्तित हो जाता है और वह समाज तथा बिरादरी की उपेक्षा करके न केवल अहीरिन रखैल से उत्पन्न अपने पुत्र रामचरण को स्वीकार कर लेता है, बल्कि गंगा विधवा से उसकी शादी को भी सहर्ष स्वीकृति देता है। पुत्र की इस शादी के समय रूढ़िवादी समाज को जैसे चुनौती देता हुआ वह कहता है—'मैं अब बिरादरी या किसी की भी रत्ती भर भी परवा नहीं करता, दुःख के समय यह बिरादरी किस कोने में छिप जाती है। रंजन, समाज बड़ा दुष्ट है। बिगड़े हुए को बिगाड़ता है और बने हुए को बनाता है। बिरादरी वाले हमें पहले से छोटे स्थान पर समझते हैं, अब निकाल देंगे। और क्या कर सकते हैं? तुम समझ लेना कि तुमने बिरादरी को खारिज कर दिया।'[1] समाज में गंगा विधवा की शादी की प्रतिक्रिया होती है और बिरादरी का आक्रोश सुखलाल पर बरसता है, लेकिन वह अडिग रहता है। इस प्रकार विधवा विवाह सम्पन्न होता है, जिसे प्रगतिशील सामाजिक सुधारकों का समर्थन प्राप्त है। 'संगम' की रचना तक समाज काफी आगे बढ़ गया था और रूढ़िवादी वर्ग यद्यपि अब भी शक्तिशाली था, लेकिन प्रगतिशील तथा जागरूक लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी और हिन्दी का उपन्यास-लेखक भी सामाजिक उपन्यासों के चित्रण में साहस तथा आत्मविश्वास के साथ प्रगतिशील विचारों का समर्थन करने लगा था।

'अलका' उपन्यास में सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' भी विधवा-समस्या का समाधान विधवाओं के पुनर्विवाह में ही बताते हैं। 'अलका' का मूल विषय ही अभिजात्य वर्ग की विलासिता से संत्रस्त भारतीय नारी की समस्या है। वीणा विधवा एक ऐसी ही नारी-चरित्र है, जो अभिजात्य वर्ग के दुर्व्यवहारों तथा अत्याचारों से त्रस्त है। लेकिन अजित से वीणा का बिवाह कराकर लेखक यह व्यक्त करना चाहता है कि समाज में निराश्रितों तथा विधवाओं की रक्षा का उपाय एकमात्र यही है कि उनका पुनर्विवाह सम्पन्न कराया जाय, अन्यथा अभिजात्य वर्ग के व्यभिचारों तथा अत्याचारों से उनकी रक्षा सम्भव नहीं।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि प्रेमचंद काल में हिन्दी उपन्यास-साहित्य में 'विधवा-नारी की समस्या' एक प्रमुख विषय वस्तु रही है तथा कतिपय उपन्यासों की

---

१. 'संगम' : चौथा संस्करण, १९५६, पृ० २२९

रचना तक केवल इसी समस्या को प्रस्तुत करने के लिए हुई है। प्रारम्भिक युग के उपन्यासकारों की तरह ये लेखक रूढ़िवादी तथा सनातन मान्यताओं के अंधभक्त नहीं हैं। इनमें प्रगतिशील विवेक तथा नवीन सामाजिक चेतना दृष्टिगत होती है। विधवा समस्या की तह में जाकर इन लेखकों ने उसका उद्‌घाटन किया हैं तथा समाधान के रूप में विधवा विवाह का हल प्रस्तुत किया है।

विधवा-प्रथा का आधार पातिव्रत्य धर्म तथा निरपेक्ष प्रेम तत्त्व है। कहते हैं पति की मृत्यु के पश्चात् भी विधवा अपने पति से प्रेम करती है तथा पतिव्रत धर्म का पालन कर सकती है। एक लम्बे काल तक यह मान्यता समाज में बनी रही, लेकिन युग की परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ ही इस मान्यता में भी परिवर्तन उपस्थित हुआ। चूँकि व्यक्ति, समाज और परिस्थितियाँ परिवर्तनशील हैं, अतः सामाजिक मूल्यों में भी परिवर्तन उपेक्षित होता है। व्यक्ति का दृष्टिकोण तथा वैयक्तिक मूल्य भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। विधवा नारी भी एक जीवित प्राणी है, अतः यह कैसे सम्भव है कि मृत पति के प्रति उसका प्रेम-भाव स्थिर रहे। अत: विधवा नारी के लिए पतिव्रत धर्म की मर्यादा एक खोखला सामाजिक, नैतिक मूल्य ही ठहरता है। वैज्ञानिक सत्य तो यह है कि जीवित प्राणी परिस्थितियों के अनुसार ही अपने में परिवर्तन लाता जाता है। कहना चाहिए परिस्थितियों से समझौता करने को वह बाध्य होता है। उसका यह प्रकृतजन्य समझौता यदि समाज नहीं स्वीकार करता तो वह निश्चय ही अनैतिक रूप धारण कर लेगा। इसी अनैतिकता के कारण अन्य कई सामाजिक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। इस नये सन्दर्भ में तीसरे खेमे के महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार 'यशपाल', विधवा-नारी की समस्या को एक नये रूप में प्रस्तुत करते हैं। 'देशद्रोही' में 'यशपाल' ने अद्‌भूत चमत्कारिक ढंग से राजबीबी के माध्यम से विधवा नारी की समस्या पर नवीन चिन्तन का आग्रह व्यक्त किया है। राजबीबी के पति कैप्टन डॉ० खन्ना को वजीरिस्तान के लुटेरे सैनिक कैम्प से उड़ा ले जाते हैं। लेकिन घर वालों को उनकी मृत्यु की सूचना दे दी जाती है। इस खबर से राजबीबी को गहरा धक्का लगता है तथा अन्य हिन्दू विधवाओं की भाँति उनकी स्थिति भी चिन्त्य बन जाती है। लेकिन समय के परिवर्तन में मनुष्यों तक को बदल देने की शक्ति होती है। राजबीबी इस नये परिवर्तित जीवन में परिस्थितियों से समझौता कर लेती है। देश एवं राजनीति में संलग्न बद्री बाबू को वह सहयोग देती है और प्रकृत नारी की भाँति जीवनयापन करती है। फिर बद्री बाबू से ही वह विवाह भी कर लेती है। अनेक देशों का भ्रमण करके जब खन्ना वापस आता है तो पत्नी के पुनर्विवाह से बहुत कुछ विचलित हो जाता है। लेकिन वह अपनी उदात्त मानवीयता के कारण राजबीबी के नये जीवन में कोई बाधा नहीं डालता। खन्ना धीरे-धीरे यह मान लेने की स्थिति में पहुँच जाता है

कि उसकी पत्नी ने उसकी अनुपस्थिति में पुनर्विवाह किया है, जो स्वाभाविक है और वह राजबीबी के यहाँ जाना बन्द कर देता है। लेकिन समस्या का अन्त यहीं नहीं हो जाता, यशपाल जी खन्ना के उदात्त चरित्र की रक्षा के लिए उसे राजनीतिक संघर्ष में पंगु बना देते हैं और अन्ततः खन्ना बीमारी की हालत में चन्दा की सहायता से एक लम्बी यात्रा तय करके राजबीबी के पास पहुँचता है, लेकिन राजबीबी अपनी भिन्न परिस्थितियों के कारण अपने पिछले पति खन्ना को एक रात भी ठहरने की स्वीकृति नहीं देती। जिस पति के प्रति राजबीबी पहले समर्पित थी तथा जिसका मृत्यु की सूचना पाकर वह शोक से मृतप्राय हो गई थी, आज उस पति को निरीह एवं बीमार हालत में भी एक रात के लिए शरण नहीं देती।[1] इस प्रकार लेखक का निष्कर्ष स्पष्ट है कि पातिव्रत्य-धर्म तथा प्रेम भावना केवल परिस्थिति सापेक्ष है, ये निरपेक्ष सत्य नहीं हैं। खन्ना के प्रति राजबीबी का समर्थन किसी दिन वास्तविक सत्य था, लेकिन आज वह खन्ना को ठुकराने के लिए बाध्य है—यह भी वास्तविक सत्य है जो अपने आप में कम स्वाभाविक नहीं लगता।

'रतिनाथ की चाची' में विधवा की करुण कहानी कहकर उसके प्रति पाठकों की सहानुभूति जगाने का प्रयास किया गया है। नागार्जुन जी विषय को समस्या के रूप में नहीं प्रस्तुत कर पाते। एक विधवा नारी का मानवीय चरित्र जो समाज की सभी तरह की अवहेलना, अपमान तथा उपेक्षा पोकर, आत्मपीड़न से क्षीण होती जा रही है, कितना महान है, उसका चरित्र-चित्रण ही लेखक का प्रधान उद्देश्य रहा है। रतिनाथ की चाची रूढ़िवादी मैथिल ब्राह्मण परिवार की एक विधवा है, जो कुलीनता की प्रथा के कारण विधवा हुई है। यह मैथिल ब्राह्मण-समाज बीसवीं शताब्दी में भी आधुनिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक चेतना से प्रभावित नहीं है। एक विधवा में अकेले आत्मबल भी कितना होता है। चाची को देवर जयनाथ से गर्भ रहता है, जिसके कारण उनका सामाजिक बहिष्कार किया जाता है। भ्रूण हत्या होती है और इस प्रकार अपमान सहते हुए भी यह परम्परागत शांतिप्रिय हिन्दू-विधवा नारी सूत कातकर न केवल अपना पेट पालती है, वरन् रतिनाथ और जयनाथ का आर्थिक बोझ भी संभालती है। साथ ही बाहर के अतिथियों का भी आदर-सत्कार करती है। रूढ़िवादी समाज की नारी होने पर भी वह सामाजिक विचारों में प्रगतिशील है तथा राष्ट्रीय चेतना से प्रभावित है। मैथिल की कुलीन, सामंतवादी तथा रूढ़िवादी समाज की उपज, निठल्ला, कर्तव्यहीन, ब्राह्मण वृत्ति पर जीविकोपार्जन करने वाला देवर जयनाथ मात्र चार सौ रुपए के लालच में अपने पुत्र रतिनाथ की शादी किशोरावस्था में ही कर देना चाहता

---

१ 'देशद्रोही' : चौथा संस्करण, १९५६, पृ० ३१४

है, लेकिन चाची की प्रगतिशील चेतना इसे नहीं स्वीकार कर पाती ।[1] इसके अतिरिक्त किसान-आन्दोलन में भी अपनी निर्धनता के बावजूद अपना कम्बल भेंट में देकर चाची सम्मिलित होती है और किसानों के प्रति अपनी समवेदना प्रकट करती है । इस उपन्यास में लेखक ने न तो विधवा को किसी समस्या के रूप में चित्रित किया है और न उसका कोई समाधान प्रस्तुत किया है, फिर भी भारतीय विधवा नारी के प्रति जो करुणा तथा सहानुभूति रतिनाथ की चाची को प्राप्त हो सकी है, वह हिन्दी उपन्यास साहित्य की अन्य विधवा नारियों के लिए दुर्लभ वस्तु है ।

लेकिन 'अचल मेरा कोई' की निशा विधवा होने पर शीघ्र ही विवाह कर लेती है । इस विवाह में उसे अपने पिता की सहमति भी प्राप्त होती है । निशा वस्तुतः शिक्षित अभिजात्य वर्ग की नारी है और इस समय तक अभिजात्य तथा शिक्षित वर्ग में विधवा नारी को समस्या के रूप में ग्रहण करना प्रायः समाप्त हो गया था । समाज में आज विधवा-विवाह का प्रचलन बहुत अधिक तो नहीं हो पाया है, लेकिन तो भी विधवा नारी अगर चाहे तो आज उसका ब्याह बुरा नहीं समझा जाता । वैसे आज की विधवाएँ अक्सर दूसरा विवाह करती ही नहीं । लेकिन यदि वे चाहें तो उनका विवाह हो सकता है । इस प्रकार भारतीय समाज इस समस्या से प्रायः मुक्त हो गया है ।

वेश्या

वेश्या-नारी का जीवन भारतीय समाज में एक और अभिशप्त जीवन की सृष्टि करता है । वेश्या-समस्या भारतीय समाज की एक गम्भीर समस्या है, जो अत्यधिक प्राचीन काल से समय-समय पर अपने स्वरूप और उद्भव स्रोतों में परिवर्तन के साथ चली आ रही है, लेकिन इसके मूल में प्रायः प्रत्येक काल में आर्थिक आधारहीनता ही रही है । यह कारण उस वक्त और भी मजबूत बन जाता है जब पति की मृत्यु के बाद विधवा-नारी, आर्थिक दृष्टि से निराधार परिवार द्वारा प्रताड़ित तथा पीड़ित, और एकाकी परिवार की सीमा से निकाल कर व्यापक समाज की सीमा में फेंक दी जाती है अथवा निकलने को मजबूर की जाती है । एक अवस्था विशेष के भीतर पीड़ित, प्रताड़ित तथा आर्थिक दृष्टि से जर्जर तथा निराधार नारी की इच्छा, अनिच्छा, छल तथा धोखे से इस जीवन को स्वीकार कर लेना कोई बहुत असंगत नहीं लगता, विशेषकर समाज की आधुनिक गतिविधि को देखकर तो और भी नहीं । इसके अतिरिक्त इसके मूल में अनमेल विवाह की समस्या भी है जो विधवा समस्या से कम किसी भी माने में नहीं है । अनमेल विवाह का परिणाम पति-पत्नी के परस्पर विरोध में होता है और विरोध

---

१. 'रतिनाथ की चाची' : प्रथम संस्करण, १९४८, पृ० १११

का परस्पर अलग हो जाने में। इस प्रकार की अलग हुई नारी आर्थिक दृष्टि से कोई दूसरा उपाय शेष नहीं रहने पर अन्ततः वेश्या बनना स्वीकार कर लेती है।

लेकिन दुनिया के सभ्य कहलाने वाले देशों में भी, जहाँ कि नारी समान अधिकार प्राप्त कर चुकी है तथा उसे भी जीविकोपार्जन का समान अवसर तथा साधन उपलब्ध है, वेश्याजीवन व्यतीत करने वाली स्त्रियाँ मौजूद हैं। ऐसी दशा में वहाँ वेश्या समस्या के मूल में मात्र आर्थिक आधारहीनता ही नहीं है, बल्कि वहाँ आर्थिक विषमता साँस्कृतिक गतिरोध, भौतिकवादी संस्कृति का विकृत रूप तथा नैतिक मूल्यों का विघटन आदि नारी को वेश्या जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। यही कारण है कि उन देशों का आदमी अधिक भोगवादी है। लेकिन भारत की स्थिति इससे भिन्न है। जिस देश में नारी के लिए युगों से सतीत्व तथा पातिव्रत्य धर्मं सर्वोच्च रहे हों तथा जिस देश की आत्मा ही सतीत्व पर टिकी हुई हो, वहाँ भी वेश्यावृत्ति का अबाध प्रचलन बहुत अधिक लज्जास्पद लगता है। लेकिन भारतीय समाज में इस कुत्सित समस्या के कुछ दूसरे ही कारण रहे हैं। अन्य देशों में भले ही इसके मूल में नारी की चारित्रिकहीनता तथा नैतिक पतनशीलता रही हो, लेकिन भारत में आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों ने ही इसे प्रोत्साहित किया।

भारतीय समाज-व्यवस्था में विधवा-प्रथा, दहेज प्रथा, बहुपत्नी प्रथा आदि अनेक सामाजिक कुप्रथाओं में पिसती हुई स्त्री के लिए एकमात्र आर्थिक स्वावलम्बन का उपाय यही शेष बचा था कि वह वेश्या-जीवन स्वीकार कर ले। उचित आर्थिक संरक्षण के अभाव तथा अनमेल वैवाहिक सम्बन्धों के कारण उत्पन्न मनोवैज्ञानिक असं-गतियों ने भी स्त्रियों को वेश्या बनने की प्रेरणा प्रदान की। समाज में नारी का सम्पत्ति के अधिकारों से वंचित होना भी इसका एक प्रमुख कारण बना, क्योंकि आर्थिक अधिकारों के अभाव में नारी के लिए जीवन रक्षा का और कोई उपाय नहीं दीखता था। संयुक्त परिवार के विघटन से, जो आर्थिक सुरक्षा अबला नारियों को प्राप्त थी, वह भी समाप्त होती गई। समाज में एक तरफ तो इतनी अधिक गरीबी है कि उसमें चारित्रिक दृढ़ता सम्भव ही नहीं तथा दूसरी ओर धनी तथा सम्पत्तिशाली लोगों का वर्ग है जहाँ विलासिता की पूर्ति के लिए इन कुत्सित व्यापारों का संगठन होता है। इसके अतिरिक्त पितृ-प्रधान पारिवारिक व्यवस्था तथा स्त्रियों के लिए शिक्षा की उचित व्यवस्था के अभाव ने भारतीय नारी को सदैव घर की चारदीवारी में ही बन्द रखा तथा बाह्य जीवन-संघर्ष के लिए वह सदैव अयोग्य ही समझी गई। परिणाम यह हुआ कि वह सचमुच 'अबला' बन गई, घर की देहरी से बाहर निकल कर वह अपनी रक्षा करने में भी समर्थ नहीं रही। यही नहीं, वेश्या समस्या को और अधिक संगठित तथा मजबूत करने के लिए धर्म का भी उपयोग किया गया। दक्षिण में देवदासी-प्रथा तथा

हिमालय की तराई में नायक समुदाय में लड़की की शादी न करके उसे वेश्या-पेशा के लिए बेचने की प्रथा इसी के परिणाम हैं। सांस्कृतिक पतन का इसके बड़ा उदाहरण और क्या हो सकता है। जिस समाज तथा संस्कृति ने नारी को इतना निरीह बना दिया, वहाँ वैयक्तिक चारित्रिक हीनता की दुहाई देकर सभी दोष वेश्याओं के सिर थोप कर अलग हो जाना और असामाजिक दृष्टिकोण है। ऐसी दशा में आक्रोश की पात्र वेश्याएँ नहीं हैं, वरन् सम्पूर्ण समाज आक्रोश का पात्र है। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था ने ही वेश्या-वृत्ति को प्रोत्साहित किया है।

जहाँ तक हिन्दी-उपन्यास में वेश्या-समस्या के चित्रण का सम्बन्ध है, प्रारम्भिक काल से ही उपन्यासकार इसे एक प्रमुख सामाजिक समस्या के रूप में चित्रित करते आये हैं। लेकिन प्रायः प्रत्येक युग के लेखकों का दृष्टिकोण इस समस्या के प्रति एक-सा नहीं रहा है। प्रेमचन्द-काल के उपन्यासकार जहाँ वेश्या-समस्या पर सहानुभूतिपूर्ण ढंग से विचार करते हैं तथा उनके पुनर्विवाह का व्यावहारिक समाधान उपस्थित करते हैं, वहाँ प्रारम्भिक युग के लेखक वेश्याओं को घृणित ही मानते हैं। इसी प्रकार आगे का लेखक समाज में वेश्याओं का होना अच्छा नहीं समझता तथा वह इसका विरोध करता है, यद्यपि वेश्याओं का बना रहना फिर भी समाप्त नहीं होता, लेकिन प्रारम्भिक काल का लेखक तो एक तरफ उनसे घृणा करता है और दूसरी तरफ उनकी अनिवार्यता भी समाज में स्वीकार करता है। स्पष्ट है कि प्रारम्भिक काल के इन लेखकों का परम्परावादी तथा रूढ़िवादी दृष्टिकोण यहाँ भी हावी है। इसलिए ये लेखक वेश्याओं को विलास तथा सुख-सुविधा और मनोरंजन की वस्तु मानते हैं। इस सम्बन्ध में किशोरीलाल गोस्वामी तथा मेहता लज्जाराम शर्मा के विचार द्रष्टव्य हैं। मेहता जी समाज के लिए उनकी अनिवार्यता बताते हुए कहते हैं—'नहीं, आप मेरा मतलब समझे नहीं। बेशक रण्डियाँ समाज में एक बला हैं—परन्तु इससे आप यह न समझ लीजिए कि ये समाज से निकाल देने के लायक हैं, फ़िजूल हैं और इन्हें बन्द कर देना चाहिए। नहीं, इनकी भी समाज के लिए दो कारणों से आवश्यकता है। एक यह कि जब गाने-बजाने और नाचने का पेशा करने वाली हमारी सोसाइटी में न रहेंगी तब कुल वधुएँ इस काम को ग्रहण करेंगी। और दूसरे जैसे बड़े नगरों में सड़क के निकट जगह-जगह पनाले बने हुए हैं, यदि वे न बनाए जायँ तो चित्तवृत्ति को शरीर के विकार न रोक सकने पर लोग बाजार और गलियों को खराब कर डालें, इसी तरह यदि वेश्याएँ हमारे समाज से उठा दी जायँ तो घर की बहू-बेटियाँ बिगड़ेंगी।[1] लेकिन गोस्वामी जी केवल घृणित कहकर ही चुप रह गए हैं।

---

१. 'आदर्श हिन्दू' : प्रथम संस्करण, पृ० २१७, २१८

इस काल के लेखकों ने समस्या के उचित समाधान के अभाव में अस्वाभाविक नियंत्रण और ब्रह्मचर्य के पालन पर विशेष जोर दिया है। यह एक प्रकार का धार्मिक दृष्टिकोण है जो समस्या के यथार्थ हल की उपेक्षा करके धार्मिक तथा दार्शनिक प्रतिबन्धों को स्थापित करता है। मेहता जी इसके लिए ब्रह्मचर्य का फार्मूला रखते हैं जो विवाह सम्बन्धी अधिक है— "क्या स्त्री और क्या पुरुष दोनों को कुसंगतियों से बचाकर सुसंगति में प्रवृत्त करना तो मुख्य है, परन्तु शरीर-संगठन को देखकर रजोदर्शन के काल से कुछ ही पहले विवाह, शरीर ही की स्थिति देखकर विवाह से प्रथम, तृतीय अथवा हद पंचम वर्ष में गौना, केवल ऋतुकाल में गमन, पतिव्रत तथा एक पत्नीव्रत—यही हमारा शास्त्र के अनुसार ब्रह्मचर्य धर्म है।"[1]

स्पष्ट है कि विवाह आदि के साथ जो आर्थिक प्रश्न निहित हैं, तथा दहेज आदि की जो समस्याएँ हैं, जिनके कारण माता-पिता को युवती लड़कियों तक को घर में क्वारी बैठाए रखना पड़ता है, जिसके कि नये परिणाम निकलते हैं—इन सारी बातों की ओर इन उपन्यासकारों का ध्यान नहीं गया है। वे बहुत ही संकीर्ण दायरे में ही इस समस्या को प्रस्तुत करते हैं, वह भी समस्या के रूप में नहीं, अपनी सामान्य रुचि तथा दिलचस्पी के कारण।

लेकिन हिन्दी उपन्यास-साहित्य का अगला युग-यानी प्रेमचन्दकाल इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण तथा ठोस वैचारिक चिन्तन का युग कहा जा सकता है। इस युग के लेखकों ने वेश्या नारी को पर्याप्त सहानुभूति दी और पूरी सहृदयता के साथ यथार्थ धरातल पर उनकी समस्याओं को समाज के सामने प्रस्तुत किया। पिछले खेमे के लेखकों ने जहाँ वेश्याओं को घृणित पात्र के रूप में ग्रहण किया था, वहाँ इस युग के लेखकों ने उसे पूरी सहानुभूति तथा मानवतावादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया। वस्तुतः इसका कारण यही रहा कि पिछले खेमे के लेखक व्यक्ति तथा समाज के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध से परिचित नहीं थे तथा समाज-विश्लेषण के स्थान पर वे व्यक्ति का चारित्रिक विश्लेषण ही अधिक कर पाते थे। चारित्रिक विश्लेषण के आधार ही वे सत् या असत् चरित्रों का वर्गीकरण करके क्रमशः उन्हें सहानुभूति तथा घृणा प्रदान करते थे। लेकिन प्रेमचन्द-काल में स्वयं प्रेमचन्द ने तथा अन्य प्रमुख उपन्यासकारों ने भी वेश्या-नारी को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया और वेश्या-समस्या के लिए बहुत कुछ समाज की व्यवस्था को उत्तरदायी ठहराया।

'सेवासदन' में प्रेमचन्द मानवतावादी स्तर पर वेश्या-समस्या को प्रस्तुत करते हैं, लेकिन समाधान अपनी आश्रमीय मनोवृत्ति के कारण यहाँ भी अस्वाभाविक तथा

---

१. 'आदर्श हिन्दू' : प्रथम संस्करण, पृ० २१९।

अवैज्ञानिक आश्रय की स्थापना में ही उलझ कर रह गया है। फिर भी समस्या के विश्लेषण तथा उसके विभिन्न अंगोपांगों की विवृत्ति की दृष्टि से सेवासदन का वेश्या-प्रसंग तथा दाल मंडी का विवरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

'प्रसाद' जी अपने उपन्यास 'कंकाल' में इस समस्या को समाज के अंदर फैले हुए भ्रष्टाचार को प्रकाशित करने के उद्देश्य से उठाते हैं। वेश्या-वृत्ति के कारणों का उल्लेख वे इस प्रकार करते हैं—"बहुत-सी स्वेच्छा से आयी थीं और कितनी ही कलंक लगने पर अपने घर वालों से ही मेले में छोड़ दी गई थीं।" तारा भी इसी प्रकार मेले में छोड़ दी गई है और झूठी मर्यादा के कारण फिर उसका पिता उसे स्वीकार नहीं करता। 'प्रसाद' जी इस जर्जर समाज की खोखली नैतिकता तथा मर्यादाओं पर कठोर व्यंग्य करते हैं कि समाज किसी व्यक्ति को एक बार पद-स्खलन पर उसे सुधरने का अवसर नहीं देता, वरन् ठुकराकर और भी गर्हित गढ़े में ढकेल देता है। 'प्रसाद' जी के सामने इस समस्या का समाधान स्पष्ट था, लेकिन सम्पूर्ण उपन्यास में परिव्याप्त निषेधात्मक दृष्टिकोण के कारण वह समाधान की स्थिति में आकर भी कथानक को कृत्रिम मोड़ देकर समस्या से संन्यास ले लेते हैं। समाज सुधारक मंगल गुलेनार वेश्या से, जो पहले की तारा है, विवाह करने को तैयार होकर भी केवल इसलिए कि उसकी माता ब्याहता नहीं थी, वह विवाह करने से इन्कार कर देता है। वस्तुतः लेखक ने तर्क यह प्रस्तुत किया है कि मंगल इसलिए विवाह नहीं कर पाता, क्योंकि उसे भय है कि उसकी सन्तानों को समाज स्वीकार नहीं कर सकेगा।[1] लेकिन यह तर्क कितना हास्यास्पद है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। वस्तुतः 'प्रसाद' जी सम्पूर्ण समस्या को यथार्थ धरातल पर प्रस्तुत करके भी अन्ततः समाधान की साहसिकता तक आते-आते शिथिल पड़ गए हैं, वहाँ उनका अभिजात्य संस्कार उनकी प्रगतिशीलता पर हावी हो गया है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने भी अपने उपन्यास 'माँ' में वेश्या-समस्या को प्रस्तुत किया है' लेकिन वेश्या-वृत्ति के कारणों में जहाँ प्रेमचन्द तथा 'प्रसाद' चारित्रिक दोषों को भी महत्त्वपूर्ण मानते हैं' वहाँ 'कौशिक' जी स्पष्टरूप से केवल गरीबी को ही इसका कारण स्वीकार करते हैं। गरीबी के कारण ही बेगम अपनी बेटियों से वेश्या-वृत्ति कराने के लिए तैयार हो जाती हैं। बेगम को अपनी इज्जत आबरू का ख्याल है, उसकी दोनों लड़कियाँ भी वेश्या-वृत्ति से घृणा करती हैं, लेकिन आर्थिक तंगी के कारण वे पतन की ओर जाने से अपने को रोक नहीं पातीं। लेकिन वह लड़कियाँ, राधाकृष्ण की आर्थिक सहायता से जब उनका विवाह सम्पन्न हो जाता है, सामान्य नारियाँ बन जाती हैं तथा अपने को पारिवारिक जीवन में ढाल लेती हैं। लेखक वेश्याओं के प्रति अपना

---

१. 'कंकाल' : सातवाँ संस्करण, १९२६, पृ० ५३

दृष्टिकोण इस प्रकार व्यक्त करता है—"वन्दीजान वेश्या होते हुए भी स्त्री थी। वह सतीत्वहीन होते हुए भी स्त्रीत्वहीन नहीं थी। उसकी रुचि भी वैसी ही थी, जैसी एकस्त्री की स्वाभाविक रुचि होती है। यह बात दूसरी थी कि वह धन के कारण अपनी रुचि के प्रतिकूल कार्य करने को भी प्रस्तुत रहती थी, धन के कारण अरुचिकारक पुरुष से भी प्रेमालाप करती थी। केवल इतना ही नहीं, धन के कारण उसे ऐसे पुरुष का भी तिरस्कार करना पड़ता था, जिससे प्रेमालाप करने में उसके हृदय को आनन्द प्राप्त होता था। इसीलिए वह वेश्या थी—यही उसमें वेश्यापन था।"[1] वेश्या के सम्बन्ध में 'कौशिक' जी का यह दृष्टिकोण सामाजिक सन्दर्भों में एक मौलिक दृष्टिकोण है तथा वेश्यापन की उनकी यह व्याख्या वास्तव में सराहनीय है।

भगवतीचरण वर्मा ने वेश्या समस्या को तुलनात्मक रीति से उठाया है। और सामान्यतः समाज में प्रतिष्ठित नारियों की तुलना में वेश्याओं को श्रेष्ठ घोषित किया है जो इस दिशा में एक क्रान्तिकारी कदम कहा जा सकता है। अपने उपन्यास 'तीन वर्ष' में वर्मा जी प्रतिष्ठित वकील सर कृपाशंकर की लड़की प्रभा तथा वेश्या सरोज का तुलनात्मक चारित्रिक विश्लेषण करते हैं और इस प्रकार इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भद्र समाज की प्रतिष्ठित नारियों की अपेक्षा वेश्याएँ कहीं अधिक महान चरित्र वाली हैं। लेखक यहाँ वेश्या-वृत्ति के न तो कारणों पर विचार करता है और समाधान पर ही उसकी दृष्टि है। वह समाज तथा व्यक्ति की गहराई में जाकर सामाजिक मूल्यों के सम्बन्ध में चिन्तन के औचित्य को प्रमाणित करता है। वेश्या-वृत्ति का आधार यह माना गया है कि स्त्री धन तथा सुख के लिए बदले में पुरुष को तन बेचती है। उसके लिए नैतिक मूल्य का केन्द्र व्यक्ति-विशेष न होकर धन होता है। प्रभा अपने साथ के पढ़ने वाले रमेश से प्रेम करती है, लेकिन उससे विवाह इसलिए नहीं करती कि वह ग़रीब है और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकने में असमर्थ है। वह रमेश का हाथ पकड़ कर कहती है—"हम दोनों एक-दूसरे से प्रेम करते हैं, इतना काफी है और सदा प्रेम करते रहेंगे। विवाह की क्या आवश्यकता है?[2] लेकिन यही प्रभा उपन्यास के अन्त में जब रमेश के पास चार लाख रुपये का बैंक ड्राफ्ट देखती है तो शादी के लिए तुरन्त तैयार हो जाती है—"अब तो विवाह में कोई बाधा नहीं।"[3] लेकिन सरोज वेश्या का निःस्वार्थ प्रेम तथा चार लाख का दान रमेश की आँखें खोल देता है। प्रभा ग़रीबी के कारण विवाह द्वारा आर्थिक सुरक्षा नहीं चाहती, वह शिक्षित तथा समान

---

१. **'माँ' : चौथा संस्करण, १९३०, पृ० ३१३**

२. **'तीन वर्ष' : पाँचवाँ संस्करण, १९३०, पृ० १३१, १३२**

३. **'तीन वर्ष' : पाँचवाँ संस्करण, पृ० २५४**

अधिकारों की चर्चा करने वाली नारी है। उसके लिए पैसा विलासिता की पूर्ति के लिए चाहिए, उसकी अनेक आवश्यकताएँ हैं, मोटर, शराब, सभी विलासिता की सामग्रियाँ। अत: विवाह को वह प्रेम की परिणति नहीं, वरन् आर्थिक सुविधाओं का एक समझौता मात्र समझती है। धन ही उसका केन्द्र है, इसीलिए प्रेम और विवाह उसके लिए भिन्न-भिन्न आदर्श हो जाते हैं। रमेश ऐसे भद्र समाज का जिसका प्रतिनिधित्व प्रभा करती है, पर्दाफ़ाश करता है—"तुम पुरुष का धन लेती हो पुरुष को अपना शरीर देने के बदले में—है न ऐसी बात और यह वेश्या-वृत्ति है—प्रभा जी नमस्कार।"[1]

वर्मा जी आँखों से दीखने वाले सत्य के अतिरिक्त एक अप्रत्यक्ष सत्य की खोज इस उपन्यास में करते हैं तथा इस नवीन सत्य के उद्‌घाटन में वे बहुत कुछ सफल भी रहे हैं। प्रभा, जो शिक्षित है, सुसंस्कृत है, सम्पन्न तथा समाज में प्रतिष्ठित है, वह हृदय से वेश्या है और सरोज, जो ऊपर से वेश्या जीवन जीती है, हृदय से पूजनीय है तथा उसमें वेश्यापन नहीं है। समाज की यह खोखली नैतिकता है, जिसके अनुसार भद्र समाज कुछ भी करे, उस पर उँगली नहीं उठाई जा सकती। क्योंकि सामाजिक व्य-वस्था में वह शक्तिशाली है। लेकिन निम्न वर्ग एवं निरीह व्यक्ति जो-सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों के कारण पथभ्रष्ट हुए हैं, लेकिन हृदय से जो भी पवित्र तथा उज्ज्वल हैं, उन्हें समाज घृणित समझता है। वर्मा जी का यह चरित्र-विश्लेषण हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में सचमुच अभूतपूर्व है।

फिर भी इस विश्लेषण का आधार सामाजिक परिपार्श्व उतना नही है, जितना कि व्यक्तिगत परिपार्श्व। लेखक का दृष्टिकोण यह है कि जीवनगत मूल्य एवं आदर्श, व्यक्ति अपेक्षित हैं, समाज तथा परिस्थितियों द्वारा निर्मित नहीं। उसकी दृष्टि में पाप-पुण्य, नैतिक-अनैतिक का विचार व्यक्ति-आश्रित है तथा इस दृष्टि से वेश्या तथा गृहस्थ स्त्री में कोई बुनियादी अन्तर नहीं। कोई भी कर्म न पाप है न पुण्य। अन्तर है तो केवल प्रभा और सरोज के मानसिक गठन में—उनके स्वार्थ तथा त्याग में वस्तुत: यह घोर असामाजिक तथा अराजकतावादी दृष्टिकोण है जब सामाजिक मूल्यों का इस तरह व्यक्ति सापेक्ष्य व्याख्या की जाती है। वर्मा जी बहुत कुछ इसी अराजकतावादी दृष्टिकोण के शिकार बन कर रह गए हैं। स्वस्थ सामाजिक चेतना का विकास इनमें नहीं मिलता।

इसी प्रकार 'निराला' जी भी अपने उपन्यास 'अप्सरा' में सामाजिकता से पृथक रोमांटिक धरातल पर वेश्या-पुत्री कनक के प्रेम तथा विवाह की समस्या प्रस्तुत करते

१. 'तीन वर्ष' : पाँचवाँ संस्करण, पृ० २५५

हैं। कनक वेश्या की पुत्री है, लेकिन उसका लालन-पालन पवित्र रीति से होता है, क्योंकि वह एक धनी माँ की लड़की है। और जब वह सयानी होती है, सुयोग्य होती है तो उसका सामाजिक रीति से विवाह सम्पन्न कराया जाता है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि कनक स्वयं वेश्या नहीं है, वेश्या वर्ग से उसका पालन-पोषण, शिक्षा, उसके सामाजिक संस्कार सभी कुछ स्वस्थ सामाजिक वातावरण में सम्पन्न होता है। फिर भी वेश्या-पुत्री का समाज में विवाह कराकर लेखक ने अपने प्रगतिशील सामाजिक विचारधारा का तो परिचय प्रस्तुत किया ही है।

इसी प्रकार 'शराबी' उपन्यास में यद्यपि मूल समस्या मद्य-निषेध की है, लेकिन प्रासंगिक रूप से 'उग्र' जी ने मद्य-पान के दुष्परिणामस्वरूप शराबी पारसनाथ की लड़की को वेश्या के कोठे तक पहुँचाकर वेश्या-समस्या पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। लेकिन अन्ततः वह लड़की सफल कुलवधू में परिवर्तित हो जाती है। वस्तुतः कोठे पर जाने की बात प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति के रूप में ही चित्रित है।

इसी प्रकार भगवती प्रसाद वाजपेयी ने भी अपने उपन्यास 'पतिता की साधना' में इस समस्या को उठाया है। यद्यपि यहाँ समस्या को प्रस्तुत करने का कोई मौलिक आग्रह नहीं व्यक्त हुआ है, तो भीं प्रगतिशीलता का समर्थन तो इससे होता ही है। विधवा-प्रथा, अवैध गर्भ तथा घर से निकाले जाने के कारण निराश्रित नन्दा, वेश्या-पेशा स्वीकार करती है और अन्ततः जो माँ, पहले पुत्र के विधवा-विवाह का समर्थन न कर सकी, अब वह वेश्या-विवाह स्वीकार करती है। माँ का चरित्र यहाँ रूढ़िवादी सामाजिक मान्यताओं का प्रतीक है।

इस समस्या के सम्बन्ध में चतुरसेन शास्त्री का विश्लेषण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भगवतीचरण वर्मा के ठीक विपरीत शास्त्री जी वेश्याओं की परिभाषा यों देते हैं—'व्यभिचारिणी स्त्री तो वह है जो पर पुरुष से प्रेम के साथ शरीर का आदान-प्रदान करे, यहाँ धन देकर कोई भी चाहे, जब इनके शरीर का स्वामी बन जाता है, तब व्यभिचारिणी तो ये हैं ही नहीं—अभागिन अवश्य हैं।'[1] लेकिन वर्मा जी के अनुसार जो नारी धन के लालच में व्यभिचार करती है, वही वेश्या है। वस्तुतः दोनों विचारधाराएँ अपने आधार के कारण इतनी विपरीत हो गई हैं। वर्मा जी वैयक्तिक प्रवृत्तियों का आधार लेते हैं कि प्रभा जैसी सम्पन्न नारी भी वेश्या बन सकती है और सरोज वेश्या होते हुए भी वैयक्तिक प्रवृत्ति के अनुसार वेश्या नहीं है। लेकिन शास्त्री जी सामाजिक, आर्थिक कारणों को प्रमुखता देते हैं। फिर भी अन्ततः दोनों के निष्कर्षों में अद्भुत साम्य देखने में आता है और दोनों इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वेश्या नारी

---

१. 'आत्मदाह' : चौधरी एण्ड सन्स प्रकाशन, १९३४, पृ० १५५

घृणा की पात्र नहीं होती, वरन् वह सामान्य गृहिणी नारियों से भी अधिक योग्य तथा आदर्श नारी होती है।'[१]

तात्पर्य यह कि वेश्या-समस्या को इस काल के लेखकों ने पर्याप्त गम्भीरता तथा गहराई के साथ चित्रित किया है तथा भरसक अपनी ओर से उसका समाधान भी ढूँढ़ा है। वेश्या-वृत्ति के कारणों में अधिकांश लेखकों ने आर्थिक कारणों को ही प्रमुख माना है। अतः आर्थिक शोषण का यह क्रम समाज में चलता रहेगा, वेश्या-समस्या भी ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। सम्भततः इसी निराशा के कारण आगे के उपन्यासकारों ने इस समस्या को अधिक नहीं ग्रहण किया। फिर भी इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में इस समस्या को इधर भी उठाया गया है तथा विभिन्न कोणों से उस पर विचार किया गया है।

'पर्दे की रानी' उपन्यास की निरंजना एक धनी वेश्या की लड़की है तथा सामान्य लड़कियों की भाँति वह भी कालेज की शिक्षा ग्रहण करती है। बैरिस्टर मनमोहन उसका संरक्षक है। वह निःसंकोच निरंजना के पास आता जाता है, लेकिन जब उसका पुत्र इन्द्रमोहन उससे मिलता है तो वह इसे पसन्द नहीं करता। वह चाहता है कि उसके घर के लड़के-लड़कियाँ निरंजना से सम्पर्क न स्थापित करें। वेश्या के प्रति उसका यह हेय दृष्टिकोण निरंजना बर्दाश्त नहीं कर पाती और वह इस अपमान का प्रतिकार करने के उद्देश्य से क्रियाशील होती है तथा समाज के इस दृष्टिकोण का विरोध करती है। फलस्वरूप इन्द्रमोहन तथा उसकी पत्नी शीला को आत्महत्या करनी पड़ती है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी के उपन्यास 'निमंत्रण' की बूढ़ी वेश्या भी समाज से अपना प्रतिशोध लेने को प्रतिश्रुत होती है। इसी प्रकार जोशी जी के उपन्यास 'प्रेत और छाया' की मंजरी जब तक आर्थिक लाचारी की हालत में होती है, वेश्या-वृत्ति अपनाती है, लेकिन आर्थिक सुविधाओं के प्राप्त होते ही वह प्रसिद्ध मेडिकल कालेज का डाक्टर बन जाती है तथा उसका नारी सुलभ स्वाभिमान जाग्रत हो जाता है। इसी उपन्यास की अन्य वेश्याएँ हीरा तथा नन्दिनी भी सद्गृहस्थ बनने की इच्छा रखती हैं तथा अन्ततः वे राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लेती हैं। इस प्रकार वेश्याओं के प्रति जोशी जी की सहानुभूति परक दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है।

लेकिन 'घरौंदे' उपन्यास की वेश्या नादानी तो क्रान्तिकारी चरित्र है जो समाज की तनिक भी परवा नहीं करती। रांगेय राघव के इस उपन्यास में वेश्या नारी का यह क्रान्तिकारी रूप पहली बार उभर कर सामने आया। नादानी समाज पर कामेश्वर के माध्यम से व्यंग्य-प्रहार करती है—'रण्डी किसी की रिश्तेदार नहीं होती।

२. 'आत्मदाह' : चौधरी एण्ड सन्स प्रकाशन, १९३४, पृ० १५५

यह तुम्हारी लड़की नहीं होगी। वह सिर्फ़ माँ को जान सकेगी। पन्द्रह साल की तो बात है। आना फिर। तुम्हारी लड़की भी जवान हो जायगी।'[1] नादानी पढ़ी-लिखी नारी है, जो सामाजिक एवं आर्थिक वैषम्य को भली-भाँति समझती है। उसने प्रसिद्ध मुंशी प्रेमचन्द का 'सेवा-सदन' उपन्यास भी पढ़ रखा है और वह मुंशी जी से मिलने को भी उत्सुक है। समाज पर उसका तीव्र व्यंग्य एवं आक्रोश उसके जागरूक व्यक्तित्व का परिणाम है। इस युग में नारी-जागरण इतना आगे बढ़ चुका है कि वह अब स्वयं अपनी समस्याओं के लिए समाज से संघर्ष करने को प्रस्तुत हो गई हैं, लेखकों तथा समाज-सुधारकों की वैशाखियों की उसे अब कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। समाज के शोषण के विरुद्ध उनकी वाणी में भी विद्रोह की शक्ति आ गई है तथा मौका पाते ही अपनी स्थिति सुधारने की शक्ति उनमें अर्जित होती जा रही है। फिर भी वेश्या-नारी आज भी भारतीय-समाज में एक समस्या तो है ही। और जब तक आर्थिक शोषण का यह चक्र समाप्त नहीं हो जाता, इसके भी समाप्त होने की कोई सूरत नज़र नहीं आती।

नारी शिक्षा एवं स्वतन्त्रता

बीसवीं सदी के प्रारम्भ और १९वीं सदी के अन्तिम दिनों में नारी-सुधार सम्बन्धी जो भी आंदोलन हुए उनमें नारी-शिक्षा तथा उसकी स्वतन्त्रता पर प्रायः प्रत्येक जगह विचार किया गया तथा इसके समर्थन में प्रायः सभी वर्ग एकमत रहे। सनातनी रूढ़िवादी विचारकों ने भी स्त्रियों की शिक्षा की अनिवार्यता से इन्कार नहीं किया। लेकिन शिक्षा-पद्धति के सवाल पर सनातनी तथा प्रगतिशील विचारकों में काफी मतभेद था। प्रगतिशील विचारक उच्च शिक्षा के पक्ष में थे तो सनातनी विचारकों का दृष्टि-कोण उनसे बिलकुल भिन्न था। वे लड़कियों का विद्यालय जाना स्वीकार नहीं कर सकते थे। वे घर के अन्दर ही औरतों की प्रारम्भिक तथा घरेलू शिक्षा के पक्ष में थे। इसके अतिरिक्त कुछ लोग गृहविज्ञान की शिक्षा भी स्त्रियों के लिए उपयुक्त बताते थे। फिर भी समाज-सुधारकों ने इस दिशा में उचित ध्यान दिया। फलस्वरूप १९१६ ई० में प्रथम महिला विश्वविद्यालय की स्थापना घोन्धो केशव कारवे के द्वारा हुई। साथ ही स्त्री-शिक्षा के अन्य कार्य-क्रम भी प्रस्तुत किए गए।

लेकिन हिन्दी उपन्यासकारों का प्रारम्भिक तबका यहाँ भी रूढ़िवादी ही बना रहा। किशोरीलाल गोस्वामी लिखते हैं—'मेरी तो यह राय है कि लड़कियाँ कभी भी घर के बाहर अर्थात् पाठशाला में पढ़ने के लिए न भेजी जायँ और उन्हें घर पर ही

---

१. 'घरौंदे' : प्रथम संस्करण, १९४६, पृ० २९८

हिन्दी और संस्कृत तथा गृह-कार्य की विधिवत् शिक्षा दी जाय। यद्यपि मेरी इस राय पर स्त्री शिक्षा के घोर पक्षपाती अवश्य रुष्ट होंगे, परन्तु जो मर्मज्ञ पाठक स्त्री-शिक्षा की अयोग्यता का प्रत्यक्ष कुफल देख रहे हैं, वे मेरी राय पर कभी-भी खड्ग न उठावेंगे। जो लोग देख रहे हैं कि अयोग्य स्त्री-शिक्षा ही के कारण एक बंगालिन एक पंजाबी की पत्नी बनती है, एक 'राजरानी' एक शूद्र की जोरू बनती है, तो यह कहना पड़ेगा कि स्त्रियों को उच्च शिक्षा किंवा अयोग्य शिक्षा कभी न देनी चाहिए और उन्हें पाठ-शाला या स्कूल भी न भेजना चाहिए। पश्चिमी वैज्ञानिकों का यह मत है कि यदि स्त्री को पुरुषों के समान बहुत पढ़ाया-लिखाया जायगा तो वे स्त्री-धर्म से च्युत हो जायेंगी, फिर या तो उन्हें संतान ही न होगी और यदि होगी भी तो वह जिएगी कदापि नहीं।'[1]

इसी प्रकार मेहता लज्जाराम शर्मा भी पढ़ी-लिखी नारियों को 'बेटरहाफ' (उत्तमार्ध) कहकर तिरस्कृत ही करते हैं।[2] मेहता जी स्त्री को अंग्रेजी शिक्षा, स्वतंत्रता और समानता का अधिकार प्रदान करने के पक्ष में नहीं हैं। उनके मत से उसका उपयुक्त कार्य-क्षेत्र घर ही है। 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' उपन्यास की लक्ष्मी उनके लिए आदर्श नारी-चरित्र है, क्योंकि उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है तथा गृह-कार्य की मामूली-सी शिक्षा लेकर वह पारिवारिक नियंत्रण में रहती है। जब कि रमा में सजीवता और स्वतन्त्रता है तथा वह उच्च शिक्षा प्राप्त किए हुए है। लेकिन लेखक रमा की परिणति अच्छी नहीं करता वस्तुत: जान-बूझकर अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के उद्देश्य से ऐसा अस्वाभाविक परिवर्तन रमा के चरित्र का कराया गया है क्योंकि लेखक उच्च शिक्षित तथा स्वतन्त्र तबीयत की स्त्रियों के प्रति सहानुभूति नहीं रखता।

इसी प्रकार एक अन्य लेखक गंगाप्रसाद गुप्त ने भी अपने एक उपन्यास 'लक्ष्मी देवी' में दो समान लड़कियों की विभिन्न शिक्षा पद्धतियों के माध्यम से पूरब तथा पश्चिम का संघर्ष व्यक्त किया है। इस उपन्यास की दो लड़कियाँ श्यामा और लक्ष्मी देवी इलाहाबाद के गर्ल्स कालेज में डाक्टरी पढ़ने काशी से आती हैं। डाक्टरी शिक्षा के कारण श्यामा पर विलायती स्वतन्त्रता का प्रभाव पड़ता है और वह बिगड़ती चली जाती है। वह डाक्टरी में पास होकर डाक्टर बन जाती है, लेकिन विवाह तथा प्रेम के लगातार होने और छूटने वाले सम्बन्धों के कारण उसे बदचलन करार कर दिया

---

१. 'मालती माधव व मदन मोहिनी', प्रथम सं०, १९०९, दूसरा भाग, पृ० ७५-७६

२. 'आदर्श हिन्दू', भाग १, पृ० ३१

जाता है और उसे नौकरी से निकाल दिया जाता है। इस प्रकार उसका अन्त बुरा दिखाया गया है। लेकिन इसकी तुलना में लक्ष्मी देवी योग्य, सरल और कार्य-कुशल डाक्टर सिद्ध होती है, उसका विवाह जन्म कुण्डली मिलाकर अपनी जाति के बाबू नारायण प्रसाद के साथ होता है तथा वह सुखी गृहस्थ जीवन व्यतीत करती हुई, चिकित्सा द्वारा देश तथा समाज की भरपूर सेवा करती हुई अन्य पढ़ी-लिखी लड़कियों के सामने उच्च आदर्श प्रस्तुत करती है।

लेकिन स्त्री-शिक्षा तथा स्वतन्त्रता के इस निषेधात्मक दृष्टिकोण के साथ ही समर्थन का स्वर भी सुनने को इस युग में मिल जाता है। मन्नन द्विवेदी, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा बाबू ब्रजनन्दन सहाय ने स्त्री शिक्षा तथा स्वतन्त्रता का अपने-अपने ढंग से समर्थन किया है। मन्नन द्विवेदी नारी के उद्धार के लिए उसकी शिक्षा आवश्यक बताते हैं। अपने उपन्यास 'रामलाल' में द्विवेदीजी ने कई सफल शिक्षा-योजनाएँ भी प्रस्तुत की हैं। श्रीमती गीता देवी की कन्या पाठशाला की योजना तथा आत्माराम की महिला विश्वविद्यालय खोलने की योजना इसके उदाहरण हैं।[१] लेखक का विचार है कि इन संस्थाओं से जो बहिनें शिक्षित होकर निकलेंगी वे आवश्यकता पड़ने पर महाकाली बनकर अपने सतीत्व की रक्षा कर सकती हैं।[२]

'हरिऔध' जी भी स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में अपने उदारवादी दृष्टिकोण का परिचय देते हैं। लड़कियों की शिक्षा के समर्थन में वे इस प्रकार अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं—"वह लड़का भला क्यों न होगा—माँ जिसकी पढ़ी-लिखी होगी।"[३] इसी प्रकार ब्रजनन्दन सहाय भी स्त्री-शिक्षा के कार्यक्रमों का समर्थन करते हैं। वे किताबी ज्ञान के साथ-ही-साथ स्त्रियों को गृह-कार्यों से लेकर कताई, बुनाई तथा अन्य नारी सुलभ कलाओं में भी पारंगत बनाने के पक्ष में हैं। इसके लिए वे तर्क यह देते हैं कि ऐसा होने पर मौका पड़ने पर स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से अपने पैरों पर खड़ी हो सकती है। लेखक के एक आदर्श पात्र महात्मा प्रेमानन्द इस सम्बन्ध में अपने शिष्य मुकुन्द को उपदेश देते हैं—"मुकुन्द ! प्रारम्भिक शिक्षा स्त्रियों को देने का प्रबन्ध करना और ऐसी अध्यापिकाओं को नियुक्त करना जो घर-घर घूमकर देश भर में स्त्रियों को धर्म की, नीति की, पाकशास्त्र की, वैद्यक की, शिशु-संतान-पालन-पोषण की शिक्षा दिया करें।"[४]

---

१. 'रामलाल' : प्रथम संस्करण, पृ० १०४
२. 'रामलाल' : प्रथम संस्करण, पृ० १६६
३. 'अधखिला फूल' : प्रथम संस्करण, पृ० २४०
४. 'अरण्यबाला' : द्वितीय संस्करण, १९२१, पृ० ३३०

स्पष्ट है कि इस युग में नारी-शिक्षा तथा उसकी स्वतन्त्रता के प्रति लेखकों के परस्पर विरोधी विचार मिलते हैं। लेकिन प्रधानता सनातनी तथा रूढ़िवादी लेखकों की ही है, जिन्होंने स्त्री-शिक्षा के आधुनिक रूप का विरोध ही किया है, भले ही वे कुछ मामूली शिक्षा के पक्ष में रहे हों। वस्तुतः इस युग के लेखकों का मानसिक गठन ही ऐसा था, जिससे वे अन्य प्रश्नों की भाँति स्त्री-शिक्षा तथा उसकी स्वतन्त्रता के प्रश्न पर भी प्रगतिशील चेतना का परिचय नहीं दे सकते थे। इसमें लेखकों का दोष उतना नहीं, जितना सामाजिक परिवेश तथा युगीन संस्कारों का है। वस्तुतः युगीन संस्कारों से अप्रभावित होना, लेखक क्या किसी के लिए भी मुश्किल काम होता है। इसलिए इन लेखकों ने यदि इस दिशा में कोई क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत नहीं किए तो उनके लिए यह एक स्वाभाविक बात ही है।

लेकिन अगले युग में यानी कि प्रेमचन्द-काल में इस विषय पर क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किए गए और स्त्री-शिक्षा तथा स्त्री-स्वतन्त्रता पर गम्भीर रूप से विचार हुआ। वस्तुतः साहित्यिक चरित्र समाज विशेष की ही उपज होते हैं। उपन्यास-साहित्य के विभिन्न पात्रों का सामाजिक आधार, उनकी सामाजिक मान्यताएँ तथा सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टिकोण स्वभावतः उभर कर सामने आता है। यही कारण है कि इन चरित्रों के माध्यम से सामाजिक प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसे चरित्रों में कुछ तो सामाजिक विघटन तथा संकीर्णता के द्योतक होते हैं और कुछ सामाजिक विकास का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह बात पिछले युग के तथा इस युग के चरित्रों की तुलना करने पर स्वतः स्पष्ट हो जाती है। पिछले युग के पात्रों में अधिकांश रूढ़िवादी तथा सनातन धर्मी हैं तथा समाज का नेतृत्व भी उन्हीं के हाथ में है, क्योंकि अभी सामाजिक रूढ़ियों का टूटना सम्भव नहीं हो सका है। लेकिन इस युग में इन सामाजिक रूढ़ियों की स्थिति नहीं रही है, उनका पर्याप्त विघटन हो गया है तथा समाज का नेतृत्व प्रगतिशील चेता पात्र करने लगे हैं जो समाज को इन रूढ़ियों के चंगुल से बचाने के लिए प्रतिश्रुत हैं।

इस युग में यों देखने को तो दोनों तरह के नारी चरित्र मिलते हैं—पति, समाज तथा पुरुष-वर्ग से पीड़ित नारी, जो व्यक्तित्वहीन है, रूढ़िवादी तथा अबला है तथा पति तथा समाज से विद्रोह करने वाली आधुनिक चेतना-सम्पन्न नारी, जो पारिवारिक सामाजिक तथा राजनीतिक आदि सभी धरातलों पर अपने स्वतन्त्र अधिकारों की माँग करती है तथा इसके लिए सतत् संघर्ष के लिए प्रस्तुत होने में भी नहीं हिचकती।

'प्रेमाश्रम' की विद्यावती, 'प्रेम पथ' की रामा, 'रंगभूमि' की सुभागी 'हृदय की प्यास' की सुखदा, 'कुण्डली चक्र' की रतन, तथा 'गोदान' की गोविन्दी आदि नारी

पात्र पति के अत्याचारों से पीड़ित हैं, लेकिन फिर भी वे पति के विरुद्ध विद्रोह के लिए प्रस्तुत नहीं होतीं। बल्कि पति के तमाम अत्याचारों के बावजूद वे उनको सुख सुविधा का ख़याल रखती हैं। इन पात्रों का वैयक्तिक स्वाभिमान इतना भी नहीं रहा है कि वे अपने पतियों के अवैध प्रेम के विरुद्ध भी आवाज उठा सकें, बल्कि इसकी जगह वे पतियों के अवैध प्रेम का सहर्ष स्वागत करती दीखती हैं। 'प्रेम पथ' की रामा अपने पति के अवैध प्रेम के प्रति सहानुभूति व्यक्त करती है तथा अपनी सौत तारा के प्रति आदर का भाव रखती है। 'हृदय की प्यास' की सुखदा भी पति के अवैध प्रेम का विरोध न कर उसके पापों के प्रायश्चित्त स्वरूप मरने को तैयार है। 'कुण्डली चक्र' की रतन शिक्षित तथा सुसंस्कृत है, फिर भी पति-सेवा को ही वह अपना चरम लक्ष्य समझती है। पति के दूसरे विवाह के लिए वह सहर्ष अपनी सहमति दे देती है। 'गोदान' की गोविन्दी पति के उच्छृङ्खल प्रेम से घुटती रहती है लेकिन पति के खिलाफ़ जबान तक नहीं खोलती। बल्कि रूढ़िवादी मान्यता का समर्थन ही करती है। 'कर्मभूमि' की नैना शिक्षित तथा जागरूक है और वह राष्ट्रीय आंदोलन में भाग भी लेती है, लेकिन माता-पिता के प्रत्येक निर्णयों का आदर करती है। 'प्रेम की भेंट' की सरस्वती अपने प्रेम का दमन करके घुट कर मर जाती है, लेकिन परम्परा के विरोध में वह अन्त तक भी कुछ नहीं कहती तथा सामाजिक मान्यता के कारण अपने मूक प्रेम को वह व्यक्त नहीं होने देती। इन नारी पात्रों का जीवन दर्शन ही परम्परावादी तथा रूढ़िवादी है। स्वतन्त्र रूप से वे कुछ भी निर्णय ले सकने की क्षमता नहीं रखतीं।

इतना ही नहीं, स्त्री की पराधीनता तथा उसके शोषण का उत्कृष्ट रूप 'प्रतिज्ञा' की पूर्णा, 'तपोभूमि' की धारिणी 'कंकाल' की तारा तथा 'अलका' की अलका के माध्यम से व्यक्त हुआ है। पूर्णा विधवा होने के बावजूद निराश्रित है, व्यभिचारी कमलाप्रसाद शरण देकर उसकी निरीहता का लाभ उठाना चाहता है। धारिणी के चरित्र में लेखक का मानवतावादी विचारदर्शन प्रकट हुआ है। वह व्यक्तित्व सम्पन्न नारी है, उसमें स्वतन्त्रता की भावना भी है, लेकिन वह स्वयं अनैतिकता को प्रश्रय देती है और अन्त में पुरुष के पापों को बर्दाश्त कर जाने में ही महान त्याग का प्रदर्शन मानती है। 'तारा' पुरुष वर्ग की खिलौना के रूप में चित्रित की गई है, उसमें भी व्यक्तित्व का अभाव नहीं, लेकिन विद्रोह की शक्ति का अभाव अवश्य है। उसमें दृढ़ता तो है, लेकिन भारतीय नारी की करुणा ही उसके व्यक्तित्व का संयोजन करती है। 'अलका' के माध्यम से लेखक नारी-स्वतन्त्रता तथा उसके व्यक्तित्व का प्रश्न उठाता है और नारी शिक्षा को समाधान के रूप में प्रस्तुत करता है। अलका का पूर्व नाम शोभा है जो असंख्य ग्रामीण स्त्रियों की तरह शक्तिहीन है, जो बिना पुरुष की सहायता के स्वयं अपनी रक्षा भी नहीं कर सकती। ऐसी दशा में जमींदार मुरलीधर तथा महादेव

उस पर बलात्कार करना चाहते हैं। लेकिन वही शोभा शिक्षित होने पर व्यभिचारी मुरलीधर की हत्या करने का साहस प्रदर्शित करती है तथा देश और समाज के लिए भी जागरूकता दिखलाती है। वह प्रभाकर के साथ मजदूरों में शिक्षा का प्रचार करती है।

इसी युग में सबसे पहले विद्रोहिणी नारियों का साक्षात्कार होता है। भारतीय नारी अब इतनी जागरूक हो चुकी थी कि वह लेखक तथा समाज के प्रगतिशील विचारों को प्रकट कर सके। नारी गृहिणी-पद की सीमा से बाहर समाज तथा देश एवं राजनीति के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझने लगी थी। इस काल के पुरुष वर्ग को तो केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता लेनी थी, लेकिन नारी वर्ग अपनी दुहरी पराधीनता से मुक्त होने को छटपटा रहा था। उसे पति तथा पुरुष-प्रधान समाज में भी सामाजिक अधिकारों के लिए लड़ना था। यही कारण है कि इस युग की नारी एक तरफ तो पारिवारिक धरातल पर पति के विशेषाधिकारों को चुनौती देती है तो दूसरी ओर सामाजिक धरातल पर रूढ़िवादी सामाजिक मान्यताओं को ठुकराती है। साथ ही वह राष्ट्रीय आंदोलन में भी अपना सक्रिय सहयोग देती है।

'सेवा सदन' की सुमन, 'प्रतिज्ञा' की सुमित्रा, 'निर्मला' की सुधा, 'रंगभूमि' की इन्दु, 'लालिमा' की सन्ध्या तथा 'त्यागपत्र' की मृणाल पति से तिरस्कृत तथा अपमानित होने पर परम्परागत हिन्दू नारी की भाँति गिड़गिड़ातीं नहीं और न अपनी भावनाओं का दमन ही करती हैं। बल्कि वे पति के विशेषाधिकारों का विद्रोह करती हैं।

'त्यागपत्र' की मृणाल पति द्वारा निकाल दी गई है। लेकिन चूँकि उसके चरित्र में दृढ़ता और स्वाभिमान है, इसीलिए वह विद्रोह करती है। लेकिन उसका यह विद्रोह सामाजिक नहीं है, वरन् व्यक्तिगत है। इसीलिए वह स्वयं टूटती है अपने लिए नई नैतिकता की अपेक्षा रखती है। 'कुण्डली चक्र' की पूना यद्यपि अशिक्षित है, लेकिन वह भुजबल जैसे खलनायक से अपनी रक्षा कर पाने में समर्थ है तथा अपने वैवाहिक चुनाव पर भी वह विश्वस्त रूप से अडिग रहती है। 'लगन' की रामा तथा 'संगम' की गंगा भी साहसी नारी पात्रों में से हैं, जो आवश्यकता पड़ने पर अपनी रक्षा स्वयं कर सकती हैं।

तात्पर्य यह कि अब तक नारी-शिक्षा पर समाज अपनी सहमति दे चुका था और परिवारों में लड़कों की ही भाँति लड़कियों की भी शिक्षा प्रारम्भ हो गई थी। अतः आगे के उपन्यासों में इसे समस्या के रूप में ग्रहण नहीं किया गया, बल्कि इसके स्थान पर स्त्री-स्वतन्त्रता तथा नारी-विद्रोह को ही उपन्यासों में स्थान मिला और उसके कार्यक्षेत्र का प्रश्न भी उठाया गया कि वह परिवार तथा घर तक ही सीमित रहे या बाहर समाज में भी उसकी कोई भूमिका सम्भव है। साथ ही नारी के सम्पत्ति

सम्बन्धी अधिकारों पर भी इस काल में विचार किया गया। वृन्दावन लाल वर्मा के 'संगम' उपन्यास में पिता की सम्पत्ति रंजन बेटी को न मिलकर तेरह पीढ़ी दूर के किसी भिखारीलाल को मिलती है, जो सदैव सुखलाल का शत्रु रहा है। हिन्दू न्याय शास्त्र में यह अन्याय युगों से होता आया है कि दूर का रिश्तेदार सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता है, लेकिन पत्नी, बहन, बेटी आदि में से कोई भी उसका उत्तराधिकार नहीं प्राप्त कर सकता। न्यायशास्त्र का निर्माण समाज की संस्कृति तथा सभ्यता के अनुसार ही होता है अतः आधुनिक काल की बदलती सामाजिक परिस्थितियों में लेखक न्यायशास्त्र में परिवर्तन की भी माँग करता है। वह इस सम्बन्ध में स्पष्ट चेतावनी देता हुआ कहता है—'यदि यह क्रम जारी रहा, तो समाज वर्तमान कानूनों के अस्वस्थ और अहितकर बन्धनों में जकड़ा जाकर भीषण अवनति को प्राप्त होगा या कानूनों के बाँध को तोड़-फोड़कर अपनी स्वाभाविक गति से आगे निकल जायेगा। और कानून अपनी नादानी पर रोता हुआ रह जायेगा।'[1] लेखक इस सम्बन्ध में विश्वस्त है कि अगर युगों पूर्व के कानून, जिसके प्रवर्तक मनु माने जाते हैं, तथा आधुनिक समाज के लिए जो उपयुक्त नहीं रहे हैं, इनमें आवश्यक परिवर्तन नहीं किया गया तो क्रान्ति अथवा अराजकता अवश्य फैलेगी।

इसी के साथ ही स्त्री के सम्बन्ध में घर तथा बाहर की समस्या भी जुड़ी हुई है। युगों से भारतीय समाज-व्यवस्था में स्त्री गृहिणीपद से सुशोभित की जाती रही है, इसीलिए उसके सामने घर से बाहर राजनीतिक, सामाजिक तथा साँस्कृतिक रंग-मंच पर आने का प्रश्न ही नहीं उठा। वस्तुतः तब नारी के सम्बन्ध में ऐसी किसी समस्या की कल्पना भी लोगों के मन में न रही हो। लेकिन आधुनिक भारत में सुधार आन्दोलनों तथा सांस्कृतिक क्रांति में नारी की स्थिति में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित किया। आधुनिक भारत में एक तरफ जहाँ राजनीतिक स्वतन्त्रता का संघर्ष चल रहा था, वहाँ समाज के पीड़ित वर्गों—नारी, अछूत आदि की स्वतन्त्रता के लिए भी समाज तत्पर था। सार्वजनिक रंगमंच पर पहली बार सार्वजनिक रूप से भारतीय नारी स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ पदार्पण करती है। १९२०-२१ के राष्ट्रीय आंदोलन में जो गाँधी जी के नेतृत्व में चलाया जा रहा था, स्त्रियों ने खुलकर भाग लिया। विभिन्न प्रान्तीय धारासभाओं ने उन्हें मतदान का अधिकार भी प्रदान किया। अतः भारतीय समाज में यह समस्या भी उठ खड़ी हुई कि प्राचीन गृहिणी पद तथा सामाजिक राजनीतिक क्षेत्रों में नारी किस प्रकार सन्तुलन कायम रख सके। साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र में नारी के स्वतन्त्र-व्यक्तित्व का भी सवाल उठ खड़ा हुआ।

---

१. 'संगम' : चौथा संस्करण, १९५६, पृ० २९३

पुरानी समाज-व्यवस्था में घर तथा बाहर का अलग-अलग क्षेत्र था तथा स्त्री और पुरुष अपने-अपने क्षेत्र के लिए उत्तरदायी था। चूँकि श्रम-विभाजन भी इन्हीं क्षेत्रों में हुआ था, इसीलिए वहाँ सामाजिक तथा राजनीतिक संघर्ष के लिए कोई स्थान नहीं था। सामाजिक क्षेत्र में पति ही पत्नी के लिए उत्तरदायी होता था। जहाँ तक सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों का प्रश्न है, वह वैयक्तिक रुचि, संस्कार तथा चिन्तन से निर्धारित होता है। अतः पत्नी के सम्मुख पति के विचारों के साथ भी सामंजस्य बनाए रखने का सवाल उठ खड़ा हुआ।

हिन्दी में यों तो इस प्रश्न को उपन्यासों में उठाया जा ही रहा था और प्रेमचन्द रंगभूमि में इन्दु के माध्यम से इस प्रश्न पर प्रकाश डाल चुके थे। लेकिन आधुनिक काल में इस घर-बाहर-संघर्ष की चर्चा का विशेष श्रेय प्रसिद्ध बँगला लेखक रविबाबू को है। उन्होंने इसी नाम से 'घरे बाहिरे' एक पूरा उपन्यास ही इस समस्या पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से लिखा। रवीन्द्रनाथ से ही प्रभावित होकर हिन्दी में जैनेन्द्र ने इस सवाल को पहली बार उचित सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उठाया। 'सुनीता' उपन्यास की भी मूल समस्या लगभग यही है। रवीन्द्रनाथ के 'घरे-बाहिरे' में भी दो पुरुष पात्रों के बीच पेण्डुलम की भाँति डोलती हुई नारी चित्रित की गई थी, जैनेन्द्र ने भी सुनीता को हरिप्रसन्न तथा श्रीकान्त के बीच उपस्थित किया।

व्यक्ति एक साथ ही विभिन्न संस्थाओं की सदस्यता स्वीकार करता है, क्योंकि उसके व्यक्तितत्व के विविध रूप होते हैं। व्यक्ति के समुचित विकास के लिए इन विभिन्न जीवन रूपों, विभिन्न संस्थाओं तथा कर्त्तव्यों में सामंजस्य रखना अत्यन्त आवश्यक है। व्यक्ति एक साथ ही परिवार का सदस्य तथा समाज का सदस्य भी है और देश का नागरिक भी है। परिवार, समाज तथा देश में किसी एक की भी वह उपेक्षा नहीं कर सकता। क्योंकि ऐसा करने पर व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो पाता। 'सुनीता' का श्रीकांत सामाजिक-राजनीतिक व जीवन से कटा हुआ है—'जिस तरह की जिन्दगी में पड़ गया है, उसमें अब भी उसके पंजे गड़े नहीं हैं। वहाँ वह अपने को भूला-भूला-सा पाता है, अकेला, अभिज्ञ ऊपरी।'[1] परिवार के अन्दर सिमट कर उसका जीवन उदासीन हो गया है तथा इस जीवन से छुटकारा पाना चाहता है। दूसरा पुरुष पात्र हरिप्रसन्न है, जो केवल सामाजिक तथा राजनीतिक सन्दर्भों में ही जीवित है। उसका अपना कोई परिवारिक जीवन नहीं है। वह चित्रकार है, क्रान्तिकारी है, वह सदैव देश के लिए, समाज के लिए भटकता रहता है। उसका कोई वैयक्तिक जीवन नहीं सभी कुछ बाह्य के लिए समर्पित है। इस एकांगिता ने उसे कुण्ठा की स्थिति में

---

१. 'सुनीता' : पाँचवाँ संस्करण, १९५५, पृ० १७

ला छोड़ा है। यही कारण है कि सुनीता से सम्पर्क होने पर वह राष्ट्र-कर्म से विमुख होकर उसी में उलझकर रह जाता है।

ऐसे ही दो अलग-अलग छोरों पर स्थित पुरुष पात्रों के बीच सुनीता जैसी आधुनिक नारी को रखकर उसके सामने गार्हस्थ-धर्म तथा राष्ट्र-धर्म का संघर्ष उपस्थित किया गया है, जिनमें से एक उसका पति है तो दूसरा उसका प्रेमी। बाह्य सामाजिक, राजनीतिक संघर्षमय जीवन के अभाव में पति की भाँति सुनीता भी नीरसता तथा सूनापन का अनुभव करती है। श्रीकांत पुरुष के लिए तो बाह्य राजनीतिक सामाजिक जीवन आवश्यक समझता है, लेकिन स्त्री के लिए वह घर को ही उचित कार्य क्षेत्र मानता है—'स्त्री को अपने घर में ही बहुत कुछ है, बाहर दुनिया में वह क्या पाने जाय।'[1] लेकिन सुनीता के स्वतंत्र निर्णय ले सकने की छूट देने के उद्देश्य से श्रीकांत कुछ दिनों के लिए दिल्ली चला जाता है। अकेली सुनीता से हरिप्रसन्न क्रांतिकारियों को स्फूर्ति देने के लिए अपने साथ चलने का आग्रह करता है, जिसे वह अनेक संकल्प-विकल्प के पश्चात् उसके आकर्षण व्यक्तित्व के कारण स्वीकार कर लेती है। लेकिन वह स्वयं कुंठाओं से ग्रस्त है, उसका घर की चारदीवारी से क्रांतिकारी जीवन में प्रवेश उसके बौद्धिक निर्णय का परिणाम नहीं है। वह हरिप्रसन्न से स्पष्ट कहती है—'मैं इस घर से टूटकर जीऊँगी नहीं।—राष्ट्र को मैं क्या जानूँ पर पति को में जानती हैं वह मुझे बहुत स्नेह करते हैं।' वह आगे कहती है—'मेरे लिए तो सारा राष्ट्र, सारा समाज, सारा देश जिस व्यक्ति में समा जाना चाहिए, वह तो मुझे मेरे प्राप्त मेरे स्वामी हैं। उनके चरण जहाँ-जहाँ धूलि पर पड़ते हैं, उस धूलि के कणों में मैं अपने को खो दूँगी। तब मेरे पास स्वत्व शेष ही कब रहेगा, जो तुम्हारे राष्ट्र को दूँ।'[2] सुनीता का यह दृष्टिकोण तत्कालीन रूढ़िवादी सामाजिक दृष्टिकोण का ही प्रतिनिधित्व करता है और समस्या को उचित सन्दर्भ में उठाकर भी जैनेन्द्र कोई मौलिक तथा क्रांतिकारी समाधान नहीं दे पाते। वस्तुत: जैनेन्द्र की शरतचन्द्रीय भावुकता तथा कामजनित कुंठा के कारण ही समस्या का उचित समाधान नहीं निकल पाया है। अत: उपन्यास जिस स्थिति से प्रारम्भ होता है, उसी स्थिति में फिर लौट आता है। श्रीकांत पर न तो राष्ट्र-धर्म का प्रभाव पड़ता है और न हरिप्रसन्न पर परिवार-धर्म का। इन चरित्रों की अपनी कुंठाएँ अन्त तक ज्यों-की त्यों बनी ही रहती हैं। उनका कोई उचित समाधान नहीं ढूँढ़ा गया है।

जैनेन्द्र के एक अन्य उपन्यास 'कल्याणी' में भी इस समस्या को उठाया गया है,

---

१. 'सुनीता' : पाँचवाँ संस्करण, १९५५ पृ० २६

२. 'सुनीता' : पाँचवाँ संस्करण, १९५५, पृ० १४८-१४९

लेकिन वहाँ भी समस्या का स्वरूप नितान्त वैयक्तिक ही बनकर रह गया है, सामाजिक भाव-भूमि पर वहाँ भी समस्या का प्रस्तुतीकरण नहीं हो सका है। उपन्यास की नायिका कल्याणी उच्च शिक्षा प्राप्त भारतीय नारी है। वह इंगलैण्ड से डाक्टरी पास करके आई है और यहाँ प्रैक्टिस करती है। उसके सामने भी प्रश्न उठता है कि वह गृहिणी बनकर रहे अथवा आर्थिक क्षेत्र में घर से बाहर होकर रहे। उसका पति जो शिक्षित न होने पर भी उसके कारण डॉ० असरानी के नाम से जाना जाता है, चाहता है कि कल्याणी प्रैक्टिस करे तथा परिवार के लिए धन पैदा करे। स्पष्ट ही यहाँ पुरुष की दासता से मुक्त होने का प्रश्न नहीं है, वह तो नारी हो चुकी है, वरन् उसे स्वयं स्वतन्त्र रूप से यह तय करना है कि वह गृह-कार्य को स्वीकार करे या समाज तथा बाह्य कार्य को। कल्याणी अन्ततः बाह्य जीवन का चुनाव करती है और अपनी प्रैक्टिस शुरू करती है। लेकिन उसका पति डॉ० असरानी अपनी अशिक्षा तथा बौद्धिक अक्षमता के कारण भारतीय परम्परित संस्कारों को छोड़ नहीं पाता और वह चाहता है कि उसकी पत्नी एकनिष्ठ, एकमात्र गृहिणी होकर रहे, अंतःपुर की सीमा से बाहर न निकले तथा पवित्रता के निर्वाह के लिए अनिवार्यतः अन्य पुरुषों के सम्पर्क में न आ सके। डॉ० असरानी आधुनिक भारतीय संस्कृति के संक्रांतिकालीन मनःस्थिति की उपज हैं, जो एक ओर पत्नी से डाक्टरी पेशा करने को भी कहते हैं और दूसरी तरफ कठोर पातिव्रत्य धर्म के निर्वाह की आशा भी रखते हैं। उनकी दृष्टि में पत्नी मात्र उपभोग्य वस्तु है, उनके परम्परागत संस्कार उन्हें यह स्वीकार नहीं करने देते कि नारी का भी अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है। कल्याणी कहीं बाहर गई हुई है तो इस पर डाक्टर असरानी को सन्देह होता है कि डॉ० भटनागर ने उसे अपने घर में छिपा लिया है। इस पर वह डॉ० भटनागर से संघर्ष मोल लेने पर उतर आता है—'मेरी स्त्री को तुम उड़ाकर ले आये हो। लाओ, निकाल कर दो।' आगे उन्होंने समूचा घर देखा। एक-एक कमरा और ट्रंक देखे और बक्स देखे और बंधे बिस्तर खुलवाए।''[1] इस प्रसंग में लेखक ने संक्रान्ति-कालीन भारतीय पुरुष वर्ग पर मार्मिक चोट की है, जो प्रदर्शन तथा आधुनिकता के जोश में कुछ नये कार्य प्रारम्भ तो करता है, लेकिन उसके संस्कार अब भी वही हैं। पति इतना तक सहन करने को तैयार नहीं कि पत्नी किसी अन्य व्यक्ति से मिल-जुल सके तथा किसी अन्य व्यक्ति की प्रशंसा कर सके। एक बार जब कल्याणी डॉ० भटनागर की प्रशंसा करती है तो डॉ० असरानी शंका करने लगते हैं। ऐसी दशा में भारतीय नारी के लिए यह गम्भीर समस्या उत्पन्न होती है कि वह घर तथा बाहर के कार्य-क्षेत्र में किस प्रकार उचित सामंजस्य बिठाए। कल्याणी के सामने द्वन्द्व यह है कि या तो वह डाक्टरी

१. 'कल्याणी' : तीसरा संस्करण, १९५३, पृ० २९

करे या पातिव्रत्य धर्म का पालन करे। वह कहती है—'मैं सेवा में परायण हो जाऊँ या डाक्टरी की कमाई करके दूँ ! दोनों साथ होना कठिन है। पैर दो नावों पर रहेंगे तो हालत डगमग रहेगी। और जो मेरे ही चुनने की बात हो तो मैं कहूँगी, डाक्टर नहीं बनना चाहती। पर अगर तुमको डाक्टरी की आमदनी भी चाहिए, उसके बिना अगर न चलता हो तो पातिव्रत्य की माँग उतनी कसी नहीं रखी जा सकेगी। थोड़ा उसे उदार करना होगा।'[1] कल्याणी का तात्पर्य यहाँ नारी संबंधी सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन उपस्थित करने का है। लेकिन कल्याणी की अन्तिम परिणति परम्परित भावुक नारी के रूप में ही होती है, जो बड़ी ही निरीह तथा व्यक्तित्वशून्य लगती है। सड़क पर भीड़ के सामने डॉ० असरानी द्वारा जूतों से पीटी जाने पर भी उसके मुँह से विरोध का एक शब्द भी नहीं निकलता। वस्तुत: जैनेन्द्र के साथ ऐसा अक्सर हुआ है कि उनके तमाम विद्रोही पात्र अंतत: शांत पड़ जाते हैं और सब कुछ को यथास्थिति स्वीकार कर लेते हैं। इसीलिए जैनेन्द्र विद्रोही तथा यथार्थ लेखक के रूप में महत्त्व नहीं पा सके। प्रेमचन्द ने 'मालती' के माध्यम से कहीं अधिक यथार्थ धरातल पर नारी-स्वातन्त्र्य का प्रश्न उठाया और मालती के चरित्र में उसका काफी विकसित रूप उद्‌घाटित किया। यद्यपि मालती को भी अंतत: हृदय परिवर्तन के फार्मूले में ले जाकर लेखक परम्परागत भारतीय नारी का ही अनुगामी बनता है, फिर भी मालती का दृष्टिकोण नितान्त आधुनिक है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी भी नारी स्वातन्त्र्य की समस्या को अपने 'पिपासा' उपन्यास में प्रस्तुत करते हैं। इस उपन्यास का कथानक बहुत कुछ 'सुनीता' जैसा ही है। शकुन्तला तथा नरेन्द्र के दाम्पत्य जीवन में कमलनयन, जो कवि हैं, के प्रवेश से त्रिकोण प्रेम की स्थिति पैदा होती है। काम कुंठित तथा अंदर से भीरु शकुन्तला की भी हालत सुनीता जैसी ही है, इसीलिए वह भी पति को छोड़ना नहीं चाहती, क्योंकि उसे भी अपने ऊपर विश्वास नहीं है।[2] अन्त में इस त्रिकोण प्रेम का परिणाम यह होता है कि कमलनयन कानपुर जाकर मजदूरों का नेतृत्व करते हुए जेल चला जाता है और शकुन्तला को अत्महत्या कर लेनी पड़ती है। लेखक के अनुसार नारी का पर पुरुष से प्रेम नारी-स्वातन्त्र्य का परिणाम है। लेखक कामजनित मर्यादा से सन्निहित नरेन्द्र के अहं का उदात्तीकरण करता है—'नारी के लिए पर-पुरुष एक अपदार्थ है, वह उसके लिए अस्तित्वहीन है, वह कुछ भी नहीं है। किन्तु यह बात उस युग की है, जब नारी

---

१. 'कल्याणी' : तीसरा संस्करण, १९५३, पृ० ३३
२. 'पिपासा' : चौथा संस्करण, १९५०, पृ० ५७

अपने गृह और कुटुम्ब तक ही सीमित थी। किन्तु अब तो नारी वैसी सीमित नहीं है। तब नारी व्यक्ति से युक्त थी, अब वह समाज का अंग हो रही है। अब तो समाज में आत्मसात होकर उसे रहना है। अब पर-पुरुष से दूर रहना तो दूर की बात है, उसे उससे मिलना होगा उसमें लिप्त होना पड़ेगा और जीवन-संघर्ष में उससे भिड़ना भी पड़ेगा। यहाँ तक कि आवश्यकतानुसार उन्हें मित्र या शत्रु भी बनाना पड़ेगा।"[1] लेकिन लेखक की समस्त प्रगतिशीलता धरी रह जाती है और उसकी प्रगतिशीला नारी अंततः कायर तथा आत्मविश्वासहीन भारतीय कमज़ोर नारियों की भाँति आत्महत्या में ही समस्या का समाधान ढूँढती है।

'दो बहनें' उपन्यास में भी भगवतीप्रसाद वाजपेयी नारी-स्वातन्त्र्य का प्रश्न उठाकर उसे उचित तथा स्वस्थ समाधान तक पहुँचा पाने में सफल नहीं रहे। यहाँ भी प्रेम का त्रिकोण निर्मित है, जिसमें एक छोर पर ज्ञान प्रकाश है तथा शेष दोनों छोरों पर दो बहनें—आशा तथा लता हैं जिनमें से एक (आशा) को आत्महत्या करनी पड़ती है। इसी प्रकार 'निमंत्रण' उपन्यास में अनेक नारी पात्र हैं, लेकिन सभी अस्वस्थ तथा कामजनित कुंठा से आक्रान्त हैं। इनमें से अधिकांश शिक्षित भी हैं, लेकिन घरेलू चख-चुख में वे भी लगी रहती हैं। इनमें से कुछ ने राजनीति तथा मनोविज्ञान की भी शिक्षा ली है और राजनीतिक कार्यक्रमों में भी भाग लेती हैं। मालती ऐसी ही नारी है, जो राजनीतिक कार्यक्रमों में सम्मिलित होती है। लेकिन लेखक इन शिक्षित नारियों के व्यक्तित्व को स्वस्थ रूप में रख नहीं सका है। लेखक की अपनी कामजनित कुण्ठाएँ इन नारियों के माध्यम से व्यक्त हुई हैं। लेखक का दृष्टिकोण है कि ये शिक्षित नारियाँ सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यक्रमों में स्वतन्त्रता के साथ भाग इसलिए लेती हैं, जिससे कि वे मनमाने पुरुष के साथ अपनी कामवासना की पूर्ति कर सकें। कहने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक शिक्षित नारियों के सम्बन्ध में बीसवीं शताब्दी में व्यक्त किया जाने वाला यह दृष्टिकोण कितना गर्हित और अस्वस्थ है। अपने उक्त दृष्टिकोण की पूर्ति के लिए ही लेखक मालती को आधी रात में आधी नग्न अवस्था में क्रांतिकारी संपादक गिरधारी लाल के शयन-कक्ष में लुक-छिप कर पहुँचाता है और इससे भी बढ़-कर आश्चर्य तो तब होता है, जब सम्पादक की पत्नी स्वयं मालती के सम्मुख अपने पति के स्वास्थ्य के लिए यह भीख माँगती है कि वह उसके पति के साथ अवैध प्रेम स्थापित करे। स्पष्ट है कि नारी के प्रति लेखक का यह दृष्टिकोण कितना हेय है। इस दृष्टिकोण को प्रस्थापित करने के लिए लेखक यह तर्क भी प्रस्तुत करता है प्रेम कि और विवाह दोनों दो भिन्न आदर्श हैं और व्यक्ति के लिए दोनों ही अनिवार्य हैं। इन

---

१. 'पिपासा' : चौथा संस्करण, १९५०, पृ० १०९

परस्पर विरोधी दो आदर्शों के माध्यम से लेखक पुरुष वर्ग की परम्परागत स्वेच्छा-चारिता का ही समर्थन करता है। और इस प्रकार नारी का दासी रूप सामने आता है। आधुनिक एवं प्रगतिशील तथा विद्रोही एवं जागरूक नारी-चरित्रों के माध्य से नारी का यह अस्वस्थ और व्यक्तित्वहीन रूप अपने-आप में एक बहुत बड़ी विसंगति की सृष्टि करता है, जिसका सम्पूर्ण श्रेय भगवती प्रसाद वाजपेयी को प्राप्त है।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के उपन्यासों में भी नारी का लगभग यही रूप चित्रित है—पुरुष की तुलना में निर्बल तथा असहाय। 'जीजी जी' की प्रभा की स्थिति पंगु कुबड़े से भी गई-बीती है। वह सफल चित्रकार बन सकती है, लेकिन अन्ततः पुरुष की स्वेच्छाचारिता की चिता पर भस्म हो जाती है। 'उग्र' जी के अनुसार नारी चूँकि शक्तिहीन हैं, अतः उसका कोई स्वतन्त्र निर्णय नहीं हो सकता। वह बाहर की दुनिया में भी पुरुषों के सम्मुख पराजित ही रहेगी। अतः इसके लिए स्वतन्त्रता काम्य नहीं। 'जीजी जी' ने लेखक अपना यह मन्तव्य प्रकट करवाता है—'बाहर जभी स्त्री घूमेगी, पुरुष से उसे खतरा रहेगा—बात-बात में गर्भ धारण करने और खतमांस से स्वतन्त्रता का मोल चुकाने का। अधिक स्वतन्त्र होकर स्त्री स्त्रीत्व खोकर मर तक सकती है—जैसे पुरुष को अधिक परतंत्र यदि करो, घर ही में बाँध कर रखो तो पीला पड़ कर वह स्वतन्त्रचारी जीव जीवित न रह सकेगा।'[1] यही नहीं लेखक 'जीजी' जी से पति दीनानाथ की अमानुषिकता का समर्थन भी कराता है—'पति महाशय का स्वभाव अच्छा नहीं, ठीक है, मगर उससे मेरा वास्ता ? बच्चे पाते ही एक तरह से पति के विरुद्ध सारी कटुता मेरी चली गई—बल्कि कृतज्ञ मैं अपने को मानती हूँ, उस प्राणी का, जिसने जननी बनाकर उस सेवा और तपोमय जीवन का मौका तो मुझे दिया, जिसके बिना नारीत्व व्यर्थ है।'[2] लेखक के अनुसार नारी का अस्तित्व केवल प्रकृति-प्रदत्त मातृत्व का दायित्व पूरा करने भर को ही है और इसके लिए वह अनिवार्यतः पुरुष के प्रति कृतज्ञ होती है। लेखक पुराणपंथियों की ही भाँति नारी को पाप का द्वार मानता है और इसके समर्थन में जातक कथाओं को उद्धृत करता है।[3] आधुनिक नारी से भी वह इसी दृष्टिकोण का समर्थन चाहता है। 'जीजी' जी आधुनिक शिक्षा सम्पन्न नारी है। उसने अंग्रेज़ी-हिन्दी तथा संस्कृत सभी पढ़ी है। लेकिन अन्ततः वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचती है कि—'कुल मिलाकर मुझे मालूम पड़ा कि उत्तमतम नारी के लिए मानव-समाज में व्यभिचारी पुरुष की अंकशायिनी बनने के सिवा और कोई गति

१. 'जीजी जी' : चौथा संस्करण, १९५५, पृ० १२८
२. 'जीजी जी' : चौथा संस्करण, १९५५, पृ० १२८-१२९
३. 'जीजी जी' : चौथा संस्करण, १९५५, पृ० ४७

नहीं ।'[1] और इसी निष्कर्ष को पूरा करने के लिए वह एक दुराचारी व्यक्ति से विवाह करती है तथा जीवन भर उसकी अमानुषिकता का शिकार बनी रहती है। स्पष्ट है कि 'उग्र' जी नारी सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण में बहुत ही पिछड़े हैं और पढ़ी-लिखी नारियों को देखने का उनका दृष्टिकोण स्वस्थ सामाजिक तथा प्रगतिशील दृष्टिकोण नहीं है।

जैनेन्द्र के सम्बन्ध में पहले हम चर्चा कर चुके हैं लेकिन मातृत्व के इस महत्त्व-पूर्ण प्रसंग में आवश्यकतावश हम पुनः उनके नारी-चरित्रों की थोड़ी चर्चा की अनुमति चाहेंगे नारी के प्रति अस्वस्थ और व्यक्तित्वहीन दृष्टिकोण के प्रचार के निमित्त ही जैनेन्द्र ने 'उग्र' के 'जीजी जी' उपन्यास की भाँति अपने 'कल्याणी' उपन्यास की रचना की है। दोनों लेखकों के दृष्टिकोण चूँकि बहुत कुछ एक-से ही हैं, इसलिए दोनों उपन्यासों के पात्रों तथा स्थितियों में भी अद्‌भुत साम्य देखा जा सकता है। 'जीजी जी' तथा 'कल्याणी' समान आदर्श व्यक्त करती हैं और डॉ० असरानी दीनानाथ से बहुत कुछ मिलता है। जिस प्रकार 'जीजी जी' अपने विवाह के प्रति तटस्थ है, चाहे कोई भी पुरुष पति बन जाय, उसी प्रकार इंगलैण्ड रिटर्न उच्च शिक्षा सम्पन्न डॉ० कल्याणी भी अपने जीवन के प्रति तटस्थ है और इसलिए वह अशिक्षित, संकीर्ण तथा अमानुषिक तथा उच्छृङ्खल असरानी को अपना पति चुनती है और जिन्दगी भर उसके अत्याचारों को भुगतती है। जैनेन्द्र भी 'उग्र' जी की तरह कल्याणी से मातृत्व की दुहाई दिलवाते हैं—'स्त्री स्वातन्त्र्य और कुछ नहीं, मातृत्व से बचने की चाह है—और अगर उसमें मातृत्व का फल नहीं है तो वह निष्फल है, अनर्थंकर है। स्त्री की सार्थकता मातृत्व है। मातृत्व दायित्व है। वह स्वातन्त्र्य नहीं है।'[2] कल्याणी का डॉ० असरानी के द्वारा पीटा जाना महिला-मण्डल नारी-वर्ग का अपमान समझता है, लेकिन कल्याणी पर इसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, वरन् वह परम्परागत नारी की भाँति उपवास, धर्म, ईश्वर, पूजा तथा आत्मपीड़ा का मार्ग चुनती है। वह परम्परागत रूढ़िवादी नारी की भाँति पति परमेश्वर का सन्देश भी व्यक्त करती है—'स्मरण रहे, पति व्यक्ति नहीं है, वह प्रतीक है। इससे सती को यह सोचने का अधिकार नहीं है कि पति सदोष हो सकता है। अपंग हो, विकलांग हो, जैसा हो, पति पति है। पति देवता होता है। स्मरण रहे कि वह देवता अपने-आप में नहीं, सतीत्व के महिमा के प्रभाव में ही वह देवता है। इसलिए व्यक्ति रूप में सन्देह बन कर पति के स्थान में चाहे जो हो, कैसा

---

१. 'जीजी जी' : चौथा संकरण, १६५५, पृ० ४७

२. 'कल्याणी' : तीसरा संकरण, १६५३, पृ० ६२

भी वह अपूर्ण हो, सती उसको भी देवता बना सकती है।'[1] स्पष्ट ही यहाँ हम जैनेन्द्र को रूढ़िवादी तथा सनातनी प्रारम्भिक उपन्यासों के निकट अधिक पाते हैं। इस दृष्टि से जैनेन्द्र प्रगतिशीलता को नहीं व्यक्त कर सके हैं। हाँ इतना अवश्य है कि प्रारम्भ का लेखक यदि सनातन धर्म पर अटूट आस्था रखता था तो जैनेन्द्र मनोविज्ञान और अध्यात्म पर आस्था रखते दीखते हैं। लेकिन मनोविज्ञान और अध्यात्म के इस आवरण के पीछे के संस्कार तथा मानसिक बनावट में कोई बुनियादी परिवर्तन दृष्टिगत नहीं होता। इस दृष्टि से जैनेन्द्र समय के साथ नहीं चल पाते बल्कि समय को पीछे खींच ले जाने में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देते हैं।

इलाचन्द्र जोशी के नारी-पात्रों में यद्यपि दोनों संस्कारों की नारियाँ मिलती हैं—पुराने संस्कारों की भी और नये संस्कारों की भी, लेकिन आधिक्य नये संस्कारों वाली नारियों का ही है। पुराने संस्कारों वाली नारियाँ बहुधा पुरुष के अहं, अत्याचार तथा शोषण की वेदी पर अपने को बलिदान कर देती हैं, लेकिन नये संस्कारों वाली नारियाँ पुरुष वर्ग के अत्याचार तथा शोषण पर कठोर प्रहार करती हैं। क्रमशः लेखक की प्रगति के साथ-साथ इन विद्रोही नारियों की संख्या में भी वृद्धि होती गई है। 'जिप्सी' तक आते-आते उनकी नारी मानवीय स्वाभाविकता को छोड़कर पुरुष पूँजीवादी समाज तथा शोषण के विरुद्ध विद्रोहिणी बन जाती है।

'सन्यासी' की जयन्ती तथा 'पर्दे की रानी' की शीला पुराने संस्कारों का प्रतिनिधित्व करती हैं, जो पति के अत्याचारों से तंग आकर आत्महत्या करती हैं। लेकिन 'सन्यासी' की शांति तथा 'प्रेत और छाया' की मंजरी पुरुषों के इन अत्याचारों से मुक्त होकर अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। शान्ति इस प्रकार आश्रम में शरण लेकर अध्यापिका का कार्य करती है और मंजरी मेडिकल डाक्टर बनकर स्वयं अपने अस्पताल का संचालन करती है। मंजरी अपने धोखेबाज प्रेमी पारसनाथ से कहती है—'इसके अलावा तुम उसी सनातन पुरुष-समाज के नवीन प्रतिनिधि हो, जिसने युगों से नारी जाति को छल से ठगकर, बल से दबाकर, विनय से बहका कर और करुणा से गलाकर उसे हाड़ मांस की बनी निर्जीव पुतली का रूप देने में कोई बात उठा नहीं रखी है। पर याद रखो, विश्वव्यापी क्रान्ति के इस युग में आततायी और कामाचारी पुरुष जाति की सत्ता अब निश्चित रूप से मूलतः ढहने को है। और युगों से दलित नारी जाति आज तक अपनी छायात्मकता के भीतर भी शक्ति का जो महाबीज सुरक्षित रखे हुए थी, उसके विस्फोट को दबाने की समर्थता अब ब्रह्मा में भी नहीं रह गई है।'[2]

---

१. 'कल्याणी' : तीसरा संस्करण, १९५३, पृ० ६३

२. 'प्रेत और छाया' : दूसरा संस्करण, १९४३, पृ० ४१८

और सचमुच इस उपन्यास के अन्त में नारी जागरण जिस व्यापक रूप में प्रारम्भ होता है, उसे रोक पाना किसी भी समाज के लिए सम्भव नहीं । इस नारी जागरण में यहाँ तक कि वेश्याएँ भी देश-सेवा के कार्य में अपना सहयोग प्रदान करती हैं ।

जोशी जी भावी समाज का नेतृत्व स्त्रियों के हाथों में जाने का संकेत व्यक्त करते हैं । 'निर्वासित' उपन्यास में शारदा तथा प्रतिभा व्यभिचारी तथा शोषक ज़मींदार ठाकुर लक्ष्मीनारायण के विरुद्ध हिंसक क्रांति का नेतृत्व करती हैं । ज़मींदार आग की लपटों में मृत्यु को प्राप्त होता है । शारदा को इस बात का पूरा यकीन है कि भविष्य में शोषण के विरुद्ध मज़दूर-किसान-वर्ग तथा कमजोर देशों की जो भी क्रांति होगी, उसमें नारी का सहयोग बड़े पैमाने पर अपेक्षित और अनिवार्य होगा, क्योंकि उसे भी पुरष के चंगुल से मुक्त होना है । सम्भवत: इसीलिए लेखक के क्रान्तिकारी विचारों का प्रतिनिधित्व शारदा करती है—एक नारी पात्र ।

'मुक्तिपथ' उपन्यास की सुनन्दा विधवा राजीव नामक व्यक्ति से प्रेम तथा परिणामस्वरूप विवाह करना चाहती है, लेकिन उसमें चारित्रिक दृढ़ता का अभाव है । शिक्षित प्रमिला आधुनिक जागरूक नारी है, जो उसे इस कार्य में प्रोत्साहित करती है—एक बार दृढ़ निश्चय करके पूर्ण विश्वास के साथ खड़ी हो जाओ, देखोगी तुम्हारा पथ रोकने वाला समस्त विश्व में एक भी नहीं है ।"[1] और अन्त में सुनन्दा लेखक के क्रान्तिकारी तथा कर्मठ चरित्र राजीव के महान् सपनों को साकार करती है और क्रान्ति के मार्ग में उसका सहयोग करती है । साथ ही सुनन्दा नारी-स्वातन्त्र्य के लिए समस्त नारियों का एक संगठन आवश्यक बताती है ।[2]

इसी प्रकार 'जिप्सी' की नायिका मनिया जोशी जी की अद्भुत नारी पात्र है, जो समाज के निम्नवर्ग की है, लेकिन क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित होकर पति के आभिजात्य वर्ग का शोषण समाप्त करने के लिए कौशल से पति का धन हड़प लेती है और अन्तत: रंजन को ठुकरा देती है, क्योंकि वह आभिजात्य वर्ग का प्रतिनिधि है ।

जोशी जी का नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण स्वेच्छाचारी पुरुष वर्ग तथा आभिजात्य वर्ग दोनों के शोषण से मुक्ति प्राप्त करके भारतीय नारी को अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करने का है । वह चाहते हैं कि नारी समाज में आगे आयें और उनकी पराधीनता तथा उनका शोषण समाप्त किया जाय । और इस प्रकार नारी के लिए स्वतन्त्र तथा अस्तित्व-सम्पन्न प्राणी के रूप में विकास का मार्ग प्रशस्त हो ।

---

१. 'मुक्तिपथ' : तीसरा संस्करण, १९५६, पृ० १७५

२. 'मुक्तिपथ' : तीसरा संस्करण, १९५६ पृ० ३१२

अज्ञेय जी ने भी अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' में अनेकों नारी चरित्रों की योजना करके तत्सम्बन्धी अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। 'शेखर : एक जीवनी' के नारी-चरित्रों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शशि का चरित्र है। वह लेखक के नारी सम्बन्धी विचारों को भरपूर वहन करती है। लेखक शशि के माध्यम से अपना ही दृष्टिकोण प्रकट करता है। शशि के सम्बन्ध में वह कहता है—"दुख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है, जो उसे दूर करने की कोशिश करता हैं। शुद्धि दूसरे के साथ दुःखी होने में नहीं, दूसरे के स्थान पर दुखी होने में है।"[1] इस आत्मपीड़ा तथा आत्म-वेदना के दर्शन के कारण शशि जीवन से तटस्थ हो जाती है, वह प्रेम शेखर से करती है लेकिन उसका विवाह रामेश्वर नामक व्यक्ति से होता है और वह विरोध मात्र इसलिए नहीं कर पाती कि इससे उसकी माँ को कष्ट होगा। अतः वह सोचती है, वह स्वयं ही क्यों न कष्ट भोग ले।[2] फलतः त्रिकोण प्रेम की स्थिति यहाँ भी तैयार हो जाती है और फिर सारे परिणाम अनुमान के धरातल पर वही होते हैं, जो अन्यत्र हुए हैं, अन्तर केवल यह है कि यहाँ संघर्ष के उपरान्त विजय प्रेम की होती है और शशि अंततः अपने पति से पिट कर घायल दशा में शेखर के पास पहुँचती है और इस प्रकार उसकी दुःखद मृत्यु हो जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शशि के मृत्यु के लिए जिम्मेवार स्वयं शेखर है, उसका भाई जो पुरुष वर्ग का प्रतिनिधि है। आत्महत्या की धमकी देकर वह शशि की करुणा उकसाता है और उसे रात भर अपने कमरे में रोक लेता है, जिसके कारण पति-पत्नी में संघर्ष छिड़ता है। लेखक शेखर के इस स्वेच्छाचारी चरित्र पर तर्क का आवरण डालना चाहता है कि यदि शशि पति-गृह छोड़कर उसके पास न आती तो वह लेखक न बन पाता। शशि की मृत्यु के पश्चात् शेखर को—"सहसा ज्ञान आया—वह ठिठका रह गया—स्तब्ध, किसी अति मानवी अलौकिक परिव्याप्ति के बोध से आप्लावित, किसी अन्तर्भव सत्य के उदय का प्रतीक्षमाण।"[3] लेखक यहाँ निश्चय ही नारी को पुरुष-सापेक्ष्य रूप में देखता है। वह पुरुष के लिए कितना त्याग कर सकती है, कितना कष्ट उठा सकती है और कितना समर्पण कर सकती है, इसी पर उसके व्यक्तित्व की महानता तथा ओछापन निर्भर करता है। शशि इस सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण यों स्पष्ट करती है—"स्त्री हमेशा से अपने को मिटाती आयी है।—मेरी भूल हो सकती है, पर मैं इसे अपमान नहीं समझती कि सम्पूर्णता की ओर पुरुष की प्रगति में स्त्री माध्यम है और वही एक माध्यम क्या हुआ,

---

१. 'शेखर : एक जीवनी' : दूसरा भाग, तीसरा संस्करण, १९५२, पृ० ५५
२. 'शेखर : एक जीवनी' : दूसरा भाग, तीसरा संस्करण, १९५२, पृ० २२१
३. 'शेखर : एक जीवनी' : दूसरा भाग, तीसरा संस्करण, १९५२, पृ० २४८

अगर उसके लिए सृजन पुलक उन्माद नहीं, क्लेश और वेदना है ।[1]" आत्मवेदना तथा जीवन के प्रति तटस्थ भाव—यही जैनेन्द्र भी नारी के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण मानते हैं । अतः अज्ञेय में जैनेन्द्र के ही विचारों का विकास देखा जा सकता है, क्योंकि अज्ञेय ने इसमें एक तीसरी वस्तु मृत्यु-दर्शन की बात भी जोड़ी है ।

भगवतीचरण वर्मा भी अपने उपन्यासों के माध्यम से नारी का परम्परित तथा सनातनी रूप ही प्रस्तुत करते हैं—पति परायण और अस्तित्त्वहीन । 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की राजेश्वरी, महालक्ष्मी तथा अंग्रेज युवती हिल्डा सब पति की छाया मात्र हैं । राजेश्वरी में देश-प्रेम तथा उदात्तता की भावना भी पति के कारण ही आती है । देश एवं राजनीति की चेतना के कारण नहीं । इसीलिए वह पति को देश से विमुख करके घर की ओर लगाना चाहती है । फिर भी पति का साथ देकर वह अपने पतिपरायण तथा उदात्त चरित्र से अपने श्वसुर रामनाथ को लज्जित कर देती है—"जब वे आप द्वारा त्याज्य हैं तब भला मैं कैसे आपकी हो सकती हूँ या आपके साथ चल सकती हूँ । जिस घर में मेरे स्वामी का अपमान और निरादर हो वहाँ मैं आदर पाऊँ, वहाँ मैं सुख से रहूँ, यह मेरे लिए लज्जा की बात होगी ।"[2] यही राजेश्वरी आगे चलकर पति का साथ देने के लिए कांग्रेस-आन्दोलन में भाग लेती है और जुलूसों में भी जाती है । वैसे पति परायणता तथा पति में भक्ति स्त्री के लिए एक स्वस्थ स्थिति है, लेकिन लेखक यहाँ राजेश्वरी के चरित्र को उदात्त तथा गौरवपूर्ण बनाने के उद्देश्य से मनमाने उपकरणों का प्रयोग करता है । और 'साँप भी मरे और लाठी भी न टूटे' के फार्मूले के अनुसार नारी-चरित्रों में देश-प्रेम तथा सामाजिकता के गुणों का विकास भी दिखलाता है और इन सबके माध्यम से पूर्ति होती है पति-भक्ति की । सचमुच लेखक का कौशल प्रशंसनीय है, लेकिन अस्वाभाविक भी है । अन्यथा ये दोनों स्थितियाँ एक साथ सम्भव नहीं । स्त्री के सामाजिक तथा बाह्य जीवन व्यतीत करने पर पति-भक्ति का आदर्श बहुत कुछ शिथिल पड़ जाता है जो संघर्ष की पृष्ठभूमि तैयार करता है । लेकिन यहाँ यह स्वाभाविक प्रक्रिया नहीं घटित होती । इस प्रकार राजेश्वरी का चरित्र कुल मिलाकर परम्परित भारतीय नारी का ही चरित्र है, जो पति को परमेश्वर मानती है । वह श्यामनाथ से कहती है—"जो कुछ कर सकते हैं, वह वे कर सकते हैं, जो कृष्ण मन्दिर में हैं, एक उन्हीं की बात मैं मान सकती हूँ ।"[3] इसके अतिरिक्त महालक्ष्मी भी उपन्यास की सनातनी नारी का ही प्रतिनिधित्व करती है । वह पति द्वारा विलायती

---

१. 'शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग, तीसरा संस्करण, १९५२, पृ० २१५

२. 'टेढ़-मेढ़े रास्ते' तीसरा संस्करण, १९४९, पृ० १४६

३. 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' : तीसरा संस्करण, १९४९, पृ० १७०

मेम से दूसरा विवाह कर लिए जाने पर मात्र पति की सेविका बनी रहने की अनुमति के लिए आग्रह करती है। महालक्ष्मी का पति उमानाथ लेखक का सबसे अधिक पतित एवं खलनायक चरित्र है। वह विलायत से मेम लाता है और उससे अपनी दूसरी शादी रचाता है, जिसका विरोध करना तो दूर रहा, महालक्ष्मी उसका सहर्ष समर्थन करती है और अपने लिए केवल पति की सेवा के अधिकार के लिए पति के सामने गिड़गिड़ाती है—"मुझे उसमें सुख है, जिसमें आपको सुख है। आप सुखी रहें, आप अच्छे रहें, आप हँसें बोलें। आप अपने घर में रहें—मैं तो आपकी दासी हूँ। आप उन्हें बुला लें। जब वह पूछें कि मैं कौन हूँ, तब आप कह दें कि मैं नौकरानी हूँ और मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मैं उनकी सेवा करूँगी, उनकी पूजा करूँगी।" यह कहते-कहते महालक्ष्मी ने उमानाथ के पैर पकड़ लिए।"[1]

तात्पर्य यह कि लेखक का नारी-विषयक दृष्टिकोण इतना पिछड़ा हुआ है कि वह सुधार आन्दोलनों से अप्रभावित रहकर बहु विवाह जैसी कुप्रथाओं को प्रोत्साहन प्रदान करता है और इस प्रकार पुरुष तथा समाज द्वारा नारी के शोषण का समर्थन करता दीखता है। लेखक के अनुसार नारी अभी भी, इस बीसवीं शताब्दी में भी पुरुष के अधीन ही है और उसका कोई अपना व्यक्तित्व नहीं है। वस्तुतः लेखक का यह निष्कर्ष स्वस्थ सामाजिकता की उपज नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नारी वस्तुतः अब इतनी असहाय नहीं रही है। वह बदले हुए नये परिवेश में उच्च शिक्षा लेकर पुरुषों के मुकाबले समाज में भी पदार्पण करने लगी हैं और प्रत्येक कार्य में वह पुरुष को कंधे से कंधे भिड़ाकर सहयोग देने लगी है। फिर भी लेखक की नजर में अभी नारी सम्बन्धी वही पुराने जर्जर आदर्श घूमते हैं, तो यह तो लेखक का दृष्टिकोण है और उसका रूढ़िवादी संस्कार है, जो उसे प्रगतिशील सामाजिक सन्दर्भों के साथ जुड़ने से रोकता रहता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भगवती बाबू अभी इस दृष्टि से काफी पीछे हैं।

यशपाल जी के नारी-चरित्रों में स्त्री-स्वातन्त्र्य का संघर्ष अपेक्षाकृत अधिक तीव्र देखा जा सकता है। यशपाल जो मार्क्सवादी लेखक होने के नाते यद्यपि सर्वहारा वर्ग के चरित्रों को ही अधिक लेते हैं लेकिन चरित्रों के चुनाव में उनका यह आदर्श कायम नहीं रह सका है। उनके उपन्यासों की नारियाँ प्रायः अभिजात्यवर्ग तथा मध्यवर्ग की हैं। इनमें से अधिकांश तो कालेज की छात्राएँ हैं, जो राजनीतिक चेतना सम्पन्न हैं और साम्यवादी पार्टी का कार्य करती हैं। यशपाल के नारी-चरित्रों के सामने दुहरा संघर्ष है —एक तो उन्हें पुरानी जर्जर रूढ़ियों से मुक्त होना है और दूसरे उन्हें पूँजीवादी शोषण

---

१. 'टेढ़े-मेरे रास्ते' : तीसरा संस्करण, १९४९, पृ० २०८

तथा साम्राज्यवादी शासन को भी समाप्त करना है। इसके लिए ये नारियाँ राजनीतिक संगठनों तथा कार्यक्रमों में खुलकर भाग लेती हैं। लेकिन 'दादा कामरेड' की शैल बाला के सम्मुख राजनीतिक समस्याओं से अधिक महत्त्वपूर्ण समाज की काम सम्बन्धी नैतिक समस्या है। वह समाज के परम्परित नैतिक मूल्यों से विद्रोह करती है समाज में नई नैतिकता की स्थापना करना चाहती है। दूसरी तरफ इसी उपन्यास की यशोदा भारतीय नारी की मर्यादा तथा उसके सनातनी अधिकारों के खोखलेपन को व्यक्त करती हुई उसके सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकारों की माँग करती है। वह शैल तथा अन्य स्त्रियों के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेती हैं, लेकिन उसका मध्यवर्गीय तथा परम्परागत रूढ़िवादी पति इसे समाज की नैतिक मर्यादा के विरुद्ध समझता है। उसके अनुसार सार्वजनिक जीवन में पत्नी का कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं। वह एक मात्र गृहिणी है और उसे पति के प्रति समर्पित होना चाहिए। लेकिन यशोदा किसी भी भाँति पीछे हटने को तैयार नहीं है। उसके आत्मविश्वास के सामने पति का अहम् टूटकर बिखर जाता है—"घर में पैर रखने पर सभा-सोसायटी और जुलूस में शामिल होने वाली यशोदा को अपने सुख की सामग्री समझ उसे पुचकारने की हिम्मत न पड़ती। उन्हें जान पड़ता कि अब वे मालिक न रहकर एक साधारण और मामूली व्यक्ति रह गये हैं।"[1] लेखक का आग्रह स्पष्टतया यह है कि पति-पत्नी में जो शासक तथा शासित का सम्बन्ध, जो परम्परा से चला आ रहा है, उसे समाप्त करने के लिए पत्नियों का सार्वजनिक जीवन में भाग लेना आवश्यक है।

अपने 'देशद्रोही' उपन्यास में यशपाल जी स्त्रियों के लिए आर्थिक स्वतन्त्रता आवश्यक समझते हैं—कम-से-कम स्त्री स्वातन्त्र्य के लिए तो यह आवश्यक है ही। संकीर्ण मनोवृत्ति से त्रस्त चन्दा के सामने डॉ० खन्ना भारतीय नारी की आर्थिक पराधीनता, फलतः निरीहता का प्रश्न उठाता है और यह स्पष्ट करता है कि स्त्री जब तक आर्थिक दृष्टि से अपने पैरों पर खड़ी नहीं हो सकती, वह स्वतन्त्र नहीं हो सकेगी।—'जब तक उसे जीवन के साधन जुटाने का स्वतन्त्र अवसर और अधिकार नहीं, उसका प्रेम और आचार सब पुरुष का खिलौना है। तुमने अपने-आपको बलिदान कर सब सहा, अब उसके प्रति विद्रोह भी करो तो क्या कर सकती हो, जब तक जीवन के संघर्ष में अपने पैरों पर खड़े होने का साधन तुम्हारे पास न हो।'[2] सचमुच दासता से मुक्ति पाने के लिये आर्थिक स्वतन्त्रता नितान्त आवश्यक है। दूसरे लेखक यह भी मानता है कि पराधीनता के कारण ही स्त्रियों का नैतिक चरित्र भ्रष्ट होता है। परा-

---

१. 'दादा कामरेड' : चौथा संस्करण, १९४१, पृ० १२५

२. 'देशद्रोही' : चौथा संस्करण, १९५३, पृ० २९३

धीनता की विवशता में स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो सकता। 'पार्टी कामरेड' की गीता कालेज में पढ़ती है तथा साथ ही साम्यवादी पार्टी की सक्रिय सदस्य भी है। राजनीतिक दलबन्दी के कारण उसके चरित्र पर लांछन लगाया जाता है और उसकी माँ उसका बाहर निकलना रोक देती है, लेकिन वह घर का बंधन तोड़कर भी पार्टी का कार्य करती है।

वस्तुत: आधुनिक भारतीय स्त्रियों के सामने संघर्ष का रूप दुहरा था रूढ़िवादी समाज से संघर्ष तथा साम्राज्यवादी तथा पूँजीवादी व्यवस्था से संघर्ष। गीता इन दोनों तरह के संघर्षों में पूरी तत्परता के साथ भाग लेती है और बहुत कुछ सफल भी होती है। 'मनुष्य के रूप' की मनोरमा तथा सोभा भी इसी तरह की आधुनिक जागरूक नारियाँ है जो अपने अस्तित्व तथा अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा में सतत् प्रयत्नशील रहती हैं। इस प्रकार यशपाल जी का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रगतिशील सामाजिक चेतना से अद्भुत और युगीन प्रगति का द्योतक बनकर व्यक्त हुआ है।

⊙ ⊙ ⊙

अध्याय—५

राजनीतिक एवं आर्थिक चेतना

राष्ट्रीयता तथा राज-भक्ति

प्रायः लोग कहते हैं कि भारत में राष्ट्रीयता का उद्भव ब्रिटिश शासन-व्यवस्था के कारण हुआ—विशेषकर पाश्चात्य विचारकों की तो यह दृढ़ धारणा ही रही है कि भारत में राष्ट्रीयता का विकास अंग्रेज़ी शासन के कारण हुआ। लेकिन यदि ऐसा भी हो तो यह एक संयोग हो सकता है, क्योंकि स्वयं अंग्रेज़ यह कदापि नहीं चाहते थे कि भारतीयों में स्वाभिमान तथा देश-प्रेम की यह भावना जाग्रत हो, क्योंकि स्वाभिमान तथा देश-प्रेम की यह भावना ही भारतीय राष्ट्रीयता की जननी थी, जिसने भारतीयों में व्यापक राष्ट्रीय भावना को जन्म दिया। निश्चय ही राष्ट्रीय भावना के इस व्यापक प्रचार से अंग्रेज़ों को ही सबसे अधिक खतरा था। इसलिए अंग्रेज़ सरकार से अनजाने में भले ही राष्ट्रीयता के विकास में सहायता मिली हो, लेकिन उसने जान-बूझकर कोई भी ऐसा कार्य नहीं किया, जिससे भारतवर्ष के लोगों में स्वाभिमान एवं जातीय गौरव की भावना तथा राष्ट्रीयता का विकास हो सके। लेकिन यह भी सच है कि अंग्रेज़ी सरकार ने अपने लाभ के लिए जो भी परिस्थितियाँ पैदा कीं, उनसे राष्ट्रीय भावना अपने-आप विकसित होती गई। सुदृढ़ राजकीय प्रणाली नवीन औद्योगिक—आर्थिक व्यवस्था, आधुनिक साधनों का निर्माण आधुनिक शिक्षित मध्यमवर्ग तथा औद्योगिक वर्ग का प्रादुर्भाव आदि कुछ ऐसी ही परिस्थितियाँ थीं, जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता को मजबूत बनाया।

इसके अतिरिक्त ब्रिटिश स्वार्थों के साथ भारतीय सुविधाओं तथा हितों की जो संघर्ष-भूमि थी, उसने भी भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण को प्रश्रय प्रदान किया। वस्तुतः अंग्रेज़ों को यह नहीं मालूम था कि उन्हीं द्वारा निर्मित कुँए में स्वयं ही उन्हें गिरना पड़ जायगा। राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना सिविल सर्विस से अवकाश प्राप्त मि० ह्यूम नामक एक अंग्रेज़ ने की तथा इसकी स्थापना में तत्कालीन वायसराय लार्ड डफ़रिन का समर्थन भी प्राप्त रहा। इसीलिए तत्कालीन भारतीय राजनीतिक, राष्ट्रीयता तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों में ब्रिटिश सरकार को अपना मार्ग-निर्देशक समझते थे। उनका

विश्वास था कि आधुनिक भारत का निर्माण अंग्रेज़ों की सहायता से ही हो सकता है। चूँकि राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व शिक्षित मध्यम वर्ग के हाथों में रहा है तथा भारतीय राष्ट्रीयता अंग्रेज़ी शिक्षा की उपज है, अतः यह भ्रम होना नितान्त स्वाभाविक है कि भारतीय राष्ट्रीयता अंग्रेज़ों से आयात की हुई वस्तु है। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि इसका जन्म भारतीय तथा ब्रिटिश स्वार्थों के परस्पर टकराव से हुआ है। यही कारण है कि स्वार्थों का यह टकराव जैसे-जैसे तीव्र होता गया, भारतीय राष्ट्रीयता भी वैसे-ही-वैसे उग्र होती गई।

विश्व में राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रीय भावना का साहित्य से अत्यन्त प्राचीन तथा गहरा सम्बन्ध रहा है। यूनान के नगर-राज्यों में इसके बीज प्राप्त होते हैं। इसके लिये स्पार्टा, एथेन्स आदि की सभ्यता तथा संस्कृति भी प्रसिद्ध है। राष्ट्रीय भावना की सहायता से एक जनसमूह संगठित होता है। राष्ट्रीयता का प्रश्न हमारी दृष्टि में सामूहिक धरातल पर जीवन को संगठित करने के सन्दर्भ में ही महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य भी है। तात्पर्य यह कि राष्ट्रीयता का सम्बन्ध सामूहिक जीवन, सामूहिक विकास और सामूहिक आत्मसम्मान से है। विश्व-सभ्यता के विकास में कुछ ऐसे अवसर आये हैं, जब राष्ट्रीय भावना ने जोर पकड़ा और प्रत्येक देश अपनी जातिगत विशेषताओं को लेकर साहित्य-सर्जन में प्रवृत्त हुआ। राष्ट्रीय साहित्य सर्जन की यह परम्परा प्रत्येक देशों में देखी जा सकती है।

राष्ट्रीय साहित्य किसी एक ही अर्थ का द्योतक नहीं कहा जा सकता। राष्ट्रीय साहित्य के अन्तर्गत वह समस्त साहित्य लिया जा सकता है, जो किसी देश की जातीय विशेषताओं का परिचायक हो। इस प्रकार के साहित्य में जाति का समस्त रागात्मक स्वरूप, उसके उत्थान-पतन आदि का विवरण आ सकता है। इस दृष्टि से 'रामायण' तथा 'महाभारत' निश्चय ही भारत के राष्ट्रीय साहित्य कहे जा सकते हैं। साथ ही तुलसी के 'मानस' प्रेमचन्द के सम्पूर्ण साहित्य तथा 'प्रसाद' के साहित्य को भी राष्ट्रीय साहित्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इन रचनाओं में देश-प्रेम तथा जातीय गरिमा की अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रकार राष्ट्रीय साहित्य भी बहुत कुछ अंशों में राष्ट्रीयता के विकास में सहायक रहा है और उसके माध्यम से भी भारतीय राष्ट्रीयता व्यापक और सुदृढ़ हुई है।

राष्ट्रीयता तथा राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से जब हम हिन्दी उपन्यास का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि हिन्दी उपन्यास-साहित्य भी राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति में किसी से पीछे नहीं रहा है। उसके अन्तर्गत भी देश-प्रेम तथा जातीय गौरव की भरपूर अभिव्यक्ति हुई है। यद्यपि कविता का भावात्मक आवेश उसने कहीं भी ग्रहण नहीं किया और इसीलिए वह अपने को सस्ता तथा हास्यास्पद बनने से भी

बचा ले गया, लेकिन स्वाभाविक धरातल पर देश-भक्तिपूर्ण रचनाएँ हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हैं। प्रारम्भिक उपन्यासकारों से लेकर आज तक के उपन्यासों में निरन्तर एक राष्ट्रीय सम्मान का स्वर दृष्टिगोचर होता है।

वस्तुत: हिन्दी-उपन्यास का प्रारम्भ गद्य के प्रादुर्भाव के साथ-साथ हुआ, जिसका उल्लेख हम पहले भी कर चुके हैं। साथ ही हमने यह भी कहा है कि गद्य आधुनिक जीवन-दृष्टिकोण को लेकर उत्पन्न हुआ फलत: जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गद्य के प्रादुर्भाव-काल में एक नवीन परिवर्तन की लहर दौड़ गई, जिसने समाज, राजनीति, धर्म तथा संस्कृति सभी क्षेत्रों को आन्दोलित किया। भारतीय सांस्कृतिक सामाजिक इतिहास में यही आन्दोलन 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण' के नाम से जाना जाता है, जिसका उल्लेख हम पहले भी कर चुके हैं। इस आन्दोलन ने राजनीति के क्षेत्र में जो कार्य किया राष्ट्रीयता का बहुत अधिक अंश उसी से संबंधित है। इस आंदोलन ने राष्ट्रीयता को भी एक नया अर्थ दिया और जो राष्ट्रीयता 'भूषण' तथा 'चन्दवरदाई' में संकीर्ण 'राष्ट्र-वाद' का रूप ले चुकी थी, उसे सामूहिक धरातल पर एक संपूर्ण भारतीय राष्ट्र की कल्पना के साथ नया अर्थ प्रदान किया। राष्ट्रीयता के इस नये धरातल पर प्रांतवाद और जातिवाद की सीमाएँ अपना दम तोड़ती हुई दिखलाई पड़ीं और संपूर्ण भारत एक इकाई के रूप में संगठित तथा शक्ति अर्जित करता हुआ नजर आया। हिन्दी उपन्यास का प्रारंभ इसी नई राष्ट्रीयता के वातावरण में हुआ और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उपन्यास-साहित्य की दिलचस्पी प्रारम्भ से ही अपने सम-सामयिक राजनीतिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलनों में जितनी अधिक रही, उतनी सम्भवत: अन्य किसी भी साहित्यिक विधा की नहीं रही। इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास का जन्म ही शासन की व्यवस्था के चित्रण तथा उसकी विसंगतियों पर व्यंग्य-प्रहार के साथ हुआ।

हिन्दी का पहला उपन्यास 'परीक्षागुरु' स्वयं इसका प्रमाण है कि उपन्यासकार अपने समय की राजनीतिक व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं हैं और वे इस व्यवस्था को बदल डालने को उत्सुक हैं। इस प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने अपने देशवासियों के लिए राज-नीतिक अधिकारों की माँग भले ही न की हो लेकिन शासन-सम्बन्धी प्रतिदिन के अपने अनुभवों को वे अभिव्यक्ति देने में कोई कसर नहीं उठा रखते। निश्चय ही इन लेखकों ने आर्थिक परतन्त्रता तथा शोषण का अनुभव किया है, यद्यपि राजनीतिक परतन्त्रता की ओर इनका ध्यान उतना नहीं गया है। इसीलिए ये लेखक ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थन करते हुए भी अंग्रेजों की आर्थिक नीति से अत्यधिक क्षुब्ध हैं। वस्तुत: शासन-व्यवस्था के समर्थन के पीछे यही कारण है कि ये लेखक पुरानी सामंती व्यवस्था की अपेक्षा अंग्रेजी शासन-व्यवस्था में अधिक स्वतंत्रता का अनुभव करते थे। लेकिन शासन-व्यवस्था से सन्तुष्ट होते हुए भी वे आर्थिक व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं थे, क्योंकि इसके

कारण देश का परम्परित व्यापार मिट गया था तथा नवीन आर्थिक ढाँचे में देश का सारा धन विदेश चला जा रहा था। ऐसी दशा में असन्तोष स्वाभाविक था। इन लेखकों पर तत्कालीन राजनीतिक नेताओं में दादा भाई नौरोजी तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के विचारों का प्रभाव देखा जा सकता है। उक्त दोनों विचारक भी लगभग इसी मत के थे तथा उन्होंने ब्रिटिश शासन का तो समर्थन किया, लेकिन उसकी आर्थिक नीति की कटु आलोचनाएँ कीं। प्रारम्भिक युग के उपन्यासकारों ने भी अपने उपन्यासों में प्रायः अपना यही दृष्टिकोण व्यक्त किया।

वस्तुतः प्रारम्भिक युग के इन उपन्यास-लेखकों की चेतना जितनी सामाजिक क्षेत्रों में परिव्याप्त हुई, उतनी राजनीतिक क्षेत्रों में नहीं हुई। युगीन सामाजिक परिस्थितियों तथा समस्याओं पर तो इन लेखकों ने बहुत कुछ लिखा, लेकिन युगीन राजनीतिक गतिविधियों के प्रति उसकी तुलना में ये उतने सजग नहीं रहे। इन लेखकों में सनातन धर्मी तथा रूढ़िवादी उपन्यासकारों की संख्या निश्चय ही अधिक थी, जिनका उद्देश्य अपने उपन्यासों के माध्यम से अपने पाठकों को नैतिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण प्रदान करना था तथा उन्हें परम्परा प्रिय रूढ़िवाद का समर्थक बनाना था। यही कारण है कि लेखकों में अधिकांश लेखक तद्‌युगीन राजनीतिक घटनाओं का अनुभव बहुत कम कर पाये हैं, यद्यपि इनमें कुछ ऐसे अवश्य हैं, जिनमें 'राष्ट्रीयता' तथा 'राजभक्ति' जैसे राजनीतिक महत्त्व के प्रश्नों पर विचार किया गया है। इन प्रश्नों को उन लेखकों ने उठाया है, जिनका सम्बन्ध उनकी आदर्श समाज-संगठन की कल्पना से रहा है। यहाँ हम उन्हीं प्रश्नों पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे, क्योंकि इनके सम्बन्ध में इन उपन्यासकारों ने अपनी एक व्यवस्थित विचारधारा व्यक्त की है।

इस दृष्टि से प्रारम्भिक हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के अध्ययन से दो तथ्य बिलकुल स्पष्ट होकर सामने आते हैं—एक, लेखकों का राज्यभक्ति से सम्बन्ध तथा दूसरा, ऐसी राष्ट्रीयता तथा देश-भक्ति का उदय, जो जातीयता तथा अतीत गौरव पर आधारित हो। ये दोनों तथ्य अलग-अलग दीख पड़ने के बावजूद भी बहुत कुछ एक हैं। इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि भारतेन्दु-कालीन लेखकों में इन दोनों तथ्यों की स्थिति लगभग समान रूप में है। इन लेखकों में अधिकांश अंग्रेजी शासन-व्यवस्था को भारतीय नवजागरण की प्रेरणा मानते हैं तो इसके साथ ही वे उसकी कई नीतियों से असंतुष्ट भी हैं। यही कारण है कि अंग्रेजी शासन के प्रति अपनी भक्ति का पर्याप्त प्रदर्शन करने के बावजूद भी ये लेखक पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के सम्बन्ध में कोई उपेक्षा-भाव नहीं व्यक्त करते। इसका कारण सम्भवतः यह था कि अंग्रेजी शासन-व्यवस्था की तुलना में इन्हें प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था अधिक उपयुक्त नहीं लगती थी, लेकिन प्राचीन भारतीय

सभ्यता तथा संस्कृति को ये लेखक अधिक महत्त्वपूर्ण तथा गौरवशाली मानते थे। अतः समय-समय पर इस बात पर ये चिंतित होते हुए भी दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि इस बात का इन्हें दुःख है कि हिन्दुस्तान के लोग प्राचीन भारत के सुनहरे अतीत को भूलते जा रहे हैं और पश्चिम की नकल में बुरी तरह तल्लीन हैं। इसीलिए इन लेखकों ने सदैव यह प्रयत्न जारी रखा कि अंग्रेजों की व्यवस्थित शासन-पद्धति से लाभ उठाकर भारत का नवनिर्माण किया जाय और समाज में पुनः प्राचीन सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना की जाय।

राज्यभक्ति

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रारम्भिक उपन्यासकारों की अन्य प्रवृत्तियों में एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति 'राज्यभक्ति' रही है। कांग्रेस के उदारवादी दल पर भी इस 'राज्यभक्ति' का कोई कम प्रभाव न था। इस 'राज्यभक्ति' की अभिव्यक्ति इस काल के उपन्यासों में पर्याप्त देखी जा सकती है, जिसमें राष्ट्र के अतीत-गौरव के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की गई है। वस्तुतः अतीत-गौरव का यह गान एक ऐसा नारा था जिसके माध्यम से तत्कालीन समाज में राष्ट्रीयता तथा राज्यभक्ति का उचित वातावरण तैयार किया जा सकता था।

अपने 'आदर्श हिन्दू' उपन्यास में पं० लज्जाराम शर्मा ने जो भूमिका दी है, उसमें उनका यह दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है—'इसमें तीर्थयात्रा के व्याज से एक ब्राह्मण कुटुम्ब में सनातन धर्म का दिग्दर्शन, हिन्दूपन का नमूना, आजकल की त्रुटियाँ, राज्यभक्ति का स्वरूप, परमेश्वर की भक्ति का आदर्श और अपने विचारों की बानगी प्रकाशित करने का प्रयत्न किया गया है।'[१] मेहताजी इसी प्रसंग में आगे इतना और जोड़ देते हैं—'परमेश्वर का लाख धन्यवाद है कि उसकी अपार दया से हम भारतवासियों को ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की उदार छाया में निवास करके हजारों वर्षों के अनन्तर सच्चे शान्ति-सुख के अनुभव करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस असाधरण शान्ति और उदारता के जमाने में सरकार से भारतवासियों को जो बोलने और लिखने की अभूतपूर्व स्वतन्त्रता प्राप्त है, उसका सदुपयोग होना ही इस अकिंचन् लेखक को इष्ट है।'[२]

मेहताजी के औपन्यासिक चरित्रों में भी राज्यभक्ति के इस स्वरूप को भली-भाँति देखा जा सकता है। जैसा हमने पहले कहा है, मेहताजी राष्ट्रीय उद्योग-धन्धों

---

१. 'आदर्श हिन्दू' : प्रथम संस्करण, भूमिका भाग, पृ० २

२. 'आदर्श हिन्दू' : प्रथम संस्करण, भूमिका भाग, पृ० ३

की वृद्धि, राष्ट्रीय पैमाने पर कृषि में सुधार आदि के प्रति सचेष्ट हैं और इसके लिए देश में उठने वाले पूँजीपति वर्ग को अपना वैचारिक समर्थन भी प्रदान करते हैं। साथ ही पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति का अपनी प्राचीन तथा जातीय संस्कृति की तुलना में विरोध भी करते हैं। राज्यभक्ति का यह स्वरूप युगीन परिस्थितियों में पनपनेवाली सीमित राष्ट्रीयता की परिधि में भी एक पूर्वगामी कदम ही कहा जा सकता है। इसका कारण मुख्यत: यह है कि तत्कालीन भारत राजनीतिक उथल-पुथल के बीच से गुज़र रहा था। कांग्रेस का उदारवादी दल तथा ब्रिटिश सरकार की न्याय नीति पर आस्था रखने के बावजूद भी उनसे कहीं अधिक राष्ट्रीय विचारों से युक्त था। उग्रदल तथा क्रांतिकारियों की तो बात ही मत पूछिए। मेहताजी इन उग्र तथा क्रान्तिकारी विचारों का विरोध करते हैं। वे अंग्रेज़ों को खदेड़ने के पक्ष में नहीं हैं। उनका दृष्टिकोण है शान्तिपूर्ण ढंग से अपनी माँगें रखते हुए सरकार से जो कुछ भी मिले उसे चुपचाप स्वीकार करते जाना ब्रिटिश सरकार का स्थान उनकी दृष्टि में वही है, जो घर में माता-पिता का होता है। मेहताजी के उपन्यासों में राज्यभक्ति का जो आदर्श स्वरूप मिलता है, उसे हम उनके एक पात्र पं० प्रियानाथ की इन मान्यताओं में प्राप्त कर सकते हैं। पण्डितजी के विषय में मेहताजी लिखते हैं—'राजनीतिक कामों के विषय में वह प्राय: उदासीन से हैं। उनका मत है कि जब इस विषय का आंदोलन करने में सैकड़ों बड़े-बड़े आदमी दत्तचित्त हैं, तब मैं अपना सिर क्यों खपाऊँ? परन्तु जब उनसे इस विषय में कोई जिक्र छेड़ देता है, तब वह कहा करते हैं—'जिन बातों को देने का सरकार ने वादा कर लिया है, अथवा आप जिन पर अपना स्वत्व समझते हैं, उन्हें सरकार से माँगें जब माता-पिता भी बेटे-बेटी को रोने से रोटी देते हैं तब राजा से माँगने में कोई बुराई नहीं है। तुम ज्यों-ज्यों माँगते जाते हो, त्यों-त्यों धीरे-धीरे वह देती भी जाती है। किन्तु काम वही करो जिससे तुम्हारे—'नराणांचनराधिप:'—इस भगद्वाक्य में बट्टा न लगे। भगवान् के इस वचन से जब राजा ईश्वर का स्वरूप है तब उसकी गवर्नमेण्ट शरीर न होने पर भी उसका शरीर है। इसलिए नियमबद्ध आंदोलन करना आवश्यक व अच्छा है, किन्तु जो मुटमर्दी करने वाले हैं, जो उपद्रव करके डराने वाले हैं, अथवा जो मिथ्या स्वार्थ के लिए औरों के प्राण लेने पर उतारू होते हैं, उनके बराबर दुनियाँ में कोई नीच नहीं। वे राजा के कट्टर दुश्मन हैं। सचमुच देश-विद्रोही हैं। वे स्वयं अपनी नाक कटाकर औरों का अपशकुन करते हैं। उनसे अवश्य घृणा करनी चाहिए।'[1]

राज्यभक्ति का यह स्वरूप उस युग के दूसरे महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार पं०

---

१. 'आदर्श हिन्दू' : प्रथम संस्करण, पृ० २४०

किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में भी मिलता है। लेकिन गोस्वामी जी ने मेहताजी की भाँति शैली तथा कथन की स्पष्ट भंगिमा नहीं अपनाई है, बल्कि वे संकेतों तथा उक्तियों के ब्याज से अपनी बात कह ले जाते हैं और ऊपर-ऊपर अंग्रेज़ी शासन की प्रशंसा करते जाते हैं।

इस काल के प्रायः सभी उपन्यासकारों में राज्यभक्ति का यही स्वरूप मिलता है जो सामयिक राजनीतिक परिवर्तनों को ध्यान में रखने पर असंगत और आश्चर्यजनक प्रतीत होता है, क्योंकि इसी काल में अंग्रेज़ों ने बंगाल का विभाजन किया, खुदीराम बोस को फाँसी दी गई और लार्ड कर्ज़न ने खुलकर हिन्दुओं तथा मुसलमानों में साम्प्रदायिक भावना का प्रचार किया। ऐसे काल में भी भारतीय लेखक, विशेषकर यहाँ हमारा मतलब उपन्यासकारों से है, अंग्रेज़ी शासन-व्यवस्था तथा अंग्रेज़ राजा की ही दुहाई देते रहे। बुद्धिजीवी वर्ग की यह राज्यभक्ति तत्कालीन युग में अपनी संगति नहीं बिठा पा रही थी। ऐसा लगता है कि प्रारम्भिक काल का लेखक सत्ता के प्रति वफ़ादार अपने को कहीं अधिक मानता था। दूसरे उसमें सत्ता के विरुद्ध लिखने की साहसिकता भी नहीं थी। यही कारण है कि वे सत्ता की प्रशंसा में ही लगे रहे।

इस राज्यभक्ति के अन्तर्गत प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यासकारों ने राष्ट्रीयता को भी जाग्रत किया। यह राष्ट्रीयता की भावना व्यापक अर्थों में भले ही राष्ट्रीय नहीं रही हो, लेकिन इसने शासक वर्ग से अलग राष्ट्र की सुख-समृद्धि तथा गौरवमय अतीत के आदर्शों के प्रति अपनी आस्था तथा अपना उत्साह व्यक्त किया। दूसरे रूप में यह भावना राष्ट्रीयता की अपेक्षा जातीयता के अधिक निकट थी, क्योंकि इसके अन्तर्गत केवल प्राचीन हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू-संस्कृति पर ही विशेष बल दिया गया। प्रसंगवश इसके अन्तर्गत राष्ट्रीय उद्योग-धन्धों की समृद्धि, कृषि में सुधार तथा अन्य क्षेत्रों में प्रगति की भी जो योजनाएँ प्रस्तुत की गईं, उस पर भी इस जातीय भावना का अस्पष्ट प्रभाव पड़ा। इसमें नये उभरते हुए पूँजीवाद के प्रति आकर्षण था, इसीलिए इसने देशी पूँजीपतियों का समर्थन किया, यद्यपि इन देशी पूँजीपतियों का संघर्ष शासकीय स्वार्थों से था। फिर भी इन प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने इस पक्ष का जो भी स्वरूप अंकित किया, वह पूर्व की राज्यभक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और आकर्षक है।

आधुनिक भारत की सांस्कृतिक चेतना का विश्लेषण करते हुए हम कह आये हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के पुनरोत्थान की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि उसमें अतीत गौरव का महत्त्व आँका जाने लगा था। यह एक प्रकार की राष्ट्र के प्रति प्रेम तथा आदर की प्रतिष्ठा ही थी जो इन सांस्कृतिक आन्दोलनों के माध्यम से स्थापित हो रही थी। आर्य समाज तथा कतिपय अन्य भारतीय सुधार आन्दोलनों के कार्यों ने

तथा विचारों ने भी इस प्रवृत्ति को विकसित करने में पर्याप्त योग दिया। परिणाम-स्वरूप देश में एक ऐसी लहर-सी चली जिसके प्रवाह में सुशिक्षित तबका पश्चिम की सभ्यता तथा संस्कृति को त्यागकर भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति की ओर आकृष्ट हुआ। इस प्रकार युगीन बुद्धिजीवियों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ। अतीत के प्रति इस अनुरागमयी दृष्टि को इस अवधि के लगभग सभी उपन्यास-कारों ने अपनी रचनाओं में स्थान दिया और उसकी सफल अभिव्यक्ति की। आगे हम धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में विचार करते हुए इस विषय का विस्तार करेंगे।

इस काल की राष्ट्रीयता का दूसरा पहलू था देश की आर्थिक स्थिति तथा उससे उत्पन्न गरीबी। अंग्रेज़ों की आर्थिक नीति इस सम्बन्ध में यही रही कि हिन्दुस्तान को जहाँ तक हो सके कंगाल बनाया जाय। इसीलिए यहाँ के देशी उद्योग-धंधों के विकास की ओर सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया। हिन्दी के शुरू के उपन्यासकारों ने इस बात को भी लक्ष्य किया और अपने उपन्यासों में उन्होंने विविध आर्थिक विकास की योजनाएँ भी प्रस्तुत कीं। इन लेखकों ने देशी उद्योग-धन्धे के विकास पर बल दिया, विदेशों में धन न जाने देने की माँग की, और अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था की अव्यवहारिकता तथा उसमें भारतीय परिस्थितियों के अनुसार अपेक्षित परिवर्तनों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। साथ ही राष्ट्रभाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में भी अपना विचार व्यक्त किया। इसके अतिरिक्त इन लेखकों ने ब्रिटिश शासन के निम्नस्तरीय कर्मचारियों के अत्याचारों तथा भ्रष्ट आचरणों, सिफ़ारिशों- घूसखोरी, पुलिस के अत्याचारों आदि के प्रति अपना तीव्र आक्रोश भी व्यक्त किया।

'हिन्दू गृहस्थ' में मेहताजी अपने एक चरित्र हरसहाय से 'बिहंगमपुर' गाँव का आमूल परिवर्तन वर्णित करते हैं। जिस नये उभरने वाले पूँजीपति वर्ग के समर्थन की बात हमने पहले कही है, वह तत्कालीन ब्रिटिश आर्थिक नीतियों के सन्दर्भ में अपना राष्ट्रीय महत्त्व रखती है। हरसहाय ग्रामीण जीवन को एक नये आयाम में परिवर्तित करके वहाँ देशी उद्योग-धंधे तथा कृषि आदि के विकास का श्रीगणेश करता है।[१] इसी प्रकार बाबू ब्रजनन्दनसहाय भी अपने उपन्यास 'आरण्यबाला' में इस तरह की अनेक योजनाएँ प्रस्तुत करते हैं। ब्रजमंजरी तथा मुकुन्द, सेठ ओंकारमल की सम्पत्ति पाते ही उसके उपयोग की सही योजना बनाने में असमर्थ दीखते हैं। लेकिन महात्मा प्रेमानंद-जी उनकी सहायता करते हैं और इस प्रकार महात्माजी के माध्यम से लेखक अपनी आर्थिक योजना सम्बन्धी दृष्टिकोण व्यक्त करता है। महात्मा जी मुकुन्द तथा ब्रजमंजरी से सम्पूर्ण देश में लोगों की आवश्यकता के अनुसार शिक्षा देने की व्यवस्था करने का

---

१. **'हिन्दू गृहस्थ' : प्रथम संस्करण, १९०३, पृ० ६५**

उपदेश देते हैं तथा कहते हैं—'कल काँटे का जहाँ-तहाँ कारखाना खोलो। तुम्हें कपड़ा, लोहा, चमड़ा आदि सब पदार्थ का कारखाना खोलना होगा। ऐसा उपाय करना होगा कि अपने नित्य के व्यवहार के आवश्यक पदार्थों के लिये यहाँ रहने वालों को दूसरों का मुँह न जोहना पड़े। दूसरी बात यह है कि तुम्हारा देश कृषि-प्रधान है, अतएव यथेष्ट धन व्यय कर यहाँ के खेतों को उपजाऊ बनाने का यत्न करो। कृषकों को खेती की सामग्री आधुनिक रीति से तैयार कराकर दो। ऐसा प्रबन्ध करो कि अपने लिए अपने नगर-निवासियों के लिए खाने-पीने की पूरी सामग्री रखकर तब किसान दूसरों के हाथ अन्न बेचा करें। हर स्थान में नहरें खुदवाओ, पुल बनवाओ, गाय-बैलों के चराने के लिए तृण-पल्लवों से भरे हुए मैदानों को तैयार कराओ। इसके अतिरिक्त ऐसा प्रबन्ध करो कि देश में अरण्य-वन यथेष्ट रहें, क्योंकि जंगलों के साथ वृष्टि का बहुत सम्बन्ध है। अरण्यभूमि में वृष्टि का अभाव नहीं रहता और वृष्टि का अभाव हुए बिना फसल नुकसान नहीं होती। इसके साथ ही साथ दूसरे देशों में से वाणिज्य-व्यापार का पूरा-पूरा प्रबन्ध तुम्हें करना होगा।'[1]

इन समस्त योजनाओं के माध्यम से लेखकों की तत्कालीन विचारधाराएँ बहुत हद तक स्पष्ट हो जाती हैं। इन योजनाओं की प्रस्तुति इन लेखकों ने इसलिए भी आवश्यक समझा, क्योंकि अंग्रेज़ी राज्य को देश के नवजागरण का सूचक मानते हुए भी, ये उसकी अर्थ नीति से सन्तुष्ट नहीं थे। देश का धन विदेश जाते देखकर इन्हें दुःख होता था। भारतेन्दु के 'भारत दुर्दशा, वर्णन का प्रभाव इन लेखकों पर इस दृष्टि से स्पष्ट इंगित किया जा सकता है। 'हिन्दू गृहस्थ' उपन्यास में मेहता लज्जाराम शर्मा एक चरित्र को दियासलाई के कारखाने के लिए पैसा इकट्ठा करने के उद्देश्य से विभिन्न राजनीतिक सभाओं को पत्र लिखते हुए दिखाते हैं। इन पत्रों का जो उत्तर राजनीतिक सभाओं की ओर से प्राप्त होता है, वह लेखक के विचारों को भलीभाँति स्पष्ट कर देता है। एक ऐसा ही उत्तर हम उद्धृत करके अपनी बात स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे—'महाशय, आपने भारतवर्ष में दियासलाई का जो कारखाना खोलना विचारा उसको हमारी सभा अनुमोदन करती है। आप वास्तव में देश हितैषी हैं और आपका कार्य वस्तुतः भारतवर्ष का हित करने वाला है। इस कार्य से केवल इस देश के दीन लोगों का ही पेट न भरेगा, किन्तु भारतवर्ष से विदेश को प्रति वर्ष जाने वाला हज़ारों रुपया भी बच जायेगा।'[2] इसके अतिरिक्त 'बिगड़े का सुधार' अर्थात् 'सती सुखदेई' की नायिका भी अपने पति की एक ऐसी ही योजना पर इसी आधार को लेकर अपनी

---

१. 'अरण्यबाला' : द्वितीय संस्करण, १९२१, पृ० ३२५-३२६

२. 'हिन्दू गृहस्थ' : प्रथम संस्करण, १९०३, पृ० ९८

सहमति देती है कि विदेशी मालों की बिक्री से देश का धन जो बड़े पैमाने पर विदेश जा रहा है, देशी वस्तुओं के निर्माण से वह नहीं जा सकेगा।[1] स्पष्ट है कि इन उपन्यासकारों में गांधी जी के विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार आन्दोलन का बोज मिलता है।

भाषा तथा शिक्षा-पद्धति

भाषा का प्रश्न भी राष्ट्रीयता से ही सम्बन्धित है और इसके सम्बन्ध में भी उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में विचार किया है। ये लेखक अपनी भाषा का महत्त्व स्वीकार करते हैं तथा शिक्षा के लिए अपनी राष्ट्रभाषा को ही अधिक उपयुक्त बताते हैं। बाबू ब्रजनन्दनसहाय अपने उपन्यास 'अरण्यबाला' में इस सम्बन्ध में लिखते हैं—'इस सम्बन्ध में एक बात कहने को भूल गया कि शिक्षा तुम्हें अपने देश की भाषा में देनी होगी। किन्तु लोगों की विदेशीय विविध भाषाओं को सीखना तो दूसरी बात है। किन्तु शिक्षा का माध्यम तुम्हें जगन्मानगुणकारी नागरी को ही रखना पड़ेगा।[2] आगे मुकुन्द के यह पूछने पर कि इस भाषा में विज्ञान तथा तकनीकी और शिल्पकला सम्बन्धी पुस्तकें तो हैं ही नहीं, महात्मा प्रेमानन्द कहते हैं—"इसका तुम्हें उचित प्रबन्ध करना होगा और विविध विषयों के वक्ताओं से तुम्हें सहायता लेनी होगी। बड़े-बड़े देशीय तथा विदेशीय विद्वानों से देवभाषा हिन्दी में सब विषयों की पुस्तकें लिखवानी होंगी। यदि स्वतन्त्र रचना न हो सके तो अच्छे-अच्छे विद्वानों की लिखी हुई अपर भाषाओं की पुस्तकों का अनुवाद करके अपने यहाँ की भाषा में कराकर इस अभाव को दूर करना होगा।"[3]

इसके साथ ही इन लेखकों के सम्मुख शिक्षा का प्रश्न भी मौजूद था जिसके सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्तर पर इन लेखकों ने विचार किया। इन उपन्यासकारों ने अंग्रेज़ी पद्धति की शिक्षा को अव्यावहारिक तथा केवल पुस्तकों तक ही सीमित कहा[4] और व्यावहारिक तथा कामकाजी शिक्षा पर जोर दिया। उपन्यासकारों का अपना मनतव्य यह था कि लोगों को केवल किताबी ज्ञान तक ही सीमित न रखा जाय बल्कि उन्हें व्यावहारिक जीवन की विविधता तथा उसके कार्यों से भी परिचित कराया जाय। इसके लिए इन लोगों ने घरेलू काम-काज की शिक्षा पर जोर दिया तथा

---

१. 'बिगड़े का सुधार' अर्थात् 'सती सुखदेई' : प्रथम संस्करण, १९०७, पृ० ५०-५५
२. 'अरण्यबाला' : द्वितीय संस्करण, १९२१, पृ० ३२७
३. 'अरण्यबाला' : द्वितीय संस्करण, १९२१, पृ० ३२८
४. 'हिन्दू गृहस्थ' : प्रथम संस्करण, १९०३, पृ० १८

शिक्षा के अन्तर्गत बहुत सारे पुस्तकेत्तर विषयों को भी शामिल करने की सलाह दी।[1] तात्पर्य यह कि ये लेखक शिक्षा को व्यापक बनाने के पक्ष में थे और चाहते थे कि शिक्षा व्यावहारिक जीवन की ज़रूरतों के अनुसार दी जाय।

शिक्षित बेकार लोग

शिक्षा के साथ ही शिक्षित बेकार लोगों की समस्या भी थी जो उपन्यासकारों का ध्यान आकृष्ट किये बगैर नहीं रह सकी। बेकारी की समस्या कोई आज ही नहीं उत्पन्न हुई है, इसकी स्थिति विवेच्यकाल यानी कि अंग्रेज़ी शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत भी थी। मेहताजी लिखते हैं—"वहाँ के हाईस्कूल में एक मास्टरी खाली थी। इस विज्ञापन के प्रकाशित होते ही हेडमास्टर के पास अर्जियों का ढेर लग गया। बड़ी शिफ़ारिशें आईं। मीयाद पूरी होने पर जब हेडमास्टर साहब ने उम्मीदवारों की गिनती की तो २०) की नौकरी के लिए तीन एम० ए०, पन्द्रह बी० ए० और छप्पन इन्ट्रेन्स निकले।... उस जगह पर एक साहब के लड़के के खानसामा का लड़का जो इन्ट्रेन्स फेल था, भर्ती हुआ। साहब ने उसके लिए बहुत कोशिश की थी। बस इसी कारण से उसे नौकरी मिल गई।"[2] वस्तुतः बेकारी का यह रूप तभी से भारतीय राजनीति का एक आवश्यक अंग बना हुआ है, जिसकी भयंकरता घटने की बजाय दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। अंग्रेज़ी शिक्षा प्रणाली ने हमें एक तरफ़ ज्ञान विज्ञान की प्रगतिशील चेतना से सम्पन्न किया है तो दूसरी तरफ़ व्यावहारिक तथा काम-काजी दुनिया में हमें पंगु भी बनाया है। पढ़े-लिखे लोगों के लिए मास्टरी, क्लर्की आदि जैसे कुछ सीमित धंधे के अतिरिक्त अन्य धंधों का अभाव ही रहा है। स्वयं अंग्रेज़ी शिक्षा पद्धति के संस्थापक मैकाले महोदय भी यही चाहते थे कि भारत में राज्य चलाने के लिए कुछ भारतीय क्लर्कों को पढ़ा-लिखा कर तैयार किया जाय जो अंग्रेज़ी शासन के दलाल बन सकें और शासन को मजबूत तथा सुदृढ़ बनाने में मदद दे सकें।

स्पष्ट है कि तत्कालीन लेखक भाषा, शिक्षा-पद्धति आदि के साथ-ही-साथ बेकारी की समस्या तथा शिक्षा की व्यावहारिकता पर भी अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं और इस सम्बन्ध में देशी तथा घरेलू काम-धंधों की शिक्षा की सिफ़ारिश करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनका कार्य राष्ट्रीयता से ही सम्बन्धित है और इन सबके माध्यम से वे व्यापक राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य का ही निर्माण करते हैं।

लेकिन राष्ट्रीयता का एक और व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण पहलू गाँधीजी के

---

१. 'हिन्दू गृहस्थ' : प्रथम संस्करण, १९०३, पृ० १८-१९

२. 'हिन्दू गृहस्थ' : प्रथम संस्करण, १९०३, पृ० ७

कार्यक्रमों के माध्यम से भारतीय राजनीतिक चेतना में उत्पन्न हुआ जिसके अन्तर्गत गाँधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत किए गए। सत्याग्रह, खादी, चर्खा, अछूतोद्धार, मद्य-निषेध, विदेशी मालों का बहिष्कार आदि गाँधीजी के ऐसे ही कार्यक्रम थे, जिनसे भारतीय राष्ट्रीयता और अधिक पुष्ट तथा मजबूत बनी। सत्याग्रह आन्दोलन से राष्ट्रीय सन्दर्भों में सत्य पर अडिग रूप से अड़े रहने की प्रेरणा मिली तो खादी-चर्खा आन्दोलन ने लघु तथा कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन प्रदान किया। गाँधी के प्रभाव में आकर सम्पूर्ण देश ने खादी वस्त्र धारण कर लिया और इस प्रकार विदेशी वस्त्रों का स्वतः बहिष्कार हो गया। खादी-चर्खा आन्दोलन गाँधी द्वारा उठाया गया सचमुच एक क्रान्तिकारी कदम सिद्ध हुआ जिसमें बेकारी समस्या तथा देशीय धन-रक्षा जैसी महत्त्वपूर्ण समस्याओं का समाधान निहित था। अछूतोद्धार का उल्लेख हम पहले 'समाज व्यवस्था' पर विचार करते समय कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त मद्य-निषेध आन्दोलन ने भी राष्ट्रीय स्तर पर अपना प्रभाव उत्पन्न किया जिससे भारतीय राष्ट्रीय एकता की वृद्धि हुई। आगे हम इन आन्दोलनों पर प्रसंगानुसार उपन्यासों के सन्दर्भ में विचार करेंगे, फिर भी हम यहाँ इतना अवश्य बता देना उचित समझते हैं कि हिन्दी उपन्यासकारों ने गाँधीजी के इन रचनात्मक कार्यक्रमों को अपना विषय बनाया और पूरी तन्मयता तथा विश्वसनीयता के साथ उन्हें अपने उपन्यासों में घटित होता हुआ दिखलाया।

ब्रिटिश शासन-नीति

उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त और बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ राजनीतिक दृष्टि से कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का काल रहा। विशेषकर अंग्रेज़ों की शासन-नीति में बहुत कुछ परिवर्तन इस काल में देखने को मिलता है। अब तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी केवल व्यापार के उद्देश्य तक ही सीमित नहीं रही थी, बल्कि उसका स्वरूप शासन-सत्ता के रूप में १८३३ ई० के आस-पास ही स्पष्ट हो चुका था। धर्म, राष्ट्र, जाति तथा वर्ण-भेद के बिना प्रत्येक व्यक्ति कम्पनी की नौकरी प्राप्त कर सकता था। कम्पनी का शासन चलाने के लिए अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त भारतीयों की आवश्यकता थी। अतः पहली बार इसी समय सरकारी सहायता पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार के लिए प्रदान की गई तथा शिक्षा-सुधार कानून बनाए गए।

इसके पश्चात् १८५७ में विद्रोह हुआ जिसके पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी से इंग्लैण्ड की सरकार ने राजनीतिक सत्ता अपने हाथों में ले ली और महारानी विक्टोरिया उसकी प्रतिनिधि के रूप में यहाँ साम्राज्ञी बनकर आयीं। यहाँ से ब्रिटिश सरकार के रूप में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का परिवर्तन होता है और कम्पनी का इतिहास एक

प्रकार से समाप्त हो जाता है। आगे का इतिहास इंग्लैण्ड की सरकार का इतिहास के साथ जुड़ा हुआ है और भारतीय प्रशासनिक नीतियों पर इंग्लैण्ड की प्रशासनिक नीतियों का तथा सरकारी मनोवृत्तियों का प्रभाव देखा जा सकता है।

यद्यपि महारानी विक्टोरिया ने शासन सँभालते ही अपनी उदारवादी राज्य-घोषणा द्वारा भारतीय जनता को आश्वासन प्रदान किया, लेकिन यह घोषणा व्यावहारिक नीतियों में कोई परिवर्तन नहीं ला सकी। महारानी के शासन-काल में देशी राज्यों को संरक्षण देने की नीति अपनाई गई, जिससे समस्त भारत का एकीकरण नहीं हो सका। ब्रिटिश सरकार अब राजतंत्र का समर्थन करने लगी थी जिसमें देशी राजाओं से महत्त्वपूर्ण सहायता ली जा सकती थी। फलतः भारत अंग्रेज़ों के लिए एक स्वतन्त्र बाजार की हैसियत खोकर एक अधिकृत उपनिवेश बन गया। देश की आर्थिक नीति अब ब्रिटिश सरकार के हाथ में चली गई, अतः भारत का शोषण करने की नीति का अधिकाधिक विस्तार किया गया। साथ ही भारतीयों को उच्च नौकरियों से भी वंचित रखा गया। लार्ड रिपन के समय में 'इलबर्ड-बिल' का भी यूरोपीयनों ने खुलकर विरोध किया, क्योंकि उसमें भारतीय जिला जजों को यह अधिकार दिया गया था कि वे भारतीयों के साथ-ही-साथ यूरोपीयनों को भी न्याय तथा सज़ा दे सकें। आश्चर्य तो इस बात का है कि सब कुछ समझती हुई भी ब्रिटेन की सरकार ने यूरोपीयनों की इस माँग को स्वीकृति दे दी और यह बिल अन्ततः समाप्त कर दिया। के० एम० पनिकर ने अपनी पुस्तक 'एशिया एण्ड वेस्टर्न डोमीनेन्स' में चाय बगानों के मालिकों के शोषण का व्योरा प्रस्तुत किया है, जिसमें चार व्यक्तियों के एक यूरोपीयन परिवार के लिए एक सौ दश भारतीय नौकर-चाकरों की व्यवस्था होने का उल्लेख किया गया है।[1] स्पष्ट है कि अंग्रेज़ों के इस शोषण की कोई सीमा नहीं थी और न ही इसका कोई अंत ही था।

इसके पश्चात् लार्ड कर्ज़न के काल में ब्रिटिश शासन नीति और उग्र हो गई और १६०४ ई० में स्वीकृत उसके विश्वविद्यालय ऐक्ट से तो विश्वविद्यालयों की रही-सही स्वतन्त्रता भी जाती रही। इसके अलावे कर्ज़न ने बंगाल को विभाजित करके हिन्दू-मुसलमान की साम्प्रदायिकता का पहली बार स्वागत तथा श्रीगणेश किया। इस बंगभंग नीति के दो स्पष्ट उद्देश्य थे—एक बंगाल को प्रशासनिक दृष्टि से कमज़ोर बनाना तथा दूसरा हिन्दू-मुसलमान का आधार ग्रहण करके दोनों धर्मों के लोगों में एक-दूसरे के प्रति सदा के लिए वैमनस्य पैदा करना। उपनिवेशों में साम्राज्यवादी नीति का मूल ही यह रहा है कि शासित जातियों में फूट डालकर राज्य किया जाय। कर्ज़न

---

१. 'के० एम० पनिकर' : 'एशिया एण्ड वेस्टर्न डोमीनेन्स'—१६५३, पृ० ४

के बाद मिण्टो साहब ने इस सामुदायिक भवनों को हमेशा के लिए वैधानिक स्वीकृति प्रदान कर दी। यद्यपि मार्लो तथा मिण्टो के सुधार ऐक्ट भी प्रस्तुत किए गए लेकिन उनमें कोई सन्तोषजनक व्यस्था नहीं की गई थी। वस्तुत: ये सुधार १८९२ में मिली सुविधाओं से भी पीछे था। ब्रिटिश नीति की विशेषता थी कि सुनहरे शब्दों में उलट-फेर करके वैधानिक सुधार योजनाएँ प्रस्तुत की जायँ जो कभी आगे बढ़ाने में कोई ठोस लाभ न पहुँचा सकें। इसकी दूसरी विशेषता थी राष्ट्रीय शक्तियों में फूट डालकर किसी वर्ग तथा दल से इन सुधार योजनाओं की मान्यता प्राप्त कर लेना। यही कारण है कि एक ओर सुधार की बात की गई और दूसरी ओर उग्र राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं का दमन भी किया गया।

लेकिन १९१६ ई० के आस पास कांग्रेस के दोनों दलों में एकता स्थापित हो गई थी और राष्ट्रीय आन्दोलन एक संगठित शक्ति के रूप में अपना विकसित रूप स्पष्ट कर गया था। २४ अक्टूबर १९१७ ई० की रूसी क्रान्ति की सफलता तथा उसकी जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार की घोषणा से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों में भी परिवर्तन हो चुका था। फलत: नये भारत-मन्त्री माण्टेग्यू को नई नीति की घोषणा करनी पड़ी। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य का उद्देश्य धीरे-धीरे भारतीय स्वशासन-संस्थाओं का विकास करना स्पष्ट किया। जिससे ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन रहते हुए भारत धीरे-धीरे स्वाशासन की ओर अग्रसर हो सके। १९१९ में माण्टेग्यू चेम्स फोर्ड बिल के नाम पर इन सुधारों को वैधानिक स्वीकृति प्रदान की गई, जिसमें अंग्रेजों के साथ कुछ भारतीयों को भी मंत्री-पद सौंपे गए। लेकिन अन्तत: उन्हें राजस्व के लिए ब्रिटिश अर्थ मंत्रालय पर ही निर्भर रखा गया। ब्रिटिश सरकार की नीति थी सुधारों के साथ ही दमनकारी कानूनों को लागू करना। इसीलिए रौलट बिल लागू किया गया, जिसके अनुसार किसी भी व्यक्ति को राजद्रोह के अभियोग में सजा दी सकती थी। लेकिन गाँधीजी के नेतृत्व में सम्पूर्ण देश ने इस रौलट बिल का विरोध किया जिससे चिन्तित होकर सरकार ने देशी राजाओं से सहायता लेने की एक नई चाल चली। वायसराय रीडिंग ने नरेश संरक्षण बिल नामक एक नया क़ानून इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किया लेकिन दुर्भाग्य कि इंग्लैण्ड की एसेम्बली ने उसे स्वीकार नहीं किया। फिर भी इन देशी राजाओं का उपयोग राष्ट्रीय आन्दोलनों के दमन के लिए सरकार करती ही रही। माण्टेग्यू साइमन कमीशन पर ज़ोर देते थे लेकिन जब साइमन कमीशन प्रतिनिधि के संस्थाओं का अध्ययन करने के उद्देश्य से बिठाया गया तो उसमें राष्ट्रीय संस्थाओं का एक भी सदस्य नहीं लिया गया। सरकार म्यूनिसपैलिटी के शासन प्रबन्ध पर इतना हस्तक्षेप करती थी कि अन्तत: डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, सरदार बल्लभभाई पटेल तथा पण्डित नेहरू जैसे नेताओं को अध्यक्ष-पद से त्यागपत्र देना पड़ा। पं० नेहरू ने स्वयं इस बात का

अनुभव किया था कि 'सरकार ने म्युनिसिपैलिटी के शासन का फौलादी चौखटे में जैसा ढाँचा बनाया, वह आमूल परिवर्तन मानवीय सुधारों को रोकने वाला था—म्यूनिसिपैलिटियाँ हमेशा ही सरकार के कर्ज़ से दबी रहती हैं और इसलिए पुलिस की निगाह के अलावा सरकार जिस दूसरी निगाह से म्यूनिसपैलिटी को देखती है, वह है कर्ज़ देने वाले साहूकार की निगाह।'[1] १९३०-३२ के सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा पेशावर के सैनिक विद्रोह से प्रभावित होकर ब्रिटिश सरकार ने सुधार कार्यक्रमों की ओर ध्यान दिया तथा लन्दन में तीन-तीन गोलमेज़ कान्फ्रेंस आयोजित की गईं। इस बार सरकार ने एक और प्रयोग किया अपनी कूटनीति के क्षेत्र में। राजाओं, मुसलमानों तथा अछूतों को अपने पक्ष में करके राष्ट्रीय कांग्रेस का बहिष्कार किया गया, जिसके फलस्वरूप प्रथम गोलमेज़ कान्फ्रेन्स में तो राष्ट्रीय कांग्रेस को प्रतिनिधित्व तक नहीं प्राप्त हो सका। इन परिषदों के उपरान्त सरकार ने तीन निष्कर्ष तैयार किए। प्रान्तीय स्तर पर स्वशासन के अधिकार बढ़ा दिए जाएँ, यद्यपि गवर्नर को अब भी विशेषाधिकार प्राप्त था, जिससे अधिकारों की वास्तविक कोई विशेषता नहीं रह गई थी। केन्द्र में संघ राज्य की स्थापना की जाय जिसमें राजाओं को प्रमुख स्थान प्राप्त हो तथा मुस्लिम लीग की स्वीकृति से भारत में ही दो राष्ट्रों की नीति के लिए वैधानिक भूमिका का निर्माण किया जाय और तीसरी बात यह थी कि ब्रिटिश साम्राज्य के आर्थिक लाभों की रक्षा की जाय। ब्रिटिश सरकार की नीति यह रही कि युगानुसार प्रतिगामी शक्तियों को पहचानकर उसे अपने में मिला लिया गया और प्रगतिशील संस्थाओं का दमन किया गया। पिछले युग में सरकार की नीति केवल उग्र राष्ट्रवादियों को दफनाने तथा माडरेट को अपनाने की थी। लेकिन इस बार सम्पूर्ण कांग्रेस गैर कानूनी संस्था घोषित कर दी गई, क्योंकि सरकार ने राजाओं तथा मुस्लिम लीग को अपना समर्थक बना लिया था। सारांश यह कि ब्रिटेन में चाहे मजदूर सरकार को या कंजरवेटिव, सबकी साम्राज्यवादी नीति एक-सी ही रही, भले ही अपने देश के लिए उनके विभिन्न राजनीतिक विचार रहे हों, लेकिन दोनों ने भारत को सदैव गुलाम ही रखना पसन्द किया।

तात्पर्य यह कि ब्रिटिश सरकार की नीति सदैव भारत की स्वतन्त्रता के प्रश्न को टालते रहने की रही। १९३५ ई० का भारतीय विधान, १९४० ई० का अगस्त प्रस्ताव, १९४२ ई० का क्रिप्समिशन तथा १९४५ ई० का कैबिनेट मिशन ब्रिटिश राजनीतिक दाँव-पेंच के विभिन्न रूप थे, जिसमें पहले तो पूर्ण स्वतन्त्रता को स्वीकार

---

१. पं० जवाहरलाल नेहरू : 'मेरी कहानी' : हिन्दी साहित्य संपादन द्वारा हरिभाऊ उपाध्याय : १९५६, पृ० २०६-२०७।

किया गया था तथा बाद में उस पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए गए थे। दूसरे विश्व-युद्ध से उत्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण ब्रिटेन तथा अमेरिका अटलांटिक चार्टर की घोषणा करते हैं कि प्रत्येक देश को अपनी पसन्द की सरकार चुनने का अधिकार मिलना चाहिये, लेकिन ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री र्चाचल भारत के लिये इस नीति का विरोध करते हैं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटेन भारत को स्वतन्त्रता देना नहीं चाहता था। जापान की विजयी सेना भारत की ओर बढ़ रही थी, अतः क्रिप्स मिशन ब्रिटेन से आया। इसके बाद ही १६४६ ई० में कैबिनेट मिशन आया जो पाकिस्तान सम्बन्धी सारी योजनाएँ अपने साथ लाया। जातियों के आधार पर भारत को तीन भागों में विभाजित किया गया। एक भाग हिन्दू-बहुमत प्रान्तों का था, शेष दो पूर्व और पश्चिम में मुसलमानों का बहुमत था। ब्रिटिश सरकार अब तक भली-भाँति यह समझ गई थी कि अब तो भारत को स्वतन्त्रता देनी ही है, अतः वह चाहती थी कुछ ऐसा करना जिससे यहाँ से चले जाने के बाद भी अंग्रेजों को आर्थिक लाभ प्राप्त होते रहें। व्यापार बोर्ड के सभापति स्ट्रैफर्ड-क्रिप्स इसीलिए दो-दो बार भारत भेजे गए तथा हिन्दुस्तान के हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दो भागों में विभाजन के प्रस्ताव को प्रस्तुत किया गया था।

ब्रिटिश सरकार की नीतियों के इस विस्तृत विवेचन तथा ऐतिहासिक पर्यवेक्षण के पश्चात् हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि समय-समय पर लागू की गई इन नीतियों तथा क़ानूनों के प्रति हिन्दी उपन्यासकारों की प्रतिक्रियाएँ क्या रही हैं तथा इन नीतियों के सम्बन्ध में उसने अपनी धारणाओं को किन रूपों में व्यक्त किया है और यह भी कि उनकी दृष्टि में इन विभिन्न नीतियों का औचित्य किस सीमा तक है।

इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास पर विचार करने पर हम पाते हैं कि प्रारम्भकालीन उपन्यासों में प्रायः इन नीतियों पर विचार नहीं किया गया है। हम लिख चुके हैं कि प्रारम्भकालीन उपन्यासों में सामाजिक चेतना जिस व्यापकता तथा सम्पूर्णता के साथ है, उतनी राजनीतिक चेतना नहीं। यही कारण है कि इन लेखकों ने सरकार की नीतियों के विषय में प्रायः कुछ भी नहीं लिखा, वे सामाजिक धरातल पर सुधार आन्दोलनों को संगठित करने में अधिक प्रयत्नवानों दीख पड़ते हैं।

लेकिन आगे चलकर प्रेमचन्द काल में ब्रिटिश सरकार की नीतियों पर उपन्यास-कारों ने काफ़ी कुछ लिखा और उनकी तमाम विसंगतियों का स्पष्टीकरण किया। स्वयं प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों 'रंगभूमि' तथा 'कर्मभूमि' में ब्रिटिश सरकार की नीतियों की विसंगतियाँ स्पष्ट कीं और क्रमशः मिस्टर क्लार्क तथा गजनवी के माध्यम से ब्रिटिश शोषण-नीति का पर्दाफ़ाश किया।

'रंगभूमि' का क्लार्क अंग्रेज़ है लेकिन भारतीय नारी सोफ़िया से प्रेम करता

है। कलात्मक पक्ष का औचित्य भुलाकर भी प्रेमचन्द सोफ़िया तथा मिस्टर क्लार्क के प्रेम-प्रदर्शन के सन्दर्भ से ब्रिटिश शासन की साम्राज्यवादी नीतियों को स्पष्ट करते हैं। क्लार्क सोफ़िया से कहता है कि भारत में अंग्रेज़ी शासन अजेय रह सकता है यदि जनता पर अंग्रेज़ों का आतंक छाया रहे।[1] ध्यान रहे कि मिस्टर क्लार्क ज़िलाधीश हैं जो आतंकवादी नीति से शासन चलाने में विश्वास करते हैं। स्पष्ट है कि अंग्रेज़ी शासन का उद्देश्य देश तथा समाज का कल्याण नहीं था, वरन् अपने साम्राज्य का हितसाधन तथा उसका विस्तार ही उसका प्रमुख लक्ष्य था।

प्रेमचन्द उदारवादियों को सावधान करने के लिए सोफ़िया के विश्वासघात करने के समय क्लार्क के मुँह से इंगलैण्ड के विभिन्न राजनीतिक दलों की साम्राज्यवादी नीतियों का भंडाफोड़ करते हैं। क्लार्क विनय से कहता है—"अंग्रेज़ जाति भारत को अनन्तकाल तक अपने साम्राज्यवाद का अंग बनाये रखना चाहती है। कंज़रवेटिव हो या लिबरल, रेडिकल हो या लेबर, नेशनलिस्ट हो या सोशलिस्ट, इस विषय में सभी एक ही आदर्श का पालन करते हैं। सौफ़ी के पहले मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि रेडिकल और लेबर नेताओं के धोखे में न आओ। कंज़रवेटिव दल में और चाहे जितनी ही बुराइयाँ हों, वह निर्भीक हैं, तीक्ष्ण सत्य से नहीं डरता। रेडिकल और लेबर अपने पवित्र और उज्ज्वल सिद्धान्तों का समर्थन करने के लिये ऐसी आशाप्रद बातें कह डालते हैं, जिसके व्यवहार में लाने का साहस नहीं हो सकता, अन्तर केवल उस नीति में है, जो भिन्न-भिन्न दल इस जाति पर आधिपत्य जमाये रखने के लिये ग्रहण करते हैं। कोई कठोर शासन का उपासक है, कोई सहानुभूति का, कोई चिकनी-चुपड़ी बातों से काम निकालने का। बस वास्तव में कोई नीति है ही नहीं, केवल उद्देश्य है, वह यह कि क्योंकर हमारा आधिपत्य उत्तरोत्तर सुदृढ़ हो।[2]" प्रेमचन्द ने ब्रिटिश नीति के मर्म को इन थोड़े से शब्दों में ही व्यक्त कर दिया है। लेकिन भारतीय नरम तथा लिबरल दल हमेशा इसी भ्रम में पड़े रहे कि इंगलैण्ड का लेबरदल प्रगतिशील विचारों का समर्थक है तथा मानवतावादी है, अतः वह शीघ्र ही औपनिवेशिक स्वराज्य दे देगा। ये राज-नीतिज्ञ डोमीनियन स्टेट्स आगे बढ़ना चाहते थे, क्योंकि अंग्रेज़ी राज्य से सम्बन्ध रखने में वह अब भी देश का कल्याण समझते थे। इस भ्रांत धारणा को इससे भी प्रोत्साहन मिला कि जब इंगलैण्ड में लेबर-दल की सरकारें बनीं तब भारत में मार्ले, मिण्टो, माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड तथा १९३५ ई० के विधान के रूप में विविध सुधार योजनाएँ कार्यान्वित की गईं। लेकिन इससे साम्राज्यवादी शक्तियों की दृढ़ता में वृद्धि ही हुई,

---

१. 'रंगभूमि' : ग्यारहवाँ संस्करण, १९५५, पृ० २५

२. 'रंगभूमि' : ग्यारहवाँ संस्करण, १९५५, दूसरा भाग, पृ० १८४-१८६

क्योंकि लोग इन सुधार योजनाओं के पार साम्राज्यवादी शक्तियों का स्वार्थ देख पाने में काफ़ी कुछ अक्षम सिद्ध हुए। लेकिन प्रेमचन्द के माध्यम से हिन्दी का उपन्यासकार इस तथ्य को भली-भाँति समझ रहा था और यथावसर अपने उपन्यासों में वह इसे व्यंजित भी कर रहा था। इस प्रकार यहाँ हम देखते हैं कि उपन्यासकार युगीन राज-नीतिज्ञों से भी एक क़दम आगे बढ़ा हुआ प्रतीत होता है।

अंग्रेज़ सदैव इस प्रयत्न में रहे कि फूट पैदा की जाय और राज्य किया जाय (डिवाइड एण्ड रूल)। विभिन्न जातियों तथा विभिन्न सम्प्रदायों वाले देश भारत में यह नीति काफ़ी हद तक सफल भी रही। बाद में लिबरल दल तथा राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ भी अंग्रेज इसी नीतिकी पहल करते रहे। अंग्रेज़ चाहते यह थे कि उदार-वादी दल के सहयोग से उग्र तथा क्रान्तिकारी भावनाओं का दमन किया जाय। 'कर्म-भूमि' का ज़िलाधीश गजनवी रैदास चमारों के लगानबन्दी आन्दोलन का दमन करने के लिए इसी नीति का इस्तेमाल करता है। स्वामी आत्मानन्द क्रान्तिकारी विचारधारा तथा हिंसक पथ के अनुयायी हैं। उन्हें ज़मींदार महन्त की दया तथा सरकार की न्यायप्रियता पर विश्वास नहीं है, अतः वह जनता को भड़काकर उग्र आन्दोलन का संगठन करना चाहते हैं। लेकिन अमरकान्त, जो गांधीवादी विचारधारा का अनुयायी है, अहिंसक आन्दोलन का समर्थन करता है। इन दोनों नेताओं में मतभेद पैदा करके ज़िलाधीश गजनवी अमरकान्त के सहयोग से क्रान्तिकारी तथा अहिंसावादी स्वामी आत्मानन्द को जेल में डालना चाहता है। वह अमरकान्त से कहता है—"मिस्टर सलीम आपकी बड़ी तारीफ़ करते हैं, मगर भाई, मैं तुम लोगों से डरता हूँ। खासकर तुम्हारे स्वामी से। बड़ा ही मुफ़सिद आदमी है। उसे फँसा क्यों नहीं देते। मैंने सुना है, वह तुम्हें बदनाम करता फिरता है।[1]" अमरकान्त इसके फलस्वरूप सोचता है—"सचमुच आत्मानन्द आग लगा रहा है। अगर वह गिरफ़्तार हो जाय, तो इलाके में शान्ति हो जाये। स्वामी साहसी है, यथार्थ वक्ता है, देश का सच्चा सेवक है, लेकिन इस वक्त उसका गिरफ़्तार हो जाना ही अच्छा है।"[2] अंग्रेज़ी सरकार की ऐसी ही कूट-नीतिक चालों से नरम तथा गरम दल के नेताओं में विरोध उत्पन्न हो जाता था और राष्ट्रीय आन्दोलन असफल होकर रह जाता था। हिन्दी उपन्यासकारों ने इस 'फूट डालकर राज्य करने' की नीति का पर्दाफ़ाश बड़े ही सफल ढंग से किया है।

न्याय-पद्धति

किसी एक सुनिश्चित न्याय-पद्धति के अभाव में कोई राज्य अपनी प्रशासनिक

---

१. 'कर्मभूमि' : आठवाँ संकरण, १९६२, पृ० ३१२

२. 'कर्मभूमि' : आठवाँ संस्करण, १९६२, पृ० ३१२

स्थितियों में सुसंगठित तथा सुदृढ़ नहीं हो सकता। किसी देश, जाति अथवा संगठन-विशेष की न्याय-पद्धति कैसी है, इसी के आधार पर उस संगठन-विशेष का महत्त्व आँका जा सकता है। सामंतवादी व्यवस्था, परतन्त्र प्रजा, जनतांत्रिक व्यवस्था तथा सामाजिक आर्थिक जनतन्त्र व्यवस्था, सभी की न्याय-पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। भारत में अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना के पश्चात् सामंती-व्यवस्था का विघटन प्रारम्भ हुआ और नई व्यवस्था लागू हुई। अत: यह स्वाभाविक ही था कि न्याय-पद्धति में भी परिवर्तन लाया जाय। शुरू में अंग्रेज़ सरकार की न्याय-पद्धति बहुत कुछ सामंती व्यवस्था के ही अनुरूप थी लेकिन उसमें विकास प्रारम्भ हो गया था। तत्पश्चात् समस्त अंग्रेज़ी भारत में एक ऐसे न्याय-पद्धति की स्थापना की गई, जिसके अनुसार सामंतों की वैयक्तिक सम्मति को ही न्याय न मानकर उसके कुछ मूलभूत प्रतिमान निश्चित किये गये, जिसका लाभ सामान्य नागरिक भी उठा सकता था। फिर भी यह पद्धति साम्राज्य-वादी व्यवस्था की ही थी, अत: उसमें साम्राज्यवादी मनोवृत्ति की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। इसके अनुसार ब्रिटिश सरकार का विरोध करना सबसे बड़ा अन्याय था, अत: प्रेस क़ानून की अधिकता तथा कठोर दमनकारी प्रवृत्ति को भी न्यायोचित ठहराया गया।

'रंगभूमि' में सूरदास की ज़मीन लेकर मि० क्लार्क तथा म्युनिसिपिलबोर्ड के चेयरमैन राजा महेन्द्र कुमार सिंह में संघर्ष होता है। मि० क्लार्क अपनी प्रेमिका सोफ़िया से शासन-नीति का यह भेद खोलते हैं कि एक ज़िले के अफ़सर के खिलाफ़ किसी रईस की मदद करना हमारी प्रथा के प्रतिकूल है, क्योंकि इससे शासन में विघ्न पड़ता है। ज़िले का अफ़सर बादशाह है, अत: उसके विरुद्ध राजा महेन्द्रनाथ तथा जन नेता को भी न्याय मिलना कठिन है। अन्य सामान्य नागरिकों की तो बात ही क्या पूछनी है। इन्हीं विशेषाधिकारों के कारण सरकार की नौकरी गौरव की वस्तु समझी जाती थी, क्योंकि ऐसी दशा में वे लोगों पर मनमाने अत्याचार करने की छूट प्राप्त कर लेते थे। लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलनों के कारण इस स्थिति में कुछ परिवर्तन उपस्थित हुआ। गवर्नर महोदय विदेशी शासन के विरुद्ध आन्दोलन चलाने के भय से राजा महेन्द्र के पक्ष समर्थन करते हैं। लेकिन समस्या तो यह है कि एक भारतीय के कारण एक अंग्रेज़ अफ़सर का अपमान कैसे किया जाय, अत: मि० क्लार्क को और भी ऊँचा पद प्रदान करके पोलिटिकल एजेण्ट बनाकर उनका तबादला कर दिया गया। गवर्नर सूरदास की ज़मीन के सम्बन्ध में न्याय देने के स्थान पर ब्रिटिश सरकार की रक्षा का ध्यान रखता है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय नागरिकों को न्याय की कोई समुचित सुविधा सरकार की ओर से प्राप्त नहीं थी।

'ग़बन' में साम्राज्यवादी स्वार्थों की रक्षा के लिए पुलिस की झूठी गवाही कराकर

पन्द्रह क्रान्तिकारियों को निरपराध फ़ाँसी की सज़ा दी जाती है। फिर बाद में रमानाथ का बयान बदलना तथा अपराधियों का मुक्त होना दिखाया गया है, जो लेखक का अपना आदर्शवाद है, अन्यथा यथार्थ तो यही होता कि अपराधी अपनी सज़ा भुगतते दिखाये जाते, क्योंकि तत्कालीन प्रशासन में आये दिन इस तरह के निरपराध लोगों को दण्डित किया जाता रहता था। इससे बड़ी न्यायिक विसंगति और क्या हो सकती है कि जो स्वयं अपने राष्ट्र की पूजा करे और दूसरे को ऐसा करने के लिए मृत्यु-दण्ड का अपराधी घोषित करे।

वस्तुतः एक गुलाम देश के लिए न्याय-पद्धति का मानदण्ड भी भिन्न हो जाता है। जो शासक के स्वार्थों की रक्षा कर सके वही न्याय है और जो ऐसा न कर सके वही न्याय नहीं है। सचमुच न्यायशास्त्र की यह बहुत बड़ी विसंगति है जो उसकी सर्वप्रियता के लिए कलंक का टीका कही जा सकती है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी उपन्यासकारों ने न्याय-पद्धति सम्बन्धी कुछ अन्य प्रश्नों को भी उठाया है, जिसमें ब्रिटिश न्याय-पद्धति की कमज़ोरियों तथा ग़लतियों पर ध्यान आकृष्ट किया गया है। मि० क्लार्क तथा सोफ़िया न्यायशास्त्र के मूलभूत ढाँचे के सम्बन्ध में अपनी-अपनी धारणाएँ यों व्यक्त करते हैं—

"सौफ़ी—तुम यह कैसे निश्चित करते हो कि अमुक अपराधी वास्तवमें अपराधी है। इसका तुम्हारे पास कोई यन्त्र है ?

क्लार्क़—गवाह तो रहते हैं।

सौफ़ी—गवाह हमेशा सच्चे होते हैं ?

क्लार्क़—कदापि नहीं। गवाह अक्सर भूठे और सिखाये हुए होते हैं।

सौफ़ी—और उन्हीं गवाहों के बयान पर फ़ैसला करते हो ?

क्लार्क—इसके सिवाय और उपाय ही क्या है।

सौफ़ी—जब तुम जानते हो कि वर्तमान शासन-प्रणाली में इतनी त्रुटियाँ हैं तो तुम उसका एक अंग बनकर निरपराधियों का खून क्यों करते हो ?

क्लार्क—हम तो केवल एक कल के पुर्जे हैं, हमें ऐसे विचारों से क्या प्रयोजन ?'[1]

ऐसे ही भूठे और सिखाये हुए इन गवाहों पर आधारित ब्रिटिश न्याय-पद्धति कितनी खोखली और अनैतिक है, इसका भण्डाफोड़ 'निराला जी' अपने उपन्यास 'अलका' में करते हैं। मरे हुए रामनाथ की निस्सहाय लड़की सरजू, पिता की सम्पत्ति प्राप्त करने से इसलिए वंचित रह जाती है कि उसे भैयाचार, ज़मींदार और पटवारी हाकिम के षड्यन्त्र से गवाह नहीं मिलते कि प्रमाणित कर सके कि वह रामनाथ की

---

१. 'रंगभूमि' : ग्यारहवाँ संस्करण १९५५, प्रथम भाग, पृ० ३७७

लड़की है। न्याय-पद्धति का खोखलापन यहाँ एकदम स्पष्ट उभर कर आ गया है। लेकिन चिन्त्य प्रश्न तो यह है कि क्या आज भी इस पद्धति में कोई परिवर्तन लक्षित होता है ? कम-से-कम इन उपन्यासकारों से न्यायविदों को इतनी सीख तो लेनी ही चाहिए थी। लेकिन फ़िलहाल इस क्षेत्र में उपन्यासकारों का कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता।

पुलिस का आतंक और शासन सम्बन्धी भ्रष्टाचार

प्रत्येक राज्य के लिये पुलिस की व्यवस्था आवश्यक होती है, अन्यथा शासन सुचारु-रूप से नहीं चल सकता। पुलिस के माध्यम से सरकार अपनी नीतियों के कार्यान्वियन में सफल होती है। यहीं पुलिस के आचरणों का भी प्रश्न उठता है, जो नैतिकता के साथ अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। पुलिस विभाग की नैतिकता तथा चरित्र से राज्य-व्यवस्था की नैतिकता तथा चरित्र का मूल्यांकन किया जा सकता है। पुलिस का संबंध सीधे जनता से होता है। उसकी कार्यप्रणाली दुहरी होती है, जिसके एक छोर पर जनता होती है तथा दूसरे पर सरकार। सरकार तथा जनता दोनों के प्रति उसके कर्तव्य निश्चित होते हैं। लेकिन प्रायः शासन-व्यवस्था तथा जनता में विरोध की स्थिति होती है, जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न राजनैतिक आन्दोलनों का जन्म होता है। सरकार पुलिस से इन राजनैतिक आन्दोलनकारी शक्तियों के दमन में मदद लेती है और इन्हें नियंत्रित करके इन पर पुलिस के ज़ोर से शासन करती है। इस प्रकार आम जनता को सरकार के प्रतिनिधि के रूप में पुलिस के साथ मोर्चा लेना पड़ता है। एक गुलाम देश में पुलिस की स्थिति और भी जटिल होती हैं, क्योंकि शासक विदेशी होता है जिसके प्रति उसे वफ़ादार रहना है तथा शोषित, देश के नागरिक होते हैं, जो पुलिस के भाई-बन्धु के रूप में उसकी सहानुभूति के हकदार होते हैं। ऐसी दशा में पुलिस के लिए यह कम मुश्किल नहीं कि वह तय कर सके कि उसे किसका साथ देना है। स्वतन्त्रता आंदोलन के दौरान भारतीय पुलिस की लगभग यही स्थिति थी जब अनेकानेक पुलिस के अधिकारियों ने अपनी-अपनी नौकरियाँ छोड़कर अपने देशीय बन्धुओं का साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में दिया। लेकिन इसके साथ ही बहुत सारे पुलिस अधिकारी ऐसे भी थे जो अपनी पदोन्नति के लाभ में अपने देशवासियों पर जुल्म ढाये जा रहे थे और आन्दोलनकारियों पर लाठी बरसाने में भी ज़रा भी हिचकते न थे। 'सेवासदन' के दारोगा कृष्णचन्द्र एक ऐसे ही पुलिस अधिकारी का प्रमाण पेश करते हैं।

पुलिस विभाग का दूसरा महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है, अपराध वृत्ति का दमन तथा जनता की सुरक्षा का ध्यान। मनोवैज्ञानिक धरातल पर ये दोनों दो भिन्न प्रवृत्तियाँ हैं। एक ओर पुलिस का सम्बन्ध अपराधियों के दलों से होता है, तो दूसरी तरफ चरित्रवान्

जनता से। ऐसी महत्त्वपूर्ण स्थिति में पुलिस शासन का प्रतिनिधित्व करने लगे तो इसमें भला क्या आश्चर्य हो सकता है ? वस्तुत: पुलिस प्रशासन का ही एक अंग होती है, अत: वह मुख्यत: सरकार की ओर विशेष ध्यान देती है और जनता की ओर कम। शासकों की नीति तथा नैतिकता ही उसके मानदण्ड बन जाते हैं। अंग्रेज़ों के साम्राज्य-वादी हितों की रक्षा के लिए भारतीय जनता का दमन आवश्यक था। अत: पुलिस विभाग क्रूरता तथा अत्याचार के प्रतिरूप बन गया। हिन्दी उपन्यासकारों ने पुलिस के इसी रूप को ग्रहण किया, क्योंकि तत्कालीन पुलिस विभाग जनता की सुरक्षा न करके उस पर अत्याचार ही कर रहा था।

मेहताजी द्वारा पुलिस विभाग का तहक़ीकात सम्बन्धी एक विवरण इस भ्रष्टा-चार के रूप को इस प्रकार सामने रखता है—'इतना सुनते ही दारोगा साहब ने लाला को दस-बीस गालियाँ सुनाकर उनके नौकर को दो-एक चपतें लगाने के बाद उसकी रिपोर्ट लिखी। रिपोर्ट लिखकर हुक्का पीने के अनन्तर जंगल-झाड़े से फ़रागत होकर कान्सटेबलों को लेते हुए लाला असरफ़ीलाल के मकान की ओर जाने की तैयारी की। उनके मकान पर पहुँचकर मकान देखा, लाला से, उसके लड़के से, उनकी स्त्रियों से बड़े टेढ़े-मेढ़े और पेचीदे सवाल किये। अड़ोस-पड़ोस के सौ-सवा-सौ आदमियों को इकट्ठा करके सबसे इज़हार लिए। बीच-बीच में गर्मी की शिकायत कर दो-तीन बार शर्बत पिया। भूख लगने से पहले ही लाला असरफ़ीलाल ने हलवा, पूड़ो, तरकारी, अचार चटनी, मिठाई हाज़िर की। कुछ आपने खाया, कुछ कान्सटेबिलों को खिलाया और शेष कुत्तों को डालकर हाथ-मुँह धोते हुए अपना काम करने लगे। अनुसन्धान करते-करते दो-एक बार लाला की मिठाई की प्रशंसा की, परन्तु हलवा में घी बुरा बतलाया। इज़हार लेते पड़ोसियों में जिन्हें मालदार देखा, उन्हें ठोंक पीटकर अपराध स्वीकार करवाने के लिए फाँसी और इस तरह चालान कर देने की धमकी देकर अपना अच्छा मतलब गाँठ लिया।'[१] इसके अतिरिक्त पं० किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास 'चन्द्रा-वली' ने भी पुलिस विभाग की घूसखोरी का उल्लेख हुआ है, जो प्रजा पर एक प्रकार का अत्याचार ही कहा जायगा।

'प्रेमाश्रम' में पुलिस के सहयोग से ही क्रूर ज़मींदार ज्ञानशंकर तथा उसका कारकून गौसखाँ लखनपुर गाँव के निवासियों का दमन करते हैं। सुक्खू चौधरी इस दमन का विरोध करता है तथा इसके लिए आन्दोलन चलाता है, लेकिन कारकून तथा पुलिस के सम्मिलित षड्यन्त्र उसे अन्तत: दो साल की कड़ी क़ैद की सजा दिलवा कर ही छोड़ते हैं। पुलिस का यह अत्याचार अंग्रेज़ी राज्य की नैतिकता थी जो हर तरह से

---

१. 'आदर्श दम्पति' : प्रथम संस्करण १९०४, पृ० २

भारतीयों के दमन को प्रोत्साहन देती थी।

वृन्दावनलाल वर्मा ने 'कोतवाल की करामत' नामक स्वतन्त्र उपन्यास ही इस विषय को सामने लाने के उद्देश्य से लिखा। वर्माजी के अनुसार पुलिस का अत्याचार इतना बढ़ गया था कि अपराध वृत्तियों की रोकथाम तो दूर की बात रही, जुएँ तथा वेश्याओं के अड्डे उन्हीं के संरक्षण में चलते थे। निराश्रित किशोरी पर काज़ी तथा कोतवाल बलात्कार करना चाहते हैं। ब्रिटिश शासन-व्यवस्था में पुलिस का यह अत्यन्त गर्हित रूप था, जो स्वयं अपराधी तथा अत्याचारी था।

इसी प्रकार 'गोदान' में प्रेमचन्द पुलिस के दमन, घूसखोरी और उसके द्वारा किए जाने वाले भ्रष्ट आचरणों का उद्घाटन करते हैं। होरी गँवार किसान होते हुए भी निर्भीक और बलवान् है। लेकिन पुलिस से बहुत डरता है। क्योंकि वह समझता है कि किसी व्यक्ति से लड़ना तो आसान है, लेकिन किसी व्यवस्था से लड़ना आसान नहीं। पुलिस को वह व्यवस्था का ही अंग मानता है...ब्रिटिश-शासन-व्यवस्था का। जिसका सम्बन्ध सीधे सरकार तथा न्याय व्यवस्था से है। प्रेमचन्द उसके सम्बन्ध में लिखते हैं—'ऐसा डर रहा था, जैसे फाँसी हो जायगी। धनिया को पीटते समय उसका एक-एक अंग फड़क रहा था। दारोगा के सामने कछुए की भाँति भीतर सिमटा जाता था।'[१] निरपराध होने के बावजूद वह दारोगा को यहाँ तक कि कर्ज़ लेकर घूस देता है, लेकिन इस अन्याय का विरोध नहीं कर सकता, क्योंकि न्याय व्यवस्था इतनी जटिल है कि उसमें निर्धन, गँवार व्यक्ति को न्याय नहीं मिलता, बल्कि वह शोषण के चक्र में में फँसता जाता है।

जनतांत्रिक प्रणाली और म्यूनिसिपैलिटी

लार्ड रिपन के समय में भारत में स्वशासन सम्बन्धी कार्यक्रम निर्धारित किए गए तथा भारतवासियों को स्वायत्तशासन का अधिकार मिला। इस दृष्टि से लार्ड रिपन एक ऐसे वायसराय कहे जा सकते हैं, जिसके हृदय में भारत के प्रति प्रेम तथा यहाँ के निवासियों के प्रति सहानुभूति की भावना थी। उन्होंने भारतवासियों को आधुनिक शासन-प्रबन्ध की शिक्षा देने के लिए स्वायत्त शासन का अधिकार दिया, जिसके आधार पर आगे चलकर म्युनिसिपैलिटी तथा ज़िला बोर्ड का संगठन हुआ। लेकिन ब्रिटिश सरकार के अन्तर्गत किसी भी स्वतन्त्र संगठनात्मक संस्था का टिक पाना सम्भव नहीं था। सम्भवतः इसीलिए स्वतन्त्रचेता नेताओं ने इन संगठनों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर पं० जवाहरलाल नेहरू, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद तथा सरदार पटेल ऐसे स्वतन्त्र चेता

---

१. 'गोदान' : तेरहवाँ संस्करण १९५६, पृ० ११७

व्यक्ति थे, जिन्हें क्रमश: इलाहाबाद, पटना और बम्बई की म्युनिसिपैलिटियों से अपना त्यागपत्र देना पड़ा।

'रंगभूमि' लगभग इसी समय लिखा गया अत: इसमें म्युनिसिपैलिटी तथा सरकार और जनता के त्रिकोण सम्बन्ध पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया। यश के लोभी तथा दास प्रवृत्ति के संस्कारों वाले व्यक्तित्वहीन, राजा महेन्द्रकुमार सिंह म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन हैं। वह राजा भरतसिंह तथा डॉ० गांगुली द्वारा संगठित सेवा समिति दल को स्टेशन पर विदा देने जाते हैं। लेकिन जनता के प्रतिनिधि तथा जनतांत्रिक व्यवस्था के प्रतिनिधि होने के बावजूद भी उन्हें इतनी आजादी नहीं कि किसी सेवा समिति जैसी स्वतन्त्र संस्थाओं से वे अपना संबंध स्थापित कर सकें। क्योंकि सरकार की नज़र में प्रत्येक संस्था कालांतर में विद्रोह तथा अशांति के केन्द्र में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार म्युनिसिपैलिटियों को जो भी अधिकार प्राप्त थे, वे सब कागज़ी ही थे, व्यवहार में उनका पालन सम्भव न था।

हिन्दी उपन्यासकारों में मुंशी प्रेमचन्द तथा पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' दोनों ही जागरूक कलाकार हैं, अतः उन्होंने इस बात की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है कि म्युनिसिपैलिटी पर किन लोगों का आधिपत्य होना चाहिए। यों तो निर्वाचन-पद्धति से निर्वाचित व्यक्ति सीधे जनता का प्रतिनिधि होता है, लेकिन प्रेमचन्द 'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' में तथा उग्रजी 'मनुष्यानन्द' उपन्यास में इस बात को सामने रखते हैं कि जनता द्वारा चुने हुए ये सदस्य वास्तव में साधारण जनता की उपेक्षा ही करते हैं क्योंकि वे संस्कारत: उच्च श्रेणी के होते हैं, जो धन के बल पर चुनाव में आसानी से सफल हो जाते हैं। 'सेवासदन' के सेठ बलभद्रदास, सेठ चम्मनलाल तथा 'रंगभूमि' के राजा महेन्द्रकुमार सिंह और 'कर्मभूमि' के लाला धनीराम आदि म्युनिसिपैलिटी सदस्य उच्च श्रेणी के ही हैं।

इन सदस्यों की स्थिति माध्यम की होती है। ये शासन के माध्यम हैं। एक तरफ़ तो जनता के नेतृत्व के नाम पर ये यश लेते हैं और दूसरी तरफ सरकारी अफ़सरों को डालियाँ भेजा करते हैं तथा अपने निहित स्वार्थ के लिए उनकी चापलूसी करते हैं। गवर्नर को दावत में बुलना इनके लिए आत्मगौरव तथा सम्मान की बात समझी जाती है। लेकिन बाहर जनता के बीच समाज-सुधारक तथा राष्ट्र-प्रेमी तथा राष्ट्र-सेवी होने का ढोंग प्रचारित करते और करवाते हैं। दोनों तरफ़ से फ़ायदे में रहना ही उनका उद्देश्य है तथा अवसरवादिता उनका सिद्धांत। 'कर्मभूमि' के हाफ़िज़ हमीद अन्ततः हड़ताल के बाद निम्न वर्ग की माँगें इसलिए स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि उनकी मिल घाटे पर चल रही थी, कहीं लम्बी हड़ताल हो गई, तो बधिया ही बैठ जायगी।

म्युनिसिपैलिटी के इन सदस्यों के पतित तथा समाज विरोधी आचरणों को प्रेमचन्द बहुत पहले 'सेवा सदन में ही बहुत अधिक स्पष्ट कर चुके थे। सेठ बलभद्र दास एक ऐसे ही पतित तथा भ्रष्ट आचरण वाले सभापति हैं, जो वेश्या उन्मूलन प्रस्ताव का विरोध करते हैं, क्योंकि वे स्वयं भी वेश्यागामी हैं। 'रंगभूमि' तथा 'कर्मभूमि' में म्युनिसिपैलिटियों के चेयरमैन तथा सभापतियों की चरित्रहीनता तथा क्रूरता को प्रेमचन्द ने और अधिक स्पष्ट किया। 'मनुष्यानन्द' उपन्यास में अघोड़ीबाबा तथा बुधुआ भंगी के नेतृत्व में अछूत आन्दोलन संगठित होता है, जिसके सामने अतन्त: म्यूनिसपैलिटी तथा सरकार की दृढ़ शक्ति को भी झुकना पड़ता है। अछूतों को सभी सुविधाएँ प्रादन की जाती हैं।

यद्यपि देश तत्कालीन परिस्थितियों में म्युनिसिपैलिटी ही एकमात्र जनतांत्रिक शासन सम्बन्धी संस्था थी, लेकिन फिर भी हिन्दी उपन्यासकारों ने इन्हें भ्रष्टाचार के अड्डे के रूप में ही चित्रित किया। प्रश्न उठ सकता है कि ऐसा कैसे सम्भव हुआ, क्या ये उपन्यासकार जनतांत्रिक पद्धति को स्वीकार नहीं करते थे ? वस्तुत: बात ऐसी नहीं थी, वास्तविकता तो यह थी कि निर्वाचन का लाभ उच्चवर्ग ही उठा सकता था, क्योंकि उसके पास खर्च करने की पर्याप्त धन था, जिसके बल पर वह अपना आधिपत्य जमाये रखने में सफल होता था। तात्पर्य यह कि म्युनिसिपैलिटी इस प्रकार शोषण का ही एक केन्द्र बन गई थी, क्योंकि सरकार इनके माध्यम से भी आम नागरिकों का शोषण किया करती थी। म्युनिसिपैलिटी के सदस्यों को अपने स्वार्थ का ध्यान पहले रहता था। जनवादी तथा राष्ट्रीय विचारधारा का उनके सम्मुख कोई महत्त्व नहीं था। इसके अतिरिक्त इन विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि निम्नवर्ग अब तक संगठित शक्ति के रूप में और अधिक सुदृढ़ होता जा रहा था। राष्ट्रीय आन्दोलन में आगे चल कर इस वर्ग ने अपना महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया और महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन में शक्तिशाली वर्ग के रूप में भाग लिया।

हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक संघर्ष

यह संघर्ष बीसवीं शताब्दो की भारतीय राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जा सकता है। इसके महत्त्व का एक पहलू यह भी था कि राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास में इसने सर्वाधिक बाधाएँ उत्पन्न की। यों भारत आज से नहीं, बहुत प्राचीनकाल से विभिन्न जातियों तथा विभिन्न धर्मों का देश रहा है। लेकिन परस्पर जातियों तथा धर्मों को लेकर ऐसे संघर्ष की नौबत कभी नहीं आई। पहली बार भारतीय इतिहास में मुसलमान जाति ही एक ऐसी जाति भारत में आई जिसके आचार-विचारों में भारत के आचार-विचार की तुलना में, पूरब पश्चिम जितना अंतर दिखाई पड़ा। दूसरी बात

यह थी कि कई सौ वर्षों तक विशाल हिन्दू जाति पर मुसलमान शासन करते रहे थे। लेकिन निर्वाचन पद्धति और जनतांत्रिक व्यवस्था में बहुसंख्यक जाति की प्रधानता रहती है। अतः मुसलमानों ने जाति के आधार पर अपने लिए सीटों की माँग का प्रस्ताव रखा। हिन्दू सदैव इस माँग का विरोध करते रहे, क्योंकि ऐसा करना जनतंत्रीय सिद्धांतों के विरुद्ध था लेकिन सरकार का अभीष्ट तो था राष्ट्रीय शक्तियों में फूट डालना अतः वह मुसलमानों की सभी उचित-अनुचित माँगों का समर्थन करती रही।

इस प्रकार दोनों जातियों के राजनीतिक संघर्ष के मूल में यही तथ्य था, जो दोनों को आए दिन लड़ने को तैयार किए रहता था। धीरे-धीरे यह लड़ाई साम्प्रदायिक लड़ाई में परिवर्तित होती गई, जिसके कारण सामाजिक जीवन की शांति तो नष्ट हुई ही, राजनीतिक जीवन भी कम विषाक्त नहीं हुआ। एक तो पहले से ही राजनीतिक स्तर पर विरोध की स्थिति चल रही थी, अब साम्प्रदायिक विरोध की भावना ने कटुता में और भी वृद्धि कर दी। फलस्वरूप दोनों जातियों के लिए एक साथ एक सरकार के अधीन रहना तक मुश्किल हो गया। फलतः देश का विभाजन हुआ। गांधीजी तथा राष्ट्रीय कांग्रेस हालाँकि सदैव यह प्रयत्न करते रहे कि दोनों जातियों में मैत्री सम्बन्ध कायम रखा जा सके तथा इनका एक राजनीतिक संगठन बनाया जा सके, लेकिन इन्हें अपने इस उद्देश्य में अधिक सफलता नहीं मिल पायी। हिन्दी उपन्यासकार दोनों जातियों के राजनीतिक संघर्ष के कारणों को जानते थे। लेकिन उनकी विशेषता इस दृष्टि से है कि साम्प्रदायिक संघर्षों को प्रोत्साहन देने वाले तत्त्वों को उन्होंने पहचाना। यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि विवेच्यकालीन सभी प्रतिनिधि उपन्यासकार साम्प्रदायिक कटुता का विरोध करते पाये जाते हैं तथा गांधीजी की ही भाँति साहित्य द्वारा वे एकता प्राप्त करने ही में लगे रहे।

'सेवा सदन' में ही प्रेमचन्द यह स्पष्ट कर देते हैं कि प्रतिक्रियावादी तत्त्व प्रत्येक समस्या को किस प्रकार साम्प्रदायिक रंग देने में कुशल हैं। वे चाहते हैं, साम्प्रदायिकता के आवरण में मुख्य समस्या को ढँककर उसे टाले रखा जाय। म्युनिसिपैलिटी में जब वेश्या-सुधार का प्रस्ताव प्रगतिशील सुधारकों द्वारा उपस्थित किया जाता है तो हिन्दू-मुस्लिम दोनों साम्प्रदायों के बड़े-बड़े व्यापारी तथा प्रभावशाली व्यक्ति अपनी विलासिता की पूर्ति के लिए इस प्रस्ताव का विरोध करते हैं। वे अपनी-अपनी जातिगत तथा साम्प्रदायगत सभाएँ आयोजित करते हैं तथा प्रश्न को यथासम्भव साम्प्रदायिक रंग देते हैं ताकि उन्हें जाति तथा सम्प्रदाय के अन्य तटस्थ तथा प्रगतिशील सदस्यों के भी मत मिल सकें। लेकिन समस्या तो यह है कि सुधार-प्रस्ताव का आधार जातिगत साम्प्रदायगत नहीं हैं, बल्कि वर्गगत है। धनी वर्ग हिन्दू हो अथवा मुसलमान प्रतिक्रियावादी है तथा शिक्षित मध्यम वर्ग प्रगतिशील विचारों का है, जो साम्प्रदायिक भेद-भाव

से अलग सम्पूर्ण समाज का सुधार चाहता है। इसके अतिरिक्त प्रासंगिक रूप से 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि' तथा 'कायाकल्प' में भी इस समस्या को प्रेमचन्द ने उठाया है और इसका स्पष्टीकरण किया है।

उग्रजी भी हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक समस्या को अपने उपन्यास 'सरकार तुम्हारी आँखों में' के चीफ सेक्रेटरी रंगीन खाँ के षड़यन्त्रों का पर्दाफ़ाश करने के माध्यम से उठाते है। रंगीन खाँ, एक तरफ़ तो राजा मदनसिंह के नाम पर मुसलमान प्रजा पर अत्याचार करता है तथा दूसरी तरफ राजा के अत्याचारों को मज़हबी रंग देकर मुसलमानों को दंगा करने को प्रेरित करता है। इस षड़यंत्र में अंग्रेज़ रेजिडेण्ट भी उसका सहयोग करता है।[1] अपने राजनीतिक स्वार्थों के कारण अंग्रेज़ अफसर स्वयं साम्प्रदायिक द्वेष को उभाड़ते थे और दंगे, उपद्रव आदि को प्रोत्साहन देते थे। 'चन्द हसीनों के खतूत' में उग्रजी ने कलकत्ते के साम्प्रदायिक दंगे में विषय में लिखते हुए उसका जिम्मेवार अंग्रेज़ी सरकार तथा नौकरशाही को ठहराया है। 'नौकरशाही शासन की शक्ति कूटनीति के दृढ़ गढ़ों और अड्डों के भीतर बैठकर हिन्दू-मुसलमानों के सौभाग्य गढ़ में सुरंगे लगा रही है और अपने भयङ्कर काले हाथों को दृढ़ कर बना रही है।'[2]

लेकिन इस युग के उपन्यासकारों में इस साम्प्रदायिक विद्वेष के प्रति सर्वत्र हेय दृष्टिकोण देखने में आता है और युगीन राजनीतिज्ञों तथा प्रगतिशील विचारकों की भाँति ये भी अपने उपन्यासों में वर्णित सन्दर्भों के माध्यम से इस साम्प्रदायिक कटुता को बहुत कुछ कम करने की दिशा में प्रयत्नरत देखे जा सकते हैं। अपने उपन्यासों में विभिन्न धरातलों पर दोनों जातियों में सहज, सौहार्द्र भावना का चित्रण करके प्रेम, शादी, खानपान तथा सांस्कृतिक एकता का प्रयत्न ये लेखक करते हैं। 'सरकार तुम्हारी आँखों में' में धर्मपुर रियासत के राजा मदनसिंह उस्ताद गुलाब खाँ की बेटी फ़िरोज़ी को अपनी विलासिता की पूर्ति के लिए उठा लाते हैं तथा गुलाब खाँ को क़ैद कर लेते हैं। दीवान रङ्गीन खाँ तथा अंग्रेज़ रेजीडेण्ट इसे साम्प्रदायिक उपद्रव का कारण बनाना चाहते हैं, लेकिन उस्ताद के हिन्दू तथा मुसलमान शिष्य संयुक्त होकर इस दमन का विरोध करते हैं तथा रङ्गीन खाँ का षड़यन्त्र असफल रहता है। लखनपुर की ही भाँति यहाँ भी हिन्दू-मुसलमान एक होकर अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह करते हैं। यह संयुक्त नेतृत्व दोनों जातियों की भावी एकता का संकेत प्रस्तुत करता है।

सामाजिक संस्कारों जैसे शादी-ब्याह, आदि द्वारा भी उपन्यासकारों ने दोनों

---

१. 'सरकार तुम्हारी आँखों में' : तीसरा संस्करण, १९२७, पृ० ७९

२. 'चंद हसीनों के खतूत' : आठवाँ संस्करण, १९२६, पृ० ११२

जातियों में एकता स्थापन की कोशिश की है। 'चन्द हसीनों के खतूत' में नर्गिस तथा मुरारी कृष्ण का अटूट प्रेम साम्प्रदायिक भावना का बहुत कुछ प्रतिकार करता है, लेकिन दंगे में उसकी मृत्यु हो जाने के कारण दोनों विवाह की परिणति तक नहीं पहुँच पाते। फिर भी प्रयत्न यही किया गया है कि साम्प्रदायिक भेद-भाव को मिटा कर प्रेम तथा विवाह सम्बन्ध स्थापित किए जायँ।

'कंकाल' में मंगल तथा गाला का विवाह इसी साहचर्य भावना का पोषक है। इस विवाह के माध्यम से प्रसादजी ने चंगेज़ खाँ तथा जयवर्धन जैसे दो ऐतिहासिक तथा प्रतिकूल वंशजों को जोड़ने का महत् प्रयास किया है। गाला तथा उसका पिता बादल गूजर जंगली आदिम संस्कृति के प्रतीक हैं, जिन्हें धर्म कोई बन्धन नहीं, वे केवल मनुष्य के रिश्ते से परिचित हैं।[1] गाला की माँ की आत्मकथा के माध्यम से लेखक ने ऐतिहासिक भूमिका में हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रश्न को उठाया है तथा अपना मन्तव्य स्पष्ट किया है। गाला की माँ मुगलानी होने पर भी कृष्ण की भक्त है, जायसी के पद्मावत का एकनिष्ठ प्रेम उसका जीवन-दर्शन है। उसके पूर्वज मिर्ज़ा जमाल को हिन्दी कविता एवं संस्कृत साहित्य से बेहद प्रेम था। वे जायसी के भक्तों में से थे। सोमदेव चौबे उनका मुसाहिब तथा कवि था। इस प्रकार लेखक कलात्मक ढंग से आधुनिक जीवन के समन्वित रूप को ऐतिहासिक कथानकों में पिरो कर व्यक्त करता है, जिससे हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य दृढ़ ऐतिहासिक भूमि पर प्रतिष्ठित हो सके।

तात्पर्य यह कि उग्रजी तथा प्रसादजी दोनों ही उपन्यासकारों ने इस साम्प्रदायिक विद्वेष को कम करने के लिये सूफ़ी कवियों का आश्रय लिया है। वस्तुतः सूफ़ी साहित्य इसका सर्वोच्च उपादान है भी तथा उसमें समन्वय की सफ़ल चेष्टा भी है। इस दृष्टि से सूफ़ी साहित्य दोनों जातियों की सांस्कृतिक धरोहर है। मतलब यह कि सामजिक तथा राजनीतिक धरातल पर दोनों जातियाँ चाहे जितना पृथकत्व महसूस करें, सांस्कृतिक तथा दार्शनिक धरातल पर वे अलग नहीं हो सकतीं। वस्तुतः कला साहित्य और संस्कृति की व्यापक मनोभूमि पर संकीर्णता उत्पन्न भी नहीं हो सकती। उस्ताद गुलाब खाँ हिन्दू-मुसलमान सभी के संगीताचार्य हैं। अतः हम कह सकते हैं कि सांस्कृतिक भूमिका पर ही सार्वदेशिक संस्कृति तथा विश्व संस्कृति का निर्माण सम्भव है।

शासक एवं शोषक वर्ग

वर्ग संघर्ष राजनीतिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। किन्हीं दो

---

१. 'कंकाल' : सातवाँ संस्करण १९२९, पृ० १९५

अथवा दो से अधिक वर्गों में जब तक परस्पर स्वार्थों का टकराव नहीं होता, राजनीतिक गतिविधियाँ अपने संश्लिष्ट प्रभाव से राजनीतिक चेतना एवं राजनीतिक दर्शन का निर्माण नहीं कर सकतीं। दृष्टि से आधुनिक भारतीय राजनीति अपनी पूर्व परम्परा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और चेतन सम्पन्न रही है, क्योंकि इसके अन्तर्गत एक-दो नहीं, कई-कई वर्गों का स्वार्थ-संघर्ष होता रहता है। विवेच्य काल में एक तरफ तो साम्राज्य-वादी शासन एवं राष्ट्रीय आन्दोलन का संचर्ष चलता है तथा दूसरी ओर जमींदार वर्ग तथा भारतीय कृषक वर्ग का संघर्ष होता है। साथ ही पूँजीपति वर्ग एवं मजदूर वर्ग का, जो बींसवीं शताब्दी की वस्तु हैं, संघर्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। इन राजनीतिक मंच के संघर्षों के अतिरिक्त सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भी इस काल में बहुत कुछ नये-नये परिवर्तन हुए, जिनकी प्रक्रिया भले मंदगति की रही हो, लेकिन उसने सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचे को प्रभावित किया। भारतीय समाज में अनेक संघर्ष स्थल थे, पुरुष के शोषण से मुक्त होने के लिए भारतीय नारी संघर्षरत हो रही थी, सवर्ण तथा उच्च जातियों के शोषण से मुक्त होने के लिये अछूत वर्ग तथा निम्न जातियों का संगठित प्रयत्न चल रहा था, जिसमें सवर्ण वर्ग को समझौता करना पड़ा। इस प्रकार सामाजिक धरातल पर तो रूढ़िवादी समाज से पीड़ित एवं शोषित विभिन्न वर्गों की विजय हो चुकी थी, लेकिन राजनीतिक एवं आर्थिक धरातल पर संघर्ष अब भी चल रहा था। परस्पर विरोधी शक्तियों में शक्ति-संचय की एक प्रतिद्वन्द्विता-सी चल गई थी। इस युग में जो विभिन्न राजनीतिक आन्दोलन हुए तथा जिन नये विचारों की स्थापना हुई उनका विवेचन करने के पूर्व शोषण तथा शासक वर्ग की स्थिति पर कुछ प्रकाश डालना हम आवश्यक समझते हैं, विशेष कर उपन्यास-साहित्य में उनका रूपकांकन कैसा किया गया है, यह देखना भी अनिवार्य है।

शासक वर्ग द्वारा शोषण

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं सुसंगठित शक्ति थी शासक एवं शोषण ब्रिटिश सरकार। दुनिया के नक्शे में साम्राज्यवादी शक्तियाँ समाप्त होने लगी थीं, लेकिन साम्राज्यवाद अपने अन्त के दिनों में अपने प्राणों की रक्षा के लिए दमन-नीति से काम ले रहा था। भारत में ब्रिटिश सरकार ने इस दमन-नीति से ही अपनी रक्षा करनी चाही। १९३०-३३ तथा १९४२ के आस पास तो सरकार का यह दमन-चक्र चरम सीमा पर पहुँच गया था, लेकिन इस युग के उपन्यासकार प्रायः इस दमन को अपने उपन्यासों में नहीं रख सके। केवल कुछ छिट-पुट संकेत ही इस सम्बन्ध में प्राप्त किया जा सकता है। राहुल सांस्कृत्यायन ने अपने उपन्यास 'जीने के लिए' में दो अंग्रेज पात्र कर्नल ज्याफ़रे तथा कर्नल जान्सन का चरित्र-चित्रण क्रमशः उदारवादी तथा साम्राज्यवादी प्रतिनिधि

के रूप में किया है। साथ ही रांगेय राघव के 'घरौंदे' उपन्यास में भी दो गोरे पात्र विंटइन और सिट्वैल का उल्लेख मिलता है, जिसमें से एक साम्यवादी है तो दूसरा साम्राज्यवादी एवं संकीर्ण है। और लेखक जब कि इनमें से किसी को भी सहानुभूति का पात्र नहीं समझता, लेकिन फिर भी उन्हें पूरी तरह घृणा का पात्र भी वह नहीं बना पाया है। वस्तुतः एक कठोर शासक तथा अत्याचारी अफ़सर के रूप में जनता अंग्रेजों से जो व्यापक घृणा का अनुभव कर रही थी—उस अनुभव का कोई चित्र ये उपन्यासकार नहीं दे पाते। यह बात जितनी रांगेय राघव के विषय में सही है, उतनी हो राहुल सांस्कृत्यायन के विषय में भी सही है। राहुलजी ने तो बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सिद्धान्त के समर्थन में कर्नल ज्याफ़रे को अतिशय मानवीय एवं उदारवादी चित्रित करते का प्रयत्न किया है। प्रेमचन्द में राष्ट्रीयता की जो आग प्रज्ज्वलित हो उठी थी, आगे चलकर लगता है वह धीरे-धीरे समाप्त होती गई। यहाँ तक कि इस युग का प्रमुख राजनीतिक उपन्यासकार यशपाल भी दमन-चक्र को राजनीतिक धरातल पर नहीं देख पाये। 'मनुष्य के रूप' में सोभा पर पुलिस बलात्कार करती है, लेकिन धनसिंह को भी गाय खाने के अतिरिक्त अंग्रेज़ों का और कोई शोषण दिखाई नहीं पड़ता। यशपाल का कट्टर नैतिकतावादी दृष्टिकोण उन पर इस कदर हावी हो गया है कि वे स्त्रियों पर किए जाने वाले इन कुकृत्यों को महत्त्व नहीं दे पाते।

दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह है कि युगीन उपन्यासों में साम्राज्यवाद का कोई भी प्रतिनिधि चरित्र नहीं मिलता, जिसके माध्यम से साम्राज्यवादी शोषण को स्पष्ट किया गया हो। साथ ही भारतीय नौकरशाही मनोवृत्ति का भी उपन्यासों में बहुत कम हो उद्घाटन हुआ है। वस्तुतः राजनीतिक जटिलता के कारण ही उपन्यासकारों ने अपने को इस संघर्ष से अलग रखा होगा।

पूँजीपति वर्ग

आधुनिक भारत में औद्योगिक विकास के फलस्वरूप इस वर्ग की उत्पत्ति मानी जाती है। ब्रिटिश सरकार प्रत्यक्षतः भले यह न चाहती हो कि भारत का औद्योगीकरण किया जाय, लेकिन जाने या अनजाने उसने औद्योगिक क्षेत्र में यहाँ काफ़ी प्रगतिशील कदम रखे। वस्तुतः भारत ही नहीं, सम्पूर्ण एशिया के लिए ही अंग्रेज़ों की आर्थिक नीति ही यह थी कि इन्हें सदैव आर्थिक दृष्टि से इंग्लैण्ड की कम्पनियों पर निर्भर रखा जाय तथा इंग्लैण्ड में निर्मित सामग्रियों के लिये इन्हें सदैव उचित बाज़ार बनाए रखा जाय। लेकिन युगीन राजनीतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहा था। विश्व राजनीतिक में अब औद्योगिक अर्थव्यवस्था का उदय हो रहा था, ऐसी दशा में भारत चाहकर भी मात्र कृषि तथा कुछ छोटे-मोटे कुटीर उद्योग तक ही सीमित नहीं रह

सकता था। साथ ही प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार को यों भी अपनी पुरानी नीतियों में कुछ परिवर्तन करना पड़ा। फलतः भारत में भी औद्योगिक विकास की योजनाएँ प्रारम्भ हुईं और कारखानों का निर्माण शुरू हुआ। एक महत्त्वपूर्ण तथ्य स्मरण रखने का यह है कि पूँजीपति तथा उद्योगपति की स्थिति में थोड़ा फ़र्क होता है। वैसे एक का विकास दूसरे में होता है, अतः दोनों एकदम भिन्न नहीं हैं। केवल इनमें कुछ परिस्थितियों का ही अन्तर है। औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था में दो स्तर होते हैं, एक प्रारम्भ का, जब उद्योग अपनी विकासावस्था में होता है और दूसरा तबका, जब कि वह पूरी तरह विकास प्राप्त कर चुका होता है। पहले स्तर में उद्योगपति की स्थिति होती है तो दूसरे में पूँजीपति की। यही कारण है कि पहला अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय, शक्तिसंपन्न तथा साहसी और जनता का हितैषी होता है, लेकिन दूसरा अपेक्षाकृत निष्क्रिय, कमज़ोर तथा कायर होता है जो केवल अपना स्वार्थ देखता है तथा जनता का भरपूर शोषण करता है। हिन्दी उपन्यास-साहित्य में उद्योगपतियों की इन दोनों भूमिकाओं को आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। इस दृष्टि से 'रंगभूमि' का जानसेवक उद्योगपति का उदाहरण है तो 'गोदान' के मि० खन्ना पूँजीपति के उदाहरण। लेकिन मोटे तौर पर प्रेमचन्द काल में पूँजीपति वर्ग पर अधिक नहीं लिखा गया, वस्तुतः भारतीय औद्योगिक क्षेत्र में अभी पूँजीपति वर्ग पैदा भी नहीं हुआ था, क्योंकि औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था का यह अभी प्रारम्भ भर था, अतः बड़े-बड़े उद्योगपतियों की भूमिकाएँ भी अभी देश तथा समाज के हित को ध्यान में रखकर ही निर्धारित होती थीं। उनका शोषक रूप अभी नहीं उभरा था, उस स्थिति में अभी ये पहुँच भी नहीं पाये थे। अभी तो इन्हें अपने अस्तित्व के प्रश्न पर ही काफ़ी संघर्ष करना था, क्योंकि यहाँ का बाज़ार इंग्लैण्ड की कम्पनियों के हाथ में थे अतः समस्या यह थी कि इन देशी उद्योगपतियों द्वारा निर्मित सामग्रियों की बिक्री कहाँ होगी। अतः अपने देश में इन उद्योगतियों ने देशी वस्तुओं के इस्तेमाल पर अधिक जोर दिया और स्वदेशी आन्दोलन को एक व्यापक स्वरूप प्रदान किया। स्वदेशी आन्दोलन को महत्त्वपूर्ण राजनीतिक आन्दोलन बनाने का श्रेय बहुत कुछ इन देशी उद्योगपतियों को ही है। इसके माध्यम से इन्होंने राष्ट्रीयता का भी प्रचार किया और अपने देश की वस्तुओं को अधिकाधिक प्रयोग में लाने की बात को राष्ट्रीयता से जोड़कर स्वदेशी आन्दोलन को सफल बनाया। उस युग में स्वदेशी वस्त्र पहनना तथा अपने देश की बनी हुई वस्तुओं का इस्तेमाल करना इसीलिए राष्ट्रीयता का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता था। इस युग के उपन्यासकारों ने भी उद्योगपतियों के लोक हितैषी तथा राष्ट्रवादी रूप को ही अपने उपन्यासों में ग्रहण किया। 'रंगभूमि' का जानसेवक एक ऐसा ही लोकहितैषी है, जो राष्ट्रीय भूमिका में भारतीय औद्योगिक प्रगति चाहता है, जिससे हिन्दुस्तान को और

अधिक ग़रीब तथा पीड़ित होने से बचाया जा सके। उसका कहना है—'हम देखते हैं कि इस देश में विदेश से करोड़ों रुपये का सिगरेट और सिगार आते हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि इस धन-प्रवाह को विदेश जाने से रोकें। इसके बगैर हमारा आर्थिक जीवन कभी पनप नहीं सकता।'[1] मिस्टर जानसेवक एक कुशल व्यावहारिक उद्योगपति के रूप में चित्रित है। वह मि० क्लार्क तथा राजा महेन्द्र में विरोध पैदा कर देता है, जिससे अपना उद्देश्य पूरा कर सके। तत्कालीन उद्योगपति एक तरफ़ तो जनता के नेताओं से सम्बन्ध रखते थे और दूसरी तरफ़ ब्रिटिश सरकार से भी सम्पर्कित होते थे जिससे परिस्थिति विशेष में दोनों का अलग-अलग इस्तेमाल किया जा सके। जानसेवक सचमुच उस युग के उद्योगपतियों का सच्चा रूप प्रकट करता है।

जैसा कि हमने स्पष्ट किया है पूँजीपति वर्ग चूँकि अभी नया-नया अपना निर्माण करने में लगा था इसलिए अभी उनकी भूमिका प्रतिक्रियावादियों जैसी नहीं बन पाई थी। उनमें जनता की भलाई तथा युगीन प्रगतिशीलता का आग्रह विद्यमान था। इस दृष्टि से ज़मींदार वर्ग से यह वर्ग थोड़ा भिन्न पड़ता था। क्योंकि ज़मींदार वर्ग घोर प्रतिक्रियावादी था, जबकि पूँजीपति वर्ग अपेक्षाकृत प्रगतिशील। इसीलिए यह वर्ग सरकारी उद्योग नीति के विरुद्ध जनता तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन करता है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'लज्जा' में लज्जा के पिता मिल मालिक तथा उद्योगपति हैं, लेकिन व्यापार सम्मेलन में स्वीकृत प्रस्तावों के सम्बन्ध में अपनी असहमति व्यक्त करते हैं तथा स्वदेशी व्यापार का समर्थन करते हैं।[2] 'गोदान' के खन्ना के विषय में लेखक की टिप्पणी है कि वह राष्ट्रीय आन्दोलन में दो बार जेल जा चुके हैं तथा अपने को जनता का आदमी समझते हैं। इस प्रकार उद्योगपति वर्ग का प्रगतिशील दृष्टिकोण यहाँ स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है।

यह बात और अधिक प्रमाणित इसलिए भी हो जाती है, क्योंकि १९३० ई० में भारतीय मिलों ने अपना जो घोषणापत्र प्रकाशित किया था, उसमें भी इस प्रगतिशीलता के लक्षण मौजूद थे।[3]

लेकिन आगे चलकर उद्योगपतियों की यह राष्ट्रीय भूमिका बहुत कुछ बदल जाती है। उनका पूँजीवादी प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण पूरी तरह उभर आता है और एक शोषक के रूप में उनका विकास होता है 'गोदान' में मिस्टर खन्ना के माध्यम से इस विकास को प्रेमचन्द संकेतित करते हैं। लेकिन यह केवल संकेत भर ही है। इसका

---

१. 'रंगभूमि' : ग्यारहवाँ संस्करण, १९५५, प्रथम भाग, पृ० ७४
२. 'लज्जा' : तीसरा संस्करण, १९२८, पृ० १३३
३. डॉ० पट्टाभि सीतारमैया : 'कांग्रेस का इतिहास'—परिशिष्ट, पृ० ५

विकसित रूप प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में ही प्रस्फुटित होता है। वस्तुतः यह काल सामंत युग का विघटन तथा सक्रिय पूँजीवाद के उदय का काल कहा जा सकता है। और यह भी है कि यह पूँजीवाद प्रारम्भ में राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थक होने के नाते उसे और गतिशील तथा शक्तिशाली बनाने में सहयोग करता है।

प्रेमचन्द के बाद यानी सन् १९३६-३७ के बाद भारतीय राजनीतिक आर्थिक जीवन में पूँजीवाद एक शोषक के रूप में उभर कर सामने आता है। जिसके लिए मजदूर आन्दोलन का संगठन आवश्यक समझा गया और जगह-जगह ट्रेडयूनियनों की व्यवस्था की गई, जिनके माध्यम से मजदूर वर्ग संगठित होकर इस पूँजीपति वर्ग के शोषण के खिलाफ़ अपना संघर्ष चला सके। उपन्यासकार भी इस नई स्थिति से अनभिज्ञ नहीं रहे, वरन् उन्होंने अपने उपन्यासों में इस परिवर्तित परिस्थितियों को रूपायित करने का पर्याप्त उत्साह दिखाया। यशपाल जी समाजवादी दर्शन के अन्तर्गत 'दादा कामरेड' तथा 'देशद्रोही' उपन्यासों में पूजीपति तथा मज़दूर वर्ग के इस उभरते हुए संघर्ष को चित्रित करते हैं। 'दादा कामरेड' की शैल के पिता उच्च व्यापारी हैं तथा पूँजीपति वर्ग के विचारों के प्रस्तोता हैं तथा अपनी लड़की को इस सम्बन्ध में इस प्रकार शिक्षा देते हैं—"बेटा, दान और दया एक बात है और अपनी जड़ काट लेना दूसरी बात है।—परन्तु यह दया नहीं, यह अपनी हस्ती मिटाना है। साधनहीन होकर तुम दया भी न कर सकोगी। मैं या तुम व्यक्तिगत त्याग कर सकते हैं, अपनी श्रेणी और समाज के प्रति विश्वासघात नहीं कर सकते। तुम चाहो तो मैं दस-बीस हज़ार रुपया इन मज़दूरों के बच्चों की पाठशाला या अस्पताल के लिए दे सकता हूँ परन्तु यह हड़ताल तो युद्ध है।—जिस प्रकार देश के प्रति कर्त्तव्य है, उसी प्रकार अपनी श्रेणी के प्रति भी हमारा एक कर्त्तव्य है।[१]" शैल के पिता की इस शिक्षा में हम पूँजीपति वर्ग के सिद्धान्त तथा उसके दृष्टिकोण को आसानी से देख सकते हैं। वस्तुतः पूँजीपति वर्ग अपनी सांस्कृतिक तथा मूल्यगत चेतना में भी धन के प्रभाव को इन्कार नहीं कर सकता। उसकी सम्पूर्ण चेतना मज़दूरों के शोषण से अर्जित धन के आधार पर निर्मित होती है और अपने धन तथा अस्तित्व के सवाल पर वह श्रेणीबद्ध होकर मज़दूरों के साथ मोर्चाबन्दी के लिए तैयार रहते हैं।

'विषादमठ' तथा 'महाकाल' उपन्यासों में क्रमशः चन्द्रशेखर तथा मोनाई ऐसे व्यापारी हैं, जो चोरबाजारी करके अकाल की परिस्थितियाँ पैदा कर देते हैं। आगे चलकर यही व्यापारी मानवीय तथा अपने सांस्कृतिक मूल्यों की उपेक्षा करके अत्याचार तथा भ्रष्टाचार से कमाये हुए पैसों के बल पर पूँजीपति के रूप में अपना विकास

---

१. 'दादा कामरेड' : चौथा संस्करण, १९५३, पृ० १४७-१४८

करेंगे । 'गिरती दीवारें' का कविराज भी इसी मनोवृत्ति का है, यद्यपि उसके पास न तो पूंजी है और न वह उच्च व्यापारी है लेकिन इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस समाज-व्यवस्था में शोषण की मनोवृत्ति कितनी प्रबल है ।

नौकरशाही तथा शिक्षित देशभक्त

समाज-शास्त्रियों का मत है कि वर्गीय आधार पर व्यक्ति समूहों की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना का निर्माण होता है लेकिन यह बात बहुत तर्कसंगत नहीं लगती, क्योंकि हमारे देश के इतिहास में प्राय: ऐसे उदाहरणों की भरमार मिलती है, जब एक ही वर्ग के लोगों में इस विषय में मत-वैभिन्य पाया जाता है । भारतीय समाज में मध्यम वर्ग की स्थिति तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के सम्बन्ध में उसके विभिन्न दृष्टिकोण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं । यहाँ एक ही शिक्षित मध्यम वर्ग ने दो भिन्न राजनीतिक दृष्टिकोण का दृढ़ता के साथ पालन किया है । ये विचार मिलते-जुलते भी नहीं बल्कि एक दूसरे के बिलकुल विरोधी हैं । अत: यह मानना सर्वथा समीचीन नहीं होगा कि एक वर्ग के लोग राजनीतिक विचारों में, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विचारों में अलग-अलग सोच ही नहीं सकते ।

शिक्षित मध्यम वर्ग के इस दृष्टि से दो मोटे विभाग किये जा सकते हैं, जिसका एक भाग तो ब्रिटिश सरकार के उन्मूलन में क्रियाशील था, जिसने राष्ट्रीय आन्दोलनों का संगठन किया तथा दूसरा प्रतिक्रियावादी तथा ब्रिटिश सरकार समर्थक रहा । यही वजह थी कि अंग्रेज़ यहाँ आवश्यकता से अधिक दिनों तक टिके रह सके, अन्यथा उनका सफाया बहुत पहले ही हो गया होता । वस्तुत: शिक्षित मध्यम वर्ग की सहायता से ही वे राज्य करने में सफल रहे । यही सोचकर अंग्रेज़ों ने अंग्रेज़ी शिक्षा की सीमित नीति अपनाई थी, क्योंकि इसमें अंग्रेज़ी पढ़ाकर स्वयं अपढ़ हिन्दुस्तानियों पर शासन करना ही मुख्य रूप से सिखाया जाता था । मैकाले की शिक्षा-योजना बहुत कुछ यही थी कि हिन्दुस्तानियों को अंग्रेज़ी पढ़ाकर सदा के लिए उन्हें अपना समर्थक तथा अपना दास बना लिया जाये ।

लेकिन यह भी सच है कि इन अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों में ही स्वाधीनता तथा राष्ट्रीयता की पहली चेतना जाग्रत हुई तथा परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन का संगठन किया गया । मध्यम वर्ग, समाज तथा देश का बौद्धिक तथा शिक्षित वर्ग था, अत: एकमात्र भौतिक स्वार्थों तक ही उसकी दृष्टि नहीं जाती थी, उच्च तथा विभिन्न राजनीतिक विचार-दर्शन के अध्ययन से उसे देश-सेवा, समाज-सेवा तथा अन्य कर्त्तव्यों की भी प्रेरणा मिलती थी । अतएव व्यावहारिक स्तर पर मध्यम वर्ग सदैव मौके की ताक में लगा रहा । 'प्रेमाश्रम' के ज्वाला सिंह, 'कायाकल्प' के गुरु सेवक सिंह तथा

'कर्मभूमि' के सलीम नौकरशाही तथा साथ ही साथ शिक्षित देश भक्त दोनों विचारों के प्रतिनिधि के रूप में पाठकों के सामने आते हैं। वस्तुतः सरकार की नींव मध्यम वर्ग का नौकरशाही वर्ग ही था, अतः उसके साथ संघर्ष के लिए शिक्षित मध्यम वर्ग के रूप में उसी का एक भाग सामने आया। कहने की आवश्यकता नहीं कि राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, बहुत कुछ, मध्यम वर्ग के पढ़े-लिखे तथा नौकरी पेशा लोगों के इन दो परस्पर विरोधी दलों का ही इतिहास है। इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलनकारियों को न केवल विदेशी शक्तियों का ही मुकाबला करना था, बल्कि उन्हें अपने ही विरोधी तथा अंग्रेज़ समर्थक भाइयों से भी संघर्ष करना था। अतः यह लड़ाई, इसीलिए अत्यन्त जटिल तथा दुरूह बन गई थी।

महाजन वर्ग

बीसवीं शताब्दी, सामाजिक विकास की दृष्टि से सामंतवाद के पतन तथा पूँजीवाद के विकास का काल माना जाता है। वस्तुतः अब तक सामंतवादी व्यवस्था जर्जर हो गई थी तथा पूँजीवाद नई शक्ति के साथ अपना विस्तार कर रहा था। गाँवों में भी पूँजीवादी शोषण का प्रारम्भ हो गया था और महाजनों का प्रभुत्व बढ़ गया था। पं० नेहरू इन महाजनों का विस्तृत विवरण अपनी आत्मकथा में देते हैं—"खेती से ताल्लुक रखने वाले सभी वर्ग, ज़मींदार, मालिक, किसान और काश्तकार सभी साहूकारों के जो कि मौजूदा हालतों में गाँवों की आदिमकालीन व्यवस्था का एक आवश्यक कार्य कर रहे थे, फंदे में फँस गये। धीरे-धीरे छोटे ज़मींदार और मालिक किसान दोनों के हाथ से ज़मीन निकल कर उनके हाथों में आने लगी और साहूकार ही बड़े पैमाने पर ज़मीन के मालिक, बड़े ज़मींदार—ज़मींदारवर्गीय बन गये। वे आमतौर पर शहर के रहने वाले थे, जहाँ वे अपना लेन-देन करते थे और उन्होंने लगान वसूली का काम अपने कारिन्दों के सुपुर्द कर दिया, जो इस काम को मशीनों की-सी तंगदिली और बेरहमी से करते थे।[१]"

महाजनों के इस शोषण में सरकारी क़ानून का संरक्षण भी उन्हें प्राप्त था, अतः यह शोषण और अधिक बढ़ता ही गया। उपन्यासकारों में प्रेमचन्द का ध्यान इस शोषण के विकराल रूप पर सबसे अधिक गया, क्योंकि वे गाँवों के लेखक थे और उन्होंने इस शोषण का अनुभव बहुत निकट से किया था। साथ ही स्वयं भी आर्थिक तंगी के कारण वे इस शोषण का शिकार रह चुके थे। 'गोदान' में होरी का शोषण महाजनों के द्वारा ही अधिक होता है। महाजनों के यहाँ सूद का व्यापार महत्त्वपूर्ण माना जाता है, जिसमें

---

१. पं० नेहरू : 'मेरी कहानी', पृ० ४१८

शोषण की चरम स्थिति पाई जाती है। किसान अगर किसी से कर्ज़ लेता है, तो फिर ज़िन्दगी भर उसकी तबाही केवल सूद भरने में ही हो जाती है, मूल का तो प्रश्न ही नहीं उठता। होरी के साथ यही सब घटित होता है। इस दृष्टि से 'गोदान' में कर्ज़ की समस्या भी एक प्रमुख समस्या है। 'गोदान' के महाजनों में झिंगुरी सिंह, मंगरू साह, दुलारी सहुआइन, पं० दातादीन, पटेश्वरी तथा नोखेराम आदि हैं जो गाँवों में सूद का व्यवसाय करते हैं तथा ग़रीब किसानों का शोषण करते हैं। धीरे-धीरे इनके चंगुल में पड़कर होरी जैसे न जाने कितने किसान अपनी ज़मीन से बेदखल कर दिये गये और उनकी जगह महाजनों ने ली तथा वे दास बनकर अपने ही खेतों में काम करने पर मजबूर किये गये। होरी की परिणति उस समय के सम्पूर्ण भारत के किसानों की नहीं तो कम-से-कम सम्पूर्ण उत्तर भारत के किसानों की परिणति का द्योतक तो मानी ही जा सकती है। वस्तुतः महाजनी शोषण का रूप भी अन्य शोषणों से कुछ कम भयंकर नहीं था।

सामंत तथा ज़मींदार वर्ग

प्रारम्भ में अंग्रेज़ों ने भारत में बिखरे सामंतों को समाप्त करके अपने राज्य का विस्तार किया, लेकिन १८५७ की क्रान्ति के पश्चात् जब सामंत वर्ग अपने अन्तिम प्रयत्न में अंग्रेज़ों को खदेड़ने में पूर्णतः असफल रहे, तो शेष सामंती राज्यों को अंग्रेज़ों ने छेड़ना उचित नहीं समझा। लेकिन उन पर राजनीतिक एजेण्टों की निगरानी रखी गई। आगे चलकर बीसवीं शताब्दी में जब राष्ट्रीय आन्दोलन अधिक व्यापक रूप में सामने आया, सरकार ने इन देशी रियासतों को संरक्षण देने की नीति की घोषणा की। जो सरकार कभी इन राजाओं के विरुद्ध रह चुकी थी, अब उनका प्रबल समर्थक बन गई और राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रतिक्रिया में कुछ अंग्रेज़ों ने तो यहाँ तक कह डाला कि ब्रिटिश भारत को भी विभिन्न राज्यों में विभाजित कर देना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन राजाओं का अस्तित्व सरकार की कृपा पर निर्भर था तथा उनके हक़ में यही अच्छा था कि भारत को स्वतन्त्र न किया जाय। ये सामंत अक्षरशः सरकारी नीति का ही पालन करते थे।

इन राजाओं की शिक्षा-दीक्षा विदेशी ढंग की तथा विदेशी अध्यापकों के द्वारा सम्पन्न की जाती थी, जो उन्हें प्रजा पालक बनाकर विलासप्रिय तथा अंग्रेज़ भक्त बनाने में अधिक सफल होती थी। 'सरकार तुम्हारी आँखों में' के राजा मदन सिंह विलासी बनते हैं, तो अपने फ्रेंच अध्यापक की शिक्षा के कारण ही। सामंतों तथा राजाओं को क्रूरतापूर्ण शासन करने का प्रशिक्षण इस शिक्षा के माध्यम से दिया जाता था ताकि जनता में ये राजा अपनी लोकप्रियता खो दें और आम जनता इनसे घृणा करने लग

जाय। दूसरी तरफ लोग अंग्रेज़ी सरकार में आस्था व्यक्त करें तथा उन्हें अपना सच्चा हितैषी समझें। ज़मींदारों के इस सरकारी संरक्षण के पीछे दुहरी चाल थी, जिसे हिन्दी उपन्यासकारों ने गहरे स्तर पर अनुभव किया। क्योंकि सरकार तथा सामंत दोनों का शोषण चक्र जनता के ऊपर और तीव्रता से प्रहार करने लगा। दोनों के शोषण के दायरे चूँकि अलग-अलग थे, इसलिए दोनों को इसकी भरपूर सुविधाएँ प्राप्त थीं, क्योंकि कोई भी अपना दायित्व नहीं समझता था, दोनों एक-दूसरे पर दायित्व को टालते रहते थे। शासन प्रबन्ध राजा करता था, लेकिन वह वास्तविक अधिकारी नहीं था और जो वास्तविक अधिकारी था, उसका सम्बन्ध प्रत्यक्षत: जनता से नहीं था।

हिन्दी उपन्यासकारों ने देशी राजाओं की विलासप्रियता का पर्याप्त चित्रण किया है। 'सरकार तुम्हारी आँखों में' में उग्रजी आजमगढ़ तथा धर्मपुर के राजाओं के विलासी चरित्र का वर्णन करते हैं, जो अंग्रेज युवतियों से बिहार करने के लिए इंग्लैण्ड की यात्रा करते हैं, जिस पर करोड़ों रुपये का खर्च होता है। दोनों राजाओं में परस्पर मतभेद का कारण भी यह प्रेम-प्रसंग ही बनता है, जिसके लिए वह अंग्रेज़ रेजिडेण्ट की सहायता भी लेना चाहते हैं। यही नहीं, इन राजाओं की यह विलासिता तो कहीं-कहीं अराजकता की स्थिति तक पार कर जाती है, जिससे इनके व्यक्तिहीन, तथा आदर्श और कर्त्तव्यहीन होने का पता चलता है। इस प्रकार सामंत वर्ग ब्रिटिश सरकार से प्राप्त अधिकारों का उपभोग उसी प्रकार करते थे, जिस प्रकार सरकार करती थी। धर्मपुर रियासत के राजा मदनसिंह बलात्कार के लिए फ़िरोज़ी को उठा ले जाते हैं, जब कि फ़िरोज़ी स्वयं उनकी पुत्री है, क्योंकि उसकी माता के साथ भी वे बलात्कार कर चुके थे। राजा विशालसिंह छः शादियाँ करते हैं और उनकी अंतिम पत्नी मनोरमा उनकी लड़की के समान है, तो भी उससे विवाह करते हैं। इसी प्रकार 'अप्सरा' के राजा प्रतापसिंह वेश्याओं के नाच-गान में ही अपना अधिकांश समय व्यतीत करते हैं।

हम पहले कह आये हैं कि अंग्रेज़ी साम्राज्य सामंतों तथा देशी रियासतों के बल पर ही अधिक दिनों तक भारत में टिका रह सका। वस्तुत: इन देशी राजाओं ने माध्यम की भूमिका निभाई और जनता तथा सरकार के बीच सदैव सरकारी एजेण्ट के रूप में काम किया। सम्भवत: राष्ट्रीय आंदोलनकारियों का संघर्ष इसलिए भी काफ़ी जटिल बना, क्योंकि अपने देश के राजाओं के शोषण के खिलाफ़ उनके लिए संघर्ष की यह नई स्थिति थी, जिससे उनका नया-नया ही पाला पड़ा था। हिन्दी उपन्यास-लेखक विशेषकर प्रेमचन्द युग के बाद का लेखक इस तथ्य से भलीभाँति अवगत हो चुका था और सामंतों तथा ज़मींदारों की दुहरी चालों को अच्छी तरह समझ रहा था। नागार्जुन 'रतिनाथ की चाची' में रायबहादुर दुर्गानन्द सिंह की धार्मिक श्रद्धा पर व्यंग्य

करते हैं। माँ के श्राद्ध में सम्पूर्ण भारत के महापण्डितों की सभा बुलाई जाती है और सात दिनों तक शास्त्रार्थ चलता रहता है। ये पण्डित रायबहादुर दुर्गानन्दजी को 'धर्म दिवाकर' की उपाधि से विभूषित करते हैं।'[1] आगे चल कर लेखक राय-बहादुर दुर्गानन्द के शोषण का विवरण प्रस्तुत करता है तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि सामंत वर्ग का धर्म भी शोषण एवं अत्याचार पर ही टिका है। समाज के 'धर्म दिवाकर' सबसे बड़े अत्याचारी हैं।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' 'संघर्ष' में प्रेमचन्द की भाँति राजासाहब के शोषण का पूरा विवरण प्रस्तुत करते हैं। राजासाहब को—'जब हाथी खरीदना होता है, घोड़ा खरीदना होता है, या मोटर, तब चन्दा लिया जाता है।'[2] अपने इस शोषण-पूर्ण अस्तित्व को बनाये रखने के लिये देशी नरेश समय-समय अंग्रेज अफ़सरों की खूब आवभगत किया करते थे। उनको दावत पर बुलाते थे। तथा उनके लिए तरह-तरह की सामग्रियाँ भेंट में प्रस्तुत करते थे। कौशिकजी के अनुसार अनेक रियासतों पर कर्ज का भार इसलिए बढ़ा, क्योंकि राज्याधिकारियों को दावत देने में उसने खुलकर खर्च किया। इसके अलावा ज़िलेदार इन राजाओं से अलग नजराना लिया करता था। इन सब का भार अन्ततः ग़रीब जनता को उठाना पड़ता था। इसके अतिरिक्त उन पर जो डाँट-फटकार पड़ती थी सो अलग। कौशिकजी इस सम्बन्ध में मौलिक तथा सूक्ष्मद्रष्टा होने का प्रमाण पेश करते हैं और सामंती व्यवस्था के अत्याचार तथा शोषण को केवल एक छोटे-से सूत्र के माध्यम से सफलतापूर्वक व्यक्त कर देते हैं। उनका निष्कर्ष यह है कि जिस रियासत की राजधानी जितनी ही अधिक सुख-सुविधाओं से सम्पन्न होगी, उस रियासत के गाँव उतने ही अधिक पिछड़े एवं निर्धन होंगे। राजा के विषय में कौशिक-जी बताते हैं कि उन्हें दो रानियाँ हैं, अनेक रखेलियाँ हैं, फिर भी रियासत की कोई सुन्दर युवती राजा के विलास से नहीं बच पाती। शोषण का इतना स्पष्ट विवेचन करने के बावजूद भी लेखक अन्त में राजा साहब के लिए सुयोग्य सचिव का प्रबन्ध करके सामंती व्यवस्था की ही स्थापना करता है। उसका चिन्तन एक सीमा तक पहुँचकर लगता है कि अवरुद्ध हो गया है और सामाजिक प्रगतिशील व्यवस्था की ओर उसका ध्यान नहीं जा पाया है।

इसके अतिरिक्त 'विषादमठ' तथा 'महाकाल' इन दोनों उपन्यासों में भी जमींदार वर्ग के नृशंस शोषण को स्पष्ट किया गया है। जमींदार चट्टोपाध्याय तथा दयाल का चरित्र कोई काल्पनिक नहीं है, वे इस यथार्थ दुनिया के ही चरित्र हैं। इन्हीं

---

१. 'रतिनाथ की चाची' : प्रथम संस्करण, पृ० ६७

२. 'संघर्ष' : द्वितीय संस्करण, पृ० ६७

ज़मींदारों के कारण बंगाल में अकाल की स्थिति पैदा हुई, जिसमें लगभग ३० लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई। चट्टोपाध्याय स्वयं चोर-बाज़ारी करके अकाल की स्थिति लाता है। लेकिन अपने अत्याचारों को छिपाने के लिए साम्प्रदायिकता की आड़ लेकर सारी जिम्मेदारी मुस्लिम सरकार पर डालता है।[1] वह चोरबाज़ारी से धन कमाता है और साथ ही भूखे किसानों की विवशता का लाभ उठाकर उनकी ज़मीनें खरीद लेता है। भारतीय औद्योगिक नगरों में जो मज़दूर हैं, वे चट्टोपाध्याय जैसे सामंतों के अत्याचारों एवं शोषण की ही उपज हैं। ये मज़दूर कभी किसान थे, लेकिन ज़मींदारों तथा महाजनों के शोषण ने इन्हें गाँवों से अपना बोरिया-बिस्तर समेट कर शहर में मज़दूरी करने को मजबूर होना पड़ा। 'महाकाल' का ज़मींदार दयाल अपने वर्ग की सभी विशेषताओं का प्रतिनिधि चरित्र है, जिसमें अहंकार, अत्याचार तथा विलास आदि की सभी विशेषताएँ मौजूद हैं। अहंकार के कारण वह स्वयं को सबसे बड़ा प्रजा-पालक समझता है और साथ ही उन्हें अपनी बन्दूक की गोलियों का शिकार भी बनाता है। अमृतलाल नागर इन सामंती-व्यवस्था के प्रजापालकों पर तीखा व्यंग्य करते हैं—'दयाल ज़मींदार को शराब की एक बूँद तड़पा रही थी और दयाल की प्रजा को चावल की एक कनी। कैसा विचित्र साम्य था।'[2] साम्राज्यवाद द्वारा टिकी हुई इस ज़मींदार-व्यवस्था में प्रलयंकारी घटना का होना अनिवार्य था। बंगाल का अकाल ब्रिटिश शासन तथा ज़मींदार वर्ग के नाम पर कलंक का-सा है। रांगेय राघव तथा नागरजी ने स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकारा कि अंग्रेज़ सरकार से कहीं अधिक उनके भारतीय सामंत तथा ज़मींदार अत्याचार करते हैं। अतः भारतीय स्वतन्त्रता की कामना करने वालों को न केवल अंग्रेज़ों से मुक्ति पाना था, बल्कि इन देशी रियासतों के शोषणपूर्ण चंगुल से भी अपने को मुक्त करना था। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था को ही बदलने की आवश्यकता थी, जिसमें शोषकों तथा शोषितों की परम्परित भूमिकाएँ समाप्त की जा सकें। हिन्दी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के माध्यम से इस आशय को काफ़ी कुछ स्पष्ट किया और आगे की स्थितियों के लिए लोगों को मानसिक रूप से तैयार रखने का प्रयत्न किया।

राजनीतिक आंदोलन

राजनीतिक आन्दोलनों से तात्पर्य उन तमाम आंदोलनों का है, जिन्होंने आधुनिक भारत को समवेत रूप से प्रभावित और परिवर्तित किया है। राष्ट्रीय आंदोलन

---

१. 'विषादमठ' : किताब महल प्रा० लि०, पृ० ३४

२. 'महाकाल' प्रथम संस्करण, १९४७, पृ० ८९

इसकी एक प्रधान शाखा है, जिसने आधुनिक भारत के निर्माण में सर्वाधिक योगदान दिया है। इसके अतिरिक्त राजनीतिक आंदोलनों के अन्तर्गत किसान आंदोलन, मज़दूर आंदोलन आदि प्रमुख आंदोलन रहे हैं, जिन्होंने आधुनिक भारतीय राजनीतिक तथा आर्थिक चेतना का निर्माण किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक युग में भारतीय राजनीति का स्वरूप अत्यधिक जटिल बनता गया तथा उसका क्षेत्र व्यापक होता गया, क्योंकि इसी काल में भारतीय राजनीतिक धरातल पर विभिन्न आंदोलन उभर कर सामने आये, जिनसे विभिन्न वैचारिक दृष्टिकोणों का निर्माण हुआ। इस दृष्टि से यह काल आंदोलनों का काल कहा जा सकता है।

वस्तुतः विदेशी सत्ता के खिलाफ़ जो भी आंदोलन संगठित किए गए, उनमें भावना-शक्ति का अनिवार्यतः आश्रय लिया गया, क्योंकि भावना के धरातल पर सब का लक्ष्य स्पष्ट तथा एक ही बिन्दु पर केन्द्रित था, जिसे सभी शिक्षित तथा अशिक्षित व्यक्ति समझ सकता था। इसके साथ ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी था कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कौन-सी राजनीतिक व्यवस्था स्वीकृत की जाय और शासन प्रबन्ध का कौन-सा रूप ग्रहण किया जाय। यह एक वैज्ञानिक राजनीतिक सिद्धांत माना जाता है कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध जिस वर्ग या संगठन के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन संचालित होता है, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राज्यसत्ता उसी के हाथ में आती है तथा नये शासन-प्रबन्ध की व्यवस्था उस वर्ग की आकांक्षाओं एवं स्वार्थों के अनुरूप ही होती है। १९३७ ई० में आठ प्रान्तों में कांग्रेसी सरकार की स्थापना इसी दिशा में प्रयत्न कहा जा सकता है। प्रश्न अब केवल स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने का नहीं था, वरन् यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण हो गया कि स्वाधीनता के पश्चात् कैसी शासन-पद्धति अपनाई जाय। इस सम्बन्ध में अनेक नेताओं में परस्पर पत्र-व्यवहार भी हुए। ताकि कुछ भावी शासन व्यवस्था का रूप तय किया जा सके।

जैसा कि हम कह चुके हैं, आधुनिक भारत में शासक एवं शोषक वर्ग के तीन मुख्य स्वरूप थे। तथा उनसे मुक्ति पाने के लिए तीन मुख्य शक्तियों का संगठन कायम हो चुका था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शोषण से मुक्त होने के लिए मुस्लिम लीग और मद्रास की जस्टिसपार्टी को छोड़कर अन्य सभी राजनीतिक दल कांग्रेस के नेतृत्व में संघर्ष कर रहे थे। जमींदार वर्ग के शोषण से मुक्त होने के लिए किसान-आन्दोलन का सूत्रपात हो गया था और पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध मज़दूर आन्दोलन भी संगठित हो चुका था।

कांग्रेस एक प्रकार की राष्ट्रीय संस्था थी, अतः उसे पार्टी की संज्ञा देना उचित नहीं। क्योंकि सभी वर्गों तथा विचार-धाराओं के लोग इसके नेतृत्व में संघर्ष कर रहे थे। सामान्य जनता की ओर से उसे स्वयंसेवक तथा कार्यकर्त्ता प्राप्त हो रहे थे।

तथा सम्पत्तिशाली वर्ग उसकी आर्थिक सहायता कर रहा था। इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का उदाहरण प्रस्तुत कर रहा था। एक तरफ जहाँ विदेशी सरकार से मुक्त होना आवश्यक था, वहीं देशी ज़मींदारों तथा पूजीपतियों से मुक्त होना भी कम आवश्यक नहीं था। बल्कि यह तो विशुद्ध राष्ट्रीय राजनीति की समस्या थी। दरअसल भारतीय राजनीति का यह समय राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय धरातलों के अन्तर्विरोध का समय कहला सकता है। इस अन्तर्विरोध ने भारतीय राजनीति को बहुत कुछ जटिल बनाकर छोड़ा। सम्पत्तिशाली वर्ग अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका पर साम्राज्यवादी शोषण से मुक्त होना चाहता था, लेकिन दूसरी ओर वह राष्ट्रीय भूमिका पर स्वयं शोषण करने के लिए सत्ता हथियाने को प्रस्तुत था। सामान्य जनता को एक तरफ तो साम्राज्यवादी शोषण से मुक्त होना था तथा दूसरी ओर पूंजीपति वर्ग के शोषण से भी छुटकारा पाना था। इस अन्तर्विरोध के कारण कांग्रेस दो दलों में विभाजित हो गई—दक्षिणपंथी तथा वामपंथी। कांग्रेस के बाहर साम्यवादी दल उपर्युक्त विचार धारा को स्वीकार करके उसका और अधिक प्रचार करने में लगी थी। वस्तुतः साम्यवाद राष्ट्रीयता पर विश्वास नहीं करता, उसके अनुसार साम्राज्यवादी देश एक बड़ा पूंजीपति होता है, जिसके शोषण से मुक्ति के लिए किसान तथा मज़दूर वर्ग को संगठित किया जाना चाहिये। साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर अपनी स्थापना चाहता है। उसका यह स्पष्ट मत है कि राष्ट्रीय आन्दोलन की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि किसान तथा मज़दूर अपनी राजनीतिक शक्ति को संगठित करें। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक भारतीय राजनीति में इन विभिन्न आन्दोलनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके इस महत्त्व को देखते हुए इन आन्दोलनों पर अलग-अलग विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

राष्ट्रीय आन्दोलन

ब्रिटिश सरकार की नीति, दमन तथा भारतीय नौकरशाही वर्ग के शोषण तथा अनाचार का विस्तृत विवेचन हम कर चुके हैं। वस्तुतः इसी के सन्दर्भ में राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास समझा जा सकता है।

राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास की दृष्टि से भारतीय इतिहास के वर्ष १९१७ और १९१९ ई० महत्त्वपूर्ण वर्ष माने जा सकते हैं, क्योंकि इन्हीं वर्षों में कांग्रेस ने जनता की संस्था के रूप में अपनी भूमिका स्पष्ट की और गांधी जी के नेतृत्व में सम्पूर्ण भारतीय जनता का आन्दोलन बनी। इससे पूर्व बंग-भंग आन्दोलन केवल बंगाल तक ही सीमित था। लेकिन इस आन्दोलन की व्यापकता सम्पूर्ण देश में फैलती गई। स्वतन्त्रता संग्राम का यह पहला अवसर था, जबकि राष्ट्रीय आन्दोलन को जनता का

इतना व्यापक समर्थन मिला। ऐसी दशा में हिन्दी उपन्यासकार ही क्योंकर इसके प्रभाव से वंचित रह सकता था। लेकिन हाँ, इतना अवश्य है कि सीधे-सीधे इन आन्दोलनों के विषय में बहुत कम उपन्यासकारों ने लिखा। अधिकांश लेखक प्रतीक शैली में ही इन आन्दोलनों का चित्रण करते हैं। 'रंगभूमि' में मिस्टर जानसेवक की मिल ब्रिटिश सरकार की प्रतीक है। ब्रिटिश सरकार से ये लेखक कहीं भी सीधा संघर्ष नहीं करते वरन् उसके संरक्षण में काम करने वाली संस्थाओं के साथ वे संघर्ष करते हैं। जैसे 'प्रेमाश्रम' में ज़मींदारों से तथा 'मनुष्यानन्द' में म्युनिसपैलिटी से संघर्ष होता है। लेकिन सरकार सदैव इनकी मदद को प्रस्तुत रहती है।

चतुरसेन शास्त्री 'आत्मदाह' में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों की राजनीतिक स्थिति तथा दृष्टिकोण का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। सुधीन्द्र महात्मा गाँधी से प्रभावित है, लेकिन आज़ादी लेने से पहले वह कुछ समाज-सुधार का कार्य करना चाहता है। लेकिन जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड से क्षुब्ध होकर राष्ट्रीय आन्दोलन का सक्रिय कार्यकर्त्ता बन जाता है और कई वर्षों तक अपना जीवन जेल में बिता देता है।

आगे चलकर हिन्दी उपन्यासकारों में केवल यशपाल जी राष्ट्रीय आन्दोलन को अपना विषय बनाते हैं और अपने उपन्यासों में प्रत्यक्षत: उसका विवेचन करते हैं। साम्यवादी होने के नाते भारतीय साम्यवादी दल की नीतियों के सम्बन्ध में प्रचारित भ्रांत धारणाओं का स्पष्टीकरण भी उनका उद्देश्य रहा है। 'देशद्रोही' में बद्री बाबू, विश्वनाथ तथा डा० खन्ना तीन प्रमुख राजनीतिक पात्रों का चरित्र-चित्रण हुआ है, जो क्रमशः कांग्रेस, समाजवादी तथा साम्यवादी दलों का प्रतिनिधित्व करते हैं। साथ ही एम० एन० राय की रेडिकल पार्टी तथा उसकी नीतियों का उल्लेख भी हुआ है। दूसरे महायुद्ध के सन्दर्भ में जो १९४२ ई० की क्रान्ति हुई उससे राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न एक साथ गुँथ गए और भारतीय साम्यवादी दल के सम्मुख पुन: एक अन्तर्विरोधी स्थिति उत्पन्न हो गई। डा० खन्ना मास्को ट्रेंड कम्युनिस्ट हैं, जहाँ उसे अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद की शिक्षा मिली है। सोवियत रूस में आक्रमण करने की संधि हुई तथा जर्मनी ने ब्रिटेन तथा फ्रांस पर आक्रमण कर दिया। डा० खन्ना मजदूरों को संगठित करने का यह सुनहला अवसर समझते हैं—'जब साम्राज्यवादी देश परस्पर युद्ध से भिड़े, एक-दूसरे देश के पूजीपति शासक श्रेणियों की व्यवस्था को निर्बल कर रहे हों, मेहनत करने वाली श्रेणी के लिए, अपने देश में शक्ति हथियाने का स्वर्ण संयोग है।'[1] परिणामस्वरूप वह भारत लौटकर मजदूरों का संगठस करते हैं, जिसमें राष्ट्रीय आंदोलन

---

१. 'देशद्रोही' : चौथा संस्करण, पृ० १३५

में सहयोग का कोई भाव नहीं है, बल्कि श्रेणी-संघर्ष के माध्यम से पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त करके सर्वहारा राज्य कायम करने का भाव है। इस प्रकार समाजवादी क्रान्ति की तैयारी में डा० खन्ना प्रत्येक समय लगे रहते हैं। राष्ट्रीय आंदोलन का विरोध करते हैं, क्योंकि उनके विचार साम्यवादी दल से निर्देशित होते हैं। साम्यवादी दल जापान के आक्रमण का भय दिखाकर तथा उसे आगे बढ़ने से रोकने के लिए अंग्रेजी सरकार का पक्ष समर्थन करता है, इसीलिए दूसरा महायुद्ध 'लोकयुद्ध' के नाम से अभिहित किया जाता है, क्योंकि इसमें रूस भी घिर जाता है। अगर रूस और जर्मनी की संधि भङ्ग न होती तो खन्ना पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध आन्दोलन करने में पीछे न रहते।

इस प्रकार लेखक ने डा० खन्ना के चरित्र के माध्यम से साम्यवादी दल की नीतियों का सफल चित्रण किया है। लेकिन इस चित्रण का दृष्टिकोण सर्वत्र तटस्थ रहा है। लेखक अपनी ओर से कहीं भी अतिरिक्त प्रयत्न नहीं करता कि साम्यवादी नीतियों का पाठक भी समर्थन करे। लेखक ने साम्यवादी दल की नीतियों के अतिरिक्त अन्य राजनीतिक दलों की नीतियों को भी अपने उपन्यासों में स्थान दिया है और उनका विवेचन भी पूरी सहृदयता के साथ प्रस्तुत किया है। विचारों के प्रति आस्था रखना कोई उपहासास्पद बात नहीं, हाँ विचारों के प्रति दुराग्रह नहीं होना चाहिये। यशपाल के विषय में यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि वे इस दुराग्रह के शिकार प्रायः नहीं हुए हैं। एक अन्वेषक की तरह उन्होंने समस्त राजनीतिक गतिविधियों का विकास प्रस्तुत किया है। 'देशद्रोही' का अन्त हमारी बातों का यथेष्ट प्रमाण उपस्थित करता है। डा० खन्ना की गद्दारी का पर्दाफ़ाश अन्ततः होकर रहता है और जनता उन्हें 'देशद्रोही' समझती है, जिसकी मृत्यु करा देनी ही उचित है, जैसा कि लेखक ने कराई भी है। वस्तुतः उपन्यास का कोई महत्त्वपूर्ण तथा गम्भीर और उदार चरित्र है तो वह मिस्टर खन्ना नहीं वरन् कांग्रेस-समाजवादी पार्टी का शिवनाथ है।

इसी प्रकार 'पार्टी कामरेड' में यशपालजी बम्बई के नाविक-विद्रोह का उल्लेख करते हैं। मदनलाल भँवरिया नामक गुण्डे के चारित्रिक परिवर्तन के लिये तथा राष्ट्रीय महत्त्व की घटना के रूप में इस विद्रोह का जिक्र हुआ है। लेकिन खेद है कि लेखक यहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन को मुख्य कथा के रूप में महत्त्व न दे सका। वस्तुतः राष्ट्रीय आन्दोलन का यह विद्रोह कम सार्थक नहीं था। लेकिन लेखक उसकी व्यापकता तथा उसके महत्त्व को भली भाँति प्रस्तुत नहीं कर सका।

आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में सामयिक राजनीति का बहुत गम्भीर विवेचन प्रायः नहीं मिलता, जबकि इस काल में महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संगठनों का विकास हो रहा था तथा राष्ट्रीय आन्दोलन जैसा व्यापक राष्ट्रीय संगठन अपनी चरम सीमा पर

पहुँच चुका था। राष्ट्रीय आन्दोलन की यह व्यापकता तथा गहराई महत्त्वपूर्ण विषय बन सकती थीं। आन्दोलन सफल भी रहा और राजनीतिक दृष्टि से भारत आजाद भी हुआ, लेकिन हिन्दी के अधिकांश उपन्यासकार इन सामयिक राजनीतिक गतिविधियों से तटस्थ ही बने रहे।

किसान आन्दोलन

स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में भारतीय किसान वर्ग पर राष्ट्रीय नेताओं ने अधिक ध्यान नहीं दिया। राष्ट्रीय कांग्रेस तथा अन्य राजनीतिक दल केवल शहरी जनता को ही संगठित करने में लगे रहे। उनकी दृष्टि में यह शहरी जनता ही शक्ति का मूल्य आधार बन सकती थी। दूसरी बात यह थी कि राजनीतिक नेताओं में अधिकांश शहरी मध्यवर्गीय परिवारों से ही आये थे, अतः गाँवों की समस्याओं को ये समझ भी नहीं पाते थे। फिर भी उनके नेतृत्व को व्यापक नेतृत्व की संज्ञा दी गई। वस्तुतः इसीलिए, कई विचारक आधुनिक भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को मध्यवर्गीय असन्तोष का उभार कहकर पुकारते हैं। क्योंकि देश की अधिकांश जनता राजनीतिक चेतना सम्पन्न नहीं थी। इसका कारण यह भी था कि राष्ट्रीय विचारधारा न केवल व्यापक किसान समुदाय की उपेक्षा ही करती थी, बल्कि उसकी युद्ध-पद्धति भी किसानों के उपयुक्त नहीं थी। लेकिन किसान वर्ग भी धीरे-धीरे सामयिक परिवर्तित सन्दर्भों में अपने को रखकर देखने लगा था और अपनी समस्याओं के प्रति उनमें भी जागरूकता आ रही थी। अतः ज़मींदार वर्ग के शोषण के विरुद्ध वह भी अपनी मुक्ति का अभियान छेड़ने को प्रस्तुत हुआ। लेकिन किसानों की इस राजनीतिक चेतना का बहुत कुछ श्रेय इनको स्वयं प्राप्त है, किसी अन्य पार्टी तथा नेता को नहीं। स्वतंत्र प्रयास से ही किसानों ने अपना मुक्ति-आन्दोलन संगठित किया तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में सहयोग दिया। प्रेमचंद ने इन भारतीय प्रबुद्ध तथा जागरूक किसानों को अपने उपन्यासों में रूपायित किया है तथा उनकी भावी शक्ति का संकेत दिया है। यों तो 'सेवासदन' में ही बूढ़ा चैतू किसान नवीन युग के किसान चरित्र का आभास दे जाता है, लेकिन 'प्रेमाश्रम' में किसानों की संगठन शक्ति देखने को मिलती है। ज्ञानशंकर अत्याचार के सभी हथकण्डे अपनाता है। इज़ाफ़ा, लगान, बेदखली, पुलिस के जाली हथकण्डे, कारकूनों का दमन-चक्र इत्यादि। फलतः लखनपुर गाँव के किसानों का आन्दोलन प्रारम्भ होता है। किसानों के नेता कादिर, मनोहर तथा बलराज हैं, जो क्रमशः भाग्यवादी, मध्यम मार्गी तथा क्रांतिकारी हैं। कादिर मियाँ गांधीवादी अहिंसा के समर्थक हैं। मनोहर बलराज को हिंसक संघर्ष से बचने के लिए कई बार रोकता है तथा स्वयं परम्परित किसानी कार्य करते हुए ही जमींदार के अत्याचार के खिलाफ़ आवाज उठाता है। अंततः प्रेमचंद समाधान

पाने के प्रयत्न में 'प्रेमाश्रम' की स्थापना करके काल्पनिक समाजवाद की व्यवस्था करते हैं। प्रेमशंकर गांधीवादी हैं, जिन्हें किसान तथा ज़मींदार दोनों से द्वेष नहीं।[1] वह गांधीजी की भाँति ट्रस्टीशिप पर विश्वास करते हैं। उनके अनुसार वर्ग संघर्ष के बजाय ज़मीदारों का हृदय-परिवर्तन करके समझौता द्वारा किसानों की आर्थिक समस्या हल हो सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह समाधान कितना अस्वाभाविक और आदर्शवादी है।

'कर्मभूमि' में गाँधीवादी अमरकान्त स्वामी आत्मानन्द के नेतृत्व में किसानों का लगान-बंदी आन्दोलन चलाता है जिसमें गाँधीवादी समझौता पसंद होने के कारण वह स्वयं अंततः समझौता भी करा देता है। इस सम्बन्ध में डॉ० इन्द्रनाथ मदान का अनुमान है कि अमरकांत पं० गोविन्दबल्लभ पन्त का प्रतीक है।[2] १९१० ई० में राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में उत्तर प्रदेश में जो लगानबन्दी आन्दोलन चलाया गया था, उसका भी अन्त समझौते में हुआ, जिसमें प्रान्तीय सरकार से बातचीत करने के लिए राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर से पं० गोविन्द वल्लभ पन्त को नियुक्त किया गया था। आत्मानन्द उस युग के क्रान्तिकारी किसान-नेताओं का प्रतिनिधित्व करता है।

इसके अतिरिक्त 'अलका' उपन्यास में 'निराला' जी ने विजय तथा अजित सन्यासी को किसानों में नव-चेतना का मंत्र फूँकते हुए चित्रित किया है। स्वामी विवेकानन्द के ये शिष्य किसानों में नवजागरण लाने का पर्याप्त प्रयत्न करते हैं। 'निराला' जी का मत है कि जेल जाने से अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किसानों में शिक्षा का प्रचार करना है।[3] ज़मींदार वर्ग के शोषण के लिए भी उपन्यासकार एक ही उपाय सुझाता है कि यदि किसान शिक्षित हो जायँ तो शोषण का चक्र समाप्त हो जायेगा। शिक्षा का प्रचार महत्त्वपूर्ण रचनात्मक कार्यक्रम तो हो सकता है, लेकिन आधारभूत समाधान के रूप में इसे स्वीकार करना थोड़ा कठिन है। फिर भी 'निराला' जी का दृष्टिकोण राष्ट्रीय प्रगतिशीलता सूचक है और उन्होंने किसान आन्दोलन को गतिशील बनाने में पर्याप्त योगदान दिया है।

आगे चलकर वृन्दावनलाल वर्मा, कौशिक तथा नागार्जुन आदि उपन्यासकारों को भी हम किसान-आन्दोलन का चित्रण करता हुआ पाते हैं। कौशिकजी ने अपने उपन्यास 'संघर्ष' में किसान आन्दोलन को विषय बनाया है, लेकिन किसान-आन्दोलन

---

१. 'प्रेमाश्रम' सरस्वती प्रेस संस्करण, बनारस, पृ० १५२

२. डा० इन्द्रनाथ मदान : 'प्रेमचन्द चिन्तन और कला, प्रथम संस्करण, पृ० ३

३. 'अलका' : सातवाँ संस्करण, १९३३, पृ० ४९

की समस्त भूमिकाओं की उपलब्धि के बावजूद वे किसान-आन्दोलन का संगठन नहीं कर पाते।

नागार्जुन अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' में बिहार प्रान्त में उठते हुए किसान-आन्दोलन का विवेचन करते हैं। १९३७-३९ ई० के आस-पास बिहार में किसानों का एक सशक्त आन्दोलन चला था, नागार्जुन उसी का चित्रण करते हैं—'सभा, जुलूस, दफ़ा एक सौ चौवालिस, गिरफ़्तारी, सजा, जेल, भूख हड़ताल, रिहाई—यह सिलसिला किसानों को ठंडा नहीं कर सका।'[1] लेकिन किसानों का यह आन्दोलन अंततः यहाँ भी असफल ही रहता है, यद्यपि इसमें अदम्य उत्साह, सुदृढ़ संगठन शक्ति, पर्याप्त जागरूकता तथा दृढ़ता—सभी कुछ मौजूद है। वस्तुतः इस आन्दोलन की असफलता का श्रेय १९३७-३९ में निर्मित बिहार के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल को है, क्योंकि इस मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियों ने ज़मींदारों का ही पक्ष लिया और किसानों की वे उपेक्षा ही करते रहे। बिहार का यह किसान-आन्दोलन तथा तत्कालीन कांग्रेसी मंत्रियों द्वारा ज़मींदारों का पक्ष-समर्थन आधुनिक भारत की एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना है, जिसे आसानी से भुलाया नहीं जा सकता, क्योंकि इसका प्रभाव कांग्रेस पार्टी पर भी पड़ा जिस पर लोगों का विश्वास था। फलतः कांग्रेस के प्रति लोगों की आस्था लगभग समाप्त होने लगी और उनमें कांग्रेसियों के प्रति अविश्वास जन्म लेने लगा। साम्यवादियों के सारे आरोप कांग्रेसियों ने पूरे कर दिखाए जिससे स्वयं कांग्रेस में फूट पड़ी तथा उसके दो दल बन गए। लेकिन सुयोग्य नेतृत्व के अभाव में किसान आन्दोलन पूरी तरह सफल नहीं हो पाये। वस्तुतः राष्ट्रीय नेताओं के गाँवों के प्रति उपेक्षा-भाव के कारण ही सुयोग्य नेतृत्व की कमी बनी रही। अगर इन नेताओं का ध्यान गाँवों की ओर होता तथा इन लोगों ने गाँवों को भी अपना कार्य-क्षेत्र बनाया होता तो निश्चय ही किसान-आन्दोलन की शकल ही कुछ और होती।

वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास 'कुण्डली चक्र' का मास्टर अजित किसानों में जागृति लाता है। नये क्रूर ज़मींदार भुजबल के यह कहने पर कि इन छोटे आदमियों को इतना शिर चढ़ा लेने से ही हम लोगों पर तबाही आ रही है, अजित चेतावनी के स्वर में कहता है—'अभी तबाही नहीं आई है, परन्तु इन लोगों के साथ इसी तरह की बेदर्दी का बर्ताव रहा तो भयंकर फल होगा।'[2] और आगे हमें देखने को मिलता है कि किसान समाज-विरोधी कार्य करने को भी हाथों में लाठी लिए तैयार हो जाते हैं। किसान नेता मैकू कहता है—'सब लोग सच्चाई के पक्ष में हैं। काम पड़ता तो

---

१. 'रतिनाथ की चाची' : प्रथम संस्करण, पृ० १००

२. 'कुण्डली चक्र' : छठा संस्करण, १९३२, पृ० १४६

सब के सब लाठियाँ बरसा डालते ।'[१] तात्पर्य यह कि किसान-वर्ग नवीन चेतना से अपनी आँखें खोल रहा था ।

वृन्दावनलाल वर्मा इस सम्बन्ध में यह निष्कर्ष देते हैं कि सत्य तथा अहिंसा का सिद्धांत किसानों की समस्याएँ नहीं सुलझा सकता और न उनका आंदोलन ही इन सिद्धांतों का आश्रय ले सकता है । 'अचल मेरा कोई' उपन्यास का अचल शहरी मध्य-वर्गीय नेता है, जो राष्ट्रीय आंदोलन में जेल की सजा भोगता है । वह गांधीजी के सत्याग्रह तथा अहिंसा के सिद्धांत पर विश्वाश करता है । पंचम तथा गिरधारी भी ज़मींदार, थोबनभाते के षड्यन्त्र के कारण जेल की सजा काटकर तथा नई प्रेरणा तथा नई शक्ति लेकर गाँव वापस आते हैं । पंचम इनमें अधिक जागरूक है, उसने अचल की बात रट ली है कि ज़मींदार आदि शोषक वर्ग ने भगवान की महिमा का भ्रम फैला रखा है ।—'मुफ़त की कमाई-को ग़रीबों से पुजवाने के लिए भी भगवान के नाम की आड़ ले ली जाती है जिससे हम लोग उनको काम करने के लिए मजबूर कर सकें ।'[२] अचल से यह सुनकर वह वैचारिक स्तर पर बिलकुल परिवर्तित हो जाता है तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि—'थोबनभाते पड़े-पड़े खाता है, ग़रीबों को तंग करता है, मज़दूरों का खून चूसता है ।'[३]

वस्तुतः अशिक्षित किसान बहुत दिनों तक भगवान के भवंडले में ही पड़कर अपने अधिकारों को भूले रहे । अन्यथा उनकी शक्ति को कोई रोक नहीं सकता था । ज़मींदार के शोषण से मुक्त होने के लिए पंचम तथा गिरधारी कांग्रेस के सदस्य भी बनते हैं । अचल उन्हें सत्याग्रह तथा अहिंसा का पाठ पढ़ाता है । लेकिन किसानों को इस बात पर विश्वास नहीं होता कि थोबनभाते का हृदय-परिवर्तन किया जा सकता है इस प्रकार उचित निर्देशन के अभाव में ये किसान कुण्ठित तथा आन्तरिक वैचारिक मंथन के शिकार बन जाते हैं, जिसका स्पष्ट आभास चरित्रों के वार्तालापों में पाया जा सकता है ।[४]

राजनीतिक विचारधारा का व्यावहारिक उपयोग तथा उसका महत्त्व इसमें है कि सामान्य व्यक्ति भी उसे ठीक तरह से समझ सके तथा उसके जरिये अपनी समस्याओं का समाधान प्राप्त कर सके । जो पंचम कभी अचल के प्रवचन को तल्लीनता के साथ सुनता तथा उससे प्रभावित होता था, वही पंचम अब अपने व्यावहारिक ज्ञान से राज-

---

१. 'कुण्डली चक्र' : छठा संस्करण, १९३२, पृ० १४६
२. 'अचल मेरा कोई : तीसरा संस्करण, पृ० १२
३. 'अचल मेरा कोई' : तीसरा संस्करण, पृ० १५
४. 'अचल मेरा कोई' : तीसरा संस्करण, पृ० ५२

नीतिक कार्य करता है। अचल की अपेक्षा वह अधिक विकासशील है। विश्व-इतिहास में कई ऐसे महान व्यक्ति हो चुके हैं, जो निम्न वर्ग से उभर कर अपनी बौद्धिक प्रखरता तथा व्यावहारिक ज्ञान के संयोजन से भावी इतिहास का निर्माण करते हैं। पंचम का व्यक्तित्व भी प्राय: ऐसा ही कुछ आभास दे जाता है।

इसके अतिरिक्त अचल तथा पंचम के तुलनात्मक विवेचन के माध्यम से लेखक ने मध्यवर्गीय तथा निम्न वर्गीय सांस्कृतिक संस्कारों का संघर्ष भी उपस्थित किया है। लेखक गहराई में जाकर संस्कारों तथा सांस्कृतिक रुचियों का भी विश्लेषण करता है। जनता तथा नेता के बीच जो खाई है, उसे वह दोनों की सांस्कृतिक रुचियों का ही अन्तर मानता है। वस्तुतः शहरी नेता ग्रामीण आन्दोलनों के नेतृत्व के लिए उपयुक्त नहीं लगते—ऐसा लेखक सोचता है। तात्पर्य यह कि गांधीवादी विचारधारा को वर्मा जी शहरी संस्कृति की देन बताते हैं तथा इन नेताओं को ग्रामोफ़ोन की आवाज बताते हैं, जो केवल सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह आदि विषयों पर उपदेश देना भर जानती है। अहिंसा तथा सत्याग्रह से लड़कर मिलने वाली स्वतन्त्रता के विषय में पंचम कहता है—'बाबूजी' यह आज़ादी आप लोगों की होगी। हमारी और आपकी आज़ादी में अन्तर है।'[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भावी भारत, जो राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होगा, उसके विषय में भारतीय किसानों की कैसी व्यंग्यपूर्ण प्रतिक्रिया है। आज आज़ाद भारत के २३ वर्षों का इतिहास जानने वाला समझ सकता है कि आज से लगभग चौबीस पच्चीस वर्ष पहले कही हुई यह बात कितनी सारगर्भित और सही थी। इस प्रकार वर्माजी ने गांधीवादी दर्शन की जन-उपयोगिता पर भी प्रश्न-चिन्ह खड़ा कर दिया है। आज आज़ाद होने के बावजूद भी, यही कारण है कि किसान तथा मज़दूर शोषण से मुक्त नहीं हो सके हैं। इस सम्बन्ध में वर्माजी राष्ट्रीय कांग्रेस की युद्ध-नीति को ही दोषी ठहराते हैं, क्योंकि उसने किसानों को सत्य, अहिंसा तथा सत्याग्रह के शाब्दिक जाल में फंसाकर कुंठित कर दिया जिसके कारण किसान-आन्दोलन का स्वस्थ विकास नहीं हो पाया। वर्माजी यह स्वीकार करते हैं कि इस युद्ध-नीति से आज़ादी भले ही मिल गई हो—"लेकिन यह ज़रूर है कि थोबन के भाईबन्द बिलकुल नहीं डिगे हैं।[2]

वस्तुतः आज़ादी प्राप्त करने के इस सुगम तरीके ने आज़ाद भारत का नक्शा ही बदल दिया है और आज इस विचार के लोगों की कमी नहीं है जो यह मानते हैं

---

१. 'अचल मेरा कोई' : तीसरा संस्करण, पृ० २२३

२. 'अचल मेरा कोई' : तीसरा संस्करण, पृ० ५२

कि आज़ादी प्राप्त करने में अगर हमने कड़ा मूल्य चुकाया होता तो निश्चय ही हम उसे सँभालने की दिशा में गम्भीरतापूर्ण कदम रखते और पिछले २०-२५ वर्षों में जो धाँधलियाँ होती आई हैं वे कदापि न हो पातीं।

मज़दूर आन्दोलन

किसानों की दशा जब अत्यधिक दयनीय हो गई तो अधिकांश किसान सम्पत्ति-हीन होकर मज़दूर बनने पर बाध्य किये गये। लेकिन औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में सभी को शहर के कारखानों में काम मिलना मुश्किल था। अतः ये मज़दूर बड़ी संख्या में गाँवों में ही मज़दूरी करने पर मजबूर किये गये। इन खेत पर काम करने वाले मज़दूरों तथा शहरी कारखाने के मज़दूरों में बुनियादी फ़र्क था—एक जहाँ भाग्यवादी, अंधविश्वासी, शांतिप्रिय तथा अकेला था तो दूसरा जागरूक, संघर्षप्रिय तथा संगठित। सम्भवतः इसीलिए बहुत दिनों तक इन मज़दूरों का कोई सुदृढ़ राजनीतिक संगठन नहीं हो पाया और वे गाँवों में ज़मींदारों, महाजनों आदि के शोषण के शिकार बने रहे।

लेकिन यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं चल पाती। १६०८ ई० में तिलक के हिरासत में लिए जाने पर मज़दूर शहरों में विशाल हड़ताल आयोजन करते हैं, जिससे पहली बार इतिहास में उनका अस्तित्व मज़दूर आन्दोलन के रूप में उभर कर भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर स्पष्ट होता है। इन मज़दूरों के शोषण की प्रक्रिया भी दुहरी थी, इसलिए उनका संघर्ष भी दुहरा था। एक तरफ उन्हें अपने मिल-मालिकों से लड़ना था तो दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार से भी अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना था। इस प्रकार मज़दूर आन्दोलन का दायित्व राष्ट्रीय आन्दोलन की अपेक्षा बढ़ जाता है और अन्ततः मज़दूर आन्दोलन इस दुहरे दायित्व को सँभालने में असफल रहता है। यही कारण है कि राष्ट्रीय आंदोलन में मज़दूर वर्ग पीछे पड़ गया क्योंकि उसकी सम्पूर्ण शक्ति मिल-मालिकों के खिलाफ़ संगठित होने में समाप्त हुई जा रही थी।

वस्तुतः मज़दूर वर्ग की समस्या औद्योगिक युग की उपज है। मज़दूर वर्ग का शोषण मार्क्सवादी दर्शन का आधार है। भारत में औद्योगिक विकास के साथ-ही-साथ मज़दूर वर्ग तथा उसकी समस्याओं का जन्म तथा इस प्रकार मार्क्सवादी दर्शन का प्रचार हुआ। मार्क्सवाद की प्रेरणा से १६२६ ई० में साम्यवादी दल ने अखिल भारतीय मज़दूर संघ पर अपना अधिकार जमा लिया। नये नेतृत्व में मज़दूरों की चिंतन पद्धति तथा कार्य-पद्धति दोनों में अन्तर उपस्थित हुआ। इससे पूर्व एन० एम० जोशी आदि मज़दूर नेता क्रांतिकारी नहीं थे, बल्कि वे सुधार करना चाहते थे। लेकिन

इन नये क्रांतिकारी नेतृत्व के कारण मजदूर वर्ग पूँजीपति वर्ग का शोषण समाप्त करने के लिए कटिबद्ध था। इनका प्रेरणा-स्रोत समाजवादी देश रूस था, जहाँ मजदूरों का राज्य स्थापित हो गया था। पूँजीपतियों के विरुद्ध हड़ताल उनका मुख्य कार्यक्रम बना।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य पर इस दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि प्रारम्भ में यानी प्रेमचन्द-काल में प्रायः उपन्यासकार इस वर्ग की समस्याओं के प्रति बहुत अधिक जागरूक नहीं हो सके। इसका कारण यही हो सकता है कि कृषि प्रधान देश के लेखक होने के कारण औद्योगिक सभ्यता से उत्पन्न इस समस्या पर उनका ध्यान ही नहीं गया हो। लेकिन धीरे-धीरे यह स्थिति समाप्त होती है और हम देखते हैं कि प्रेमचन्द काल में ही कुछ-एक लेखकों को मज़दूरों का यह शोषण प्रभावित करता है तथा अपनी रचनाओं में वे इस नृशंस शोषण का विवरण प्रस्तुत करते हैं, जिसका उल्लेख हम शोषक एवं शोषित वर्गों के विवेचन के सन्दर्भ में पर्याप्त विस्तार के साथ कर चुके हैं और यह दिखा चुके हैं कि अघोड़ी बाबा तथा भंगी बुधुआ के नेतृत्व में किस प्रकार निम्न वर्ग संगठित होकर अपने प्रभुत्व की सूचना देता है। साथ ही प्रेमचन्द भी 'गोदान' में खन्ना की मिल में हड़ताल दिखाकर मज़दूर आन्दोलन की संगठन-पूर्ण शक्ति का परिचय प्रस्तुत करते हैं।

लेकिन मज़दूर आन्दोलन का पर्याप्त विस्तार से वर्णन यशपाल के अभाव में अधूरा ही रहता, लेकिन 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' तथा 'सिंहावलोकन' आदि उपन्यासों में ग्रहण किये गये मज़दूर आन्दोलन के व्यापक स्वरूप को देखते हुए ऐसा नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः हिन्दी उपन्यास-साहित्य में मज़दूर आन्दोलन को व्यापक परिप्रेक्ष्य देने वाले लेखक के रूप में यशपालजी अकेले ही याद किये जाते हैं। 'दादा कामरेड' में क्रान्ति भावना एवं वैचारिक दृष्टिकोण दोनों का समन्वित रूप प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक पच्चीस-तीस वर्षों में क्रान्तिकारी विचारधारा का भारतीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान था। यद्यपि इसमें भावात्मकता अधिक थी, चिन्तनशीलता अपेक्षाकृत कम, लेकिन भावना के स्तर पर राष्ट्रीयता का प्रचार करने में इस क्रान्तिकारी विचारधारा ने सबसे अधिक सहयोग दिया। इस विचारधारा ने देश-भक्ति से प्रेरित अनेक त्यागमयी एवं रोमांचकारी घटनाओं के द्वारा भारतीय युवा-मस्तिष्क को सदैव आकर्षित किया, लेकिन भारत की राजनीतिक प्रगति में इस विचार-धारा का महत्त्व धीरे-धीरे कम होता गया। क्योंकि गांधी के पदार्पण के बाद इस विचार-धारा को उचित प्रोत्साहन नहीं मिल सका। गांधीजी ने देश की राजनीतिक चेतना को जनता के साथ सम्बद्ध कर दिया। अतः ऐसे जनतंत्रीय परिवेश में क्रांतिकारी दल

का कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता था। क्रान्तिकारी दल समाज से विच्छिन्न तो था ही, लेकिन उसमें वैयक्तिक स्वतन्त्रता भी नहीं रह गई थी। यशपालजी इस क्रान्तिकारी दल को युग की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार समाजवाद की ओर मोड़ते हैं। वे स्वयं क्रान्तिकारी दल के सदस्य हैं। 'सिंहावलोक' में वे अपने क्रान्तिकारी जीवन-चरित्र का विवरण प्रस्तुत करते हैं। 'दादा कामरेड' की प्रारम्भिक कथावस्तु भी यशपाल के जीवन से बहुत कुछ मेल खाती है। क्रान्तिकारी दल छोड़कर हरीश कांग्रेस समाजवादी दल का सदस्य बनता है तथा साम्यवादी रफ़ीक के साथ मज़दूरों के बीच में काम करता है। रफ़ीक मज़दूरों की माँग पूरी करने के लिए मिलों में हड़ताल करना चाहता है। अपना उद्देश्य वह इन शब्दों में व्यक्त करता है—"पहले मज़दूरों, सब पेशों के मज़दूरों को आर्थिक प्रश्नों पर संगठित करना, फिर उनके संयुक्त मोर्चे के हाथ में राजनीतिक शक्ति देना, यही हमारी लाइन है।—जिसके हाथ में आर्थिक साधन है, वही राजनीतिक शक्ति का मालिक होगा।"[1] इसके ठीक विपरीत हरीश कांग्रेस की नीति के अनुसार पहले भारतीय स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ना चाहता है, और फिर मज़दूर की आर्थिक स्थिति सुधारना चाहता है। अंततः रफ़ीक की नीति स्वीकृत होती है और लाहौर के पंजाब मिल, सितारा मिल, डाल्टन मिल आदि अनेक कपड़ा मिलों में हड़ताल की जाती है।—"मिल मालिकों का कहना था कि मिलें उनकी वैयक्तिक सम्पत्ति हैं, मजदूरों की नहीं। उनकी शर्तें जिन मज़दूरों को मंजूर नहीं, वे काम न करें।"[2] लेकिन मज़दूर कहते हैं कि ये मिलें हमारी मेहनत से बनी हैं। हमारी मेहनत काटकर पूँजी तैयार की जाती है और नई मिलें खोली जाती हैं। इस वाद-विवाद से कोई हल नहीं निकलने का, अतः हड़ताल होती है। दोनों ओर से धैर्य की परीक्षा होती है तथा अन्त में मज़दूर सभाएँ बनती हैं तथा भारतीय मज़दूर वर्ग का इन सभाओं के माध्यम से एक मजबूत और शक्तिशाली रूप उभर कर सामने आता है।

'देशद्रोही' उपन्यास में भी पूँजीपति तथा मज़दूर वर्ग का संघर्ष चित्रित है। यहाँ मज़दूरों की हड़ताल के जवाब में मिल-मालिक भी 'लाक आउट' का तरीक़ा अपनाता है। लेकिन संघर्ष बढ़े, कि इसके पहले ही गांधीवादी चरित्र बद्रीबाबू जो कांग्रेसी हैं, मध्यस्थता के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। उनका इस सम्बन्ध में विचार यह है कि—"मालिक मज़दूर की श्रेणी हिंसा को दूर रखकर यदि उनमें प्रेमभाव हो, मालिक अपने को मज़दूर का रक्षक और पिता समझे तो उनमें द्वेष न होकर प्रेम

१. 'दादा कामरेड' : चौथा संस्करण, पृ० १४०
२. 'दादा कामरेड' : चौथा संस्करण, पृ० १४४

होगा। उनमें समाजवाद के झगड़े की गुंजाइश नहीं। वही तो रामराज्य का आदर्श है। 'फलतः जब बिजली और पानी कल के मज़दूर हड़ताल को सफल बनाने के लिए तत्पर हैं, बद्रीबाबू कांग्रेस दफ्तर में आमरण अनशन शुरू कर देते हैं। इस अनशन से मिल मालिकों का कोई नुकसान नहीं हुआ, वरन् इससे मजदूरों की कमर अवश्य टूट गई। क्योंकि अनशन की बात ने जनता का ध्यान आकृष्ट किया—"मज़दूरों की माँगों और कष्टों का प्रश्न पीछे पड़ गया, सामने आ गया बद्रीबाबू का अनशन और उनकी प्राण-रक्षा का प्रश्न।"[1] फलतः मज़दूरों और मालिकों में समझौते का आधार मज़दूरों का हित नहीं बन पाता बल्कि बद्रीबाबू की प्रतिष्ठा को इसका आधार बनाया जाता है।

यशपालजी का दृष्टिकोण यह है कि प्रेमभाव की नीति ही मालिकों के हित की नीति है। मालिकों के पास यदि धन की शक्ति है, तो मजदूरों के पास भी संगठन की शक्ति है। इसी संगठन-शक्ति के बल पर मज़दूर हड़ताल कराते हैं। मिल मालिक अपनी ओर से प्रेम-भाव नहीं रखते। यदि प्रेम-भाव रखते तो आज इतने बड़े पूँजीपति न बने होते। ऐसी दशा में प्रेम-भाव की नीति अपनाने का अर्थ है, अपनी माँगों के लिए संघर्ष न करना। शोषण की जो भयंकरता होती है, संघर्ष तथा हड़ताल उसमें परिवर्तन लाते हैं। लेकिन प्रेमभाव की नीति तो ज्यों-का-त्यों बने रहने की सीख देती है। मतलब यह कि सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार करके तथा जिन नियमों के आधार पर चल रहा है, उसे उन्हीं नियमों के आधार पर चलने दिया जाय।

'राजबीबी' समझौते का संदेश लेकर आती हैं और चाहती हैं कि मज़दूर बद्रीबाबू को अपना नेता मान लें। बद्रीबाबू चाहे जिन शर्तों पर भी हड़ताल बन्द करवा दें। मालिकों की ओर से निर्मित मिल कमेटी मज़दूर सभा को मज़दूरों की प्रतिनिधि कमेटी नहीं मानती, बल्कि बद्रीबाबू को मजदूरों का प्रतिनिधि नेता स्वीकार करती है। राजबीबी मज़दूर नेता मराठे से बद्रीबाबू के विषय में चर्चा करते हुए कहती हैं—"लेकिन आप लोग तो बद्रीबाबू पर विश्वास कर सकते हैं। मजदूरों के लिए ही तो बेचारे अनशन कर रहे हैं।" लेकिन मज़दूर नेता मराठे उनके इस अनशन का पोल खोलकर राजबीबी के सामने रख देता है—"मज़दूर के लिए कैसे अनशन करते हैं? मजदूर सभा को तो इसमें कुछ न पूछा है। वो तो मोहब्बत में अनशन करता है—मजदूर सभा के खिलाफ़ वो तो बोलता, लड़ो नई। लड़ो नई तो मालिक की बात है। मजदूर को तो अपना हक के लिए लड़ना है।[2]" लेकिन बद्रीबाबू के इस अनशन के

१. 'देशद्रोही' : चौथा संस्करण, पृ० ७९
२. 'देशद्रोही' : चौथा संस्करण, पृ० ९१-९२

कारण मज़दूरों के प्रति आम लोगों की सहानुभूति नहीं रही, अतः वे फिर कमज़ोर पड़ गये और अन्ततः बद्रीबाबू को उन्हें मध्यस्थ बनाना ही पड़ा। बद्रीबाबू की मध्यस्थता तथा फैसले का परिणाम यह हुआ कि रुपये में एक आना मज़दूरी बढ़ी। इतने बड़े शोर-शराबे के बाद अन्ततः परिणाम बड़ा ही हास्यास्पद निकला, क्योंकि बद्रीबाबू जैसे लोग मध्यस्थता करते हैं। लार्ड डफ़रिन ने एक बार राष्ट्रीय कांग्रेस के लिए सेफ्टी-वाल्ब' संज्ञा का प्रयोग किया था। सचमुच बद्रीबाबू तथा तथाकथित राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं में अधिकांश ऐसे ही लोग थे, जो ब्रिटिश सरकार के लिए 'सेफ्टीवाल्ब' का कार्य सम्पन्न करते हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार और राजनीतिक-चेतना

आधुनिक हिन्दी उपन्यास-साहित्य में मनोविज्ञान का प्रवेश पर्याप्त मात्रा में मिलता है। मनोविज्ञान ने इधर कुछ वर्षों में बहुत अधिक प्रगति कर ली है और साहित्य के विभिन्न अंग-प्रत्यंगों में उसका समावेश हो गया है विशेषकर कथा-साहित्य में तो मनोविज्ञान के सिद्धान्तों, दर्शनों तथा उसके निष्कर्षों तक को भी ग्रहण किया गया है। वस्तुतः हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की एक लम्बी शृङ्खला है, जिनमें मनोविज्ञान के निष्कर्षों को आधार बनाकर कथानकों तथा चरित्रों का विकास प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक हिन्दी उपन्यास-साहित्य में इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मनोवैज्ञानिक दर्शन का मूल सिद्धान्त यह है कि मनुष्य की समस्याएँ ज्यों-की-त्यों रहती हैं, परिवर्तन केवल उनके रूप में होता है। क्योंकि मनुष्यमात्र में आदिम प्रवृत्तियाँ तथा, घृणा, काम, अहम् आदि अब भी उसी रूप में मौजूद हैं, जिस रूप में वे सृष्टि के आदि में थे। इन प्रवृत्तियों से ही मानव-जीवन परिचालित होता है। तात्पर्य यह कि बाह्य समस्याओं के प्रति मनोवैज्ञानिकों की ही तरह कई मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार उपेक्षा भाव रखते हैं। बाह्य परिस्थितियाँ उन्हें गतिशील नहीं दिखाई पड़तीं, क्योंकि उनका निदर्शन करने वाली शक्तियाँ—सहज वृत्तियाँ, स्थिर हैं। इसलिए मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार राजनीति, समाज, अर्थ-व्यवस्था तथा संस्कृति किसी को भी महत्त्व नहीं देता। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि राजनीति, समाज, अर्थ-व्यवस्था तथा संस्कृति के निर्मित होने वाले युग तथा वातावरण का चित्रण न करके ये मनो-वैज्ञानिक उपन्यासकार किसी अन्य लोक तथा वातावरण का चित्रण करते हैं। इस प्रकार उनकी कृतियों में इन तत्त्वों की सम्पृक्ति अनिवार्यतः होती है। लेकिन इन तत्त्वों को वह अन्य उपन्यासकारों की तुलना में कुछ भिन्न ढंग से ग्रहण करता है। अन्तर्मन की स्थितियों का उद्घाटन करने के लिए ही मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार बाह्य सृष्टि के

व्यापारों का चित्रण करता है। इसमें भी अगर किसी लेखक के मन में कोई राजनीतिक आग्रह होता है तथा वह देश या समाज के प्रति कर्त्तव्य भावना से प्रेरित होता है, तो उसके चिन्तन का केन्द्र भी सामाजिक शक्तियाँ न होकर व्यक्ति ही होता है।

तात्पर्य यह कि मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों का विवेच्य-विषय व्यक्ति होता है तथा उसकी मानसिक गतिविधियाँ होतीं हैं। राजनीतिक तथा सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों को वह इस दृष्टि से देखता है कि उसने व्यक्ति का निर्माण किन रूपों में किया है, क्योंकि यह तो प्रमाणित तथ्य है कि व्यक्ति के निर्माण में सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का बहुत कुछ हाथ तो होता ही है। 'शेखर : एक जीवनी' में बाह्य परिस्थितियों के बन्धन में लेखक का दृष्टिकोण यही रहा है। यहाँ राष्ट्र एवं राजनीतिक चेतना के विकास को स्पष्ट करने की दृष्टि से राजनीतिक चित्रण तथा विवेचन नहीं हुआ है, बल्कि इसके माध्यम से लेखक ने अपने चरितनायक शेखर के व्यक्तित्व के विकास की विभिन्न परिस्थितियों पर विचार करते हुए उसके व्यक्तित्व-विकास को स्पष्ट किया है। यहाँ हिंसा और अहिंसा का विवेचन भी राजनीतिक न होकर तात्त्विक अधिक है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हिंसा को मनुष्य की मूल वृत्ति मानता है। राजनीतिक स्तर पर इसका विवेचन जिस सीमा तक किया गया है, वह शेखर की सर्वतोमुखी चेतना का आभास प्रस्तुत करने के उद्देश्य से ही किया गया है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार अक्सर राजनीतिक पात्रों को हिंसा-दर्शन के समर्थक तथा क्रान्तिकारी विचारकों के रूप में चित्रित करते हैं, क्योंकि हिंसा उनकी दृष्टि में मूल प्रवृत्ति है। जैनेन्द्र की 'सुनीता' का हरिप्रसन्न 'सुखदा' का लाल तथा 'विवर्त' का अजित सभी मनोवैज्ञानिक दर्शन से ही उत्पन्न क्रान्तिकारी हैं। उनकी कुछ मनोग्रन्थियाँ हैं जो उन्हें क्रान्तिकारी बनने की प्रेरणा प्रदान करती हैं। वे देश के लिए कोई बड़ा कार्य नहीं करते। शेखर को भी घुमा फिराकर लेखक ने क्रांतिकारी बनाना ही उपयुक्त समझा है, इसीलिये भिन्न दिशाओं में विकसित होने तथा कांग्रेस की सदस्यता लेने के बावजूद भी शेखर क्रांतिकारी दल में शामिल हुए बिना नहीं रहता।

दूसरी बात यह है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने राजनीति को स्त्री-पुरुष को मिलाने के माध्यम के रूप में ही बहुधा ग्रहण किया है। भगवती प्रसाद वाजपेयी राजनीति का एकमात्र उपयोग यही समझते हैं कि इससे नारी को स्वच्छन्द विचरण करने का उपयुक्त अवसर प्राप्त होता है। 'निमंत्रण' उपन्यास में मालती का चरित्र वे इसी रूप में चित्रित करते हैं। इस दृष्टिकोण को यशपाल भी व्यक्त करते हैं। उनकी जो भी नारी पात्र राजनीति में भाग लेती है, उसका जीवन स्वच्छन्दता की हद तक

पहुँच जाता है। वस्तुतः यशपाल पर तो फ्रायड का बहुत कुछ प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। 'दादा कामरेड' की शैल मूलतः इसी विचारधारा की अभिव्यक्ति करती है। उसके लिये क्रांतिकारी दल प्रेमी पात्रों को पाने का आश्रय-स्थल है।

हिन्दी में इलाचन्द्र जोशी अकेले ऐसे मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं, जिनमें सर्वाधिक राजनीतिक आग्रह देखा जा सकता है। उनके उपन्यासों में अनेक राजनीतिक विचारधाराओं का विवेचन मिलता है। वह व्यक्ति के साथ-ही-साथ समाज की सत्ता को भी स्वीकार करते हैं। यही नहीं, उनके पात्र बहुधा समाज एवं देश के निर्माण का कार्य करते देखे जा सकते हैं। लेकिन जोशीजी की यह राजनीति रुझान भी समाज और सामाजिक विज्ञान से निर्दशित नहीं होती, व्यक्ति के अन्तर्मन से ही उसकी प्रेरणा मिलती है। यही कारण है कि बावजूद बड़ी-बड़ी घोषणाओं के, उनके पात्र इस दिशा में कोई ठोस कार्य नहीं कर पाते। जोशीजी का वर्ग-विभाजन भी विचित्र है, उनकी दृष्टि में विश्व में केवल दो वर्ग हैं, स्त्री तथा पुरुष। इन्हीं दोनों वर्गों के पारस्परिक संघर्ष से भविष्य में क्रान्ति उत्पन्न हो सकती है और राजनीतिक चेतना का विकास भी हो सकता है। इस प्रकार राजनीतिक स्तर पर स्त्री और पुरुष के दो वर्ग मान लेना फ्रायड के वर्गीकरण को ही स्वीकार करना है। 'जिप्सी' का वीरेन्द्र सिंह इसीलिए साम्यवादी बनता है, क्योंकि उसकी माँ कहार की लड़की और धनी व्यक्ति की रखैल है। अतः ऐसे दम्पत्ति की उपज वीरेन्द्र सिंह मोटर, बँगला तथा धन-सम्पत्ति का मालिक होने पर भी साम्यवादी है, जो मार्क्सवाद को ही धर्म मानता है तथा उसी में देवी देवताओं तक की कल्पना करता है। जोशीजी के पात्र मनोग्रन्थियों के कारण ही इस रूप में विकसित होते हैं तथा उनके राजनीतिक विचार भी उन्हीं मनोग्रन्थियों से निर्धारित होते हैं। जोशीजी कहीं-कहीं समाजवाद की चर्चा भी करते हैं, लेकिन अपनी मानसिक अराजक बनावट के रूप में ही। उनके समाजवादी दृष्टिकोण का सूत्र है वैयक्तिक भूमि पर सामाजिक सत्ता का प्रस्फुटन।'[१] जोशीजी की यह वैयक्तिक भूमि, सामाजिक मनुष्य की नहीं, बल्कि मनोग्रन्थि पूर्ण व्यक्ति की है। इस प्रकार जोशीजी कोई स्वस्थ राजनीतिक दर्शन प्रतिपादित करने में सफल नहीं हुए हैं।

वस्तुतः मनोवैज्ञानिक उपन्यास कोई स्वस्थ राजनीतिक दृष्टिकोण व्यक्त भी नहीं कर सकता, क्योंकि राजनीतिक पक्ष से वह बहुत कुछ दूर रहकर व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों को ही अपना विषय बनाता है। ऐसी दशा में उसके लिए यह संभव नहीं है कि वह स्वस्थ राजनीतिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन कर सके। यही कारण है कि मनोवैज्ञा-

---

१. 'विश्लेषण' : प्रथम संस्करण, १९५४, पृ० ५४

निक उपन्यासकार जब अपने मूल प्रतिपाद्य विषय से उतर कर अन्य पक्षों का विश्लेषण करता है, तो मात्र भ्रांत धारणाओं का निरूपण करने के वह और कुछ नहीं कर पाता। मूल प्रतिपाद्य से अलग अन्य विषयों को विवेचित करने वाले प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों की नियति यही होती है।

⊙ ⊙ ⊙

अध्याय—६

धर्म

उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण में धार्मिक चेतना तथा धर्म सम्बन्धी नवीन अन्वेषण का अपना विशिष्ट स्थान है। वस्तुतः धर्म ही वह तत्त्व था, जिसने पुनर्जागरण-आन्दोलन को व्यापकता और गहराई प्रदान की तथा रीढ़ की हड्डी बनकर उसे अधिक मजबूत बनाया। सांस्कृतिक चेतना का अपना मूल रूप धार्मिक भावनाओं के आधार पर ही निर्मित होता है, अतः यह सांस्कृतिक आन्दोलन यदि धर्म से अनिवार्यतः सम्बन्धित रहा, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं दिखाई पड़ती। वस्तुतः किसी भी सांस्कृतिक आन्दोलन का उत्स धर्म होता है, धार्मिक अनुभूति की तीव्रता ही उसे शक्तिशाली तथा मजबूत बनाती है और धार्मिक सुधार सम्बन्धी कार्यक्रम ही उसके अंगभूत रचनात्मक कार्यक्रम होते हैं। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी का यह सांस्कृतिक आन्दोलन भी धर्म से अपना अधिकाधिक सम्बन्ध बनाए हुए दिखाई पड़ता है तथा इसका भी अभीष्ट बहुत कुछ धार्मिक सुधार सम्बन्धी कार्यक्रम प्रस्तुत करने का रहा है।

यद्यपि यह सांस्कृतिक आन्दोलन धर्म से अनिवार्यतः जुड़ा हुआ था और उसने धार्मिक विसंगतियों तथा बाह्याडम्बरों को अपनी आलोचना का विषय बनाया, लेकिन तो भी इस आन्दोलन ने धर्म के क्षेत्र में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं उपस्थित किया। ईसाई मिशनरियों का धर्म-प्रचार तथा धर्म-परिवर्तन का कार्यक्रम बदस्तूर चलता ही रहा और पुराने रूढ़िवादी सनातनधर्मी लोगों की कट्टरता कायम ही रही। इसका मतलब यह नहीं कि इस आन्दोलन में कोई त्रुटि थी अथवा यह प्रभावकारी तथा शक्तिशाली नहीं था, वस्तुतः यह आन्दोलन सामाजिक चेतना के विकास और राष्ट्रीयता की भावना जगाने में महत्त्वपूर्ण रूप से सहायक सिद्ध हुआ। इसके फलस्वरूप भारत-वासी अपनी संस्कृति और अपने इतिहास के प्रति सजग हुए और उनमें अपने इतिहास तथा संस्कृति के प्रति गौरव की भावना विकसित हुई। मतलब यह कि सामाजिक सुधार की भावना जो धर्म से अनिवार्यतः सम्बन्धित थी, इस आन्दोलन का महत्त्वपूर्ण अंग थी। वस्तुतः धार्मिक चेतना का सम्बन्ध सामाजिक सुधार सम्बन्धी कार्यों से अनि-वार्यतः होता है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान् फ़रकुहर भी लगभग यही विचार व्यक्त

करते हैं—'प्रत्येक देश में सामाजिक सेवा तथा सुधार का धार्मिक विचारों से घनिष्ट सम्बन्ध होता है और विशेषतः भारत में यह स्थिति आसानी से देखी जा सकती है।'[1]

वास्तव में सांस्कृतिक जागरण का धार्मिक आन्दोलनों द्वारा अभिव्यक्ति पाने का यही कारण था। भारत में सामाजिक जीवन को निर्देशित करने के लिए स्वतन्त्र संगठनों का अभाव था, अतः धर्म ही सामाजिक जीवन का निर्देशन तथा नियंत्रण करता था। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन के लिए धार्मिक विचारों में क्रान्ति अनिवार्य थी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मध्ययुगीन समाज-व्यवस्था जड़ता की स्थिति पर पहुँच चुकी थी। उस युग का स्वयं अपना कोई मानदण्ड तथा जीवन-दृष्टिकोण नहीं था। इस स्थिरता को गतिशील बनाने के लिये भक्ति-आन्दोलन को भी संगठित किया गया, लेकिन समाज को इसके बावजूद भी कोई नवीन जीवन-दृष्टिकोण नहीं प्राप्त हो सका। इसका कारण यह था कि भक्ति-आन्दोलन ने स्वयं कोई नया जीवन-दृष्टिकोण प्रदान न करके प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों और मान्यताओं को ही फिर से प्रतिष्ठित किया और इससे भारतीय समाज को बहुत कुछ स्थिरता भी प्राप्त हुई। समाज को इस आन्दोलन ने काफी समय तक सम्बल प्रदान करने वाला जीवन-दृष्टिकोण प्रदान किया, भले ही वह पुराना ही क्यों न हो। और यही कारण है कि इस जीवन-दृष्टिकोण ने एक लम्बे काल तक समाज को संचालित तथा संगठित करने का महत्त्वपूर्ण दायित्व सँभाला। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन की तीव्रता मन्द पड़ गई थी, इसलिए नये जीवन-दृष्टिकोण के निर्माण के लिए धर्म का आश्रय लेकर चिन्तन, मनन करना आवश्यक समझा गया।

अंग्रेजी राज्य की स्थापना तथा विस्तार के कारण भारतीय धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में बहुत कुछ परिवर्तन उपस्थित हुआ। एक तरफ ईसाई मिशनरियों का धर्म-प्रचारक-रूप उभर कर सामने आया तो दूसरी तरफ नवीन सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था की स्थापना हुई। अतः भारतीय समाज के सम्मुख एक बार फिर इन नवीन परिवर्तित परिस्थितियों के कारण सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रश्न उपस्थित हुआ। इस प्रकार मध्यकालीन सांस्कृतिक स्थिरता को दूर करने के

---

1. "Social services and reform are so closely in trwined with religious thought and effort in every land, and specially in India."

FARQUHAR : 'Modern Religious Movements in India.' 1915, Page-387.

लिये पुनः धार्मिक-आन्दोलनों का जन्म हुआ। लेकिन पिछले आन्दोलन की तुलना में यह आन्दोलन कुछ भिन्न धरातलों पर संगठित हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आन्दोलनों में न तो धर्म को ही वह दर्जा मिला, जो पिछले आन्दोलन में मिल चुका था और न ही ईश्वर को ही। इसमें दीन-हीन समर्पण की भावना का भी अभाव ही था। आधुनिक युग के नव-आलोक से प्रेरित इन नये चिन्तकों में सर्वत्र एक चुनौती का भाव देखा जा सकता है।

धार्मिक भावना से उद्वेलित इन सांस्कृतिक आन्दोलनों को दो दिशाओं में मुख्य रूप से संघर्ष करना पड़ा। एक ओर तो उन्हें पाश्चात्य संस्कृति के आक्रामक रूप से भारतीय संस्कृति की रक्षा करनी पड़ी और दूसरी ओर जड़ता को प्राप्त परम्परागत, रूढ़िवादी संस्कृति से बोझिल समाज को मुक्त करना पड़ा। पहली दिशा ने राष्ट्रीयता की भावना का विकास किया तो दूसरी ने व्यापक सामाजिक सुधार-आन्दोलनों का संगठन किया इस प्रकार इन सांस्कृतिक आन्दोलनों को सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने धर्म के वास्तविक स्वरूप को निर्धारित किया।

भारतवर्ष में धर्म तथा समाज का घनिष्ट सम्बन्ध माना गया था और धार्मिक मूल्यों तथा विधानों के आधार पर ही सामाजिक संगठनों का महत्त्व प्रदान किया गया था। अतः यहाँ भी सामाजिक संगठनों तथा व्यवस्थाओं में परिवर्तन के लिए धर्म में परिवर्तन की बात कही गई और धार्मिक संस्कारों को बदलने पर ज़ोर दिया गया। वस्तुतः प्राचीनकाल में हिन्दू धर्म सामाजिक संगठन, सामाजिक संस्थाओं तथा दैनिक जीवन का निर्देशन करता था। इसीलिए वर्णाश्रम व्यवस्था को वर्णाश्रम धर्म की संज्ञा दी गई थी। समाज और धर्म का यह गठबन्धन कालान्तर में भारतीय संस्कृति और समाज के विघटन का कारण भी बना, क्योंकि धर्म तथा समाज के इस गठबन्धन से धर्म के साधना, चिन्तन उपासना, भक्ति, तथा आध्यात्मिक पक्ष को भुलाकर उसके एकदम व्यावहारिक पक्ष पर ही ध्यान दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि धर्म का वास्तविक स्वरूप तथा उसकी सीमाएँ भुला दी गईं। इन सीमाओं तथा निश्चित स्वरूप के अभाव में धर्म विभिन्न व्यक्तियों, सम्प्रदायों, संस्थाओं का खिलौना बन गया और विशृंखलता, कुरूपता, शोषण आदि के रूप में वह अपना फैलाव करता गया।

धर्म और समाज के इस गठबन्धन का एक दुष्परिणाम और हुआ, जो अधिक महत्त्वपूर्ण तथा गम्भीर कहा जा सकता है, जिसका क्षेत्र सामाजिक था। समाज स्वाभाविक रूप से प्रगतिशील होता है तथा समय के बदलने के साथ उसके संगठनों तथा व्यवस्थाओं में भी परिवर्तन अपेक्षित होता है, अन्यथा वह जड़ता तथा मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। विवेच्य काल की कुछ ऐसी ही स्थिति रही, क्योंकि धर्म से निर्देशित होने के कारण समाज में जड़ता आ गई थी तथा धर्म से मुक्त, स्वतन्त्र दृष्टिकोण से समाज-

दर्शन का विकास ही नहीं हो सका था। ऐसी दशा में भारतीय जीवन-दर्शन तथा सांस्कृतिक मूल्य भी धर्म से प्रभावित रहे। धर्म से अलग सांस्कृतिक मूल्यों की कोई परिकल्पना ही किसी के मन में नहीं आई। यही कारण है कि विशुद्ध धार्मिक आंदोलनों को भी लोग सांस्कृतिक आंदोलन के नाम से पुकारते हैं। जब कि असलियत यह है कि धर्म संस्कृति का एक अंग भर है, पूरी संस्कृति नहीं। धर्म की अपेक्षा संस्कृति का विस्तार अधिक बड़ा होता है। साथ ही संस्कृति का बाध्य पक्ष जिसे हम सभ्यता तथा व्यवस्था की संज्ञा देते हैं, धर्म तथा विश्वास की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

इस प्रकार संस्कृति के मूल तत्त्व वे हैं, जो किसी देश, जाति तथा समाज के जीवन-दर्शन का निर्माण करते हैं। इस निर्माण में सामाजिक संगठनों तथा सभ्यता के बाह्य पक्षों का भी अपना हाथ होता है। किसी भी देश तथा समाज के सांस्कृतिक मूल्यों का निर्धारण उसके संगठन तथा उसकी व्यवस्था पर ही आधारित होता है। साहित्यकार इन्हीं सांस्कृतिक मूल्यों को अपनी रचना में प्रतिध्वनित करने का महत्त्वपूर्ण दायित्व-निर्वाह करता है। इस दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का हिन्दी-साहित्य में विशिष्ट स्थान है, क्योंकि इसमें धार्मिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों की प्रचुर अभिव्यक्ति मिलती है।

वस्तुतः हिन्दी उपन्यास का सम्बन्ध अपने समकालीन धार्मिक जीवन से प्रारम्भ से ही रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व की धार्मिक स्थिति ने इसके लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की। आलोच्यकाल के हिन्दू अपना धर्म वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत महाकाव्यों और पुराणों से उद्भूत मानते थे, जिसने त्रिमूर्ति, सर्वेश्वरवाद, ब्राह्मणों की सर्वोपरि सत्ता, विस्तृत पौराणिक पंथ और कर्मकाण्ड बहुदेववाद, बलि-प्रथा आदि को जन्म दिया था। अनेक प्राचीन और नवीन विश्वासों और कर्मकाण्डों का आपस में घुल-मिल कर 'हिन्दू धर्म' का रूप धारण करने की प्रक्रिया एक प्रकार से ईसा की छठी-आठवीं शताब्दी से ही मानी जाती है।[1] हिन्दू धर्म का इतने विविध और व्यापक रूप धारण करना उसके विकास का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। आगे चलकर त्रिमूर्ति में से केवल विष्णु और महेश की भक्ति का ही अधिक प्रचार हो सका। दोनों सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी स्वतन्त्र उपासना-पद्धतियों का विकास किया। शिव को लोकोत्तर योगी और दार्शनिक के रूप में स्थापित किया गया और उससे कालान्तर में 'अघोरियों, उर्ध्ववासियों, आकाश मुखियों, कापालिकों, अवधूतों, कनपटों, परमहंसों

---

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, प्रथम संस्करण, हिन्दी परिषद्, प्रयाग-विद्यालय १९५१, पृ० ९०-९१ :

आदि योगियों और सन्यासियों के सम्प्रदाय निकले।'[1] इसके विपरीत वैष्णवधर्म सौन्दर्य, लालित्य, रमणीयता, मानव-प्रेम आदि श्रेष्ठ और उदात्त गुणों से समन्वित था। वैष्णव अवतारों में से जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्ध रखने के कारण राम और कृष्ण अधिक लोकप्रिय हो सके। इन दोनों सम्प्रदायों ने ही सार्वाधिक हिन्दी साहित्य की गति निर्धारित की। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं के अन्तर्गत शाक्त और जैन मतावलम्बी सम्प्रदाय भी कायम थे जो अपनी विविध उपासना पद्धतियों का प्रचार करते थे। लेकिन आलोच्य काल तक आते-आते ये सभी धार्मिक सम्प्रदाय अपनी जीवन्तता खोकर निष्प्राण बन गये प्रतीत होते हैं और इन विविध सम्द्रायों के जंगल में मूल हिन्दू धर्म खो गया सा प्रतीत होता है और उसके स्थान पर साम्प्रदायिक-विद्वेष,नाना प्रकार के धार्मिक बाह्याडम्बर तथा पाखण्डपूर्ण धार्मिक प्रदर्शन ही देखे जा सकते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में नवीन शिक्षा और ईसाई पादारियों के साथ सम्पर्क स्थापित होने के फलस्वरूप शिक्षित वर्ग के धार्मिक दृष्टिकोण में कुछ-कुछ परिवर्तन होने लगा था, लेकिन साधारण जनसमुदाय जैसा था, वैसा ही बना रहा। वार्षिक धर्मोत्सव, तीर्थ स्थान और व्रत, पूजा-पाठ गंगा-स्नान आदि धार्मिक क्रियाएँ सामाजिक जीवन के लिए हितकारी और उसे पूर्ण बनाने में कुछ-कुछ सफल अवश्य हो रही थीं। किन्तु दुर्भाग्यवश इन्हीं क्रियाओं से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो रही थी। धार्मिक जीवन और फलतः सामाजिक जीवन रूढ़िगत हो गया था और पंडे-पुजारी उस पर बुरी तरह हावी हो गए थे। और इस प्रकार से आलोच्यकालीन धर्म रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का खजाना बन गया था। इसीलिए उन्नीसवीं शताब्दी में जो सांस्कृतिक आंदोलन हुआ उसका सूत्र संचालन किसी-न-किसी रूप में धर्म ने ही किया।

लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी का यह धार्मिक आन्दोलन पूर्व के धार्मिक आंदोलनों से काफ़ी कुछ भिन्न और इसीलिए विशिष्ट बन गया था। पूर्व के आंदोलनों का विषय एकमात्र धर्म होता था तो उन्नीसवीं शताब्दी में आकर राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना के विकसित होने के कारण धर्म को सामाजिकता की कसौटी पर कसा जाने लगा। भारत में यूरोपीय ज्ञान के आगमन के बाद भारतीय धर्मों की जो आलोचना चलने लगी थी, उसका भी मुख्य कारण यही था कि हिन्दू धर्म में सामाजिक चेतना प्रवेश करने लगी थी। निश्चय ही इसकी प्रेरणा हिन्दुओं को ईसाई धर्म से प्राप्त हुई थी, क्योंकि उनका धर्म चाहे जैसा भी रहा हो, यह बात तय है कि उनका समाज हिन्दू तथा मुस्लिम समाजों की तुलना में कहीं अधिक जाग्रत और चेतना-सम्पन्न था। भारत

---

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, प्रथम संस्करण, हिन्दी परिषद्, प्रयाग-विद्यालय १९५१, पृ० ६१

को यूरोपीय धर्म से नहीं भय हुआ, बल्कि उसे यूरोपीय वैज्ञानिकता, बुद्धिवादिता, साहस और कर्मठता ने डराया। इस प्रकार भारत में नवोत्थान का जो व्यापक आंदोलन उठा, उसका लक्ष्य अपने धर्म अपनी परम्परा और अपने विश्वासों का त्याग नहीं, प्रत्युत, यूरोप की विशिष्टताओं के साथ उसका सामंजस्य बिठाना था।

वस्तुतः ईसाई धर्म के व्यापक प्रचार हो जाने के कारण हिन्दुओं में भी अपनी परम्परित रूढ़ मान्यताओं के प्रति नवीन दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ और छुआछूत, खान-पान तथा जाति-पाँति के कठोर बन्धन शिथिल पड़ने लगे। अंग्रेज़ों ने इन कुप्रथाओं को रोकने का भी प्रयत्न किया और साथ ही नवीन विचारों से परिचित प्रबुद्ध चेतना सम्पन्न भारतीय विचारकों का भी ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। उनके मन में अपने धर्म तथा समाज के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ जिसकी अभिव्यक्ति धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलनों के रूप में हुई। इन आंदोलनों का प्रमुख उद्देश्य था—प्राचीन रूढ़ि-बद्ध, जर्जर धार्मिक विचारों की प्रतिष्ठा करना। राजा राममोहन राय ने इसी उद्देश्य से सन् १८५७ ई० में 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की, जिसने धार्मिक सुधार सम्बन्धी कार्यों का श्री गणेश किया। इसके पश्चात् इस संस्था का विकास आगे चलकर 'प्रार्थना समाज' (१८६७ ई०) तथा 'आर्य समाज' (१८७५ ई०) आदि संस्थाओं के रूप में हुआ। राजा राममोहन राय, महादेव गोविन्द रानाडे, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, तिलक, गोखले, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, गांधी आदि विचारकों ने धर्म तथा समाज के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। इन धर्म-सुधारकों ने निर्दयतापूर्वक धार्मिक प्रति-बन्धों द्वारा युगों से शोषित एवं पीड़ित जनता तथा नारी को मुक्त किया तथा मानवीय धरातल पर उन्हें प्रतिष्ठित कर उन्हें मानवीय अधिकारों से विभूषित किया। इन सुधा-रकों ने विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह आदि का समर्थन तथा बाल विवाह, जाति-पाँति आदि का निषेध करके धार्मिक अन्धविश्वासों में सदियों से अभिशापित जीवन व्यतीत करती हुई नारी को तथा निम्न वर्ग को समज में नवजीवन प्रदान किया। इसके अतिरिक्त इन सुधारकों ने सती-प्रथा, नर-बलि, पुरोहितों के आडम्बरपूर्ण धर्म आदि का भी डटकर विरोध किया तथा पीड़ित और शोषित—विशेषकर धार्मिक दृष्टि से पीड़ित और शोषित लोगों के लिए अलग-अलग सामाजिक संस्थाएँ, जैसे विधवा आश्रम, नारी शिक्षा केन्द्र आदि स्थापित कीं। इस दृष्टि से 'भारत सेवक समाज' (१९७५), 'सेवासदन' (१९७९), 'भारतीय दलित जाति संघ (१९०६), 'आर्य मातृ मण्डल', 'सामाजिक सेवा समिति' (१९११) आदि संस्थाओं का भी उल्लेखनीय महत्त्व है। इन संस्थाओं ने सामाजिक कार्यक्रमों के साथ ही साथ अपने धार्मिक कार्यक्रमों द्वारा परम्परित, रूढ़ तथा जर्जर धर्म को भी परिष्कृत तथा संशोधित करने का प्रयास किया। इन संस्थाओं का किसी विशेष धर्म या जाति से सम्बन्ध नहीं था, इनकी दृष्टि में मानव धर्म तथा मानवता

की रक्षा प्रमुख बात थी। मानव धर्म के आगे ये किसी भी साम्प्रदायिक धर्म में अपनी आस्था व्यक्त करने में असमर्थ थीं, इसीलिए इन संस्थाओं ने संकीर्ण धार्मिक तथा साम्प्रदायिक संस्थाओं की तुलना में धर्म का कहीं अधिक कल्याण किया।

मध्ययुगीन भारतीय धर्म, परम्परागत रीति-रिवाजों, विश्वासों तथा विचारों के साथ गम्भीर रूप से चिपका हुआ था। आगे चलकर ये रूढ़ियाँ ही हिन्दू धर्म की प्रतीक मान ली गईं। जो हिन्दू धर्म कभी समाज के सर्वांगीण विकास में सहायक और मानवता का रक्षक था, वही समाज का विघटन करने वाला तथा मानवता का भक्षक बन गया। जीवन और जगत् के सभी क्रिया-कलाप धर्म से सम्बन्धित कर दिए गए और व्यक्ति का स्वतः में कोई महत्त्व नहीं रहा। हिन्दू धर्म प्रबल आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित होने के कारण भौतिक जगत् और भौतिक सुख की अपेक्षा पारलौकिक जगत् और पारलौकिक सुख में ही आस्था रखता था। पुनर्जन्म में विश्वास करने के कारण वह वर्तमान जीवन के सुख-दुःख का कारण पूर्व जन्म के कर्मों को मानता था। फलतः भौतिक जीवन और जगत् उत्तरोत्तर उपेक्षित-सा होता गया और धार्मिक दृष्टिकोण से प्रेरित व्यक्ति ईश्वर की इच्छा शक्ति को ही प्रमुख मानने लगा। भौतिक जगत् के समस्त क्रिया-कलापों को वह ईश्वर-लीला समझता था। इस प्रकार उसका दृष्टिकोण सदैव भाग्यवादी रहता था, न्याय-अन्याय, विकास-विनाश तथा सफलता-असफलता आदि सब कुछ भाग्य के नाम पर झेलकर वह संतोष कर लेता था। किन्तु आधुनिक युग में इस मध्ययुगीन धार्मिक दृष्टिकोण के प्रति भी तीव्र विरोध दिखाई पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी का व्यक्ति भाग्य के भरोसे हाथ-पर-हाथ रखकर बैठने में विश्वास नहीं रखता था, वह मिहनत तथा अपनी शक्ति से भाग्य को बदलने की भी क्षमता रखता था। वह पुनर्जन्म को सुखद बनाने के लिए वर्तमान जीवन को दुःखद बनाना भी नहीं चाहता था। उसके मन में धर्म ही नहीं जीवन के प्रत्येक पहलू के लिए नया दृष्टिकोण था और वह सम्पूर्ण जीवन को एक नये परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करना चाहता था, क्योंकि वह नये युग का व्यक्ति था, उसमें सांस्कृतिक नवजागरण की चेतना जाग्रत थी और वह अपने को आधुनिक शिक्षा तथा समवेदना से जुड़ा पाता था।

स्पष्ट है कि आधुनिक युग मात्र राजनीतिक संघर्ष, सामाजिक विघटन तथा आर्थिक पतन का ही युग नहीं था, बल्कि वह नवीन चेतना तथा नवीन दृष्टिकोण का भी युग था। इस समय भारत एक नई दिशा की ओर उन्मुख हुआ। इसके पूर्व मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए थे और पुराने संस्कार भी नये और परिमार्जित रूप में प्रस्तुत हो रहे थे। यह काल नये सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विचारों का काल था। उपन्यास रचना के लिए यह काल बहुत ही उपयुक्त सिद्ध हुआ, क्योंकि उसके माध्यम से जटिल तथा दुरूह जीवन को सर्वाधिक अभिव्यक्त

किया जा सकता था। अतः हिन्दी उपन्यास अपने जन्म के साथ ही अपने में सामाजिक राजनीतिक तथा धार्मिक चेतना लेकर अवतरित हुआ।

हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भिक काल चाहे कला की दृष्टि से जितना भी प्रारम्भिक प्रयत्न-सा दिखे, लेकिन अपने विषयों की विविधता तथा अपनी व्यापक येर्यवेक्षण-क्षमता के कारण सचमुच महत्त्वपूर्ण बन गया है। जीवन का कोई भी ऐसा पहलू नहीं है, जिस पर इन प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने अपनी कलम न उठाई हो। धर्म, समाज, राजनीति का समुच्चय रूप 'संस्कृति' को अपनी रचनाओं में व्यक्त करने में ये सर्वाधिक प्रयत्नशील रहे हैं। जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध है, उन्नीसवीं शताब्दी में सनातन धर्म तथा आर्य समाज का संघर्ष विशेष उल्लेखनीय रहा है, जिसका विस्तृत विवेचन प्रारम्भकालीन उपन्यासों में किया गया है। सनातन धर्म पर उस समय दुहरा आक्रमण हो रहा था—एक तरफ़ ईसाई धर्म उसको प्रभावहीन बनाने की कोशिश कर रहा था तो दूसरी तरफ़ भारतीय नवीन धार्मिक आंदोलन 'आर्य समाज' आदि उसका अस्तित्व ही समाप्त कर देने पर तुले हुए थे। ऐसी दशा में हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने, जो संस्कारों से सनातनधर्मी तथा परम्परावादी थे, सनातन धर्म की रक्षा का ही पक्ष ग्रहण किया, यद्यपि उनमें अवश्य कुछ ऐसे भी थे जो धार्मिक रूढ़ियों तथा अंधविश्वासों का भी विनाश करना चाहते थे। लेकिन सनातन-धर्मियों की संख्या इतनी अधिक थी कि उनके आगे वे प्रभावहीन ही बने रहे और सनातनी उपन्यासकारों ने कट्टरता के स्तर पर आर्य समाज, मुस्लिम-ईसाई धर्म तथा पाश्चात्य संस्कृति के प्रति घृणा का प्रचार किया। स्पष्ट है कि प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यासकारों का सर्वाधिक दिलचस्पी का विषय धर्म था तथा सबसे अधिक इन उपन्यासकारों ने धर्म को ही अपना विषय बनाया। यहाँ तक कि इन लेखकों के सामाजिक प्रश्न भी धर्म से अनिवार्यतः जुड़े हुए थे और उनके माध्यम से भी किसी-न-किसी रूप में वे अपना धार्मिक दृष्टिकोण ही व्यक्त करते थे।

सनातन धर्म और आर्य समाज

पहले कहा जा चुका है कि धर्म के क्षेत्र में सनातन धर्म और आर्य समाज का संघर्ष सबसे अधिक प्रबल रहा जिसका स्वरूप विवेच्यकालीन प्रारम्भिक उपन्यासकारों में देखा जा सकता है। अधिकांश हिन्दू जनता हिन्दू धर्म के पुराने अर्थात् सनातन धर्म को ही मानने वाली थी, अतः जब स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रचलित आर्य समाज ने हिन्दू धर्म के विषय में, विशेषकर उसके सामाजिक पक्ष को लेकर अपना अपेक्षाकृत अधिक प्रगतिशील दृष्टिकोण सामने रखा तो स्वभावतः सनातन धर्मावलम्बी हिन्दू जनता उसे ग्रहण न कर सकी। आर्य समाजियों द्वारा हिन्दू धर्म पर जो प्रतिदिन प्रहार होते

रहे, उसने विरोधी प्रतिक्रिया की गति और भी बढ़ा दी। परिणामस्वरूप सनातन धर्म के अनुयायियों ने भी अपना संगठन तैयार किया और आर्य समाज के विरुद्ध उठ खड़े हुए। कहने की आवश्यकता नहीं कि तत्कालीन भारतीय समाज में सनातन धर्म के अनुयायियों की संख्या कहीं अधिक थी, आर्य समाजी उनकी तुलना में बहुत कम थे। तत्कालीन लेखकों में भी अधिकांश लेखक सतातन धर्म में ही आस्था रखने वाले थे। अतः उन्होंने अपनी रचनाओं में एक तरफ़ तो सनातन धर्म की श्रेष्ठता, उसकी उच्चता, उस पर अपनी दृढ़ आस्था आदि को व्यापक अभिव्यक्ति दी और उसे हिन्दू धर्म का पर्याय मानकर आर्य समाज की विचारधारा तथा उसके समर्थकों पर कड़ा प्रहार किया। इस समय के प्रमुख उपन्यासकार सनातन धर्म को ही महत्त्व देते हैं तथा समाज को उन्हीं पुरातन रूढ़ियों के आधार पर ले चलने की वकालत करते हैं। पं० लज्जाराम शर्मा मेहता हों या किशोरीलाल गोस्वामी, बाबू ब्रजनन्दनसहाय हों या पं० अयोध्याप्रसाद 'हरिऔध'—सब-के-सब सतानत धर्म की रक्षा और उद्धार में ही अपने कृतित्व की सार्थकता स्वीकार करते हैं। इसीलिए इनकी रचनाओं का स्वर भी मुख्यतः धार्मिक ही है। इन लेखकों ने अपने उपन्यासों में आदर्श सनातन धर्मी पात्रों की सृष्टि करके उनके माध्यम से अपने इस उद्देश्य की पूर्ति की है। धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में व्याप्त ऊपरी भ्रष्टाचारों का विरोध करते हुए भी उन्होंने उसके प्राचीन रूप को ज्यों-का-त्यों रखने का आग्रह किया है। अपनी प्राचीन रीतियों, नीतियों तथा मान्यताओं से एक कदम भी डिगना इन्हें मान्य नहीं है। मेहताजी के अधिकांश उपन्यास तो आदर्श सनातन हिन्दू धर्म की महत्ता का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से ही लिखे गये लगते हैं। आदर्श हिन्दू भाग १ की भूमिका में मेहताजी ने इस उद्देश्य को स्पष्टतः स्वीकार किया है—'इनमें (उपन्यासों में) तीर्थ यात्रा के माध्यम से एक ब्राह्मण कुटुम्ब में सनातन धर्म का दिग्दर्शन, हिन्दूपन का नमूना, आजकल की त्रुटियाँ, राजभक्ति का स्वरूप, परमेश्वर की भक्ति का आदर्श और अपने विचारों की बानगी प्रकाशित करने का प्रयत्न किया गया है।'[1] इस उपन्यास के तीन भागों में तो व्यापक रूप से सनातन हिन्दू धर्म की महानता का ही वर्णन किया गया है।

इसके अतिरिक्त मेहताजी ने अपने अन्य कई उपन्यासों जैसे 'आदर्श दम्पति', 'सुशीला विधवा', 'धूर्त रसिकलाल', 'स्वतन्त्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी', 'हिन्दू गृहस्थ' तथा 'बिगड़े का सुधार' आदि में भी सनातन हिन्दू धर्म के प्रचार-प्रसार को ही अपना विषय बनाया है। इस सिलसिले में लेखक स्थान-स्थान पर आर्य समाजियों का विरोध करता है तथा अपने सनातनी चरित्रों द्वारा उन पर प्रहार कराता है। मथुरा स्टेशन से

---

१. 'आदर्श हिन्दू' : भाग १, प्रथम संस्करण, (भूमिका भाग), पृ० २

गाड़ी चलती है तो यात्री 'जमुना मैया की जय' की ध्वनि करते हैं, जिस पर डिब्बे में ही सवार कुछ भिन्न धर्मावलम्बी यथा आर्य समाजी आदि इन 'जय' लगाने वालों को मूर्ख बतलाकर उनकी हँसी उड़ाते हैं। लेकिन लेखक के आदर्श पात्र पं० प्रियानाथ का दृष्टिकोण यह है कि मनुष्य के हृदय में जो आंतरिक भाव है, जो भक्ति है, उसका इस प्रकार समूह में व्यक्त हो जाना किसी भी समाज तथा देश में बुरा नहीं है। लेखक कहता है—'बुरा नहीं अच्छा है और हिप-हिप हुर्रे से हजार दर्जे अच्छा है। जिन लोगों के हृदय में सच्ची भक्ति दृढ़ होती है, और जो बिलकुल ही कोरे हैं, उनके अन्तः-करण में भक्ति का संचार होता है।'[1]

साथ ही इसी उपन्यास के दूसरे भाग में एक सार्वजनिक शास्त्रार्थ का आयोजन किया गया है, जिसमें लेखक के सनातनी पात्र पं० प्रियानाथ अपने आर्यसमाजी प्रति-द्वन्द्वी पर विजय प्राप्त करते हैं और हजार रुपये का पुरस्कार प्राप्त करते हैं। 'सुशीला विधवा' में विधवा सुशीला का आर्यसमाजी भाई अपनी विधवा बहन का विवाह करना चाहता है, किन्तु लेखक की आदर्श हिन्दू नारी सुशीला स्वतः अपने भाई का विरोध कर पवित्र वैधव्य धर्म को ही अंगीकार करना अपना कर्त्तव्य समझती है। सुशीला का आर्यसमाजी भाई अन्त में अपने कार्यों पर पश्चात्ताप करता है—'माता-पिता के चले जाने के समय में आवारा फिरता रहा, बदमाश साधुओं की संगति में पड़ा और बड़ा होने पर समाजियों के चक्कर में पड़ गया, बस ये ही कारण मेरे बिगाड़ के हुए।'[2]

इसी प्रकार प्रारम्भिक युग के उपन्यास लेखक पं० किशोरीलाल गोस्वामी भी कट्टर सनातनधर्मी हैं और उनके उपन्यासों में भी हिन्दू धर्म के सनातनी रूप को चित्रित किया गया है। हिन्दू धर्म की समस्त मान्यताओं को वह स्वीकार करते हैं तथा आर्य समाज के समस्त सुधारों को अस्वीकार। उनके पात्र भी सनातनधर्मी हिन्दू हैं, जो लेखक के विचारों की पुष्टि करते हैं। उनके उपन्यास 'त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी' का नायक मनोहरदास अपना धार्मिक दृष्टिकोण इस प्रकार व्यक्त करता है—'हाँ यदि कोई विचारवान् पुरुष ध्यानपूर्वक इस मायामय संसार के सुख, दुःख, धर्म-अधर्म, कर्म-अकर्म, स्वार्थ-परामर्श, अपना-पराया, पाप-पुण्य आदि विषयों की थोड़ी चिन्ता करेंगे, सनातन धर्म के सूक्ष्म तल को जानने की इच्छा करेंगे तो उन्हें संसार की सभी बातों में हिन्दुओं को सबसे श्रेष्ठ और हिन्दू धर्म को सबसे प्राचीन मानना पड़ेगा।'[3] गोस्वामी

---

१. 'आदर्श हिन्दू' भाग १ : प्रथम संस्करण, पृ० १७७

२. 'सुशीला विधवा, : प्रथम संस्करण, पृ० १५७

३. 'त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी' : प्रथम संस्करण, पृ० १०

जी का यह उपन्यास मेहताजी के ही उपन्यासों की भाँति सनातन धर्म की प्रतिष्ठा के मूल उद्देश्य को लेकर लिखा गया है ।

बाबू ब्रजनन्दनसहाय भी इस दृष्टि से कम महत्त्व नहीं रखते । उनके चरित्र भी कट्टर सनातनधर्मी हैं । सेठ ओंकारमल अपनी पुत्री ब्रजमंजरी का विवाह मुकुन्द से करना चाहते हैं और उससे पूछते हैं—'क्या तुम सनातन रीति से विवाह नहीं करना चाहते ?' मुकुन्द का उत्तर है—'भला उससे विवाह की अच्छी पद्धति कहाँ और किस देश में है । मुझे आप कट्टर हिन्दू समझिएगा । अपने देश की एक-एक बात एक-एक रीति-नीति का मैं अटल पक्षपाती हूँ । मेरा पूर्ण विश्वास है कि पूर्वजों ने अनेक परिश्रम से हम लोगों के उपयुक्त देश-काल पर पूरा ध्यान रखकर इन प्रथाओं को चलाया है ।'[1]

स्पष्ट है कि प्रायः इस समय के सभी उपन्यासकार सनातन धर्म की महानता का प्रतिपादन करते हैं । सनातन धर्म ही उनके लिए हिन्दू धर्म है तथा सनातन धर्म के आदर्श ही उनके लिए हिन्दुत्व के आदर्श हैं। सनातनधर्म की समस्त रीतियों-नीतियों, आचार-विचारों तथा परम्पराओं के ये पोषक हैं । इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में आर्य समाज और सनातन धर्म में जन-समुदाय के बीच जो संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई थी, उसे इन उपन्यासकारों की रचनाओं में स्पष्टता के साथ देखा जा सकता है ।

वस्तुतः इस युग के साहित्य में न केवल उपन्यासों में ही, वरन् अन्य विधाओं में भी यह धार्मिक दृष्टिकोण प्रमुख है । बल्कि कहना तो यह चाहिए कि वह युग ही धार्मिक दृष्टिकोणपरक था, जब कि साहित्य, राजनीति, समाज तथा संस्कृति सभी क्षेत्रों में धर्म की प्रमुखता थी । युगीन राजनीतिक आन्दोलन में तिलक ने इसकी प्रतिष्ठा की थी तथा युग के सभी मान्य समाज-सुधारक भी अपनी गतिविधियों में धार्मिक दृष्टिकोण को प्रधानता देते रहे ।[2] युगीन साहित्यकारों का दृष्टिकोण भी यही रहा और विशेषकर जिन उपन्यासों की हम चर्चा कर चुके हैं, वे तो मूलतः धार्मिक दृष्टिकोण को अपना कर ही लिखे गए हैं । कहीं-कहीं तो लेखकों का यह आग्रह इतना अधिक हो गया है, कि उनकी रचनाएँ साहित्यिक महत्त्व से अधिक धार्मिक प्रचार-प्रसार का साधन तक बन गई हैं । सनातन धर्मी आदर्श, ईश्वरभक्ति भगवत् प्रेम आदि के विवरणों से उनके उपन्यास भरे पड़े हैं । उनके आदर्श पात्र भी धार्मिक व्यक्ति हैं और अपने प्रत्येक कार्य में वे धर्म को प्रमुखता देते हैं । कर्मवाद, परलोकवाद, भाग्यवाद,

---

१. 'अरण्यबाला' द्वितीय संस्करण, पृ० २१६

२. डॉ० चण्डीप्रसाद जोशी : 'हिन्दी उपन्यास' : समाजशास्त्रीय अध्ययन, अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर, १९६२ ई०, पृ० ९०-९१

पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक आदि पर इन उपन्यासकारों की अटूट आस्था है। पं० लज्जाराम शर्मा ने अपने 'आदर्श हिन्दू' की भूमिका में उसके अनेक उद्देश्यों की चर्चा के सिलसिले में उसमें वर्णित ईश्वर-भक्ति के स्वरूप पर विशेष बल दिया है। पं० किशोरी लाल गोस्वामी तथा बाबू व्रजनन्दन सहाय का भी दृष्टिकोण धार्मिक ही है। धर्म के महत्त्व का प्रतिपादन किसी-न-किसी रूप में सभी अपने उपन्यासों में करते हैं। पं० किशोरीलाल गोस्वामी लिखते हैं— 'भारत ने एक धर्म के प्रताप ही से जगत् में दिग्दिगन्त अपनी कीर्ति की ध्वजा उठाई थी। सदा से भारत के अनेक गौरव के पदार्थों में प्रधानतम धर्म आया है और वह देश धर्माभाव में कट्टर देशों से उन्नत ही है। पहले भारतवर्ष में जितने महात्माओं ने जन्म ग्रहण किया था, उन सबों ने ही अपनी-अपनी असाधारण अनुसंधिता और गवेषणा शक्ति के द्वारा इस धर्म-चिन्ता में ही अपना अमूल्य जीवन उत्सर्ग करके धर्म के अचिन्त्य तत्त्वों को प्रकट किया था। इसी से हिन्दू धर्म इतने युग-युगान्तर और राज-विप्लव और समाज-विप्लव को सह्य करके भी अटूट अक्षुण प्राण से अभी तक भारत भूमि में खड़ा है। यद्यपि इतने ही दीर्घ काल में भारत की मोहनिद्रा के समय नाना प्रकार के कुसंस्कारों ने पवित्र आर्य धर्म के शरीर में—परीक्षित के शरीर में कलि प्रवेश की तरह प्रवेश कर लिया है, तथापि उसकी (धर्म की) मौलिक प्रवृत्ति अब तक सर्वथा विशद् और उन्नत है। अहा! जिस दुष्ट आर्य धर्म का विनाश सात सौ वर्षों से यवनों से नहीं हो सका, दुर्दान्त यवन बादशाहों से नहीं हो सका, उनकी तलवार के जोर से नहीं हो सका, जिस अचल धर्म का लोप टिड्डी दल की तरह फैले हुए बौद्धों से नहीं हो सका, उस दृढ़ धर्म का रोंआ आजकल के विधर्मीजनों की वर्षा-कालीन कूप-मंडूकों की टरंकों से कभी-भी टेढ़ा हो सकता है ?'[१]

यही नहीं, बाबू व्रजनन्दनसहाय तो देश की औद्योगिक प्रगति, कृषि आदि में सुधार तथा समाज के विविध क्षेत्रों में प्रगति की अपनी जो भी योजनाएँ रखते हैं तथा शिक्षा के जिस आदर्श की स्थापना करते हैं, उन सब के मूल में धर्म की स्थिति को अनिवार्य मानते हैं। उनका प्रमुख पात्र महात्मा प्रेमानन्द मुकुन्द को उपदेश देते हुए कहते हैं—'इन सब कामों का मूलाधार तुम्हें धर्म ही को बनाना होगा। इस बात पर सदा ध्यान रखना होगा कि संव-सांसारिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति की ओर भी यथेष्ट ध्यान दे और इसके लिये तुम्हें संस्कृत धर्म का प्रचार करना होगा।'[२]

अयोध्यासिंह उपाध्याय की नायिका तो धर्म के प्रति इतनी आस्थावान् है कि उसके लिए अपने प्राण दे डालने को भी तत्पर है। कामिनी मोहन को फटकारते

---

१. किशोरीलाल गोस्वामी

२. 'अरण्यबाला' : द्वितीय संस्करण, पृ० ३२७

हुए कहती है—'जो पाप करके मरते हैं, उन्हीं के लिए चारों ओर अँधेरा है, जो धर्म के लिए मरते हैं उनके लिए सब ओर वह उजाला है, जिस पर सूरज की आँख भी नहीं ठहरती। मुझको धर्म प्यारा है, अपना जी प्यारा नहीं है। धर्म के लिए मैं जी को न्योछावर कर सकती हूँ।'[1]

इस प्रकार युग के प्रतिनिधि उपन्यासकारों का एक साथ ही धार्मिक दृष्टिकोण को महत्त्व देना एक ऐसा तथ्य है, जो अपने में महत्त्वपूर्ण तथा उस युग के बुद्धिजीवियों के सोचने-समझने की दिशाओं को स्पष्ट करने वाला है। कभी-कभी तो यह धार्मिक आग्रह अतिशयता की स्थिति तक भी पहुँच गया है तथा धार्मिक रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों तक का समर्थन करता दिखाई पड़ता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि बीसवीं शदी के प्रारम्भिक युग में, जब विज्ञान आदि के नये-नये आविष्कारों की एक सुव्यवस्थित परम्परा कायम हो गई थी तथा लोग बुद्धि और तर्क की कसौटी को महत्त्व देने लगे थे, धार्मिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों के प्रति उपन्यासकारों का यह मोह प्रभावित नहीं हो सका। 'गुलबहार का आदर्श भ्रातृ स्नेह' में गोस्वामी जी गुलबहार की कब्र पर स्वर्ग का एक दृश्य अंकित करते हैं और अपने पाठकों से यह उम्मीद भी करते हैं कि वे उसकी सत्यता को स्वीकार करें। लेकिन लेखक अंग्रेज़ी पढ़े लिखे अपने पाठकों के प्रति विश्वस्त नहीं हो पाता। वह कहता है—'अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से चाहे कोई-कोई विकृत खोपड़ी के अंग्रेज़ भाव सम्पन्न हज़रत इस घटना का मर्म समझने में बिलकुल अपारग रहें, चाहे कोई हठी महात्मा इस बात को सर्वथा अस्वीकार करें, चाहे नई रोशनी की चकाचौंध में पड़े हुए कोई नये टाइप के लोग इस पर विश्वास भी न लावें और चाहे कोई विद्या-दिग्गज इसे माने ही नहीं, पर यहाँ पर हम उस सच्ची घटना का उल्लेख करते हैं।'[2] यही बात पुनर्जन्म के उन किस्से-कहानियों के विषय में कही जा सकती है, जिनका आधार लेकर इन उपन्यासकारों ने अपने कुछ उपन्यासों की मूल कथा की ही रचना की है, जैसे 'पुनर्जन्म वा सौतिया डाह' में पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने यही किया है। इसके अतिरिक्त 'हरिऔध' तथा मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यासों में भी अलौकिक तत्त्वों पर आधारित अनेक घटनाओं की योजना देखी जा सकती है।

सनातन धर्म में अपनी इस अटूट आस्था की अभिव्यक्ति तथा धार्मिक रूढ़ियों, अंध विश्वासों एवं पुरानी रीतियों-नीतियों का समर्थन करने के साथ-ही-साथ धार्मिक क्षेत्रों में व्याप्त व्यापक भ्रष्टाचार का भी इन लेखकों ने भरपूर विरोध किया है। नकली साधु-सन्यासी, धूर्त पण्डे-पुजारी, धर्म के नाम पर व्यभिचार फैलाने वाले ढोंगी

---

१. 'अधखिला फूल' : प्रथम संस्करण, पृ० १६३

२. 'गुलबहार का आदर्श भ्रातृ स्नेह' : द्वितीय संस्करण, पृ० १०

इनके आक्रोश के शिकार बने हैं। लज्जाराम शर्मा के 'आदर्श हिन्दू' का पं० प्रियानाथ अपनी पत्नी के साथ देश भर के सभी पुण्य तीर्थों की यात्रा करता है तथा इस सिल-सिले में विविध तीर्थ स्थानों में फैले हुए भ्रष्टाचार को देखकर क्षुब्ध हो जाता है। अन्य उपन्यासकारों ने भी यथा समय इन धार्मिक भ्रष्टाचारों के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त किया है।

ये लेखक अपनी सनातनधर्मी आस्था के कारण अन्य धर्मावलम्बियों से घृणा का भाव रखते हैं। उनकी यह घृणा ईसाई धर्मावलम्बियों तथा मुसलमानों के प्रति विशेष प्रकट हुई है। अन्य धर्मावलम्बियों से हिन्दू धर्म को श्रेष्ठ घोषित करना एक बात है तथा उनसे घृणा करना बिलकुल दूसरी बात। इन लेखकों का दृष्टिकोण दोनों प्रकार का रहा है। विवेच्यकालीन परिस्थितियों की चर्चा करते हुए हम स्पष्ट कर चुके हैं कि सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टि से भले ही हिन्दू तथा मुसलमान एक न बन पाये हों, लेकिन राजनीतिक मंच पर दोनों एक साथ स्वतन्त्रता संग्राम का संचालन करते हैं। राजनीतिक नेताओं को इस दृष्टि से काफी सफल कहा जा सकता है, लेकिन फिर भी खान-पान, आचार-विचार, रहन-सहन आदि में पर्याप्त भिन्नता होने के कारण हिन्दू और मुसलमान हृदय से कभी एक नहीं हो पाए। हाँ, राजनीतिक दृष्टि से दोनों जातियाँ अवश्य एक साथ रहीं। इन लेखकों में राजनीतिक तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अभाव है, अतः इनका दृष्टिकोण एकतापरक •प्रायः नहीं हो पाया है, क्योंकि मूलतः धार्मिक तथा सामाजिक चेतना सम्पन्न होने के कारण ये लेखक मुसलमानों को विधर्मी समझकर उनके प्रति घृणा का ही प्रदर्शन करते हैं।

लेकिन उपन्यास-साहित्य के विकास के साथ-ही-साथ लेखकों के उपर्युक्त इन मन्तव्यों में भी परिवर्तन उपस्थित हुआ। आर्य समाज यद्यपि वैदिक युग की संस्कृति से प्रभावित था, फिर भी प्रचलित रूढ़िवादी समाज-धर्म के अन्धकारमय वातावरण में वह नव-चेतना का प्रकाश-सा लगा। पिछले युग के सनातनी आग्रहों के विपरीत इस युग के उपन्यासकारों ने आर्य समाज के प्रगतिशील पक्षों का हृदय से स्वागत किया। लेकिन इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि ये लेखक उसी प्रकार आर्य समाज के प्रचारक थे, जिस प्रकार पिछले युग के लेखक सनातन धर्म का प्रचारक रह चुके थे। बल्कि इसकी जगह इन नये लेखकों ने आर्य समाज के प्रगतिशील तत्त्वों की प्रशंसा करने के साथ ही उसके अव्यावहारिक अनुपयोगी पक्षों की आलोचना भी की। इस दूसरे चरण के लेखकों में प्रेमचन्द आर्य समाज की विचारधारा से अधिक प्रभावित हुए तथा अन्य उपन्यासकारों को भी इसने काफी कुछ प्रभावित किया। लेकिन इन लेखकों में आर्य समाज के प्रति कोई अतिरिक्त आग्रह नहीं देखने को मिलता। आर्य समाज का जो सामाजिक प्रगतिशील दृष्टिकोण था उसी ने इन लेखकों को प्रभावित किया।

पिछले युग के उपन्यासकारों में वर्णाश्रम धर्म तथा सनातनी धर्म के प्रति दृढ़ आस्था की भावना थी, लेकिन इस युग के उपन्यासकारों का धार्मिक दृष्टिकोण ही बदल गया। इस युग के उपन्यासकारों ने धर्म के कुरूप अमानुषिक, कुत्सित अनैतिक तथा शोषण से पूर्ण संकीर्ण रूप को उपन्यासों में सफलतापूर्वक उतारा। इस काल में हिन्दू धर्म का व्यावहारिक रूप इतना नीचे गिर चुका था कि व्यक्ति तथा समाज के विकास के लिए वह गत्यावरोध का कारण बन गया था। जो धर्म मध्ययुग में निराश जनता को बल प्रदान कर चुका था, वही इस युग में क्षोभ का कारण बनता जा रहा था। एक बात महत्त्वपूर्ण है कि इस काल के उपन्यासकारों का क्षोभ यद्यपि धर्म तथा धार्मिक संस्थाओं पर उतरा है, लेकिन वे नास्तिक नहीं हैं। उनके उपन्यासों में आस्तिक तथा ईश्वर को मानने वाले पात्रों की ही भरमार है, फिर भी ये पात्र धर्म के इस जर्जर रूप को स्वीकार नहीं करते।

प्रेमचन्द के उपन्यास 'सेवासदन' में धार्मिक ठेकेदार मन्दिरों में भोली तथा सुमन जैसी वेश्याओं के गाने से जनता की धार्मिक भावना आकर्षित करते हैं। मन्दिर ईश्वर की उपासना करने का पवित्र स्थान होता है, लेकिन धर्म के ठेकेदार इन पण्डों और पुरोहितों ने धर्म को इतना गर्हित बना दिया था कि वह साधना-उपासना तथा समस्त नैतिकता को ताक पर रखकर एकमात्र विलास तथा ऐश-आराम की वस्तु बन गया था। इस प्रकार भक्ति तथा उपासना से जब विलासी भावनाएँ सम्बद्ध हो जाती हैं तो समाज तथा व्यक्ति की धार्मिक तथा सांस्कृतिक रुचि का कैसा रूप निर्मित होता है, यह सहज अनुमेय है। 'प्रेमाश्रम' के ज्ञानशंकर तथा गायत्री का अवैध प्रेम, कृष्ण-राधा की भक्ति-भावना का आश्रय लेकर पनपता है। धर्म तथा कृष्ण की उपासना एकमात्र उनके कुत्सित व्यापारों को ढकने के काम में लाये जाते हैं। इसी प्रकार 'प्रतिज्ञा' का कमला प्रसाद ईश्वरीय प्रेरणा की चर्चा करके पूर्णा का सतीत्व लूटना चाहता है। स्पष्ट ही लेखक यहाँ यह कहता हुआ देखा जा सकता है कि धर्म आज नैतिक मूल्यों की रक्षा करने में न केवल असमर्थ है, बल्कि वह विलास, शृंगार तथा नैतिक कार्यों का आवरण भी है। सुमन के वेश्या बनने के पीछे भी यही कारण है। वह देखती है कि जिस धर्म को पकड़ कर वह अपनी आस्था को टिकाये रखना चाहती है, वही भोली वेश्या के पैरों तले मस्तक झुकाता है। रूढ़िवादी सनातन धर्म में चारित्रिक निर्माण की प्रेरक शक्ति नहीं रह गई है। सुमन तथा सदन सिंह जैसे अबोध युवक-युवतियों के चारित्रिक पतन का कारण धर्म का सनातनी जर्जर रूप ही है। अन्ततः आर्य समाज के उत्सवों के प्रभाव में आकर सदन को चरित्र-बल की प्रेरणा मिलती है और वह एक आदर्श चरित्र के रूप में अपने को परिवर्तित कर लेता है। आर्य समाज ईश्वर को शुद्ध निराकार के रूप में मान्यता प्रदान करता है और इसीलिए वह धर्म के

क्षेत्र में पूजा-पाठ तथा विभिन्न आडम्बरों का विरोध करता है। इस मान्यता का प्रभाव उसके धार्मिक दृष्टिकोण पर भी पड़ता है और आर्य समाज का पवित्रतावादी तथा कट्टर नैतिकतावादी दृष्टिकोण इसी का परिणाम है। आर्य समाज व्यक्ति के चारित्रिक निर्माण पर विशेष बल देता है। वस्तुतः आर्य समाज एक प्रकार से धार्मिक क्षेत्र में शुद्धिकरण की पद्धति अपनाता है और व्यक्ति, समाज, धर्म, दर्शन तथा सांस्कृतिक मूल्य सब की शुद्धि करता है। समाज के सम्बन्ध में वह इस शुद्धिकरण का प्रयोग समाज-सुधार के कार्यों द्वारा करता है। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास में काशी की एक आर्यसमाजी सभा में विधवा विवाह का प्रचार किया जाता है तथा उपन्यास का नायक अमृतराय विधवा से विवाह करने की प्रतिज्ञा लेता है। प्रेमचन्द इस उपन्यास में 'वनिता आश्रम' की स्थापना करके सनातनधर्मी कट्टरता का विरोध करते हैं और आर्य समाज की प्रगतिशील धार्मिक तथा सांस्कृतिक चेतना का समर्थन।

सनातन धर्म सिद्धान्तों की स्वतन्त्रता का भी समर्थक नहीं था इसीलिए पिछले युग के उपन्यासकारों ने भी स्त्रियों की स्वतन्त्रता का समर्थन करने के स्थान पर उन्हें पर्दे में बन्द रखने की ही बात कही। लेकिन इस युग के लेखक आर्य समाज से प्रभावित होने के कारण स्त्रियों की स्वतन्त्रता का समर्थन करते हैं, क्योंकि आर्य समाज ने सर्वाधिक जोर स्त्रियों की स्वतन्त्रता आन्दोलन पर ही दिया। 'प्रतिज्ञा' की प्रेमा स्वयं सार्वजनिक मंच पर उपस्थित होकर सुधार-योजना के समर्थन में वक्तव्य देती है। 'कंकाल' का मंगलदेव पहले तो यह समझता है कि आर्य समाज खण्डनात्मक दृष्टिकोण रखता है, अतः प्राचीन धर्म की सीमा के भीतर ही सुधार करने का वह पक्षपाती है,[1] लेकिन अन्त में उसे भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि आर्य समाज के—"धर्म सम्बन्धी उपासना के नियम उसके चाहे जैसे हों, परन्तु सामाजिक परिवर्तन उसके मानवीय हैं।"[2] मतलब यह कि आर्य समाज के सामाजिक सुधार सम्बन्धी कार्यक्रमों को 'प्रसादजी' स्वीकार करते हैं। दर्शन तथा विशुद्ध धर्म के धरातल पर स्थित हिन्दू धर्म से किसी उपन्यासकार का विरोध नहीं है, लेकिन हिन्दू धर्म ने समाज तथा व्यक्ति से सम्बद्ध होकर सामाजिक संस्कृति का जो स्वरूप निर्मित किया है, हिन्दू धर्म के उस सांस्कृतिक पक्ष से ये उपन्यासकार सहमत नहीं हैं।

'कंकाल' में स्थापित 'भारत संघ' के उद्देश्यों से भी यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है। यह संघ नवीन दार्शनिक विचारों का प्रचार करना अपना उद्देश्य नहीं

---

१. 'कंकाल' : सातवाँ संस्करण, पृ० १०३
२. 'कंकाल' : सातवाँ संस्करण पृ० २१६

समझता, बल्कि इसके स्थान पर वह नवीन सामाजिक संस्कृति का प्रचार करना अपना महत्त्वपूर्ण दायित्व मानता है। इसके अतिरिक्त इस बौद्धिक युग में आर्य समाज की निरर्थक रीतियों का भी विरोध आवश्यक था, जिसे 'निराला' जी ने अपने उपन्यास 'अलका' में पूरा किया। 'अलका' में निराला जी यज्ञ, हवन आदि का विरोध करते हैं, चाहे वे सनातन धर्म या आर्य समाज जिसके अन्तर्गत भी हों। 'निराला' जी लिखते हैं—'जहाँ मनों घी बेवकूफ़ी में जलता हो, वहाँ आर्य समाज निःसन्देह अनार्य हो गये हैं। वह घी और यव (जव) ग़रीबों के पेट के अग्निकुण्ड में जलकर उनकी नसों में रक्त तथा जीवनी-शक्ति संचित करके यज्ञ की सर्वोच्च व्याख्या से सार्थक होगा।"[1]

इसी प्रकार आचार्य चतुरसेन शास्त्री आर्य समाज के शुद्धि आन्दोलन का विरोध करते हैं तथा वैदिक धर्म से अधिक महत्त्वपूर्ण राष्ट्र-धर्म को स्वीकार करते हैं। उनकी धर्म की व्याख्या द्रष्टव्य है—'प्राणीमात्र के लिए कर्त्तव्य का ज्ञान ही धर्म है। धर्म वही है, जिसके द्वारा मनुष्य अधिक-से-अधिक लोकोपकार कर सके।"[2] हम देख सकते हैं कि यहाँ 'निराला' तथा चतुरसेनजी के इन मन्तव्यों से धर्म के सम्बन्ध में परिवर्तित दृष्टिकोण का पता चलता है। अब तक संघर्ष का विषय धर्म की विभिन्नता थी और प्रश्न यह था कि किस धर्म को स्वीकार किया जाय। लेकिन यहाँ स्थिति ही बदल चुकी है और वैचारिक प्रगति के इस नवीन पहलू ने धर्म की नई परिभाषा ही निर्मित करने की ठान ली है, जिसमें व्यक्ति को केन्द्र में रखकर धर्म की व्याख्या की जाती है। ईश्वरीय तथा आध्मात्मिक भूमि से पृथक् मानवीय भूमि पर धर्म तथा धार्मिक सम्प्रदायों का मूल्यांकन किया जाता है। यही कारण है कि इस युग के लेखकों का ध्यान धर्म के सामाजिक तथा मानवीय पक्ष के प्रति ही अधिक आकर्षित हुआ, उसके ईश्वरीय तथा आध्यात्मिक पक्ष के प्रति बहुत कम।

हिन्दू-मुस्लिम धार्मिक संघर्ष

बीसवीं शताब्दी में आकर धर्म का वह रूप भी सामने आया जब राजनीतिक स्वार्थों के लिए उसका खुलकर उपयोग किया गया तथा अमानवीय स्तर पर धार्मिक कट्टरतावाद तथा सम्प्रदायवाद का जन्म हुआ। प्रेमचन्द 'कायाकल्प' में तथा पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' 'चंद हसीनों के खतूत' में इस धार्मिक संघर्ष का विस्तृत विवेचन करते हैं। इन धार्मिक संघर्षों में अनेकानेक लोगों को मौत के घाट उतार देने की योजना रहती है। धार्मिक जोश में मानवीयता भुला दी जाती है और हिन्दू-मुस्लिम दंगों के कारण उसका

१. 'कंकाल' : सातवाँ संस्करण, पृ० १०६
२. 'कंकाल' : सातवाँ संस्करण, पृ० १०६

वीभत्स रूप प्रकट होता है। प्रेमचन्द अपने उपन्यास 'कायाकल्प' में तथा बेचन शर्मा 'उग्र' अपने उपन्यास 'चन्द हसीनों के खतूत' में इस संघर्ष का वीभत्स रूप चित्रित करते हैं। इन संघर्षों में गाय की कुरबानी को इनका कारण माना गया है और यह दिखलाया गया है कि महज़ गाय की कुरबानी ही इन धार्मिक संघर्षों को प्रोत्साहित करती है। देश के विचारक इस बात का प्रयत्न करते हुए भी दिखाई पड़ते हैं कि व्यक्ति धर्म से ऊपर उठकर राष्ट्र तथा मानवीय भूमि पर अपने को प्रतिष्ठित कर सके। धर्म का स्थान वस्तुतः यहाँ राष्ट्रीय भावना ले लेती है और अन्ततः हम वैचारिक प्रक्रिया का विकास धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र को उद्घोषणा तथा स्थापना में देखते हैं। प्रायः यह देखने में आता है कि हमारे लेखकों तथा अन्य विचारकों ने सदैव यह प्रयत्न किया है कि राजनीति तथा समाज का अस्तित्व धर्म के अस्तित्व से अलग करके देखा-समझा जा सके। वर्णाश्रम धर्म की संकीर्णता के कारण 'प्रेमाश्रम' का प्रेमशंकर, 'तितली' का इन्द्रदेव तथा 'प्रत्यागत' का मंगल तथा 'निरुपमा' का डॉ० कुमार धर्म तथा समाज से निकाल दिए जाते हैं। लेकिन अन्ततः इनके सामने वर्णाश्रम धर्म को ही झुकना पड़ता है।

कहने की आवश्यता नहीं कि संस्कृति के इतिहास में यह पहला अवसर था कि व्यक्ति धर्म से ऊपर उठकर अपने को प्रतिष्ठित करता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि इन उपन्यासकारों तथा विचारकों में कोई नास्तिक चेतना काम कर रही है, बल्कि उनका उद्देश्य धर्म, संस्कृति, समाज और राजनीति को उनकी परिप्रेक्ष्यगत सीमाओं में रखकर विश्लेषित करने तथा व्याख्यायित करने का रहा है। वस्तुतः यह कार्य अपने-आप में बहुत ही महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि अपनी परिप्रेक्ष्यगत सीमाओं की स्पष्टता के अभाव में धर्म, संस्कृति, समाज और राजनीति—इनमें से किसी को भी ठीक-ठीक समझना सम्भव नहीं था। अतः आवश्यकता इस बात की थी कि इन सब का अलग-अलग स्वरूप निर्धारित करते हुए इनमें परस्पर एक सम्बन्ध सूत्र का अन्वेषण किया जाय और इस प्रकार इनमें परस्पर एक संतुलन स्थापित किया जाय। हमारी समझ से यही कार्य तत्कालीन उपन्यासकारों तथा विचारकों ने किया।

धर्म के नाम पर आर्थिक शोषण

भारतीय समाज में धर्म के नाम पर आर्थिक शोषण का भी बहुत प्रचार था। धार्मिक पण्डे-पुरोहित धर्म के बहाने हजारों रुपए लोगों से ऐंठते रहते थे और अंध-विश्वासी भारतीय जनता इस शोषण का शिकार हो रही थी। धर्म के क्षेत्र में बाह्या-डम्बरों का अत्यधिक प्रचार इसी कारण से हुआ। धार्मिक महन्त ठाकुरजी के नाम पर हजारों रुपए चन्दा लेकर गोल कर जाते थे। इस समस्या पर उपन्यासकारों का ध्यान गया और उन्होंने ऐसे पण्डितों और पुरोहितों से लोगों को अगाह करने के लिए इस

समस्या को काफ़ी नमक-मिर्च मिलाकर प्रस्तुत किया ।

प्रेमचन्द की सूक्ष्म तथा पैनी दृष्टि से यह शोषण कब तक बचा रह सकता था । अपने उपन्यासों में प्रेमचन्द ने शोषण को काफी गम्भीरता के साथ प्रस्तुत किया है । 'सेवा सदन' तथा 'कर्मभूमि' उपन्यास के जमींदार महन्त हैं, जो 'बाँके बिहारीजी' तथा 'ठाकुरजी' के नाम पर जनता का भरपूर शोषण करते हैं । 'गोदान' में ब्राह्मण दातादीन द्वारा जो शोषण होता है, वह किसी साहूकार तथा जमींदार के शोषण से कम नहीं है । वर्णाश्रम धर्म के अनुसार ब्राह्मणों को श्रेष्ठ माना जाता है तथा उसे देवता समझा जाता है । लेकिन व्यावहारिक जीवन में वही ब्राह्मण बड़ा ही क्रूर और असहिष्णु बन जाता है । धर्म तथा ईश्वर के नाम पर बिना मिहनत के ही वह अपनी जीविका चला ले जाता है । दातादीन अपनी ब्राह्मण-वृत्ति के सम्बन्ध में स्वयं कहते हैं—'तुम जजमानी को भीख समझो, मैं तो उसे जमींदारी समझता हूँ—ऐसा चैन न जमींदारी में है, न साहूकारी में ।'[१]

प्रेमचन्दजी का विश्वास है कि 'धर्म का मूल स्तम्भ भय है । अनिष्ट की शंका को दूर कर दीजिए, फिर तीर्थ यात्रा, पूजा-पाठ, स्नान-ध्यान, रोज़ा-नमाज़, किसी का निशान भी न रहेगा । मसजिदें खाली नज़र आयेंगी और मंदिर वीरान ।'[२] वस्तुतः 'रंगभूमि' उपन्यास में धर्म के बाह्याडम्बरों से प्रेमचन्द अत्यधिक क्षुब्ध हो उठे हैं । 'कर्मभूमि' में आते-आते यह विक्षुब्धता और भी उग्र हो जाती है । विद्यालय में धर्म सम्बन्धी विवाद के उठ खड़े होने पर अमरकान्त जो अपना मन्तव्य प्रकट करता है, वह बिलकुल लेखक का मन्तव्य प्रतीत होता है—'वह अब क्रान्ति में ही देश का उद्धार समझता था—ऐसी क्रान्ति में जो सर्वव्यापक हो, जो जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धान्तों का, परिपाटियों का अन्त कर दे, जो मिट्टी के असंख्य देवताओं को तोड़कर चकनाचूर कर दे । जो मनुष्य को धन और धर्म के आधार पर टिकने वाले राज्य के पंजे से मुक्त कर दे ।'[3] और यही अमरकांत कालान्तर में धर्म के स्थान पर व्यक्ति की सर्वोपरि शक्ति को स्थापित करता है—'मेरा अपना ईमान यह है कि मजहब आत्मा के लिए बंधन है । मेरी अक्ल जिसे कबूल करे, वह मेरा मजहब है । बाकी सब खुराफ़ात है ।'[४] और इसी उपन्यास में आगे चलकर धर्म की प्रासंगिकता समाप्त होने की भी बात कही गई है—'मजहब का दौर तो खत्म हो रहा है बल्कि यों कहो कि खत्म

---

१. 'गोदान' : तेरहवाँ संस्करण, १६५६, पृ० १५८

२. 'रंगभूमि' : प्रथम भाग—ग्यारहवाँ संस्करण, १६५५, पृ० १०१

३. 'कर्मभूमि' : आठवाँ संस्करण, पृ० ६५

४. 'कर्मभूमि' : आठवाँ संस्करण, पृ० १००

हो गया ।—यह तो दौलत का जमाना है । अब कौम में अमीर और ग़रीब, जायदाद वाले और मरे-भूखे, अपनी ले अपनी जमातें बनायेंगे ।'[१] स्पष्ट है कि प्रेमचन्द धर्म को आधुनिक समाज में अप्रासंगिक मानते हैं, जिसकी महत्ता प्रायः समाप्त हो गई है और उसका स्थान आर्थिक वैभव ने लिया है ।

धर्म का व्यक्तिगत आख्यान

इस युग के अन्य उपन्यासकारों में जयशंकर 'प्रसाद' भी इस धार्मिक शोषण के प्रति अपनी विक्षुब्धता को रोक नहीं पाते । यद्यपि प्रेमचन्द की तरह 'प्रसाद' जी धर्म को अप्रासंगिक मानकर उसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करते, लेकिन प्रचलित तथा व्यवहार्य हिन्दू धर्म से वे भी कम असन्तुष्ट नहीं हैं । इसीलिए 'प्रसाद' जी धर्म के क्षेत्र में प्रगतिशील चिन्तन का सहारा लेकर धर्म का पुनराख्यान करते हैं तथा उसके प्रगतिशील तत्त्वों की पुनर्प्रतिष्ठा करते हैं । कहने की आवश्यकता नहीं कि 'प्रसाद' जी का यह कार्य धर्म को दर्शन की सीमा में प्रतिष्ठित करने का प्रयास है । 'कंकाल' के गोस्वामी कृष्णशरण धार्मिक उदात्त चरित्रों का सन्देश प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—'उनका संदेश था—आत्मा की स्वतन्त्रता का, साम्य का, कर्मयोग का और बुद्धिवाद का, आज हम धर्म के जिस ढाँचे को—शव को घेर-से रहे हैं, वह उनका धर्म नहीं था ।'[२] 'प्रसाद' जी उपन्यासकार तथा कवि होने के साथ-ही-साथ एक गम्भीर चिन्तक भी हैं । वे आधुनिक विचारों को ग्रहण करके धर्म की नई व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं । विजय इस दृष्टि से लेखक के विचारों का प्रतिनिधि क्रान्तिकारी पात्र है जो रूढ़िगत धर्म के विरुद्ध विद्रोह करता है। वह आधुनिक युग-स्वातन्त्र्य तथा बौद्धिक युग का चरित्र है । इसीलिए वह अनुभव करता है कि स्वतन्त्रता और हिन्दू धर्म दोनों विरुद्धवाची शब्द हैं ।[3] यह विजय अपने कालेज में एक 'संशोधन-समाज' की स्थापना करता है, जिसका उद्देश्य है—'जिन बातों में बुद्धिवाद का उपयोग न हो सके, उनका खण्डन करना और तदनुकूल आचरण करना ।'[४] 'प्रसाद' जी की दृष्टि में संघबद्ध धर्म स्वीकार्य नहीं होता, क्योंकि कालान्तर में उसमें जड़ता तथा बहुत-सी दुर्बलताएँ समाहित हो जाती हैं । जिसके कारण वह अत्यधिक कठोर बन जाता है । यहाँ 'प्रसाद' जी स्पष्ट ही धर्म को व्यक्तिगत स्तर पर मान्यता प्रदान करते हैं । उनकी दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति

---

१. 'कर्मभूमि' : आठवाँ संस्करण, पृ० ३२१

२. 'कंकाल' : सातवाँ संस्करण, पृ० १५६

३. 'कंकाल' : सातवाँ संस्करण, पृ० ११०

४. 'कंकाल' : सातवाँ संस्करण, पृ० १००

का अपना जीवन-दृष्टिकोण होता है और वही उसका धर्म है। गोस्वामी कृष्णशरण इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहते हैं—'मुझे व्यक्तिगत पवित्रता में, उद्योग में विश्वास है, मैंने उसी को सामने रखकर उन्हें प्रेरित किया था।'[१] लेकिन विडम्बना यह है कि उन्हीं के शिष्य देव निरंजन तथा मंगलदेव इन विचारों के प्रचार के लिए संघ का आश्रय ग्रहण करते हैं और भारत संघ का संगठन करते हैं। परिणाम यह होता है कि देवनिरंजन इन विचारों में भी ढोंग का अनुभव करते हैं। व्यक्तिगत धर्म का यह सिद्धान्त दर्शन के क्षेत्र में डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने भी प्रस्तुत किया है जो 'प्रसाद' से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। वस्तुत: हम कह सकते हैं कि डा० राधाकृष्णन तथा 'प्रसाद' एक ही युग की देन हैं, इसीलिए उनके विचारों में यह साम्य दिखाई पड़ता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचन्द तथा 'प्रसाद' दोनों ही हिन्दी उपन्यास साहित्य के महान् शिल्पी हैं और धर्म के क्षेत्र में यद्यपि दोनों के दृष्टिकोण एक-दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी इस प्रश्न पर दोनों सहमत हैं कि धर्म का वर्तमान रूप, जो बाह्याडम्बरों तथा ढकोसलों से भर गया है, समाज के लिए अब प्रासंगिक नहीं रहा है। अत: ऐसे धर्म से लोगों को मुक्त करना धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक कार्य है।

धार्मिक चेतना का उदय

वस्तुत: उन्नीसवीं शताब्दी तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में भारत तथा पश्चिम का संघर्ष मूलत: धार्मिक था। इस संघर्ष में यद्यपि सामाजिक जीवन-दर्शन, व्यक्ति का जीवन-दृष्टिकोण, रहन-सहन तथा सांस्कृतिक अभिरुचि की भिन्नता आदि भी कई महत्त्वपूर्ण कारण थे, लेकिन इन सब के मूल में धर्म ही वह केन्द्रीय सूत्र था, जिसने इस संघर्ष को तीव्रता तथा गति प्रदान की। धार्मिक संघर्ष इसीलिए एक व्यापक सांस्कृतिक संघर्ष का रूप ग्रहण कर गया। यही कारण है कि जहाँ पूर्व के अन्य धार्मिक आंदोलन केवल धर्म तक ही सीमित रहे, इसने अपनी सीमा संस्कृति के विशाल क्षेत्रफल तक विस्तारित की। वस्तुत: धार्मिक संघर्ष जब तक रहन-सहन, आचार-विचार, संस्कार तथा अभिरुचि के संघर्ष को अपने में समाहित नहीं कर लेता, तब तक सांस्कृतिक धरातल पर उसकी भूमिका व्यापक नहीं बन पाती। यही कारण है कि पूर्व के धार्मिक आन्दोलनों में वही आंदोलन व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में अपनी प्रतिष्ठा कर सके, जिन्होंने धर्म के साथ ही साथ रहन-सहन आचार-विचार, संस्कारों तथा रुचियों के वैभिन्य को भी महत्त्व दिया तथा सम्पूर्ण जीवन पद्धति को ही बदलने पर जोर दिया। ऐसे सांस्कृतिक धार्मिक आंदोलनों में बौद्ध धर्म का आंदोलन परिगणित किया जा सकता

---

१. 'कंकाल' : सातवाँ संस्करण, पृ० २५२

है, क्योंकि उसमें सम्पूर्ण जीवन-दृष्टिकोण को ही बदल डालने पर बल दिया गया था। इस प्रकार स्पष्ट है कि उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी का यह धार्मिक आंदोलन भी सहज ही अपनी सम्पूर्ण जीवन की व्यापकता के कारण सांस्कृतिक आंदोलन का स्वरूप ग्रहण कर लेता है।

हम देखते हैं कि इस आंदोलन से धर्म के क्षेत्र में सर्वथा एक नवीन चेतना का उदय हुआ और परम्परित धार्मिक कट्टरता को भुलाकर लोग एक दूसरे के धर्मों में दिलचस्पी लेने लगे। धार्मिक उदारता का यह दृष्टिकोण निश्चय ही इस नवीन धार्मिक चेतना की ही उपज था जिसने धर्म-धर्म में प्रेम तथा सहिष्णुतापूर्ण सम्बन्धों का संकल्प व्यक्त किया। फलतः ईसाई धर्म की भाँति एकेश्वर धर्म की कल्पना की गई जिसका प्रचलित सनातनधर्म से कोई मेल नहीं था। इस युग के प्रायः सभी चिन्तक, एक अगर स्वामी दयानन्द को छोड़ दिया जाय तो धार्मिक विचारों में उदार थे, अतः इस युग में विरोध का कारण भिन्न धर्म नहीं बल्कि पश्चिम तथा भारत का परस्पर भिन्न जीवन दृष्टिकोण था। इस सम्बन्ध में प्रो० हुमायूं कबीर लिखते हैं—'प्राचीन काल में तथा मध्य युग में बिना रहन-सहन, जीवन-दृष्टिकोण बदले लोगों का धार्मिक परिवर्तन होता था, लेकिन आधुनिक भारत में बिना धार्मिक विश्वास बदले लोगों के रहन-सहन तथा जीवन-दृष्टिकोण में महान परिवर्तन आ गया।'[1] स्पष्ट है कि पाश्चात्य संस्कृति में धार्मिक आकर्षण प्रधान नहीं था, वरन् उसकी भौतिक दृष्टि प्रधान थी, जिसने बरबस भारतवासियों को आकृष्ट किया। अध्यात्म-प्रधान तथा भौतिकता से शून्य भारतीय संस्कृति तथा धर्म के लिए यह नितान्त स्वाभाविक था कि वह पश्चिमी भौतिक संस्कृति से प्रभावित हो, क्योंकि भौतिक संस्कृति के अभाव में ही भारत सदियों तक पददलित होता आया था। अतः पाश्चात्य भौतिक संस्कृति तथा धर्म के उपादानों को उसने शीघ्रतापूर्वक तथा सोत्साह ग्रहण कर लिया।

इस सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अब धर्म की प्रभु-सत्ता समाज में नहीं रही है। समाज के किसी भी न तो व्यक्ति का और न स्वयं समाज का ही मूल्यांकन धर्म के अधार पर किया जाता है। तात्पर्य यह कि आधुनिक युग में व्यक्ति

---

1. In the Past, men had changed their creed without changing their ways of life. Now process began by with men changed their ways of life without changing their creed. This explains why the existent of christian influence upon contemporary India is out of all proportion to the numbur of cristians in India."—'The Indian Heritage.' 1955, Page-18.

का अस्तित्व धर्म नहीं निश्चित करता। इसीलिए धर्म परिवर्तन तथा धार्मिक कट्टरता की स्थिति अब समाज में नहीं रही है। फलतः लोगों में धार्मिक सहिष्णुता की भावना का विकास हुआ है और विभिन्न धर्मों के पारस्परिक सम्बन्धों का विकास हुआ है। गांधीजी ने सर्व-धर्म समन्वय का सिद्धांत इसी नवीन धार्मिक चेतना के परिणाम-स्वरूप प्रतिपादित किया था। गांधीजी की प्रार्थना-सभाओं में सभी धर्मों की प्रार्थना आयोजित की जाती थीं, जिससे धार्मिक सहिष्णुता की अधिकाधिक वृद्धि हुई। हिन्दी-उपन्यासकारों में भी यह नवीन धार्मिक चेतना दिखाई पड़ती है।

प्रेमचन्द 'कर्मभूमि' में सकीना तथा अमरकान्त का तथा 'रंगभूमि' में सोफ़िया तथा विनय का सम्बन्ध दिखाकर दो विभिन्न धर्मों में समन्वय स्थापना का प्रयत्न सफलता की परिणति तक अंततः दुर्भाग्यवश नहीं पहुँच पाता, फिर भी इससे लेखक का मन्तव्य तो प्रकट हो ही जाता है। इसी प्रकार जयशंकर 'प्रसाद' अपने उपन्यास 'तितली' में अंग्रेज़ युवती शैला तथा इन्द्रदेव का विवाह-सम्बन्ध कराकर दो भिन्न धर्मों में समन्वय तथा परस्पर स्नेह तथा सौहार्द का भाव उत्पन्न करते हैं। सचमुच धार्मिक कट्टरता को अपनाकर आज कोई भी धर्म अपनी उन्नति नहीं कर सकता। स्वामी विवेकानन्द ने इसीलिए धार्मिक उदारता की ही नीति का अनुसरण किया, क्योंकि धार्मिक उदारता की नीति ही मानवीय स्तर पर उचित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आज किसी भी धर्म की प्रगति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह धार्मिक उदारता की नीति पर चले तथा दूसरे धर्मावलम्बियों के लिए स्नेह तथा सहिष्णुता का भाव रखे।

स्पष्ट है कि धीरे-धीरे संस्कृति तथा विचारों की प्रगति के साथ-साथ धर्म का परम्परित रूप—ईश्वरीय और आध्यात्मिक और भी छूटता गया और उसकी जगह सामाजिकता तथा मानवीयता ने ले ली। आगे के उपन्यासकारों में इसीलिए धर्म का कोई परम्परित रूप नहीं मिलता, लेकिन सामाजिक तथा मानवीय धरातल पर विभिन्न विचार-दर्शनों की स्थापना उनके उपन्यासों में हुई है, जिसका विस्तृत विवेचन हम आगे चलकर विभिन्न विचार-दर्शनों के प्रसंग में यथास्थान प्रस्तुत करेंगे।

⊙ ⊙ ⊙

अध्याय—७

नैतिक मूल्य और जीवन दर्शन

दार्शनिक चेतना के उत्स हमारे यहाँ वेद माने गए हैं तथा वैदिक जीवन-दर्शन को ही प्राचीनतम जीवन-दर्शन स्वीकार किया गया है। वैष्णव धर्म तथा दर्शन का सम्बन्ध हम वेद में प्रयुक्त 'विष्णु' शब्द से जिसका प्रयोग वहाँ सूर्य के अर्थ में हुआ है, जोड़ते हैं तथा शैव-दर्शन का सम्बन्ध वेदों की रुद्र भावना से। वस्तुतः वेदों में हमें जिस दर्शन का साक्षात्कार होता है, वह प्रकृति के तत्त्वों को सजीव मानने वाले भावुक मनुष्य का दर्शन है। इन्द्र, वरुण, अग्नि और सविता ये सभी वैदिक देवता ऐसे हैं, जिनका रूप और चमत्कार हम थोड़ा-बहुत अपनी आँखों से भी देख सकते हैं। वैदिक मनुष्य का विश्वास था कि प्रकृति की प्रायः सभी शक्तियाँ किसी एक शक्ति के अधीन काम करती हैं। अतः उसकी पूजा से मनुष्य मात्र का कल्याण हो सकता है। अतएव वैदिक आर्य अधिकतर अपनी प्रार्थनाओं में ही निवेदन करते हैं कि उनके बैल मोटे हों, घोड़े बलवान हों, फसल की उन्नति हो और शत्रुओं पर उन्हें विजय मिले। वे स्वर्ग की इच्छा भी इसी भाव से करते हैं कि स्वर्ग में भी उन्हें उसी प्रकार का उत्तम सुख मिले, जिस प्रकार के सुख इस पृथ्वी पर उन्हें उपलब्ध हैं।

वेदों में परमात्मा की कल्पना बहुत स्पष्ट तो नहीं मिलती, किन्तु उसकी सत्ता स्पष्ट है और इस कल्पना का प्रारम्भ 'नासदीय सूक्त' जैसे सूक्तों से माना जाता है। 'नासदीय सूक्त' में कहा गया है कि सर्वप्रथम केवल परमात्मा थे। वे सब के अद्वितीय अधीश्वर थे। उन्होंने पृथ्वी और आकाश को यथास्थान स्थापित किया। परमात्मा से सभी देव उत्पन्न हुए। आगे चलकर उपनिषदों में जो सूक्ष्म दार्शनिक चिंतन व्यक्त हुआ, उसकी मूल प्रेरणा यह 'नासदीय सूक्त' ही था। इस सूक्त को लोकमान्य तिलक ने मनुष्य जाति की सबसे बड़ी स्वाधीन चिंता कहा है, जो बहुत कुछ सही मालूम पड़ता है। वस्तुतः जिन प्रश्नों को लेकर उपनिषद् जूझते रहे तथा जिन्हें लेकर आज के दार्शनिक चिंतक भी जूझ रहे हैं, उन सभी प्रश्नों के बीज इस सूक्त में वर्तमान थे।

ऋग्वेद में जिस समाज का चित्र खींचा गया है, वह समाज अत्यन्त सुखी और सम्पन्न था तथा उसमें कहीं भी असन्तोष का कोई संकेत नहीं मिलता। यह संसार

दुःखपूर्ण है तथा यह जीवन नाशवान् है, इस विचारधारा पर कहीं भी ऋग्वेद में जोर नहीं डाला गया है। यह सही है कि मरने के पश्चात् प्राप्त होने वाले दूसरे जीवन की प्रशंसा वैदिक ऋषियों ने भी की, लेकिन उसमें उनका दृष्टिकोण यह कहीं नहीं रहा है कि वर्तमान जीवन चूँकि दुःखमय तथा कष्टमय है, इसलिए वे इसे त्याग कर स्वर्ग में जाने को उत्सुक हैं। वस्तुतः वैदिक साहित्य घोर आशावादी है और निराशा का उसमें कहीं नामोनिशान तक नहीं है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वैदिककाल में लोग भोगवाद में अंधे हो रहे थे और इन्द्र, वरुण तथा अग्नि के जो दृश्य रूप हैं, उनसे ऊपर उठकर सूक्ष्म परम सत्ता को वे नहीं देख पा रहे थे। वे जानते थे कि सृष्टि का स्वामी कोई एक ही शक्ति है और उसी का प्रकाश सूर्य, अग्नि, वरुण और इन्द्र में प्रकाशित होता है। ऐसा लगता है कि आगे चलकर इसी सूक्ष्म कल्पना से 'मोक्ष' की कल्पना उत्पन्न हुई होगी और तभी वैदिक ऋषियों ने ज्ञानमार्ग पर सोचना प्रारम्भ किया होगा। ज्ञान और कर्म वेदों में ये दो ही मार्ग हैं। कर्मकाण्ड की प्रधानता संहिता और ब्राह्मण ग्रंथों में है, जो यज्ञ को मनुष्य का प्रधान कर्म मानते थे और जिनकी मान्यता थी कि यज्ञ करने से ही देवता प्रसन्न होते हैं, जिनकी कृपा से मनुष्य को इस जीवन में विजय और मरने के बाद स्वर्ग मिलता है। किन्तु वेदों में ज्ञान-मार्ग की जो थोड़ी-बहुत चर्चा थी, उन्हीं को लेकर उपनिषदों का विकास हुआ। उपनिषदों ने सच्चे सुख का जो 'दर्शन' दिया, वह 'मोक्ष का दर्शन' था। इस सुख के सामने उपनिषदों ने स्वर्ग के सुख को भी हीन और तुच्छ बताया और इसी प्रकार लोग स्वर्ग के सामने लौकिक जीवन को तुच्छ मानने लगे। इस प्रकार भारतीय दर्शन के इतिहास में 'निराशावाद' की एक हल्की परम्परा का प्रारम्भ उपनिषदों में ही हुआ और यही परम्परा उपनिषदों के पूर्ण विकास के समय आकर पुष्ट हुई और जैन तथा बौद्ध दर्शनों में जाकर इसी ने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया। संहिताओं और ब्राह्मणों में हम वैराग्य और सन्यास की बात नहीं पाते, यद्यपि वानप्रस्थ धर्म का आख्यान ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध है। लेकिन उपनिषदों में वैराग्य और सन्यास, दोनों हमारे सामने बार-बार आते हैं।

वस्तुतः वेदों में आत्मा-परमात्मा, पुनर्जनम और कर्म फलवाद के विषय में जो थोड़ी-बहुत कल्पना की गई थी, उन्हीं का विस्तृत विवेचन उपनिषदों में किया गया। इस विवेचन के उपरान्त भारतवासी यह मानने लगे कि धर्म का वास्तविक सूक्ष्म तत्त्व यज्ञवाद और पशुहिंसा से उपलब्ध नहीं हो सकता। सारी सृष्टि ब्रह्म से व्याप्त है और जड़ तथा चेतन सभी के भीतर एक ही सत्ता निवास करती है। इस धारणा के प्रचार से हिंसा की भावना में कुछ कमी आई और लोग यह समझने लगे कि आदमी के समान ही पशु-पक्षी तथा पेड़-पौधे भी हिंसा नहीं प्रेम और आदर के अधिकारी हैं। मोक्ष का

सिद्धान्त निरूपित करते हुए जो लगातार जीवन के दुःख पूर्ण होने की बात कही गई, उससे समाज में एक प्रकार का निराशावाद उत्पन्न हुआ। अतएव पहले जहाँ लोग सांसारिक भोग के लिए कठिन परिश्रम करना श्रेयष्कर समझते थे, वहाँ अब वे गृहस्थाश्रम छोड़कर असमय ही वैराग्य और सन्यास लेने लगे। इस प्रकार वैदिक सभ्यता कर्मठ लोगों की सभ्यता थी जो काम अधिक करते थे और सोचते कम थे, जिसे नरक की चिन्ता नहीं, हमेशा स्वर्ग का ही लोभ था, जो जीवन को दुःखपूर्ण नहीं, सुख और आनन्द का साधन मानता था। लेकिन उपनिषदों ने ये सारी मान्यताएँ समाप्त कर दीं और आदमी को अन्ततः शंकालु बनाकर उसे कई-कई प्रश्नों के बीच डाल दिया। यह सृष्टि क्या है ? जीव सान्त है कि अनन्त ? जन्म से पहले क्या था ? मरने के बाद क्या होगा ? क्या जीवन मरने के साथ ही समाप्त हो जायेगा ? या मरने के बाद भी हमें स्वर्ग मिलेगा ? और यदि स्वर्ग मिलेगा तो इसका प्रमाण क्या है ? इन प्रश्नों का अस्तित्त्व वेदों में नहीं था, ऐसा नहीं कहा जा सकता, वेदों में भी ये प्रश्न उठाये गये थे, लेकिन वैदिक कालीन आदमी इन प्रश्नों की चपेट में नहीं आया था। उपनिषदों ने आदमी को इन प्रश्नों से जकड़ लेने का काम किया और उसे इस बात के लिए मजबूर किया कि वह इन पर सोचे और इनका समाधान प्रस्तुत करे। कहने की आवश्यकता नहीं कि मनुष्य ने इन प्रश्नों के समाधान में जो चिन्तनात्मक कार्य किया, वही दर्शन के इतिहास की अमूल्य निधि है। यद्यपि ये प्रश्न आज भी अपने समुचित उत्तर के अभाव में ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं, लेकिन फिर भी प्रत्येक युग के बौद्धिक चिन्तकों ने अपने ढंग से इनको उत्तरित करने का प्रयास किया है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता।

आगे चलकर इन्हीं उपनिषदों की परम्परा में गीता का निर्माण हुआ, जिसमें कर्म की प्रधानता व्यक्त की गई। 'गीता' के चरित्रनायक कृष्ण का महत्त्व इस दृष्टि से सर्वाधिक है, कि उन्होंने ज्ञान, भक्ति तथा कर्म तीनों का समन्वय तथा समस्त दार्शनिक विवादों को समाप्त करके एक नवीन दर्शन की स्थापना की, जो अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण तथा व्यापक था। इस दृष्टि से गीता वह प्राचीनतम ग्रन्थ है, जिसमें भारत की वैदिक और प्राग्वैदिक धाराएँ, निगम और आगम एक स्थल पर मिल जाती हैं। गीता के बाद से यह प्रश्न ही बेकार लगता है कि कर्म, ज्ञान और भक्ति में से कौन प्रधान तथा कौन अप्रधान है। वेदों और उपनिषदों की विशेषता सर्ववाद थी। आगम आरम्भ से ही किसी-न-किसी ईश्वर को लक्ष्य मानकर चलते आये थे। गीता ने दोनों को एकाकार कर दिया और यह दृष्टिकोण व्यक्त किया कि जो एक है, वही सब में व्याप्त है। निगम के अनुसार मुक्ति के कारण कर्म और ज्ञान माने जाते थे। गीता ने मुक्ति के लिये ज्ञान, कर्म और मुक्ति तीनों का महत्त्व प्रतिपादित किया। इस प्रकार भारतीय दर्शन के

इतिहास में गीता ने पहली बार एक पूर्ण तथा सार्थक दर्शन प्रस्तुत किया जो हमारे जीवन-दर्शन का धरोहर बन सका। उन्नीसवीं शताब्दी में अगर लोगों का ध्यान किसी एक पुस्तक पर गया तो वह थी गीता और क्योंकि गीता का दर्शन तत्कालीन परिस्थितियों में बहुत ही सटीक लगता था, अतः सबसे अधिक लोग आकृष्ट भी गीता के दर्शन पर ही हुए। गीता में यद्यपि ज्ञान, भक्ति तथा कर्म तीनों का समन्वय था। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी में लोगों का अधिकाधिक ध्यान गीता के कर्म मार्ग की ओर ही था। गांधीजी तथा लोकमान्य तिलक ने गीता के इसी मार्ग को ग्रहण किया। रामकृष्ण परमहंस ने यद्यपि उसकी साधना तथा अनुभूति पक्ष को महत्त्व दिया लेकिन उनके अनन्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने उसके व्यावहारिक कर्म मार्ग को ही अपना आदर्श बनाया। योगी अरविन्द तथा रमण महर्षि ने भी गीता के कर्मवाद को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया। तात्पर्य यह कि उन्नीसवीं शताब्दी में जो व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन हुआ उसमें गीता के कर्मवादी दर्शन की भी अपनी भूमिका है, जिससे इन्कार करना उचित नहीं जान पड़ता। लोकमान्य तिलक, जो इस आन्दोलन के एक सशक्त व्यक्ति थे, निश्चय ही बहुत कुछ गीता से निर्देशित थे। उनका गीता-विषयक ग्रन्थ, 'कर्मयोग शास्त्र', अभिनव हिन्दुत्व का सर्वश्रेष्ठ आचार-ग्रन्थ माना जाता है। वास्तव में, राजा राम मोहनराय से लेकर स्वामी विवेकानन्द तक, भारतीय दर्शन में जो विपुल मन्थन हुआ था, उन सब का तर्क सम्मत दार्शनिक आख्यान हम 'कर्मयोग शास्त्र' में पाते हैं। यह ग्रन्थ उस अवस्था का द्योतक है, जब यूरोपीय संस्कृति के आघातों से क्रुद्ध होकर भारतीय संस्कृति अपने में नई शक्ति अर्जित करके उससे लोहा लेने को प्रस्तुत हो उठी थी। तिलक मुख्यतः सामाजिक तथा राजनीतिक विचारक थे, अतः उन्हें पराधीनता स्वीकार नहीं थी। वे हिन्दू जाति की निवृत्ति भावना से व्याकुल तथा उसकी कर्त्तव्य विमुखता से अप्रसन्न थे। अतएव उन्होंने गीता की व्याख्या के बहाने समस्त हिन्दू दर्शन को मथकर उसे नव-जीवन प्रदान किया तथा लोगों में नई मानसिकता उत्पन्न की। इस प्रकार हिन्दू जाति लोकमान्य की चिर ऋणी रहेगी कि निवृत्ति का आलस्य छुड़ाकर उन्होंने उसे प्रवृत्ति के मार्ग पर लगा दिया। जातियाँ जैसे दर्शनों में विश्वास करती है, उनका स्वभाव भी वैसा ही हो जाता है, तथा उनका आचरण और साहित्य भी वही रूप ले लेता है। यही कारण है कि जब कि हमारा अधिकांश प्राचीन साहित्य हमें जीवन से विमुख करता था। आज का हमारा सारा साहित्य मनुष्यों को जीवन जीने तथा उस पर नियंत्रण रखने की प्रेरणा प्रदान करता है। जहाँ तक हिन्दी उपन्यास साहित्य का सम्बन्ध है, वह अपने जन्मकाल से ही प्रवृत्तिमार्गी रहा है और उसमें जीवन को कर्मठ बनाने की बात कही गई है। वस्तुतः आधुनिक साहित्य की सभी विधाओं में जीवन के प्रति आस्था और विश्वास व्यक्त हुआ है और उसे तमाम कठिनाइयों तथा

विघ्न-बाधाओं के बावजूद सुखमय बनाने पर जोर दिया गया है। उपन्यास साहित्य भी इसका कोई अपवाद नहीं है, बल्कि इस दृष्टि से तो वह और अधिक उल्लेखनीय साम-ग्रियाँ प्रस्तुत करता है।

जहाँ तक प्रारम्भिक उपन्यासकारों से सम्बन्ध है उनका जीवन-दर्शन बहुत कुछ स्थूल और जीवन के व्यावहारिक पहलू से अधिक सम्बन्धित है। इन लेखकों में अपनी संस्कृति तथा अपनी जाति के प्रति सम्मान भावना है। इस युग के अधिकांश लेखक सनातन धर्मी हैं, अतः उनके उपन्यासों में परम्परित हिन्दू दर्शन का स्वरूप देखा जा सकता है। ये सारे लेखक जीवन के सम्बन्ध में किसी अभिनव दर्शन की स्थापना तो नहीं करते, लेकिन इतना अवश्य है कि प्राचीन तथा परम्परानुमोदित जीवन-दर्शन को अधिक विश्वसनीयता के साथ अपनी रचनाओं में उतारते हैं। प्रारम्भिक उपन्यासों का स्वर इसीलिए सबसे अधिक उपदेशक और समाज-सुधारक का स्वर बन गया है।

नैतिक दृष्टिकोण

प्रारम्भकालीन उपन्यासों में सबसे अधिक अगर किसी बात पर जोर दिया गया है तो वह है 'नैतिकता' तथा समाज के नैतिक आचार-विचार। मेहता लज्जाराम शर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्याप्रसाद उपाध्याय 'हरिऔध', राधाचरण गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री, ब्रजनन्दनसहाय, बालकृष्ण भट्ट आदि सभी उपन्यासकारों में यह नैतिक चेतना वर्तमान है। कहते हैं पं० बालकृष्ण भट्ट ने तो अपने उपन्यास 'सौ अजान एक सुजान' (१८९२) की रचना ही छात्रों को नैतिक शिक्षा देने के उद्देश्य से की थी।[१] हिन्दी का प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' (१८८२) भी शिक्षाप्रद उद्देश्य को सामने रखकर ही लिखा गया था। इसके अतिरिक्त मेहता लज्जाराम शर्मा के तमाम उपन्यास—'आदर्श दम्पति' (१९०४), 'हिन्दू गृहस्थ' (१९०५), 'बिगड़े का सुधार' (१९०६), 'आदर्श हिन्दू' (१९१५) आदि नैतिक उपदेशमूलक ही हैं। इन उपन्यासों में किसी-न-किसी आदर्श की स्थापना अवश्य की गई है और लेखक का आदर्श नैतिकतावादी दृष्टिकोण बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त हुआ है। स्पष्ट है कि इन उपन्यासों में सामाजिक नैतिक दृष्टिकोण की प्रधानता है तथा इनमें सुधारवादी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है।

प्रारम्भिक उपन्यासों के सम्बन्ध में एक बात और स्मरण रखने की है कि इनमें सर्वत्र एक आदर्शवादी स्वर गूंजता रहा है। इन उपन्यासों के प्रमुख चरित्र ढूँढ-ढूँढकर

---

१. महेन्द्र चतुर्वेदी : 'हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण'—प्रथम संस्करण १९६२, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृ० १९

आदर्शवादी रखे गये हैं, जो कहीं-कहीं अस्वाभाविक भी प्रतीत होते हैं, लेकिन अन्ततः उनके माध्यम से किसी-न-किसी आदर्शवादी जीवन-दर्शन की स्थापना करना ही अभीष्ट रहा है। यह बात अवश्य है कि इन लेखकों का यथार्थ दुनिया से अधिक सम्बन्ध नहीं है, लेकिन यह भी स्वीकार्य है कि अपने आदर्शवादी दुनिया के निर्माण में ये लेखक किसी की शानी नहीं रखते। इस प्रकार इनमें नैतिक आदर्शवादी जीवन-दर्शन का स्पष्ट स्वरूप लक्षित किया जा सकता है। नैतिक आदर्शवाद का हिमायती लेखक उच्च नैतिक धार्मिक आध्यात्मिक और सौन्दर्यपरक प्रतिमानों और आदर्शों को ग्रहण करके अपने तथा समाज के जीवन को उनके अनुसार ढालने का प्रयास करता है।[1] साथ ही वर्तमान अवस्था से असन्तुष्ट होकर वह समाज के लिए किसी नये आदर्श की कल्पना भी करता है। नैतिक आदर्शवाद ने मनुष्य के जीवन पर व्यापक प्रभाव डाला है। वस्तुतः वह किसी भी संस्कृति की आत्मा है। साहित्य में सर्वाधिक अभिव्यक्ति इसी की हुई है। लेकिन जैसे-जैसे समाज प्रगति करता गया है, वैसे-वैसे उसके जीवन-दृष्टिकोण में यथार्थवाद का आग्रह बढ़ता गया है, क्योंकि अन्ततः आदर्शवाद, जब तक कि व्यवहार के धरातल पर उसका पालन सम्भव न हो जाय, एक वायवी कल्पना की ही वस्तु है। इसीलिए प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यास भी कल्पना-प्रधान ही अधिक हैं। युग जीवन का यथार्थ स्वरूप उनमें नहीं आ पाया है।

अन्तर्विरोधी जीवन-दर्शन

लेकिन प्रेमचन्द-काल में आकर यथार्थवादी दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण भारतीय जीवन तथा संस्कृति का रूढ़ और परम्परित रूप कायम नहीं रहा सका। मध्यकालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के विघटन के फलस्वरूप मध्यकालीन संस्कृति तथा जीवन दर्शन का भी ह्रास हो गया। अंग्रेजी साहित्य तथा संस्कृति का भारतीय संस्कृति पर आक्रामक प्रहार भी इसमें प्रमुख रूप से सहायक रहा। लेकिन आवश्यकता इस बात की थी कि प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों तथा जीवन-दर्शनों की समाप्ति के साथ-ही-साथ समसामयिक समाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक जीवनक्रम के आधार पर नये जीवन-मूल्यों या कि नये जीवन दर्शनों का निर्माण किया जाता। लेकिन लोग एक तरह के सांस्कृतिक विभ्रम की अवस्था में पड़े रहे, जिसका परिणाम हुआ समाज में अन्तर्विरोधी जीवन-दर्शन का प्रचलन। फलतः स्वस्थ सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अभाव में आन्तर्विरोधी जीवन-दर्शन को ग्रहण करके समाज अन्दर-ही-

---

१. 'साहित्यकोश' : प्रथम संकरण, सं० २०१५, ज्ञानमंडल लि०, वाराणसी, पृ० ६५

अन्दर दार्शनिक दृष्टि से खोखला पड़ता गया और उसकी दार्शनिक चेतना थोथी होती गई।

इस उलझनपूर्ण तथा विभ्रम की स्थिति का एक प्रधान कारण यह था कि समाज का उच्च वर्ग, जो सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है, अपने स्वार्थों में ही लिपटा रहा और अपने व्यावहारिक जीवन में प्रत्येक नियमों तथा नियन्त्रणों को उपेक्षित करता रहा। इस उच्च वर्ग को सभी तरह के विशेषाधिकार प्राप्त थे, लेकिन यह वर्ग अपने स्वार्थों के लिए स्वयं व्यावहारिक जीवन में अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं का निषेध करता था। इस प्रकार सम्पूर्ण आधुनिक भारत इस अन्तर्विरोधी प्रक्रिया से ग्रस्त है। दर्शन तथा साहित्य में मूल्य केवल गढ़े जाते हैं, व्यावहारिक जीवन में उनका पालन नहीं किया जा रहा है। मध्यम वर्ग, जो सांस्कृतिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ वर्ग समझा जाता है, केवल इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि समाज में नये मूल्यों को व्यावहारिक रूप दिया जाय, लेकिन अभावग्रस्त तथा साधनहीन होने के कारण वह भी अपने इस विश्वास को कार्यरूप नहीं दे पा रहा है।

सांस्कृतिक गतिरोध की स्थिति

वस्तुत: आधुनिक भारत में सांस्कृतिक दृष्टि से गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई है और वैचारिक स्तर पर आज का भारत अवरुद्धता की स्थिति से गुजर रहा है। आधुनिक भारत के सांस्कृतिक निर्माण का श्रेय चार प्रमुख तत्त्वों को है, जो क्रमश: विज्ञान, औद्योगिक-आर्थिक व्यवस्था राष्ट्रीयता तथा जनतंत्रीय भावना है, ये चारों एक-दूसरे के सहयोगी रहे हैं। अत: इन चारों का विकास साथ-साथ ही हुआ है। वैज्ञानिक शिक्षा के बिना तथा मशीनों की अनुपस्थिति में औद्योगिक व्यवस्था पनप नहीं सकती थी। इस औद्योगिक व्यवस्था ने ही आगे चलकर एक ऐसे वर्ग का निर्माण किया जो आर्थिक हितों के मामले में अंग्रेजों के प्रतिद्वन्द्वी थे। अत: ब्रिटेन की आर्थिक शोषण नीति के विरुद्ध इस वर्ग ने विद्रोह किया, जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन का संगठन हुआ। इस राष्ट्रीय आंदोलन के लिए व्यापक जनता का समर्थन आवश्यक था, अत: जनतंत्रीय शासन का आधार स्वीकृत किया गया।

लेकिन कहने की आवश्यकता नहीं कि राजनीतिक पराधीनता तथा ब्रिटिश-शोषण-नीति के कारण इन चारों तत्त्वों का स्वस्थ विकास नहीं हो पाया। फिर भी इस दिशा में भारतीय पूँजीपति वर्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका भुलाई नहीं जा सकती, जिसके नेतृत्व में इन चारों तत्त्वों का विकास सम्भव हुआ। इस प्रकार आधुनिक भारत के निर्माण का बहुत कुछ श्रेय इस पूँजीपति वर्ग को भी है।

पूँजीपति वर्ग ने विज्ञान को अधिकाधिक प्रश्रय दिया, जिसके कारण औद्योगिक

विकास की गति में अत्यधिक तीव्रता आई। पूँजीपति वर्ग को इस नई आर्थिक व्यवस्था से स्वयं भी आर्थिक लाभ कमाने का सुअवसर प्राप्त हुआ। पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था का आधार ही व्यक्तिगत सम्पत्ति है, अतः उसने व्यक्ति के अधिकारों का समर्थन तथा जनतांत्रीय विचारों का पोषण किया। यह बिलकुल ही अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता कि आधुनिक भारत में पूँजीपति वर्ग ने समाज, अर्थ तथा राष्ट्र एवं जीवन-दृष्टिकोण को निश्चित करने की दिशा में सर्वाधिक प्रभावशाली भूमिका निभाई। फलतः यह वर्ग सभी क्षेत्रों में एकाधिकार प्राप्त करने लगा जिससे सांस्कृतिक विकास में गतिरोध की स्थिति भी उत्पन्न होने लगी। उद्योगों की भाँति प्रेसों पर भी पूँजीपति वर्ग का आधिपत्य हो गया, जिससे उसने समाज के मानसिक विकास को भी नियंत्रित कर लिया। इस प्रकार पूँजीपति वर्ग की यह 'एकाधिकार' भावना केवल आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि इसने अपनी परिधि में जनता के मानसिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन को भी ग्रहण कर लिया। अतः ऐसे समय में स्वस्थ, सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन का विकास सम्भव नहीं हो पाता, वैचारिक धरातल पर अनिश्चितता व्यक्तित्व का अन्तर्विरोधात्मक स्वरूप तथा चिंतन में गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो ही जाती है।

वस्तुतः इस गतिरोध का कारण था पूँजीपति वर्ग का स्वार्थी होना, क्योंकि यह वर्ग प्रारम्भ में जिन चार तत्त्वों का निर्माण करता है अपने वर्गीय स्वार्थ के कारण बाद में उन्हें स्वस्थ रूप से विकसित नहीं होने देता। समाज कल्याण तथा उसकी आवश्यकता के लिए वह उत्पादनों को बढ़ाने के स्थान पर आर्थिक लाभ के लिए उसे रोक देना अधिक उपयुक्त समझता है। वैज्ञानिक आविष्कारों से उसे लाभ ही-लाभ है अतः उसे तो वह अधिकाधिक प्रश्रय देता है, लेकिन सामाजिक क्षेत्र में वह वैज्ञानिक चिन्तन का विरोध किये बग़ैर नहीं रह सकता, क्योंकि वहाँ उसे विशेषाधिकारों के छिन जाने का भय सदैव बना रहता है। वह समानता तथा जनतन्त्र का समर्थन करता है, लेकिन इसकी सीमा केवल राजनीति तक ही है। वह आर्थिक तथा सामाजिक जनतंत्र को प्रश्रय नहीं देता, क्योंकि इससे उसकी व्यक्तिगत पूंजी पर प्रत्यक्ष खतरा दिखाई पड़ता है। वह राष्ट्रीय भावना का भी भक्त है, लेकिन इस भावना का एकमात्र लक्ष्य होता है, अपने देश का बाजार प्राप्त कर लेना। अपने स्वार्थ की रक्षा में वह राष्ट्रीयता का भी बलिदान करने में नहीं चूकता, जैसा कि बिड़ला, नफील्ड तथा टाटा इम्पीरियल के व्यापारिक समझौतों से स्पष्ट है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जब तक इन चारों तत्त्वों का पूर्ण विकास नहीं हो जाता, स्वस्थ सांस्कृतिक निर्माण की बात एकमात्र कल्पना बनकर रह जायगी। यही कारण है कि आज हर तरफ एक निराशापूर्ण जीवन-दृष्टिकोण देखने

में आता है। पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष है—अव्यवस्थित आर्थिक व्यवस्था तथा सबसे बड़ी समस्या है, बेकारी की समस्या। इस युग में सामान्य जनता में तो बेकारी बढ़ी ही है, लेकिन मध्यवर्ग विशेषकर शिक्षित मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति अत्यन्त चिन्त्य हो गई है। शिक्षा के प्रचार के कारण एक ओर शिक्षित मध्यवर्ग की संख्या में वृद्धि हुई, तो दूसरी ओर आर्थिक अनिश्चितता भी बढ़ी। परिणाम यह हुआ कि विचारों तथा चिन्तन के धरातल पर अशान्ति तथा निराशा उत्पन्न हो गई। समाज में मध्यम वर्ग इस स्थिति का सबसे अधिक शिकार बना। मध्यम वर्ग की इस दयनीय स्थिति के कारणों पर विचार करते हुए क्रिस्टोफ़र काडवेल महोदय कहते हैं कि सामान्य जनता की ही भाँति उसका भी शोषण होता है, लेकिन उसका लक्ष्य होता है, सामाजिक सन्दर्भों में पूँजीपति वर्ग की निकटता को प्राप्त कर लेना, जिसे वह कभी नहीं प्राप्त कर सकता तथा दूसरी ओर सर्वहारा वर्ग के समीप होते हुए भी वह उसे घृणा की दृष्टि से देखता है और उसमें मिलने से घबराता है।[१] इस निराशा से फ़ासिस्ट प्रवृत्तियों को उत्तेजना मिली। आचार्य नरेन्द्र का मत है कि "फ़ासिस्ट आन्दोलन के मूल आधार मध्यम वर्ग की निम्न श्रेणी के वह लोग हैं, जो कंकाल हो गये हैं।[२]' परिणाम यह हुआ कि आधुनिक भारतीय संस्कृति का जनक तथा पोषक मध्यम वर्ग ईर्ष्या तथा निराशा का प्रचारक बनता गया।[३]

पूँजीवादी समाज-व्यवस्था तथा सभ्यता में समानता का सिद्धान्त चिन्तन का एक आधारभूत मानदण्ड होता है, क्योंकि राजनीतिक क्षेत्र में वैधानिक समानाधिकार का आदर्श मान लिया जाता है, लेकिन व्यावहारिक जगत् में तथा सामाजिक, आर्थिक जीवन में असमानता बढ़ती ही जाती है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री हर्सकोविट्स का कहना है कि आदर्श तथा अनुभूति के इस विरोध के कारण निराशा बढ़ती है।[४] पूँजीवादी संस्कृति मातृत्त्व भावना की घोषणा तो करती है, लेकिन क्रिस्टोफ़र काडवेल का कहना इस सन्दर्भ में अधिक सही है कि इस संस्कृति में मनुष्य सामाजिक सम्बन्धों का आधार नहीं, बल्कि केन्द्र बन जाता है।[५] सामाजिक सम्बन्धों के व्यापारिक रूप लेने से मान-

---

१. Cristopher Caudwell : 'Studies in a Dying Culture' (1951), Page-75.

२. आचार्य नरेन्द्रदेव : 'राष्ट्रीयता और समाजवाद' (१९५०), पृ० ७१६-७१९

३. D. P. Mukerjee : 'Modern Indian Culture' (1942), Page-249.

४. M. J. Herskovita : 'Man and his works' (1952), Page-44.

५. Cristopher Caudwell : 'Studies in a Dying Culture' (1951), Page-54.

वीय भावनाएँ कुंठित हो जाती हैं, जिसके कारण निराशा तथा कुंठा फैलती है। पूंजी-पति वर्ग अपने को स्वतन्त्रता का रक्षक मानता है, लेकिन वह प्रेस आदि माध्यमों का नियंत्रण करके वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं देना चाहता। परतन्त्रता के कारण देश का सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक विकास स्वस्थ तथा सन्तुलित ढंग से नहीं हो पाया। अतः एक ही कालखण्ड में विभिन्न सांस्कृतिक दृष्टिकोण तथा भिन्न मान्यताओं के कारण एक भारतीय का व्यक्तित्व अन्तर्विरोधी तत्त्वों से निर्मित हुआ। इस स्थिति में उदात्त व्यक्तित्व का निर्माण सम्भव भी नहीं था। यही कारण है कि इस युग के उपन्यासों में महाकाव्यों के उदात्त नायकों का अभाव दीख पड़ता है।

वस्तुनः समाज में जो भी विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग होता है, वह संस्कृति पर अपना एकाधिकार स्थापित करने की आकांक्षा रखता है। वह एक ओर तो सांस्कृतिक प्रगति का नारा देता है तथा दूसरी ओर अपने स्वार्थों के लिए विध्वंस भी करता है, जिसके कारण सांस्कृतिक धरातल पर एक प्रकार की अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी दशा में व्यक्ति तथा समाज के सम्पूर्ण आदर्श तथा जीवन मूल्य ढह जाते हैं, व्यक्ति तथा समाज के चारों ओर घुटन का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। हिन्दी के उपन्यासकारों की पैनी दृष्टि प्रशंसनीय है कि उन्होंने ऐसे अन्तर्विरोधी जीवन-मूल्यों से सम्पन्न चरित्रों को पहचाना तथा समाज में व्याप्त अन्तर्विरोधी नैतिक मान्यताओं से उत्पन्न अराजक स्थिति को चित्रित किया।

सामाजिक तथा दैनिक मान्यताओं के अन्तर्विरोधी इन मूल्यों को हिन्दी उपन्यास-साहित्य में विभिन्न धरातलों पर लक्षित किया जा सकता है। प्रेमचन्द जी 'सेवासदन' (१९१७) में तथा उग्रजी 'शराबी' (१९३०) उपन्यास में वेश्या-समाज के माध्यम से समाज के अन्तर्विरोधी मूल्यों पर प्रहार करते हैं। एक तरफ़ तो समाज वेश्याओं से घृणा करता है, क्योंकि वे तिरस्कृत तथा समाज से बहिष्कृत हैं और दूसरी ओर धन-सम्पन्न उच्च वर्ग धार्मिक नियंता तथा शिक्षित वर्ग उन्हीं वेश्याओं के पीछे भागता है। व्यावहारिक जीवन के सभी धरातलों पर वेश्याएँ आदर और सम्मान की नज़र से देखी जाती हैं। वस्तुतः सुमन के चारित्रिक पतन का वास्तविक कारण हमारे समाज का विकृत सांस्कृतिक स्वरूप ही है। बचपन से ही संस्कारों के माध्यम से जो सामाजिक आदर्श उसके नैतिक मूल्यों का निर्माण करते हैं, वह व्यावहारिक जीवन में उन्हीं को तिरस्कृत होते देखती है। आदर्श मान्यताओं तथा व्यावहारिक जीवन का यह अन्तर्विरोध सुमन के नैतिक मूल्यों को बिखरा देता है। व्यावहारिक जीवन की यथार्थता उसे जीवनादर्शों से एकदम अलग दिखाई पड़ती है। वह भी प्रारम्भ में आदर्श जीवन जीना चाहती है, लेकिन वह अनुभव करती है कि समाज में उन आदर्शों की कोई प्रतिष्ठा नहीं। लेखक उसके चारित्रिक पतन का कारण मूलतः सांस्कृतिक धरातल पर खोजने

का प्रयास करता है। इसीलिए वह वकील पद्मसिंह को ही अपने पतन का कारण मानती है, जो एक ओर तो वेश्या का मुजरा सुनता है और दूसरी ओर सुमन को आश्रय देने में समाज में बदनाम होने से डरता है। समाज में वेश्या की स्थिति बहुत कुछ सामाजिक अन्तर्विरोधी मूल्य के परिणामस्वरूप है। समाज का उच्च वर्ग, जो सांस्कृतिक धार्मिक तथा सामाजिक नियंत्रण रखता है तथा सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा तथा सुरक्षा का दावा करता है, स्वयं अपने स्वार्थों के लिये उन्हीं स्थापित मूल्यों का विध्वंस भी करता है। सुमन समाज के इस अन्तर्विरोध पर प्रहार करती है— 'आज तुम आकाश के देवता बने फिरते हो। अंधेरे में जूठा खाने को तैयार पर उजाले में निमन्त्रण भी स्वीकार नहीं।'[1]

'कायाकल्प' (१९२८) के राजा विशाल सिंह 'सेवासदन' के दारोगा कृष्णचन्द्र तथा 'रंगभूमि' के ज्ञानशंकर ऐसे ही अन्तर्विरोधी चरित्र हैं, जिनके आदर्शों और व्यवहारों में कहीं कोई सम्बन्ध नहीं है। राजा विशाल सिंह को अपनी चौथी पत्नी की तलाश है जो शिक्षित तथा आधुनिक होनी चाहिये लेकिन उनका कहना है कि ऐसी स्त्री आसानी से नहीं मिल सकती। मिली भी तो उसमें चरित्र-दोष अवश्य होंगे। जहाँ ऐसी स्त्रियों को देखता हूँ, भ्रष्ट पाता हूँ। मैं तो ऐसी स्त्री चाहता हूँ, जो इन गुणों के साथ निष्कलंक हो।'[2] तीन पत्नियों का पति, काम-विलास से पीड़ित और जर्जर होने पर भी नारी से पवित्रता की माँग करते नहीं हिचकता, यह अंतर्विरोध नहीं तो क्या है? जिस समाज में पुरुष को अनेक विवाह की छूट प्राप्त है, उसी समाज में यदि किसी नारी के साथ बलात्कार किया जाता है तो उसे पथभ्रष्ट मानकर समाज उसको दूध की मक्खी की भाँति निकाल कर फेंक देता है। अहल्या अपने को इस बलात्कार से वीरता के साथ बचाती है, लेकिन उसके सास-श्वसुर उसे पथभ्रष्ट ही मानते हैं। समाज जिन मूल्यों पर आस्था रखता है, वे कितने तर्कहीन तथा हास्यास्पद हैं इसी से स्पष्ट हो जाता है।

समाज का शिक्षित वर्ग सबसे प्रगतिशील तबका समझा जाता है जो सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों की प्राण-प्रतिष्ठा करता है। लेकिन यह शिक्षित वर्ग एक ओर तो अनेक सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ता है, लेकिन दूसरी ओर कुछ-एक कुप्रथाओं से सार्वजनिक अहित की आशंका रहती है, शिक्षित वर्ग ने केवल उन्हीं को समाप्त किया, जिन कुप्रथाओं से किसी एक वर्ग-विशेष का लाभ होता है, वे आज भी उस वर्ग-विशेष की कृपा से बनी हुई हैं। दहेज एक ऐसी ही कुप्रथा है, जो आज भी समाप्त नहीं हुई है।

---

१. 'सेवासदन' : चौदहवाँ संस्करण, पृ० २९६

२. 'कायाकल्प' : तीसरा संस्करण, पृ० २०८

सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति शिक्षित वर्ग की विचार-प्रक्रिया क्या है, यह 'कायाकल्प' के ज्ञानशंकर के माध्यम से प्रेमचन्द व्यक्त कर देते हैं। यह ज्ञानशंकर एक ओर तो आधुनिकता का समर्थक बनकर संयुक्त परिवार-व्यवस्था को तोड़ता है और दूसरी ओर भाई की सम्पत्ति हथियाने के लिये पुराणपंथी विचारों का सहारा लेता है। स्पष्ट है कि उसकी सांस्कृतिक चेतना तथा मूल्य चेतना का केन्द्र एकमात्र स्वार्थ है। उसकी दृष्टि में सांस्कृतिक विचारों तथा मूल्यों का कोई इतर महत्त्व नहीं। इसीलिए वह अपनी सुविधा के अनुसार कहीं प्राचीन तथा कहीं आधुनिक विचारों को अपनाता है।

सांस्कृतिक धरातल पर अन्तर्विरोध का परिणाम यह हुआ कि समाज में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हुई, जीवन के विविध पक्षों में सामञ्जस्य समाप्त हो गया तथा जीवनगत आदर्श तथा मूल्य कई खण्डों में विभाजित हो गए। 'रंगभूमि' (१९२४) का जानसेवक तथा 'कर्मभूमि' (१९३२) का समरकान्त ऐसे ही अन्तर्विरोधी चरित्र हैं, जो जिन्दगी को एक सम्पूर्ण इकाई में नहीं देख पाते। उनके लिए जिन्दगी कई खण्डों में विभाजित होती है, जिसके आदर्श तथा मूल्य भी उसी के अनुसार अलग-अलग होते हैं। जानसेवक धर्म और व्यापार को दो भिन्न जीवनादर्श घोषित करता है। —'धर्म और व्यापार को एक तराजू में तौलना मूर्खता है। धर्म, धर्म है तथा व्यापार व्यापार, परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं। धर्म तो व्यापार का शृङ्गार है। वह धनाधीशों ही को शोभा देता है।'[1] लाला समरकान्त भी धर्म और व्यापार को एक साथ सम्मिलित नहीं कर पाते, इसीलिए वे एक तरफ गंगा स्नान, रामनाम, व्रत-उपासना आदि में भी उत्साह के साथ भाग लेते हैं और दूसरी तरफ़ अपने ग्राहकों से मनमाने सौदे भी पटाते हैं तथा चोरी का व्यापार करते हैं। व्यावहारिकता तथा अवसरवादिता ही उनका जीवन-दृष्टिकोण है। लगता है जीवन के सभी तरह के सामाजिक सांस्कृतिक मूल्य बिखर गए हैं। जीवन को यह खण्डित रूप देना निश्चय ही अन्तर्विरोधी मूल्यों को प्रोत्साहित करता है तथा संस्कृति को विकृत रूपों में ग्रहण करने को प्रवृत्त करता है। जानसेवक तथा समरकान्त ऐसे ही जर्जर संस्कृति से उत्पन्न चरित्र हैं, जिनकी सांस्कृतिक चेतना तथा जीवन-दृष्टिकोण विकृत हो चुके हैं।

इस अन्तर्विरोध का नैतिक मूल्यों पर भी प्रभाव पड़ा और समाज में स्थापित नैतिक मूल्य अचानक डगमगा कर धराशायी हो गए। ऐसे अन्तर्विरोधी व्यक्तियों के लिए प्रेम और विवाह दो भिन्न जीवन-मूल्य के रूप में स्वीकृत हुए जिसके कारण वैवाहिक संस्था तो टूटी ही, पारिवारिक जीवन भी कम तबाह नहीं हुआ। प्रेम और विवाह के इस भिन्न आदर्श को विवेच्यकालीन उपन्यासकारों ने सबसे अधिक प्रश्रय

---

१. 'रंगभूमि' : प्रथम भाग, ग्यारहवाँ संस्करण, पृ० ११४

दिया और अपनी रचनाओं में उसे सर्वाधिक अभिव्यक्ति दी। इस युग की अधिकांश नारियाँ इस अन्तर्विरोध से ग्रसित हैं, जिनके कारण उनका पारिवारिक जीवन कलहपूर्ण तथा अशान्त बना रहता है। 'रंगभूमि' की सोफ़िया, 'कायाकल्प' की मनोरमा, 'तपोभूमि' (१९३२) की धारिणी, 'त्यागपत्र' (१९२९) की मृणाल तथा 'सुनीता' (१९२९) की सुनीता ऐसी ही स्त्री-चरित्र हैं, जिनके लिए विवाह तथा प्रेम दो भिन्न आदर्श तथा मूल्य हैं। अपने इस अन्तर्विरोधी के कारण ही ये स्त्रियाँ आजीवन उलझन की स्थिति में रहती हैं तथा क्षुब्ध मानसिकता का शिकार बनती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि अपने लिए ऐसी स्थिति का निर्माण इन्होंने स्वयं किया है।

अन्तर्विरोधी जीवन-मूल्यों का महत्त्वपूर्ण कारण था पाश्चात्य तथा भारतीय संस्कृति का परस्पर संयोग तथा एक दूसरे को प्रभावित करने की स्थिति का उत्पन्न होना। दो भिन्न संस्कृतियों के जीवन-दृष्टिकोण भिन्न होते ही हैं अतः दोनों संस्कृतियों के सम्मिलन-काल में इस तरह की गड़बड़ियाँ प्रायः हो जाती हैं, क्योंकि दोनों के प्रगतिशील तथा ग्राह्य तत्त्वों का चुनाव बड़ा कठिन होता है। अतः संभावना यही रहती है कि दोनों संस्कृतियों के कुरूप पक्षों पर ही लोगों का ध्यान अधिक न चला जाय। 'परख' (१९२९) का सत्यधन तथा 'कुण्डलीचक्र' (१९३१) का ललित सेन ऐसे ही पात्र हैं। सत्यधन आधुनिक बौद्धिक युग की उपज है तथा आधुनिक शिक्षित, पाश्चात्य तथा भारतीय विचारों से प्रभावित कोरा आदर्शवादी है। और यद्यपि वह आदर्श की रक्षा में अपने को उत्सर्ग करने की बात करता है, लेकिन अवसर आने पर भाग खड़ा होता है, उसी के हाथों उसके आदर्श-मूल्यों की हत्या होती है और वह प्रत्येक अनुचित कार्य के लिए भी बुद्धि से समाधान ढूँढ लेता है। आस्थाओं तथा जीवनगत मूल्यों से रहित सत्यधन तर्कबुद्धि का ही सहारा लेता है। आधुनिक शिक्षा के फलस्वरूप वह पाश्चात्य संस्कृति तथा विचारों को भी जानता है, समझता है, लेकिन उनसे वह जीवनगत स्वस्थ मूल्यों को ग्रहण नहीं कर पाता, केवल कुछ कल्पित आदर्श ही ग्रहण करता है। इसीलिए उसका यह कल्पित आदर्शवादी परिस्थितियों के क्रूर थपेड़ों को सहने की शक्ति नहीं रखता, फलतः वह स्वार्थ-बुद्धि तथा तर्क का सहारा ग्रहण करता है।

'कुण्डली चक्र' का ललित सेन भी पश्चिमी दर्शन का ज्ञाता है तथा बौद्धिक धरातल पर उसका अनुयायी भी है। उसकी धनलिप्सा, कंजूस-प्रवृत्ति तथा कठोर स्वभाव लेखक के अनुसार इसी पश्चिमी संस्कृति का परिणाम है। लेकिन दूसरी ओर वह भारतीय संस्कृति से प्रभावित होने के कारण अंधविश्वासी तथा ज्योतिष पर भी विश्वास करता है। इस प्रकार दोनों संस्कृतियों के उज्ज्वल पक्षों को न ग्रहण करके ललित सेन उनके अवांछनीय तत्त्वों को ही ग्रहण करता है। इसीलिए वह उलझनपूर्ण नितांत अव्यावहारिक तथा जीवन से विक्षुब्ध रहता है। उसके व्यक्तित्व का स्वस्थ

विकास नहीं हो पाता। दो भिन्न संस्कृतियों के मानदण्डों को स्वीकार करने से वैयक्तिक जीवन में अन्तर्विरोध की स्थिति उत्पन्न होती ही है और विभिन्न मूल्यों में परस्पर स्वस्थ सामंजस्य के अभाव में व्यक्ति का कुंठित हो जाना स्वाभाविक ही है।

सारांश यह कि व्यक्ति तथा समाज अन्तर्विरोधी सांस्कृतिक तथा नैतिक मूल्यों से जितना ही ग्रस्त होगा, सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में उतनी ही उलझनपूर्ण, अनिश्चित तथा आराजकता की स्थिति बनी रहेगी। दो भिन्न आदर्शों वाली संस्कृतियों के मिलन काल में यह स्थिति और भी बढ़ जाती है। ऐसी दशा में दोनों संस्कृतियों का स्वस्थ सामंजस्य ही लाभप्रद हो सकता है, क्योंकि समाज के सभी वर्गों के लिए जीवनगत मूल्यों में ऐक्य-स्थापन अत्यन्त आवश्यक होता है। इस एकता के अभाव में सांस्कृतिक सामाजिक मूल्यों में दृढ़ता उत्पन्न नहीं हो सकती और न ही स्वस्थ सांस्कृतिक वातावरण का ही निर्माण संभव हो सकता है। परस्पर विरोधी सांस्कृतिक मूल्यों के खिंचाव का परिणाम यह हुआ कि समस्त मूल्यों के प्रति लोगों की आस्था समाप्त होती गई। सामाजिक आर्थिक संघर्ष की भूमिका में शिक्षित निम्न मध्यम वर्ग सबसे अधिक क्षुब्धावस्था में था, अत: नैतिक मूल्यों और जीवनगत आदर्शों के प्रति सबसे अधिक आस्थाहीन भी यही वर्ग था। बाह्य संघर्ष में अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए अवसरवादिता उसका व्यावहारिक आदर्श बन गई तथा परिस्थितियों को ही उसने विश्व की संलाचक शक्ति मान लिया। यह आस्थाहीनता बौद्धिक विकास के साथ ही साथ प्रगति करती गई और शिक्षा का प्रचार जितनी तेजी से हो रहा था, शिक्षित मध्यम वर्ग के सम्मुख संघर्ष की जटिलता उतनी ही तेजी से बढ़ती जा रही थी।

दुनियाँ में विज्ञान चरमोन्नति पर पहुँच चुका था, जिसका परिणाम था, समस्त चिन्तन-मनन में वैज्ञानिकता का आग्रह। आध्यात्मिक तथा भावात्मक चिन्तन के स्थान पर वैज्ञानिक चिन्तन को प्रतिष्ठित किया गया। बुद्धि को अपनाए जाने के कारण भावना तथा रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ तिरस्कृत हो गईं। समाज तथा संस्कृति को भी वैज्ञानिक दृष्टि से परखने का आग्रह हुआ। लेकिन आस्थाहीनता की स्थिति के कारण वैज्ञानिक चिन्तन तथा स्वस्थ प्रयोग प्राय: नहीं हो सका। दूसरा रास्ता था परम्परागत एवं विकसित समाज तथा संस्कृति के उज्ज्वल एवं प्रगतिशील तत्त्वों को अपनाकर उसका नवीन परिस्थितियों, सामाजिक और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य को दृष्टि में रखकर पुनर्मूल्यांकन करना, लेकिन इस आस्थाहीन मन:स्थिति में वैज्ञानिक चिन्तन से प्रेरित बौद्धिक दृष्टिकोण ने उचित विश्लेषण तथा पुनर्मूल्यांकन का कार्य न करके आस्थाहीन जीवन-दर्शन की पुष्टि के लिए एक माध्यम तथा सबल तर्क प्रस्तुत कर गया। एक प्रकार का यह कोरा बौद्धिक उन्मेष था, जब कि वैज्ञानिक चिन्तन तथा विश्लेषण के लिए यह समझ लिया गया कि पिछले समाज तथा संस्कृति को नकारना अनिवार्य है,

क्योंकि इस सांस्कृतिक विरासत को नकारे बिना समाज तथा संस्कृति का तटस्थ विश्लेषण सम्भव नहीं है। अतः अपनी सामाजिक तथा सांस्कृतिक विरासत को ठुकराकर उनके मूल्यों को पूर्वाग्रह मानकर केवल बौद्धिक निष्पत्ति को ही सर्वग्राह्य मान लिया गया। यह बात किसी ने भी समझने की कोशिश नहीं की कि बुद्धि भी समाज तथा संस्कृति की ही उपज है, अतः उसका विश्लेषण समाज तथा संस्कृति-निरपेक्ष नहीं हो सकता। समाज और संस्कृति का सम्बन्ध अनिवार्यतः पूर्व युगों से होता है, अतः कोई भी बौद्धिक निष्कर्ष पूर्व युगों के समाज तथा संस्कृति के एकदम पृथक् तथा असम्बद्ध नहीं हो सकता। परिणाम यह हुआ कि चिन्तन का दुरुपयोग किया गया।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात स्मरणीय यह है कि इन चिन्तकों ने वर्तमान सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति का वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं प्रस्तुत किया, केवल सांस्कृतिक मूल्यों के वैज्ञानिक चिन्तन तक ही ये सीमित रहे। अतः एक तरफ़ तो यह तथ्य ही भुला दिया गया कि समाज तथा संस्कृति विकसित होती रहती है और दूसरी तरफ़ समाज तथा संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध को भी विस्मृत कर दिया गया। चिन्तन के क्षेत्र में इस मूलभूत कमी के कारण नवीन जीवन दृष्टिकोणों तथा मूल्यों में स्थिरता नहीं आ सकी। संस्कृति तथा नैतिक मूल्य समाज की सापेक्षता में ही महत्त्व रखते हैं, लेकिन समाज में परिवर्तन लाये बिना ही सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा होने लगी। अतः मूल्यों की स्थापना तो हुई लेकिन उन्हें उचित सामाजिक आधार नहीं मिला। सामाजिक आधार के अभाव में इन मूल्यों का टिक पाना सम्भव नहीं था, इसलिए ये सारे-के-सारे मूल्य शीघ्र ही ध्वस्त होते गए, क्योंकि ये समाज सापेक्ष्य नहीं परिस्थिति सापेक्ष्य बनाए गए थे। आज समाज में इन परिस्थितिगत मूल्यों की भरमार देखी जा सकती है, जिनका जितनी तेज़ी से निर्माण होता है, उतनी ही तेज़ी से ह्रास भी हो जाता है। ऐसे मूल्यों की स्थापना तब की जाती है, जब समाज तथा संस्कृति की उपेक्षा करके परिस्थितियों को नियामक शक्ति के रूप में स्वीकृति दी जाती है। व्यक्ति वैज्ञानिक की भाँति तटस्थ तथा विवश मान लिया जाता है। परिस्थितियाँ समाज तथा संस्कृति की उपज होती हैं, लेकिन उनका वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं किया जाता, बल्कि उन्हें नियति का खेल मानकर ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया जाता है।

वस्तुतः मध्यम वर्ग की स्थिति यह है कि वह परिस्थितियों पर अपना नियंत्रण खो चुका है। अतः वह उसे विवशता मान लेता है। समाज की जटिलता तथा विषम अर्थ व्यवस्था ने उसे भयभीत कर रखा है, जिसके कारण प्रत्येक परिवर्तित परिस्थितियों में वह केवल आत्मरक्षा का उपाय सोचता है। और चूँकि वह समाज का बौद्धिक वर्ग है, अतः इसी को वह दर्शन का रूप दे देता है। अस्तित्व-रक्षा का यही बोध 'अस्तित्ववाद' के रूप में दर्शन की भाषा में अपने को व्यक्त करता है। दो-दो विश्वयुद्धों से

आतंकित यूरोप, जीवन के प्रति विश्वास खो बैठा है, अतः वह क्षण में ही विश्वास करता है तथा 'क्षणवाद' का अपना जीवन-दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। क्योंकि वर्तमान क्षण ही सत्य है, आगे कब क्या हो जाय, कोई नहीं कह सकता। अतः जो कुछ करना हो वह सब क्षण में ही कर लो। सम्पूर्ण जीवन क्षण में ही जी लो। इस प्रकार कठिन संघर्ष, ईर्ष्या-द्वेष तथा कुत्सित वातावरण में वहाँ का मनुष्य अपना अस्तित्त्व बनाए रखना चाहता है।

भारतवर्ष यद्यपि महायुद्धों की भयंकरता तथा विकरालता से दूर रहा है, लेकिन यहाँ का मध्यम वर्ग इतना टूट चुका है कि उसे अपनी स्थिति लड़ाई में घायल हुए लोगों की ही भाँति लग रही है। अतः अनेकों शिक्षित मध्यवर्गीय साहित्यकारों ने मरणशील पाश्चात्य संस्कृति को ही वस्तु स्थिति तथा मनुष्य का भविष्य समझ लिया है। अस्तित्त्ववाद तथा क्षणवाद ऐसे लोगों के लिए महान् दार्शनिक मीमांसा बन गये हैं। आज के इस वैज्ञानिक के युग में बौद्धिक चिन्तक समाज, संस्कृति तथा मानव को भी निर्जीव रासायनिक तथ्य एवं भौतिक पदार्थों की तरह जड़ मान लिया जाता है। इसीलिए मध्यवर्ग की स्थिति जड़ता तथा गतिहीनता को प्राप्त हो गई है तथा इस स्थिति ने उनके चिन्तन के पहलुओं को भी काफ़ी कुछ प्रभावित किया है। इसीलिए वैज्ञानिक चिन्तन-पद्धति को ज्यों-का-त्यों ग्रहण करके ये आस्थाहीन बौद्धिक चिन्तक भ्रमपूर्ण ढंग से उसे प्रस्तुत करते हैं। इनकी दृष्टि में समाज, संस्कृति तथा मनुष्य स्थिर एवं जड़पदार्थ हैं तथा वर्तमान, भूत और भविष्य से असम्बद्ध होता है। जब कि ये दोनों मान्यताएँ बिलकुल निरर्थक और सारहीन हैं।

'सितारों का खेल' (१६३६) उपन्यास में 'अश्कजी' ने एक ऐसी ही नारी-चरित्र के रूप में उच्च मध्यवर्गीय तरुणी लता का निर्माण किया है, जो मानवीय मूल्यों के प्रति सदैव अस्थिर एवं परिस्थितिजन्य आस्था रखती है। उसके रोमांस में न जाने कितने परिवर्तन होते हैं और कितने मोड़ आते हैं। उसमें पर्याप्त मनोबल का भी अभाव है तथा हृदय की कमजोरी को वह तर्क से छिपाने का प्रयत्न करती है। उसके लिए प्रत्येक नया प्रेम आदर्श है। यही कारण है कि उसके जीवन में तीन प्रेमी आते हैं। वह प्रेम का सच्चा स्वरूप पाने को उत्सुक है लेकिन स्वयं उसका प्रेमादर्श परि-स्थिति सापेक्ष्य है। इसीलिए प्रत्येक परिस्थितियों में वह अपने लिए नये प्रेमादर्श की तलाश करती है और नये प्रेमी को भी खोज निकालती है। उसके पास प्रत्येक नये रोमांस के लिए तर्क हैं, युक्तियाँ हैं और यही कारण है कि डॉ० अमृतराय से प्रेम सम्पर्क स्थापित कर लेने पर पिछले प्रेमी बंसीलाल को वह, जिनके लिए पिता एवं सुख-साधन सम्पन्न घर को वह छोड़ आई थी, विष पिलाकर उसकी हत्या कर देती है। बंसीलाल के साथ का उसका आदर्श प्रेम डॉ० अमृतराय के साथ नये विलास में ध्वस्त हो जाता

है। अपने पिछले प्रेम की तुलना दुनिया के प्रेम से करती हुई वह अपने संतोष के लिए एक तर्क ढूंढ लेती है—'यदि जगत की मुहब्बत मुहब्बत न थी तो बंसीलाल का प्यार भी प्यार न था। एक वासना थी दूसरा उन्माद दोनों ही अपूर्ण, दोनों ही अभावमय। पूर्ण मुहब्बत तो डॉ० अमृतराय की है।'[1]

वह ईमानदारी के साथ कभी सोचती ही नहीं कि वह किसे सही माने में प्रेम करती है। और चाहती स्वयं सबसे यही है कि प्रत्येक प्रेमी उससे सच्चा प्रेम करे। लोभ और विलास के आवेग में वह भयंकर से भयंकर अपराध तक करने में भी नहीं हिचकती। लेखक ने लता का जो चरित्र प्रस्तुत किया है, उसका समर्थन रानी के जीवन दर्शन से भी हो जाता है। रानी एक स्थान पर कहती है—'संयोग ने जिनका साथ दिया, संसार ने उन्हें सफ़ल समझा।'[2] साथ ही लता के पिता भी मृत्यु शैया पर संयोग तथा परिस्थितियों की ही दुहाई देते हैं—'मनुष्य को परिस्थितियों के अनुसार अपने-आपको ढाल लेना चाहिये। जीवन समझौते का नाम है।'[3] लेखक यहाँ संयोग तथा परिस्थितियों को ईश्वर से भी अधिक महत्त्व प्रदान करता है और अन्ततः भाग्यवादी जीवन-दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। मानव तथा जीवनगत मूल्यों पर उसकी आस्था प्रायः नहीं है। यद्यपि उपन्यास अपने अन्तिम परिच्छेदों में वैचारिक दृष्टि से एक बार फिर पीछे लौटता-सा आभासित होता है जब लता मृत्यु के समय बंसीलाल की याद करती है तथा उससे फिर मिलन की आशा में प्राण त्याग करती है। इस प्रकार अन्तिम परिच्छेदों में रोमांटिक और आस्थाहीन प्रेम की परिणति आत्मिक प्रेम में हो जाती है, लेकिन यह मात्र एक संकेत भर है, इसको लेखक स्वीकार करके कथानक तथा चरित्रों का निर्माण नहीं करता और न ही लेखक इसकी अन्यत्र चर्चा ही करता है। हाँ, यह बात दूसरी है कि संस्कारों में दबा यह दृष्टिकोण लेखकीय समस्त बुद्धिवाद के बावजूद अंततः अपने को प्रकट कर लेता है, अन्यथा लेखक का ऐसा कोई इरादा नहीं दिखाई पड़ता।

'पिपासा' (१९३५ के आस पास) उपन्यास का कमलनयन पराई पत्नी से प्रेम करता है। लेखक भगवतीप्रसाद वाजपेयी उसके इस असामाजिक प्रेम का भी दार्शनिक स्तर पर समर्थन करते हैं—'यह आदर्श जो है, इसकी उत्पत्ति पतन से ही हुई है। ···पतन और आदर्श एक दूसरे से कंधा जोड़कर बैठते और चलते हैं। कोई पतन को आदर्श समझ लेता है और कोइ आदर्श को पतन। यहाँ तक कि दोनों को अलग-अलग

---

१. 'सितारों का खेल' : तीसरा संस्करण, पृ० १८१
२. 'सितारों का खेल' : तीसरा संस्करण, पृ० १७९
३. 'सितारों का खेल' : तीसरा संस्करण, पृ० १९८-१९९

पहचानना कठिन हो जाता है।'[१] इस खोखली दार्शनिक घोषणा का परिणाम यह होता है कि कमलनयन के अवैध प्रेम से एक सामाजिक परिवार टूटकर बिखर जाता है और लोगों का जीना हराम हो जाता है।

इसी प्रकार 'सन्यासी' (१९३५ के आस पास) उपन्यास का नन्दकिशोर आस्थाहीन तथा घोर असामाजिक व्यक्ति के रूप में अपना विकास करता है। वह भी प्रत्येक विश्वासघात तथा असामाजिक कार्य के लिए तर्क का सहारा लेता है। श्री इलाचन्द्र जोशी का यह उपन्यास मनोवैज्ञानिक है, अतः इसमें चरित्र-चित्रण की शैली थोड़ी भिन्न अपनाई गई है। नन्दकिशोर शान्ति को भगा लाता है और अन्ततः उसके साथ विवाह न करके विश्वासघात करता है। शान्ति उसे छोड़कर बलदेव के पास चली जाती है। साथ ही जयन्ती, जो उसकी विवाहिता पत्नी है, उसके व्यवहारों से त्रस्त होकर आत्महत्या कर लेती है। नन्दकिशोर इन स्थितियों के प्रति ग्लानि तथा पश्चात्ताप का भाव भी व्यक्त करता है लेकिन तर्क तथा युक्ति मिलते ही उनसे अपना पिण्ड छुड़ा लेता है। यहाँ तक कि अपनी पत्नी की आत्महत्या की वह सराहना करने लगता है। उसका व्यक्तित्व जितना कुत्सित है, उसकी युक्ति तथा तर्क उतने ही भयंकर हैं। बलदेव से जब वह यह समाचार सुनता है कि उसकी बहन ने भी कपड़ों में आग लगाकर आत्महत्या कर ली है तो वह कतई दुःखी नहीं होता, बल्कि संतोष का अनुभव करता है। वह सोचता है कि—'जयन्ती के जल मरने की घटना को मैं जैसी अस्वाभाविक, असाधारण और आतंकोत्पादक समझ बैठा था, वह वास्तव में वैसी नहीं है। जरा-जरा सी बात पर जल मरना भारतीय नारी के लिए एक साधारण-सी बात है, और सम्भवतः उन्हें जलते-जलते, मरते-मरते एक प्रकार का सुख प्राप्त होता है··· जिस असह्य तीक्ष्ण कण्टकित वेदना को मैं इतने वर्षों से दिन-रात भूलने की चेष्टा करते हुए भी न भूल पाया था, वह बलदेव की बहन की आत्महत्या की खबर सुनने पर समूल उखड़कर नष्ट हो गई है।'[२]

तात्पर्य यह कि नन्दकिशोर हो अथवा लता, तर्क का सहारा लेकर ये चरित्र भयंकर से भयंकर अपराध के लिए भी तैयार रहते हैं। ये पात्र अराजकतावादी चरित्रों से भी एक कदम आगे बढ़कर 'फासिज्म मनोवृत्ति के लगते हैं। इनकी प्रमुख विशेषता है—अपराध स्वयं करें लेकिन दोष किसी और पर मढ़ दें। अपने कुकृत्यों के लिए ये चरित्र, समाज, परिस्थिति तथा नियति को जिम्मेदार ठहराते हैं। जोशीजी के उपन्यासों में ऐसे अपराध वृत्ति वाले चरित्र मिलते हैं जो अपनी कुटिलता, प्रवंचना

---

१. 'पिपासा' : चौथा संस्करण, पृ० १०७
२. 'सन्यासी' : चौथा संस्करण, पृ० ४२२-४२३

तथा कुत्सा का शिकार नारियों को बनाते हैं। ये नारियाँ पहले तो त्रस्त रहती हैं, लेकिन क्रमशः धीरे-धीरे अपना उद्धार कर लेती हैं तथा ऐसे कुटिल नायकों के प्रति विद्रोह भी करती हैं और सफल भी होती हैं, लेकिन लगातार ऐसे पुरुष चरित्रों की सृष्टि करके लेखक निश्चय ही अपनी असामाजिक मनोवृत्ति तथा अस्वस्थ जीवन-दृष्टिकोण का ही परिचय प्रस्तुत करता है।

जोशीजी मनोविज्ञान का सहारा लेकर ऐसे कुटिल तथा असामाजिक चरित्रों को वैचारिक समर्थन भी देते हैं। 'प्रेत और छाया' उपन्यास का नायक उनके पुरुष-पात्रों में सर्वाधिक धूर्त तथा अत्याचारी है। लेखक उसके असामाजिक चरित्र का मनोवैज्ञानिक कारण उद्घाटित करता है, जिसके परिणामस्वरूप वह कुटिल चरित्र पारसनाथ महान् त्यागी बन जाता है। लेखक ने इस प्रकार उसे अन्ततः सहानुभूति का पात्र बना दिया है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का यह आग्रह लेखक की बौद्धिकता तथा वैज्ञानिक चिन्तन को तो स्पष्ट करता है, लेकिन उपन्यास-कला के क्षेत्र में इससे ऐसे ही पात्रों की सृष्टि होती है जो सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों को ध्वस्त करते हैं। ये पुरुषपात्र अपने सम्पर्क में आने वाली समस्त नारियों को अपने अत्याचार का शिकार बनाते हैं तथा समाज में मनमानी अराजकता फैलाते हैं।

'शेखर : एक जीवनी' (१९४०) में अज्ञेयजी शेखर के चरित्र-चित्रण तथा जीवन-दर्शन के माध्यम से समाज, संस्कृति, धर्म, ईश्वर तथा नैतिक मूल्यों की अवहेलना करके बुद्धिवाद को स्थापित करने का महत् प्रयत्न करते हैं। शेखर की प्रवृत्ति जिज्ञासु है, लेकिन उसके प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अगम्य, अनिर्वचनीय, ईश्वर की महिमा का गुणगान करके देने का प्रयत्न किया जाता है। उसकी प्रत्येक जिज्ञासा ईश्वर की महिमा बताकर दबा दी जाती है, जिसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया शेखर में होती है। फलतः उसे ईश्वर शक्तिमान नहीं, बल्कि वह एक सुदृढ़ दीवार है जो मानव की बुद्धि तथा ज्ञान के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। शेखर के इस विद्रोही स्वरूप को लेखक इन शब्दों में व्यक्त करता है—"उसने देखा—समझ लिया कि कोई किसी का नहीं है, यानी इतना नहीं है कि उसका स्वामी, निर्देशक भाग्य-विधायक बन सके। कोई ऐसा नहीं है, जिस पर निर्भर किया जा सके, जिसे प्रत्येक बात में पूर्ण अचूक माना जा सके। यदि किसी का कोई है, तो उसकी अपनी बुद्धि, मनुष्य को उसी के सहारे चलना है। उसी के सहारे जीना है।[१]"

शेखर का यह वैचारिक विद्रोह न केवल ईश्वरीय सत्ता के विरुद्ध है, बल्कि समाज तथा संस्कृति एवं स्थापित मान्यताओं तथा आदर्शों के विरुद्ध भी है। शेखर के अनुसार

---

१. 'शेखर : एक जीवनी' : प्रथम भाग—पाँचवाँ संस्करण, पृ० ९५

समस्त सृष्टि की गतिशीलता का मूल आधार ईश्वर नहीं, प्रकृति नहीं, मानव नहीं, वरन् मानव की जिज्ञासा-वृत्ति है।[1]" शेखर मानव तथा उसकी जिज्ञासा वृत्ति में भेद करता है तथा मानव को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण न करके आंशिकता में ग्रहण करता है। वह आंशिक सत्य का व्याख्याता है और केवल बुद्धि को स्वीकार करके मानव का भी निषेध करता है। इसीलिए उसके विद्रोह का स्वर नकारात्मक है और वह यहाँ तक कि स्वयं अपने से भी विद्रोह करता है। लेखक इस विद्रोही दर्शन के सम्बन्ध में लिखता है—"हमारी विद्रोही प्रेरणा धर्म के, समाज के, राजसत्ता के, अर्थ सत्ता के और अन्त में अपने व्यक्तित्व के प्रति विद्रोही भी है।[2]"

इस प्रकार शेखर जीवन के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक सांस्कृतिक तथा मानवीय सभी धरातलों पर विद्रोह करता है, जिसे लेखक 'सर्वतोमुखी क्रान्ति' की संज्ञा देता है।[3] लेकिन यहाँ स्मरण रखने की आवश्यकता है कि क्रान्तिकारी विध्वंसक तथा विद्रोही तीनों एक नहीं हो सकते—एक नहीं होते। विद्रोह किसी उद्देश्य के लिए बिना किसी दार्शनिक पृष्ठभूमि के तथा बौद्धिक समर्थन प्राप्त किये सीमित भाव-भूमि पर अचानक तीव्रगति से प्रारम्भ हो जाता है, जबकि क्रान्ति किसी महान् उद्देश्य के लिए दार्शनिक एवं बौद्धिक समर्थन प्राप्त कर व्यापक भाव-भूमि पर प्रारम्भ होती है तथा उसके अन्तर्गत नये रचनात्मक कार्यक्रम भी होते हैं और इन दोनों से पृथक् उद्देश्यहीन व्यापक तथा सशक्त, परन्तु असंगठित विद्रोह विध्वंस के अन्तर्गत आता है। क्रान्ति तथा विध्वंस में मूल अन्तर यह है कि क्रान्ति स्वयं में रचनात्मक कार्यक्रम भी लिए होती है, जबकि विध्वंस के मूल में निर्माण की कोई भी प्रेरणा नहीं रहती, उसका उद्देश्य केवल तोड़-फोड़ तक ही सीमित होता है। दूसरी बात यह है कि क्रान्तिकारी सामूहिक भूमि पर विद्रोह करता है, जब कि विध्वंसक वैयक्तिक भूमि पर। इसीलिए विद्रोही के पास संगठित शक्ति का भी अभाव रहता है। क्रान्तिकारी अपेक्षाकृत अधिक संगठित शक्ति का नेतृत्व करता है तथा व्यापक स्तर पर समाज, संस्कृति, मानवता तथा मानवीय एवं तत्सम्बन्धी समस्त मान्यताओं तथा मूल्यों का निषेध करता है तथा उसके स्थान पर नये मूल्यों तथा नई मान्यताओं को स्थापित करने का प्रयास करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अज्ञेय तथा उनके शेखर का जीवन-दृष्टिकोण एक ही है और वह है निषेध तथा विध्वंस का जीवन-दृष्टिकोण। शेखर क्रान्ति का उपासक नहीं वह केवल विध्वंसक की भूमिका प्रस्तुत करता है। सभी कुछ का इसीलिए वह निषेध करता है।

---

१. 'शेखर : एक जीवनी' : प्रथम भाग—तीसरा संस्करण, पृ० ८७
२. 'शेखर : एक जीवनी' : प्रथम भाग—पाँचवाँ संस्करण, पृ० २६
३. 'शेखर : एक जीवनी : दूसरा भाग—तीसरा संस्करण, पृ० ११५

निश्चय ही यह अराजकतावादी दृष्टिकोण है। शेखर अपने माता-पिता के विरुद्ध घृणा का प्रचार करता है, शिक्षा की अवहेलना करता है और अन्ततः शशि का घर उजाड़ कर घोर असामाजिक चरित्र के रूप में अपना विकास करता है। शेखर के इन समस्त विद्रोहों को लेखक ने समर्थन दिया है तथा उसके अहम् को सर्वत्र महत्त्व प्रदान किया गया है, यहाँ तक कि अन्ततः शशि को अपना बलिदान तक कर देना पड़ता है। निश्चय ही शेखर का यह अहम्वाद यहाँ अपनी चरम स्थिति तक पहुँचा हुआ दीख पड़ता है। शेखर अपनी अगली भूमिका में किसी भी निरंकुश तानाशाह से कम नहीं होता, अगर उपन्यास का तीसरा खण्ड लिखा गया होता। लेकिन ग़नीमत है कि प्रथम भाग की उद्घोषणा के बावजूद अब तक उपन्यास के दो ही खण्ड प्रकाश में आये हैं और अगले खण्ड की अब कोई सम्भावना भी नहीं दीखती क्योंकि लेखक के पास तीसरे खण्ड की जो भी सामग्रियाँ थीं उसे वह 'नदी के दीप' (१९५१) में इस्तेमाल कर चुका है।

विभिन्न विचार-दर्शन तथा जीवन-दृष्टिकोण

प्रत्येक युग का बौद्धिक वर्ग कुछ विचारधाराओं से प्रभावित तथा नियंत्रित रहता है। प्रत्येक युग की परिस्थितियाँ अपने चिन्तकों को इस बात के लिए मजबूर करती हैं कि वे कुछ नवीन विचारधारा का निर्माण करें, उसे ग्रहण करें तथा कुछ पुरानी, जर्जर विचारधारा को समाप्त करें। साथ ही परिस्थिति-विशेष में कभी-कभी प्राचीन युग की विचारधारा भी नये युग में अपना ली जाती है। बौद्धिक व्यक्तियों के चिन्तन-मनन पर उनके संस्कारों, रुचियों तथा परिस्थितियों का गहरा हाथ होता है। अतः अपनी रुचियों, संस्कारों तथा वर्गीय परिस्थितियों के अनुसार ही बौद्धिक चिन्तक अपनी विचारधारा तथा सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों तथा अपने जीवन-दृष्टिकोण का निर्माण करता है।

लेकिन यह भी स्मरणीय है कि व्यक्ति की परिस्थितियाँ तथा उसकी वर्गीय स्थिति अपरिवर्तनशील नहीं होती, युगीन परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ उनमें भी अनिवार्य परिवर्तन उपस्थित होता रहता है। अतः ऐसी दशा में व्यक्ति की विचारधारा भी किसी एक लीक पर नहीं चलती रह जाती, वरन् उसकी विचार-धारा में भी परिस्थितिजन्य परिवर्तन होता रहता है। व्यक्ति के विचारों में परिवर्तन की गति इस बात पर निर्भर करती है कि युग तथा उसके वर्ग की परिवर्तित स्थिति में उसकी अपनी स्थिति क्या है। जिस व्यक्ति के जीवन में परिस्थितियों का संघर्ष जितना ही अधिक होगा, उसके विचारों में परिवर्तन की गति उतनी ही तीव्र होगी। भारतीय मध्यमवर्ग, विशेषकर निम्न-मध्यवर्गीय व्यक्ति के जीवन तथा

विचार में यह परिवर्तन सबसे अधिक घटित होता है, जो उसे अराजकतावादी तक बना डालने को प्रस्तुत हो जाता है। वैचारिक जगत् में यह अराजकतावादी स्थिति मूलतः तीन प्रमुख कारणों से आती है—एक तो तब, जब व्यक्ति सभी प्रचलित विचारधाराओं को अस्वीकार करता है, दूसरे तब, जब व्यक्ति सभी विचारधाराओं को संयुक्त करके स्वीकार करता है और तीसरे तब, जब व्यक्ति किसी भी तर्क युक्त विचार तत्त्व को स्वीकृत न करके केवल परिस्थितियों तथा ईश्वर को महत्त्व प्रदान करता है। लेकिन जहाँ व्यक्ति किसी एक विशिष्ट विचारधारा के प्रति एकनिष्ठ अपना आग्रह व्यक्त करता है तो वह रूढ़िवादी हो जाता है। इस रूढ़िवादी होने के भी मूलतः तीन ही कारण हैं। एक तो यह कि व्यक्ति जब अन्य विचारधाराओं का पूर्ण विरोध करता है, दूसरे यह कि व्यक्ति जब किसी नवीन विचारधारा के प्रति मोहासक्त होकर पिछले युगों की विचारधाराओं की पूर्ण उपेक्षा करता है और तीसरे यह कि व्यक्ति जब अनुपयुक्त जान कर भी केवल मोह के स्तर पर पुरानी विचारधारा को पकड़े रहता है, क्योंकि नवीन विचारधारा को हृदयंगम कर पाना उसके लिए शीघ्र सम्भव नहीं होता तथा इसमें वह बहुत कुछ असमर्थ भी होता है।

वस्तुतः हम इस तथ्य से इन्कार नहीं कर सकते कि पिछले युग का विचार-दर्शन हमारी सांस्कृतिक विरासत होता है। युग के प्रायः सभी विचार-दर्शन सत्य को परखने के ही भिन्न-भिन्न प्रयास होते हैं। अतः स्वस्थ दर्शन के प्रतिपादन के लिये अराजकतावाद तथा रूढ़िवाद जैसे दोनों अतिवादों से मुक्त होकर चिंतन में प्रवृत्त होना अत्यन्त आवश्यक है। इनसे मुक्ति पाने का बस एक ही मार्ग है कि व्यक्ति युग-धर्म तथा युगीन परिस्थितियों के अनुसार किसी एक विचारधारा का चुनाव करे। देश, काल की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार किसी विचारधारा को स्वीकार करे तथा वैज्ञानिक चिंतन पद्धति अपना कर उस पर विचार करे।

हम यहाँ स्पष्ट कर दें कि हमारा विश्वास समन्वय के सिद्धान्त में नहीं है और न हम उसका प्रतिपादन ही कर रहे हैं। वस्तुतः विभिन्न विचारधाराओं में समन्वय हो भी नहीं सकता। क्योंकि प्रत्येक विचारधारा की चिन्तन-पद्धति एक-दूसरे से भिन्न होती है, अतः उनके निष्कर्ष भी परस्पर विरोधी होते हैं। इस प्रकार दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं के समन्वय से जिस विचारधारा का निर्माण होता है, वह निश्चित रूप से अन्तर्विरोधी विचारधारा ही होती है। आधुनिक भारत में अन्तर्विरोधी विचारधारा का निर्माण इसी अवैज्ञानिक समन्वय का परिणाम है। हम देख चुके हैं कि इस प्रकार के समन्वय के न जाने कितने प्रयास विफल सिद्ध हो चुके हैं। अकबर का दीन इलाही धर्म तथा राजाराम मोहनराय का ब्रह्म-समाज आन्दोलन ऐसे ही समन्वय पर आधारित थे, जिनकी असफलता इतिहास प्रसिद्ध है। समन्वय

की पद्धति से किसी सुनिश्चित विचारधारा का निर्माण तो बिलकुल ही मान्य नहीं है।

अत: प्रश्न है व्यक्ति अपने युग-धर्म का निर्माण किस प्रकार करे। क्योंकि किसी सुनिश्चित विचारधारा के अभाव में युग-धर्म का पालन भी सम्भव नहीं है। कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए युग-धर्म का स्वरूप अलग-अलग होता है। युग की परिस्थितियाँ स्वत: युग-चेतना का निर्माण करती हैं। प्रत्येक व्यक्ति इस युग-चेतना से प्रभावित होता है, बशर्ते कि व्यक्ति उसके प्रति पूरी तरह ईमानदारी तथा निष्ठा भी व्यक्त करे। यह युग-चेतना ही केन्द्रीयभूत मूल्य है, अतः युग-धर्म के विभिन्न रूपों का प्रश्न ही नहीं उठता। युग-धर्म की विभिन्नता दिखलाई इसलिये पड़ती है, क्योंकि व्यक्ति अनेक संकीर्ण सीमाओं में आबद्ध होकर भ्रम पैदा कर देता है तथा युग-धर्म के प्रति अपनी ईनानदारी तथा निष्ठा का सबूत पेश नहीं करता। इस भ्रम का दूसरा एक महत्त्वपूर्ण कारण वैज्ञानिक चिन्तन का अभाव भी है। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति युग-धर्म के प्रति पूरी ईमानदारी तथा निष्ठा के साथ व्यव-हार करते हुए युग-धर्म को केन्द्र में रखकर वैज्ञानिक पद्धति का इस्तेमाल कर अपनी विचारधारा का निर्माण करे।

इस प्रकार युग-धर्म के प्रति जो विचारधारा अधिक ईमानदारी रहेगी, वह निश्चय ही सशक्त तथा प्रभावशाली होगी। और इस युग-धर्म को आत्मसात् करने की क्षमता रखने वाला जो विचार-दर्शन होगा, व्यक्ति की विचारधारा भी उसी से नियंत्रित होगी, वह कोई अलग से अपना निर्माण नहीं कर सकती। इस प्रकार व्यक्ति के बदलते हुए युग-धर्म के अनुसार अपने दृष्टिकोण में भी विकास होता चलता है। केवल भौतिक धरातल पर नितांत नवीन विचारदर्शनों के निर्माण को भी वांछनीय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनमें युग-धर्म का सम्पूर्णत: सन्निवेश सम्भव नहीं है। इससे वैचा-रिक अराजकता की वृद्धि की ही सम्भावना की जा सकती है। भारतीय सन्दर्भ में आज लगभग यही स्थिति उत्पन्न हो गई है, जब हम अनेक विरोधी विचार-दर्शनों से अपने को आक्रांत तथा घिरा पाते हैं। यही कारण है कि आज कोई स्वस्थ विचार-दर्शन निर्मित नहीं हो पा रहा है।

हम बताना चाहते हैं कि भारतीय सम-सामयिक संदर्भों में वैचारिक विविधता का यह परिप्रेक्ष्य आज के दर्शन तथा साहित्य के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त महत्त्व का विषय है। इसलिए यहाँ इस पूरे परिप्रेक्ष्य को उसकी सम्पूर्णता में किन्तु संक्षिप्तता के साथ उपस्थित करने का लोभ हम संवरण नहीं कर पा रहे हैं।

आधुनिक भारत का वैचारिक जगत् जिन प्रमुख विचार-दर्शनों के संयोजन से निर्मित हुआ है, उनमें से विचार-दर्शनों का उल्लेखनीय महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है। ये हैं—गांधीवादी विचार-दर्शन, मानवतावादी विचार-दर्शन, व्यक्तिवादी

विचार-दर्शन तथा समाजवादी विचार-दर्शन । इनमें से मानवतावादी और गांधीवादी विचार-दर्शनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है । गांधीजी आधुनिक भारत के सबसे अधिक प्रभावशाली चिन्तक रहे हैं, इसीलिए हमने उनके विचार-दर्शन को मानवतावादी विचार-दर्शन के अतिरिक्त अलग से महत्त्व प्रदान किया है । हम स्पष्ट कर चुके हैं कि किसी भी विचार-दर्शन का निर्माण युग, समाज तथा व्यक्ति इन तीनों की परिस्थितियों के परस्पर संघर्ष से ही होता है । इन्हीं तीनों की धुरी पर उपर्युक्त तीन प्रमुख विचार-दर्शनों का निर्माण होता है । इन तीन मूल तत्त्वों की अपनी-अपनी परिस्थितियाँ होती हैं, जिनके परस्पर टकराव से तीनों केन्द्र संचालित होते रहते हैं। प्रत्येक केन्द्र का अपना एक मानसिक जगत् होता है, जो परिस्थितियों की गतिशीलता के समानान्तर ही बराबर गतिशील होता रहता है । इस प्रकार इन्हीं तीन केन्द्रों को आधार मानकर मानवतावादी, व्यक्तिवादी तथा समाजवादी इन तीनों विचार-दर्शनों का निर्माण होता है ।

यद्यपि ये तीनों विचार-दर्शन प्रत्येक युग में वर्तमान रहते हैं, लेकिन प्रमुखता किसी युग-विशेष में किसी एक विचार-दर्शन की ही रहती है। निश्चय ही इसमें युगीन परिस्थितियों का हाथ होता है, जो समय-विशेष में इनमें से किसी एक विचार-दर्शन की प्रधानता घोषित करती है । मानवतावाद, व्यक्तिवाद, तथा समाजवाद ये तीनों वैचारिक केन्द्र भी परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ नये सिरे से गतिमान होते रहते हैं और परिस्थितियाँ ही यह निर्धारित करती हैं कि किस युग में मानवतावाद, व्यक्तिवाद तथा समाजवाद में से किसका क्या रूप तथा अर्थ होगा। इसीलिए विभिन्न ऐतिहासिक कालों में इन विचार-दर्शनों का स्वरूप तथा अर्थ भी बहुत कुछ परिवर्तन होता रहता है । इस प्रकार ये तीनों विचार-दर्शन अपने मूल रूपों में सदैव प्रत्येक काल तथा युग में वर्तमान रहे हैं । यह बात हम समाजवादी विचार-दर्शन के विषय में भी कह सकते हैं, जिसे भ्रमवश लोग आधुनिक युग की उपज मानते हैं । प्रत्येक देश के प्राचीन ऐतिहासिक काल में समाज दर्शन का अस्तित्व रहा है, भले ही उसकी प्रमुखता जितनी आज के युग में मानी जाती है, वह इससे पहले न मानी गई हो । प्राचीन भारत के लोकायतन-दर्शन को हम अपने कथन के प्रमाण में उद्धृत कर सकते हैं । इसी प्रकार व्यक्तिवादी विचार-दर्शन की स्थिति भी प्रत्येक युग में रही है, भले ही उनका रूप अलग-अलग युगीन परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता गया हो । उदाहरण के लिए प्राचीनकाल में व्यक्तिवादी विचार-दर्शन का स्वरूप मुख्यतः धार्मिक एवं आध्यात्मिक था, जबकि आज उसका उद्देश्य हो गया है समाज-निरपेक्ष व्यक्ति की अस्तित्त्व-घोषणा ।

लेकिन जब तक इन तीनों केन्द्रों में परस्पर सन्तुलन संयोजन नहीं हो जाता

किसी स्वस्थ तथा पूर्ण विचार दर्शन का निर्माण नहीं हो सकता। इस दृष्टि से आधुनिक युग के विचारकों के लिए यह एक प्रकार की चुनौती ही है कि वे मानव समाज तथा व्यक्ति के परस्पर संतुलित सहयोग से आधुनिक युग के लिए एक उपयोगी तथा पूर्ण समाज-दर्शन का निर्माण करें, जिससे भारत का स्वस्थ सांस्कृतिक विकास सम्भव हो सके। इन तीनों में संघर्ष तथा अन्तर्विरोध जितना ही कम होगा, सांस्कृतिक दृष्टि से हम उतने ही प्रगतिशील कहलायेंगे। आज हमने 'युग' शब्द को 'मानव' शब्द के अन्तर्गत आत्मसात् कर दिया है, अत: युग धर्म से आज अर्थ है मानव-धर्म का। युग की सम्पूर्ण विशालता 'मानव' शब्द में व्यंजित हो जाती है। युग-धर्म की परिवर्तनशीलता के लक्षण भी इस मानव-धर्म में देखे जा सकते हैं। क्योंकि स्वयं युग धर्म भी शाश्वत नहीं होता और न उसकी कोई शाश्वत कसौटी ही उपलब्ध है, अत: मानव धर्म भी अपने लिए कोई शाश्वतता का दावा नहीं प्रस्तुत करता। स्पष्ट है कि हम यहाँ युग-धर्म, मानव-धर्म तथा मानवतावादी विचार-दर्शन का प्रयोग लगभग एक ही अर्थ में कर रहे हैं। आगे हम इन विविध विचार-दर्शनों को एक-एक करके हिन्दी उपन्यास-साहित्य के सन्दर्भ में समझने का प्रयास करेंगे तथा यह स्पष्ट करेंगे कि हिन्दी उपन्यास साहित्य में किसकी क्या स्थिति रही है।

गांधीवादी विचार-दर्शन

हिन्दी उपन्यास साहित्य उपर्युक्त विवेचित इन समस्त विचार-दर्शनों से प्रभावित रहा। आधुनिक भारत के नवजागरण-काल में स्वामी विवेकानन्द मानवतावादी विचार-दर्शन को प्रस्तुत करते हैं, जिससे इस युग के प्राय: सभी विचारक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। महात्मा गांधी इस विचारधारा की अंतिम कड़ी तथा श्रेष्ठ परिणति के रूप में याद किए जाते हैं। गांधीजी के विचारों में यह मानवतावादी विचार-धारा दर्शन का रूप ग्रहण कर सकी।

आधुनिक भारत में समाज तथा व्यक्ति के सांस्कृतिक जीवन में अराजकता की स्थिति का परिणाम यह हुआ कि लोगों की आस्था नैतिक मूल्य अपना प्रभाव खोते चले गये और सांस्कृतिक विभ्रम की स्थिति बढ़ती गई, जिसका विस्तृत विवेचन हम पहले कर आये हैं। ऐसी दशा में सांस्कृतिक धरातल पर व्यक्ति का जीवन कठिन हो गया। नवीन समाज-रचना के अनुकूल अभी नवीन सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना नहीं हो सकी थी। इस अराजकता की प्रतिक्रिया का परिणाम यह हुआ कि एक ऐसे विचारक का जन्म हुआ जो आदर्शवादी विचारधारा तथा नैतिकतावादी जीवन-दर्शन का आग्रही बना। महात्मा गांधी वास्तव में आधुनिक भारत की अराजक संस्कृति की उपज हैं तथा उनकी विचार-प्रक्रिया सापेक्षता के सिद्धान्त तथा अन्तर्विरोधी जीवन-

दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया का परिणाम। वस्तुतः ऐसे समय में आदर्शवादी नैतिक विचार-दर्शन की आवश्यकता भी थी, क्योंकि समाज किसी निश्चित विचार दर्शन के अभाव में मूल्यहीनता की स्थिति में भटक रहा था।

गांधी-दर्शन ने इस अवसर पर उपस्थित होकर न केवल राजनीतिक जीवन को ही नया मोड़ प्रदान किया। वरन् सांस्कृतिक जीवन को भी आदर्शवादी तथा पवित्रतावादी नैतिक दृष्टिकोण प्रदान करके एक अभिनव रूप दिया। जब सामाजिक मान्यताएँ ढहने लगती हैं तथा व्यक्ति आस्थाहीन हो जाता है तो ऐसी दशा में आदर्शवादी चिन्तक सभी आदर्शवादी तथा नैतिक मान्यताओं को व्यक्ति-केन्द्रित मानकर उसे पुनः आस्थावान् बनाने का प्रयत्न करता है। ऐसी दशा में व्यक्ति ही राष्ट्र, समाज तथा आदर्शों के संचालन की मुख्य शक्ति मान लिया जाता है। विचार-प्रक्रिया की दृष्टि से यह व्यक्तिनिष्ठ विचार-दर्शन तथा आदर्शवाद समाज की अराजकता को मिटा सकने में भले ही पूरी तरह सफल न हो पाता हो, लेकिन वह व्यक्ति की अराजक मनःस्थिति को मिटाने में बहुत कुछ सफल रहा है। इस गांधीवादी आदर्श विचारधारा की मूलभूत विशेषता यह है कि वह यह स्वीकार करके चलती है कि प्रत्येक व्यक्ति में निश्चितरूप से कुछ-न-कुछ अच्छे गुण होते हैं और यह भी कि यदि बुरे-से-बुरे व्यक्ति को भी ज्ञान-प्रकाश प्राप्त हो सके तो वह महान् बन सकता है। हिन्दी के उपन्यास-लेखक समकालीन युग में होने के कारण गांधीजी के महान् व्यक्तित्व तथा उनके विचार-दर्शन दोनों से प्रभावित रहे। उनके उपन्यासों में गांधीवादी चरित्रों का प्रकाशन हुआ है तथा गांधीवादी दर्शन के आधार पर नवीन नैतिक तथा आदर्श मूल्यों की स्थापना भी हुई है। हिन्दी में प्रेमचन्द तथा जैनेन्द्र कुमार इसके लिए विशेष उल्लेखनीय हैं।

अपने विषय की सीमा का ध्यान रखते हुए हम यहाँ प्रेमचन्द पर विचार न करके जैनेन्द्र पर ही विचार करेंगे। जैनेन्द्रजी के उपन्यासों पर विशेष कर 'सुनीता' पर आलोचकों[1] ने गांधीवादी दर्शन का प्रभाव स्वीकार किया है। जैनेन्द्र कुमार काम-वासना को भी हिंसा की श्रेणी में रखते हैं। स्पष्ट है कि असामाजिक तथा अनैतिक काम भाव को ही लेखक हिंसा की कोटि में रखता है। 'सुनीता' का हरिप्रसन्न मित्र की पत्नी सुनीता पर आसक्त होता है तथा उसे सम्पूर्णता में प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त करता है। लेकिन सुनीता आकस्मिक ढंग से नग्न होकर हरिप्रसन्न के मन में जुगुप्सा का भाव जाग्रत करके उसका हृदय परिवर्तन करती है तथा उसकी कामहिंसा का परिष्कार करती है। लेखक तथा कुछ आलोचक मानते हैं कि सुनीता का नग्न होना अहिंसा है। क्योंकि सुनसान जंगल में कोई अकेली नारी हिंसक पुरुष से अपनी

---

१. महेन्द्र चतुर्वेदी तथा डॉ० चण्डी प्रसाद जोशी आदि

रक्षा अन्य ढंग से कर ही नहीं सकती थी, इसलिए सुनीता को नग्न होना पड़ता है। लेकिन आश्चर्य तो इस बात का है कि गांधीजी ने स्वयं अहिंसा दर्शन का यह रूप कहीं भी प्रस्तुत नहीं किया। फिर भी कुछ आलोचक जैनेन्द्र की कला को सराहते नहीं अघाते। शिवनाथजी ने इसे गांधीवादी दर्शन का साहित्यिक संस्करण माना है— "रात के समय सुनसान जंगल में हरिप्रसन्न के सामने सुनीता के दिगम्बर हो जाने का रहस्य क्या है ? यह गांधी की अहिंसा का साहित्यिक प्रतिपादन है और इसके लिए मैं जैनेन्द्र कुमार का बहुत बड़ा प्रशंसक हूँ। साहित्य के क्षेत्र में गांधी की अहिंसा का व्यवहार जैनेन्द्र कुमार के अलावा और किसी के द्वारा इतने ऊँचे रूप में नहीं दिखाई पड़ा अथवा यों कहें कि दिखाई ही नहीं पड़ा।[१]" लेकिन सत्य तो यह है कि सुनीता के सभी चरित्र काम-कुण्ठा के शिकार हैं। श्रीकान्त यह सोचता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि उसके प्रति सुनीता का समर्पण केवल पत्नी होने के कारण है। अतः वह सुनीता को परीक्षा में डालने की नियत से कुछ दिनों के लिए उसे अकेली छोड़कर लाहौर चला जाता है। यथार्थ जीवन में श्रीकांत इसीलिए असामान्य पति का उदाहरण प्रस्तुत करता है। हरिप्रसन्न क्रांतिकारी है, चित्रकार है और लेखक के अनुसार सब कुछ है, लेकिन सुनीता के सम्पर्क में आते ही उसकी देश-भक्ति समाप्त हो जाती है। उसके लिए क्रान्तिकारी पार्टी का उद्देश्य देश-सेवा नहीं रह जाता, बल्कि उसका उपयोग वह अपनी काम तृप्ति के लिए करता है। इसी बहाने वह सुनीता को रात के अंधेरे में सुनसान जंगल में ले जाता है। सुनीता भी अतृप्त है तथा काम-कुण्ठा से त्रस्त है। पति के साथ रहकर भी उसके जीवन में उल्लास नहीं है। ऐसी दशा में हरिप्रसन्न सुनीता तथा श्रीकान्त के बीच प्रवेश करता है जिसमें सुनीता अधिक दिलचस्पी दिखाती है, उसकी दाढ़ी से लेकर उठने-बैठने, खाने-पीने तथा सुविधा-असुविधा का विशेष ध्यान रखती है।

स्मरणीय तथ्य तो यह है कि सुनीता गांधीवादी अहिंसा का आश्रय ग्रहण करके नग्न होने के बावजूद मानसिक रूप से अपनी पवित्रता तथा शुद्धता को स्वीकार नहीं कर पाती। वह हरिप्रसन्न के लिए फिर भी चिन्तित है तथा उसके चरणों की रज लेकर अपना सौभाग्य सिन्दूर भरते हुए विदा देती है। स्पष्ट है कि सुनीता में भी हरिप्रसन्न के प्रति काम-वासना है जिसे टाला नहीं जा सकता और इसे हिंसा के आवरण में ही ढका जा सकता है। वस्तुतः सच्चाई तो यह है कि लेखक स्वयं बहुत बड़ा काम-कुण्ठित चरित्र है जो विभिन्न चरित्रों के माध्यम से सर्वत्र स्वयं को ही अभिव्यक्त करता है।

---

१. आलोचना, उपन्यास-विशेषांक, अंक १३, पृ० ११५

लेकिन हिन्दी उपन्यास के विकास के साथ-साथ गांधीवादी विचार-दर्शन का यह खोखला आदर्श भी बहुत कुछ छूटता गया और हम तीसरे चरण में देखते हैं कि उपन्यासकारों ने गांधीवादी आदर्श विचार-दर्शन का खुला विरोध किया। इनकी दृष्टि आदर्श पर नहीं बल्कि ठोस यथार्थ पर टिकी है और इसीलिए ये लेखक किसी आदर्शवाद का मुलम्मा नहीं स्वीकार करते। ये स्वयं को यथार्थ ठोस धरती पर रखकर अपने अनुभवों द्वारा अपना दृष्टिकोण निर्मित करते हैं और उसे अपनी रचनाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति देते हैं।

'अचल मेरा कोई' (१९४८) उपन्यास में वृन्दावनलाल वर्मा गांधीवादी विचार-दर्शन की असफलता दिखाते हैं। सुधाकर अपनी पत्नी को सन्मार्ग पर लाने के लिए सत्याग्रह का सिद्धान्त इस्तेमाल करता है, लेकिन इससे कुन्ती का हृदय-परिवर्तन नहीं होता, बल्कि वह आत्महत्या कर लेती है। गांधीजी कहते थे कि सत्याग्रह और अहिंसा के सिद्धान्त वैयक्तिक और गार्हस्थिक धरातल पर पूर्ण सफल हो सकते हैं, लेकिन वर्मा जी अपने इस उपन्यास में न केवल राजनीतिक धरातल पर, बल्कि गार्हस्थिक धरातल पर भी गांधी दर्शन की असफलता घोषित करते हैं।

स्वयं जैनेन्द्र भी अपने 'कल्याणी' (१९२९) में इस दृष्टि से असफल रहे हैं। कल्याणी अपने पति डॉ० असरानी के हृदय परिवर्तन के लिए सत्याग्रह, उपवास तथा आत्म-पीड़ा का मार्ग अपनाती है, लेकिन अंततः असफल ही रहती है। लेकिन जैनेन्द्र की आस्था अपनी जगह तब भी कायम रहती है। वस्तुतः जैनेन्द्र ने गांधी दर्शन को सम्पूर्णता में नहीं अपनाया केवल कुछ खण्ड रूपों में ही वे उलझे रहे तथा आत्मपीड़ा दर्शन को गांधी दर्शन का पर्याय मानते रहे। मतलब उन्हें आत्म-पीड़ा दर्शन से ही है, लेकिन इसके लिए वे गांधी-दर्शन को आधार मान लेते हैं। यही वजह है कि उनके चरित्रों में एक प्रकार की अन्तर्विरोधी स्थिति दृष्टिगत होती है तथा उनके प्रायः सभी पात्र निर्बल, आत्म-पीड़ित तथा कुण्ठा के शिकार हैं। इस पीड़ा के दर्शन की अंतिम परिणति मृत्यु-दर्शन में होती है। 'कल्याणी' के चरित्र की अंतिम परिणति उदाहरण के लिए प्रस्तुत की जा सकती है। इस प्रकार जैनेन्द्र स्वयं गांधीवादी विचार-दर्शन पर प्रश्नचिन्ह लगा देते हैं, वृन्दावनलाल वर्मा की तो बात ही कुछ और है, वे तो इस विचार-दर्शन के बिलकुल ही खिलाफ़ हैं।

इलाचन्द्र जोशी ने भी अपने उपन्यासों में विभिन्न विचार-दर्शनों के सिलसिले में गांधीवादी विचार-दर्शन का विवेचन प्रस्तुत किया है। जोशीजी के पात्र किसी भी विचार-दर्शन का अनुसरण नहीं करते, क्योंकि वे अपनी काम-कुण्ठाओं से अलग हो ही नहीं पाते। जोशीजी का गांधीवादी विचार-दर्शन के प्रति केवल बौद्धिक धरातल पर आग्रह व्यक्त हुआ है। उन्होंने एक प्रकार से यह संकल्प कर लिया है कि विभिन्न

विचार-दर्शनों के सम्मिश्रण से एक महान् क्रान्तिकारी विचार-दर्शन का निर्माण करके ही मानेंगे। गांधी दर्शन को इसी उद्देश्य से जोशीजी ने स्वीकार किया है।

आधुनिक-काल में अन्य उपन्यासकारों ने गांधीवादी विचार-दर्शन का प्रभाव नहीं ग्रहण किया और इसीलिए वे उसका अपनी रचनाओं में कहीं उल्लेख भी नहीं करते। ये लेखक आदर्शवादी की अपेक्षा यथार्थवादी अधिक कहे जा सकते हैं।

मानवतावादी विचार-दर्शन

आधुनिक हिन्दी साहित्य में अगर सबसे अधिक किसी एक विचार-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है तो निश्चय ही वह विचार-दर्शन है, मानवतावादी विचार-दर्शन। आधुनिक भारत की नवीन संस्कृति के निर्माण में मानवतावादी विचार-दर्शन का दो स्थानों से आगमन हुआ। स्वामी विवेकानन्द ने उपनिषदों से मानवतावाद की प्रेरणा ग्रहण की तो दूसरी तरफ पश्चिमी मानवतावाद से नवीन शिक्षा के माध्यम से हमारा परिचय हुआ, जिसका एक स्वरूप जनवादी विचार-दर्शन के रूप में विश्व के सम्मुख उभर कर आया। वैसे विवेकानन्द के विचारों का आधार भी आध्यात्मवाद नहीं, बल्कि युग का मानव ही था। आधुनिक भारत के अन्य मनीषियों तथा चिंतकों ने भी उपनिषदों से उत्पन्न मानवतावाद को स्वीकृति प्रदान की। अत: उपनिषदों तथा पाश्चात्य प्रभावों दोनों ने ही मिलकर आधुनिक संस्कृति के सन्दर्भ में भारतीय मानवतावादी विचार-दर्शन का प्रतिपादन किया। साहित्य में मानवतावादी विचार-धारा मूलतः आदर्शवाद में परिणत हुई। हिन्दी उपन्यासकारों ने भी इसे विभिन्न रीतियों से अभिव्यक्त करके इसका यथा संभव प्रसार-प्रचार किया।

प्रेमचन्द के उच्चवर्गीय तथा खलनायक चरित्र स्वयं अपनी कमजोरियाँ स्वीकार करते हैं जिनके पाठकों को भी उनसे सहानुभूति हुए बिना नहीं रहती। मानवतावाद की दृष्टि से यह सम्पन्न कलात्मक चरित्र-चित्रण है। 'सेवासदन' में कुंअर अनिरुद्ध सिंह, 'प्रेमाश्रम' के रायकमलानन्द 'रंगभूमि' के राजा भरत सिंह, 'कायाकल्प' के राजा विशाल सिंह तथा 'गोदान' के राय अमरपाल सिंह इसके उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

मानवतावादी विचार-दर्शन यह मानकर चलता है कि व्यक्ति का चाहे जितना पतन हो जाय, लेकिन उसमें उत्तम भावों का लोप नहीं होता। इसीलिए मानवतावादी विचारक या लेखक समाज-सुधार की भावना लेकर चलते हैं। अत: समस्याओं का समाधान तो प्रायः नहीं हो पाता, हाँ चरित्रों का 'हृदय परिवर्तन' अवश्य हो जाता है। यही कारण है कि उपन्यासकारों ने वेश्या समस्या का कोई सर्वसुलभ समाधान प्रस्तुत नहीं किया, बल्कि उनका व्यक्तिगत रूप से हृदय परिवर्तन कराकर उनका सुधार

किया। स्पष्ट है कि मानवतावाद यथार्थ से नहीं टकराता, बल्कि आदर्श का पहलू पकड़ कर चलता है। इसीलिए मानवतावादी उपन्यासकार उपन्यास के अन्त में उदात्त तथा आदर्शवादी पात्रों की विजय तथा दुश्चरित्र एवं अमानवीय पात्रों की पराजय दिखाता है।

इस मानवतावादी विचार-दर्शन की एक विशिष्टता विश्वबन्धुत्व की भावना भी थी। आधुनिक युग में वैज्ञानिक उपादानों के कारण भारतवर्ष दुनिया के अन्य कई देशों के सम्पर्क में आया। इस मानवतावादी विचार-दर्शन के कारण विश्व का समस्त मानव-समुदाय एक ही भावात्मक धरातल पर चिन्तन का केन्द्र बना। अतः विश्व-मानव-समुदाय को ध्यान में रखकर उपन्यासकारों ने विश्व मानवतावाद का स्वर मुखरित किया। प्रेमचन्द तथा प्रसाद के उपन्यासों में इस प्रवृत्ति को लक्षित किया जा सकता है।

प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' (१९२४) उपन्यास में विश्व-मानवतावाद के धरातल पर अपना अभिनव विचार-दर्शन प्रस्तुत किया है, जिसका उद्देश्य है—विश्व मानव-कल्याण की भावना तथा व्यापक मानवीय चेतना की अभिव्यक्ति। प्रसादजी अपने उपन्यास 'तितली' में विश्व-बन्धुत्व की भावना को कलात्मक रूप में उपस्थित करते हैं। प्रेमचन्द मूलतः राष्ट्रीय आन्दोलन के लेखक थे तथा 'रंगभूमि' का भी मूल प्रतिपाद्य राष्ट्रीय आन्दोलन ही है। अतः विश्व बन्धुत्व के लिये वहाँ बहुत अधिक गुंजाइश नहीं थी, लेकिन 'तितली' में कथानक का आधार ही विश्व बन्धुत्व की भावना है। प्रसाद-जी पूर्व तथा पश्चिम में साम्य बताते हुए लिखते हैं—'लन्दन नगर में भी उन्हें पूर्व और पश्चिम का प्रत्यक्ष परिचय मिला। पूर्वीय भाग में पश्चिमी जनता का जो साधारण समुदाय है, उतना ही विरोध पूर्ण है, जितना कि विस्तृत पूर्व और पश्चिम का। एक ओर सुगंध जल के फौवारे छूटते हैं, बिजली से गरम कमरों में जाते ही कपड़े उतार देने की आवश्यकता होती है, दूसरी ओर बरफ और पाले में दूकानों के चबूतरे के नीचे अर्द्धनग्न दरिद्रों का रात्रि निवास।'[1] जब 'तितली' (१९३४) उपन्यास का प्रकाशन हुआ था, उस समय भारत ब्रिटिश पराधीनता से त्रस्त था। दोनों देशों में मालिक तथा गुलाम का सम्बन्ध स्थापित था, लेकिन प्रसादजी स्पष्ट संकेत करते हैं कि मालिकों के देश में भी कुछ लोग भारत की ही भाँति पीड़ित तथा त्रसित हैं। जैक तथा शैला अंग्रेज जाति के हैं, ब्रिटेन के नागरिक हैं, लेकिन उनकी स्थिति भारतीय गुलामों से अच्छी नहीं है। शैला को अपने उपेक्षित जीवन में किसी से सच्ची सहानुभूति मिलती है तो वह भारतीय इन्द्रदेव से। इन्द्रदेव के साथ शैला भी भारत चली

---

१. 'तितली' : चौथा संस्करण, पृ० १९

आती है। इसके विपरीत मिस अनवरी भारतीय महिला हैं, लेकिन आम भारतीय नागरिकों से उन्हें कोई सहानुभूति नहीं है। जबकि भारतीय दरिद्र किसानों के साथ रहने में शैला को आनन्द मिलता है। 'प्रसादजी' सचमुच अपने विश्व-मानवतावादी विचारदर्शन में आश्चर्यजनक विकास करते हैं और उसे प्रौढ़ता की स्थिति तक पहुँचाते हैं। मिस अनवरी को जवाब देती हुई शैला कहती है— 'मिस अनवरी ! सुख ! अरे मुझे तो इनके पास जीवन का सच्चा स्वरूप मिलता है, जिसमें ठोस मेहनत, अटूट विश्वास और सन्तोष से भरी शान्ति हँसती-खेलती है। लन्दन की भीड़ से दबी हुई मनुष्यता से मैं ऊब चुकी हूँ। दुःखी के साथ दुःखी का सहानुभूति होना स्वाभाविक है।'[1]

वस्तुतः दुःखी के साथ दुःखी की सहानुभूति यही मानवतावादी विचार-दर्शन की रीढ़ है। शैला की माता जैन की करुण स्मृतियाँ महँगू को दुःखी बना देती हैं और वह उनकी याद में कह उठता है—'वह बेचारी बड़ी दुःखी है। मैं यहाँ से क्या करता मेम साहब।'[2] इस करुण अभिव्यक्ति में राष्ट्रीय तथा जातीय समस्त संकीर्णताएँ तथा सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं। संसार भर के मनुष्यों में मानवता का सम्बन्ध बच रहता है। शैला तथा इन्द्रदेव इसी मानवतावादी विचारधारा को प्रवाहित करने के लिये कार्य करते हैं और अंततः दोनों वैवाहिक सूत्र में बँधकर विश्व एकता का संदेश प्रचारित करते हैं।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य के तीसरे चरण में मानवतावादी विचार-दर्शन ने प्रमुखरूप से अभिव्यक्ति पाई और अनेकानेक उपन्यासों का यह प्रिय विषय बना। यशपाल के उपन्यासों में भी मानवतावादी विचार-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है, यद्यपि वे समाजवादी लेखक हैं, लेकिन व्यापक मानव-सहानुभूति उनका भी अभीष्ट है। वस्तुतः यशपाल का यह मानवतावाद बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय से प्रभावित रहा है। बंगाली साहित्य में शरत् का मानवतावाद भिन्न कोटि का रहा है। उनके मानवतावादी विचार-दर्शन का सिद्धान्त है—पाप से घृणा करो तथा पापी से प्रेम करो। उनके सम्पूर्ण साहित्य में चरित्र-भ्रष्ट नायक ही मिलते हैं, जिनके प्रति लेखक पाठकों की सहानुभूति अर्जित करने का भरपूर प्रयत्न करता है। यह दर्शन-सिद्धान्त तथा दर्शन की श्रेणी का अधिक है, व्यावहारिक दृष्टि से यह स्वस्थ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे एक अन्तर्विरोधी विचार-दर्शन का ही निर्माण होता है।

वस्तुतः शरत पर बङ्गाल के अभिजात्य वर्ग की ह्रासोन्मुखी संस्कृति के प्रभावों

---

१. 'तितली' : चौथा संस्करण, पृ० ३७

२. 'तितली' : चौथा संस्करण, पृ० ६९

को इन्कार नहीं किया जा सकता। इस ह्रासोन्मुखी अभिजात्य वर्ग की संस्कृति के प्रति शरतचन्द्र की अटूट आस्था थी। यही वजह है कि पाप से सिद्धान्ततः दूर होते हुए भी शरतचन्द्र अपने अभिजात्यवर्गीय पापी चरित्रों से अपनी तटस्थता नहीं बनाए रख सके। हिन्दी कथा साहित्य में भी यह विचारधारा बङ्गला से अवतरित हुई, जिसे सर्वाधिक अवतरित करने का श्रेय जैनेन्द्र कुमार को दिया जाता है। जैनेन्द्र कुमार का जो अपना विशिष्ट गांधीवादी विचार-दर्शन है, उसके मूल में शरत का मानवतावादी विचार-दर्शन ही है। इसी दृष्टिकोण से जैनेन्द्र 'त्यागपत्र' की बुआ को उत्कृष्ट चरित्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं तथा पाठकों की उसके प्रति अपार सहानुभूति बटोरते हैं। जैनेन्द्र की ही भाँति यशपाल भी शरत से काफ़ी प्रवाहित रहे हैं और 'देशद्रोही' (१९४३) उपन्यास पर तो शरत के 'गृहदाह' की स्पष्ट छाया भी देखी जा सकती है। 'गृहदाह' में काम-कुण्ठा जनित पात्र सुरेश अपनी जान पर खेल कर विवाहिता अबला अचला की सहानुभूति प्राप्त करता है तथा फलतः अचला मानव-धर्म की पुकार सुनकर पातिव्रत्य धर्म की अवहेलना करती है तथा पति का घर त्याग कर सुरेश की सेवा-सुश्रूषा करती है। 'देशद्रोही' का डॉ० खन्ना भी यद्यपि वह एक सक्रिय राजनीतिज्ञ तथा देश-सेवी है, मूलतः काम-पीड़ा से पीड़ित है तथा अचला की ही भाँति यहाँ भी विवाहिता चन्दा मानव-धर्म के नाते पति-गृह छोड़कर बीमार खन्ना को लेकर पहाड़ जाती है। यशपाल जी यहाँ चन्दा तथा राजबीबी दोनों चरित्रों की तुलना करके इस प्रभाव को और भी तीखा बना देते हैं। शरत की ही भाँति यशपाल का ह्रासोन्मुखी मानवतावादी विचार-दर्शन काम-कुण्ठित पात्रों की स्वेच्छाचारिता का समर्थन करता है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' 'गिरती दीवारें' (१९४७) उपन्यास में कविराज के शोषण का बहुत लम्बा ब्योरा प्रस्तुत करते हैं। चेतन इस शोषण से विक्षुब्ध है लेकिन वह विद्रोह नहीं कर पाता, क्योंकि वह निकम्मा और व्यक्तित्वहीन है। सामाजिक यथार्थवाद के नाम पर वह अपने सम्पर्क में आने वाली अनेक लड़कियों से छेड़-छाड़ करता है, उनकी छातियों पर चींटी काटता है तथा उन्हें बिस्तर पर पटकता है। अश्क जी मानवतावादी विचार-दर्शन का आश्रय लेकर उसकी निष्क्रियता का समर्थन करते हैं—'सुनते-सुनते नई श्रद्धा से उसका मन प्लावित हो उठा। वह भूल गया कि कविराज शोषक हैं, व्यापारी हैं, दुनियादार हैं। उसके सामने रह गया केवल उनका कलाकार जो अनायास अपने आवरण को उतार कर गा उठा था, रह गया केवल मानव, जो उस स्वच्छ स्थान में अपने स्वाभाविक बन्धनों से मुक्त होने के लिए तड़फड़ा उठा था। एक गायक जो अनायास रस के सागर उड़ेल रहा था।'[1] लेकिन क्या चेतन जैसे

---

१. 'गिरती दीवारें' : द्वितीय संस्करण, पृ० १२७

अकर्मण्य, परिस्थितियों का दास तथा काम-पीड़ित चरित्रों की सृष्टि मानवतावाद है? और क्या यही सामाजिक यथार्थवाद है ?? हम निवेदन करेंगे कि मानवतावाद मूलभूत तत्त्व मानव का सर्वशक्तिमान् स्वरूप है, क्योंकि वह सचेतन प्राणी है और यही सामाजिक यथार्थवाद का भी सिद्धान्त है। स्वस्थ समाज तथा परिस्थितियों और चरित्रों का निर्माण ही मानवतावादी विचार-दर्शन की प्रस्तुति के लिए आवश्यक तथा उचित साधन है।

लेकिन यह भी सत्य है कि सामाजिक यथार्थ भी कभी-कभी विचार-दर्शनों का खोखलापन सिद्ध कर देता है। रांगेय राघव तथा अमृतलाल नागर क्रमशः अपने उपन्यास 'विषादमठ' तथा 'महाकाल' में बंगाल के अकाल का वर्णन करते हैं, जो रोमांचकारी यथार्थ शैली का वर्णन कहा जा सकता है। यह यथार्थ घटना राष्ट्रीय तथा मानवमात्र दोनों के महत्त्व की है, जिसने युगीन विचारकों को काफी हद तक प्रभावित किया। इस प्रलयंकारी घटना ने मानवतावादी विचार-दर्शन पर प्रश्नचिह्न लगा दिया, क्योंकि यह अकाल आकस्मिक एवं प्राकृतिक घटना नहीं, मनुष्यों द्वारा उत्पन्न किया गया था, जिसके कारण लाखों मनुष्य भूख से तड़प कर मृत्यु के शिकार हुए। अतः इस घटना से मानवतावादी विचारकों को काफी निराशा हुई और वे बहुत अधिक प्रभावित हुए और मनुष्य में उनकी आस्था एक बार बहुत कुछ डगमगाने को हो गई।

'विषाद मठ' (१९४७) तथा 'महाकाल' (१९४७) दोनों ही उपन्यासों में अकाल की परिस्थितियाँ जमींदार वर्ग, अंग्रेजी सरकार, अफ़सर वर्ग तथा व्यापारी वर्ग के स्वार्थों के कारण उत्पन्न होती हैं, जिनमें लाखों की संख्या में लोगों की जानें चली जाती हैं। फलतः सामाजिक सांस्कृतिक एवं मानवीय मूल्य अपना प्रभाव खो बैठते हैं। लेकिन इन शोषकों के मन में करुणा की एक हल्की रेखा भी नहीं दृष्टिगत होती। बल्कि दयाल चट्टोपाध्याय, चन्द्रशेखर, मोनाई आदि के लिए यह अवसर धन कमाने का सुनहला अवसर सिद्ध होता है। साथ ही इस अवसर का लाभ उठाकर मि० दास, अभिताभ तथा रुद्रमोहन अपनी काम-वासना की तृप्ति भी करते हैं, क्योंकि दाने-दाने को तरसती स्त्रियाँ पैसे-पैसे पर शरीर बेचने को तैयार हैं। यहाँ पहुँचकर विचारकों को महसूस होता है कि एक ही समय तथा एक ही घटना दो निम्न वर्गों के लिए अलग-अलग महत्त्व रखती है।[1] उपन्यासकार इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि सम्पूर्ण मानव समूह एक इकाई नहीं है, बल्कि वह अनेक वर्गों में विभाजित है। इसीलिए एक घटना का प्रभाव विभिन्न वर्गों में विभिन्न ढंग से पड़ता है। साथ ही इन लेखकों ने

---

१. 'महाकाल' : प्रथम संस्करण, पृ० १०१

यह भी निष्कर्ष निकाला कि दया, करुणा, सम्वेदना आदि मानवीय गुणों का भी आधार वर्ग ही है। एक-दूसरे वर्ग से सहानुभूति एवं सम्वेदना नहीं रखता, क्योंकि परस्पर उनके स्वार्थों में भिन्नता होती है। अतः हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त ही गलत है।

इस प्रकार इन उपन्यासकारों ने मानवतावादी विचार-दर्शन को भी वर्गों की सीमाओं में सीमित कर दिया। भूख से पीड़ित भीड़ जब मोनाई के गोदाम पर हमला करती है, तो जमींदार दयाल बन्दूकों से लैस सिपाहियों को भेजकर व्यापारी मोनाई की रक्षा करता है। 'विषाद मठ' के शोभा, भोला, गौरी आदि का मानवतावाद भी वस्तुतः अपने वर्गीय सहानुभूति के ही कारण है। फिर भी दोनों उपन्यासकारों ने जीवन के प्रति आस्था बनाये रखने की कोशिश की है और मानवता के स्थायी मूल्यों को अक्षुण्य महत्त्व प्रदान किया है। इन लेखकों का विश्वास है कि चाहे कितनी ही दुर्घटनाएँ क्यों न हों, कितना ही शोषण क्यों न हो, लेकिन मानव जाति तथा उसकी मानवता कभी समाप्त नहीं हो सकती। पाश्चात्य प्रभावों से प्रभावित हिन्दी उपन्यासकारों के ह्रासोन्मुख तथा मरणशील साहित्य-सृजन की तुलना इन दोनों लेखकों से की जाय तो दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। एक में निराशा, कुण्ठा तथा संत्रास है, तो दूसरे में मृत्यु की काली छाया में भी जीवन के प्रति आस्था वर्तमान है। जीवन के प्रति यह आस्थावादी स्वर ही मानवतावादी विचार-दर्शन का मूल उत्स है।

व्यक्तिवादी विचार-दर्शन

हिन्दी में व्यक्तिवादी विचार-दर्शन के लेखकों में जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी तथा भगवती प्रसाद वाजपेयी और भगवतीचरण वर्मा प्रमुख हैं। इनमें भगवतीचरण वर्मा के अतिरिक्त अन्य सभी लेखक अपने विचार-दर्शन का आधुनिक आधार, मनोविज्ञान को मानते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान के पिता फ्रायड का उल्लेख हम पहले भी कर चुके हैं। ये लेखक फ्रायड, युंग तथा एडलर इन तीनों प्रमुख मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों को हू-ब-हू ग्रहण करके अपना विचार-दर्शन निर्मित करते हैं।

लेकिन विज्ञान तथा विचार-दर्शन की स्थिति एक-सी नहीं होती। विज्ञान देश-काल की सीमा से परे की वस्तु होता है, इसलिए उसमें आविष्कारक की वैयक्तिक सत्ता का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जाता। और इसीलिए वैज्ञानिक की विवेचन पद्धति, तर्क प्रणाली तथा वस्तुगत निष्कर्ष तथा वैज्ञानिक नियम आदि सभी भी एक जगह से दूसरी जगह अपना लिये जाते हैं तथा उनका प्रयोग किया जाता है। लेकिन विचार-दर्शन देश-काल की सीमा से परे की वस्तु नहीं है। अतः विचार-दर्शन का विवेचन

भी उसी सीमा में ही किया जा सकता है। इन उपन्यासकारों के विचार-दर्शन में भ्रांति का एक बड़ा कारण प्रायः यही है कि दो विश्व-युद्धों से भयाक्रांत यूरोपीय संस्कृति एवं जीवन-दृष्टिकोण में जो ह्रास एवं मरणशीलता का गुण उत्पन्न हुआ, उसे ही इन उपन्यासकारों ने सत्य समझकर ज्यों-का-त्यों अपना लिया। फ्रायड स्वयं भी यूरोपीय ह्रासोन्मुख संस्कृति की उपज था।

वैज्ञानिक सिद्धान्तों को दार्शनिक रूप देने में आविष्कारक की भावनाएँ भी वैज्ञानिक नियमों को प्रभावित करती हैं। इसीलिए युगीन सांस्कृतिक वातावरण का भी प्रभाव वैज्ञानिक नियमों तथा अध्ययन-पद्धतियों पर पड़ता है। भारतीय सांस्कृतिक सन्दर्भ में यूरोप की निराशा, त्रास तथा भय की स्थिति उत्पन्न नहीं हुई थी। मध्यम वर्ग की स्थिति थोड़ी चिन्तनीय अवश्य थी, लेकिन इतना नहीं कि उससे मानवता संत्रस्त हो जाय। केवल सांस्कृतिक विकास में गतिरोध की स्थिति इसके कारण उत्पन्न हुई अन्यथा भारत अपने को राजनीतिक पराधीनता से मुक्त करने के लिए सोत्साह अपनी राजनीतिक लड़ाई चलाए जा रहा था तथा औद्योगिक विकास के फलस्वरूप यहाँ एक अभिनव जनवादी संस्कृति का विकास हो रहा था जो आगे की सांस्कृतिक विकास की पृष्ठभूमि बन सकती थी। लेकिन मध्यम वर्ग ने अपनी आयातित निराशा तथा कुण्ठा और घुटन से ही अपने को जोड़े रखा और वह युगीन प्रगतिशील चेतना से तादात्म्य न स्थापित करके निराशा तथा मृत्यु को ही सत्य समझता रहा।

जैनेन्द्र का विचार-दर्शन फ्रायड की काम पीड़ा, गांधीवादी आत्मपीड़न-सिद्धान्त तथा भारतीय रहस्यवाद के समीकरण से निर्मित हुआ है। उनके चरित्र, जो काम-पीड़ा से आक्रांत हैं, इसकी अभिव्यक्ति के सर्वोत्तम साधन हैं। वे आत्मपीड़न सिद्धान्त के सहारे सामाजिक अनाचारों पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं तथा लौकिक जगत् की अवहेलना करके किसी रहस्यवादी लोक की कल्पना में खो जाते हैं। जैनेन्द्र के पात्रों की समस्याएँ तो सामाजिक दोषपूर्ण जीवन है, लेकिन उनका समाधान एकदम वैयक्तिक है। उनके अनुसार समाज की अवस्था में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता, इससे वह छिन्न-भिन्न हो जायगा। लेखक समाज को यथास्थिति में बनाये रखने की बात बार-बार दुहराता है, वह समाज को गतिशील नहीं मानता, बल्कि स्थिर एवं जड़ मानता है। इसीलिए इस जड़ समाज से उनके पात्र अपनी तटस्थता बनाए रखते हैं।

इस प्रकार जैनेन्द्र का 'व्यक्ति' तथा 'समाज' दोनों ही गतिहीन तथा जड़ पदार्थ हैं। इस मान्यता से अपने उपन्यासों को भी वे गतिहीन ही बना देते हैं। उनके प्रत्येक उपन्यास का विद्रोह जहाँ से प्रारम्भ होता है,—उसका अन्त भी वहीं होता है तथा पात्रों का स्वभाव जो प्रारम्भ में बताया जाता है, साँचे की तरह वे अन्त तक

अपने उसी स्वभाव को पकड़े रहते हैं। इसका कारण यही है कि लेखक में एक प्रकार का अलौकिक रहस्यवाद काम करता रहता है जो उसे सदैव लौकिक जगत् से तटस्थ बनाए रखता है।

जैनेन्द्रजी इस प्रकार हिन्दी-उपन्यास में व्यक्तिवादी विचार-दर्शन के प्रमुख प्रणेता हैं, जिनका जड़वादी विचार-दर्शन व्यक्ति को निर्जीव बना देता है। 'प्रसाद' का 'कंकाल' सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास में गतिरोध तथा शून्य स्थिति की अभिव्यक्ति करता है, लेकिन जैनेन्द्र का समस्त उपन्यास-साहित्य व्यक्ति के विकास में गतिरोध तथा शून्य स्थिति की अभिव्यक्ति करता है। 'प्रसाद' में बौद्धिक व्यक्ति की सत्ता स्थापित करने का आग्रह भी है, लेकिन जैनेन्द्र इस बौद्धिक व्यक्ति को ही गड़बड़ी का कारण मानते हैं, क्योंकि उसमें बुद्धिजनित अहंकार होता है। अतः वे बुद्धि का निषेध करते हैं तथा यह मत व्यक्त करते हैं कि बुद्धि नहीं रहेगी तब मानव भी अन्य प्राणियों की भाँति समस्त सृष्टि-व्यापारों से असम्पृक्त एवं तटस्थ रहेगा। और लेखक का मत है कि यदि व्यक्ति सृष्टि-व्यापार में पूर्णतः तटस्थता की नीति अपना ले तो ईश्वर के राज्य में किसी प्रकार की भी गड़बड़ी पैदा नहीं हो सकती।

इस प्रकार जैनेन्द्र एक प्रकार का जड़वादी विचार-दर्शन प्रस्तुत करते हैं। उनके इस विचार-दर्शन को व्यक्तिवादी दर्शन कहना बहुत उपयुक्त तथा तर्कसंगत नहीं लगता। क्योंकि व्यक्तिवादी विचार-दर्शन में व्यक्ति का महत्त्व प्रतिपादित किया जाता है, जो जैनेन्द्र के उपन्यासों में कहीं भी नहीं मिलता। उन्हें केवल सामाजिक सन्दर्भों में ही व्यक्तिवादी कहा जा सकता है। इस प्रकार जैनेन्द्र समस्त सांस्कृतिक तथा दार्शनिक प्रगति की अवहेलना करके मध्ययुग की अंतिम शताब्दी के विचार-दर्शन को अपनाते दीखते हैं। लेकिन स्मरणीय तथ्य तो यह है कि उनमें यह आध्यात्मिक तथा धार्मिक विचार-दर्शन भी प्रौढ़ता की स्थिति नहीं प्राप्त कर पाता, क्योंकि उनमें आत्मा की ऊर्ध्वगामी चेतना तथा ईश्वरीय आस्था का भी समुचित विकास नहीं दिखाई पड़ता।

हिन्दी में अज्ञेय को भी व्यक्तिवादी कलाकार कहा जाता है, जिनके विचार-दर्शन का स्रोत फ्रायड द्वारा उद्घाटित तीन मूल प्रवृत्तियाँ हैं—काम, भय तथा अहम्। इसके अतिरिक्त उन पर यूरोपीय ह्रासशील संस्कृति का भी प्रभाव है। उनका शेखर जगह-जगह यों ही नहीं अंग्रेजी कविताओं का परायण करता हुआ दिखाई पड़ता है, बल्कि उनके परायण के माध्यम से वह निराशा, घुटन, मृत्यु कुण्ठा आदि मरणशील सांस्कृतिक तत्त्वों से संयुक्त अपने मानसिक गठन का परिचय प्रस्तुत करता है।

शेखर यद्यपि काम, भय तथा अहम् इन तीनों मूल प्रवृत्तियों में संचालित होता है, लेकिन इन सब में प्रमुखता अहम् को मिली है। इस अहम् के केन्द्र में ही अज्ञेय का व्यक्तिवादी दर्शन संगठित हुआ है। वैसे तो भारतीय दर्शन में भी व्यक्तिवादी विचार-

दर्शन के मूल में अहम् की स्वीकृति है, लेकिन अज्ञेय का यह अहम् भारतीय उतना नहीं जितना यूरोपीय ह्रासशील संस्कृति की उपज है, क्योंकि भारतीय दर्शन में यह अहम् लोकोत्तर भाव के लिए प्रयुक्त हुआ है। भारतीय दर्शन की प्रमुख विशेषता यह है कि आत्मा एवं चेतना का असीम विस्तार करने के लिए अहम् शक्ति का उपयोग किया गया। इस अहम् में कहीं भी विध्वंस की प्रवृति नहीं रही। लेकिन अज्ञेय का अहम् अपनी आत्मा और चेतना का विस्तार नहीं करता, बल्कि उसकी मूल प्रवृत्ति है समाज, संस्कृति तथा ईश्वर की सत्ता के प्रति विद्रोह करना। ऐसा भी नहीं कि शेखर का यह विद्रोह रचनात्मक हो, वह केवल बौद्धिक विद्रोह है जो केवल विध्वंस की आकांक्षा रखता है। इस प्रकार शेखर का विद्रोह किसी परिवर्तन की गम्भीर भूमिका से उत्पन्न हुआ नहीं है। इसीलिए उसमें पर्याप्त दृढ़ता का भी अभाव है। वह अन्तर्मन से आत्मपीड़ित भी है और उसके द्वारा आत्मपीड़ा के दर्शन की भी अभिव्यक्ति होती है। स्पष्ट है कि यह अहम् और आत्मपीड़ा का बेमेल सम्बन्ध ह्रासशील यूरोपीय संस्कृति से प्रभावित होने के कारण ही सम्भव हो सका है। शेखर का चरित्र इसीलिए भारतीय कम यूरोपीय अधिक लगता है।

इलाचन्द्र जोशी आधुनिक युग की बौद्धिक अराजकता के अन्दर से अपने विचार-दर्शन का निर्माण करते हैं तथा विभिन्न विचारों के समन्वय से एक अवैज्ञानिक विचार-दर्शन का निर्माण करते हैं। 'जिप्सी' में लेखक इसी उद्देश्य से 'जनसंस्कृति समन्वय केन्द्र की भी स्थापना करता है। उनके विचार-दर्शन में गांधीवाद, समाजवाद, सर्वोदय-वाद, फ्रायडवाद, अध्यात्मवाद व्यक्तिवाद आदि सभी का समन्वित रूप प्रकट हुआ है। लेखक इन नये विचार-दर्शन को लेकर क्रांति की आकांक्षा व्यक्त करता है, जिसका नेतृत्व निम्न मध्यमवर्ग करता है और उसमें भी पुरुष पात्र नहीं, बल्कि नारी पात्र, क्योंकि पुरुष, पुरुष होने के कारण फिर भी शोषण करता है। शोषण का यह सूत्र भी जोशीजी का अपना है जिसके अनुसार सबसे अधिक शोषित नारी वर्ग है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जोशीजी अन्ततः गांधीवाद तथा समाजवाद से उतर कर काम-वासनावाद के मोहपाश में आबद्ध हो गये हैं। सचमुच इस काम-वासना से बचना बड़ा कठिन है, क्योंकि तपस्वियों तथा ऋषियों का मन भी तो कभी-कभी डोल ही जाता है फिर जोशीजी तो साधारण मनुष्य ही ठहरे, कहाँ तक अपने को सँभालें। अतः अपने उपन्यासों में वह आद्योपान्त यौन विकृतियों का चित्रण करते हैं। कहीं-कहीं अपने पात्रों का उदात्तीकरण करके अस्वाभाविक रूप से उन्हें समाज तथा देश के कार्य में भी लगाया जाता है, लेकिन मात्र इसीलिए कि उनके उपन्यासों पर कोई सामाजिक चेतना के अभाव का दोषरोपण न कर सके।

आज के सामान्य बौद्धिक व्यक्तियों की भी यही स्थिति है कि वह अनेक विचार-

धाराओं का समन्वय करना चाहते हैं। इसीलिए वह कोई स्वस्थ विचार-दर्शन नहीं दे पाते। युग-धर्म को बगैर पहचाने कभी स्वस्थ विचार-दर्शन का निर्माण सम्भव भी नहीं है। जोशीजी की लाचारी यह है कि वे अपने को फ्रायड तथा एडलर की वैज्ञानिक स्थापनाओं से अलग कर ही नहीं पाते। उन्हें प्रत्येक व्यक्ति हीनता की मनोग्रन्थि से पीड़ित दीखता है। ऐसे ही पीड़ित चरित्रों को जोशीजी नायक बनाते हैं और अन्त तक उसकी स्वेच्छाचारिता का समर्थन करते हैं तथा धीरे-धीरे उनकी मानसिक अस्वस्थता दूर करने का प्रयास करते हैं अत: हमें प्रतीक्षा करनी चाहिए कि कभी वह समय अवश्य आयेगा, जब जोशीजी समाज के एक-एक अस्वस्थ लोगों की मानसिक अस्वस्थता दूर करने में सफल होंगे और तब स्वत: समाज तथा राष्ट्र का कल्याण एवं स्वस्थ विचार-दर्शन का निर्माण होगा।

भगवती प्रसाद वाजपेयी का 'विचार-दर्शन' भी फ्रायड के काम-दर्शन पर ही आधारित है अन्तर केवल यह है कि उसमें शरत की भावुकता तथा प्रेमचन्दकालीन सामाजिक परम्परा का भी संयोजन देखा जा सकता है। लेकिन अंतत: उन्हें सफलता सस्ते रोमांसों की सृष्टि में ही मिली है। प्रारम्भिक उपन्यासों में उनकी यह रोमांटिकता समाज की रूढ़ियों का निषेध करती है, लेकिन आगे चलकर उन्होंने पात्रों की यौन विकृतियों को ही महत्त्व दिया है।

भगवतीचरण वर्मा आस्थाहीन बौद्धिकता तथा पाश्चात्य अराजकतावादी दर्शन के संयोग से अपने व्यक्तिवादी विचार-दर्शन का निर्माण करते हैं। उनका यह विचार-दर्शन अराजकता का प्रचारक इसीलिए है। वर्माजी में बौद्धिक अनास्था तो है, लेकिन बौद्धिक आग्रह नहीं दिखाई पड़ता। उनमें स्वतन्त्र चिन्तन का भी आभास नहीं मिलता उन्होंने कुछ सिद्धान्तों को मानों ग्रहण कर लिया है और उन्हीं के आधार पर दूसरे का विरोध प्रकट करते हैं। वस्तुत: बौद्धिक आग्रह के अभाव में किसी भी मौलिक विचार-दर्शन की स्थापना सम्भव नहीं। बौद्धिक अनास्था केवल निषेध के काम आ सकती है, स्वीकृतियों के लिए बौद्धिक आग्रह की अनिवार्यत: अपेक्षा होती है, जो वर्माजी में प्राय: नहीं दिखाई पड़ती। इसीलिए परिस्थितियों का आश्रय लेकर तथा कथानक की उत्पत्ति के माध्यम से वह अपने विचार-दर्शन का प्रतिपादन करते हैं तथा तर्क पद्धति में बहुत पारंगत नहीं प्रतीत होते।

समाजवादी विचार-दर्शन

रूस में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के पश्चात् विचारकों का ध्यान इस विचार-दर्शन की ओर आकृष्ट हुआ। इस प्रकार मार्क्सवाद जो समाजवादी विचार-दर्शन का उत्स था, अब केवल बौद्धिक दर्शन ही नहीं रहा, वरन् वह नवीन समाज-

व्यवस्था, नवीन शासन-पद्धति तथा नवीन संस्कृति के रूप में अपना विकास करके दुनिया के सम्मुख प्रकट हुआ। इस दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता थी उसका रचनात्मक तथा सृजनशील होना। अत: स्वाभाविक था कि लोग इस विचार-दर्शन से प्रभावित हों। भारत में भी इस समाजवादी विचारधारा का प्रचार प्रारम्भ हुआ। फलत: भारतीय साहित्यकारों का एक संगठन 'प्रगतिशील लेखक संघ' के रूप में १९३६ ई० में संगठित हुआ। यह विचार-दर्शन केवल ज्ञान-तृप्ति का साधन नहीं रहा, वरन् इसकी उपपत्तियों को व्यावहारिक जीवन में लागू करके उसकी महत्ता प्रतिपादित की गई। हिन्दी उपन्यास-साहित्य पर भी इस विचार-दर्शन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा तथा अधिकांश उपन्यासकार इस समाजवादी आस्था से प्रभावित हुए जिनमें यशपाल तथा राहुल सांकृत्यायन का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

यशपाल ने अपने विचार-दर्शन का निर्माण मार्क्सवाद तथा रूस में प्रचलित पूर्व के निहिलिस्ट दर्शन एवं फ्रायडवाद के संयोजन से किया। उनका विश्वास जनता की क्रांति में है, लेकिन उनके उपन्यासों के राजनीतिक चरित्र अधिकांशत: मध्यवर्गीय तथा धन-सम्पन्न परिवार के हैं। कहीं-कहीं यथार्थवादी शैली का प्रभाव उत्पन्न करने के उद्देश्य से उन्होंने निम्नवर्ग के चरित्रों को भी लिया है, लेकिन उनकी संख्या अल्प ही है। फ्रायड से प्रभावित होने के कारण यशपाल मध्यवर्गीय पात्रों को ही अपने उपन्यासों में अधिक स्थान देते हैं। ऐसे चरित्र एक तरफ तो साम्राज्यवादी एवं पूंजी-वादी शोषण से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं और दूसरी तरफ मार्क्स-सम्बन्धी सामा-जिक नैतिक मान्यताओं के प्रति विद्रोह करते हैं। वस्तुत: यह एक प्रकार की वैचारिक अन्तर्विरोध की स्थिति ही है जिसकी समुचित अभिव्यक्ति के लिए मध्यवर्गीय अन्त-र्विरोधी पात्रों को रखना अनिवार्य था। इस अन्तर्विरोध का कारण है परस्पर विरोधी विचार-दर्शनों से प्रभाव ग्रहण करना तथा उनके संयोजन का प्रयत्न करना। स्पष्ट है कि यशपालजी क्रांति का और उसमें भी जनता की क्रांति का उद्घोष तो करते हैं लेकिन उन्होंने सामान्य जनता को कहीं भी अपने उपन्यासों का नायकत्व नहीं प्रदान किया है। इस प्रकार यशपाल अंतत: एक अन्तर्विरोधी वैचारिक दर्शन के प्रणेता ही प्रतीत होते हैं, स्वस्थ समाजवादी दर्शन के प्रणेता नहीं।

राहुलजी की आस्था मार्क्सवाद पर अटूट है तथा उनमें वाद के प्रति आग्रह भी है। उनके उपन्यास 'जीने के लिए' का नायक देशराज निम्नतम परिवार का सदस्य होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद की स्थापना लन्दन में जाकर करता है। इस उपन्यास की रचना के पीछे निश्चय ही उद्देश्य मार्क्सवादी-दर्शन के सूत्रों को स्पष्ट करना ही कहा जा सकता है। राहुलजी के ऐतिहासिक उपन्यासों यथा 'सिंह सेनापति' तथा 'जयऔधेय' आदि में भी समाजवादी स्वर उभरा है लेकिन यहाँ उसका रूप समाज

के व्यापक धरातल को स्पर्श नहीं करता, बल्कि काम-जनित आदिम साम्यवाद की ही यहाँ स्थापना होती है। राहुलजी के समाजवादी-विचार-दर्शन की सीमाएँ भी इन उपन्यासों में स्पष्ट हो जाती हैं। स्पष्ट है कि समाजवादी-दर्शन के प्रति राहुलजी का आग्रह रूढ़िवादी है, क्योंकि उनकी दृष्टि में न केवल भारतीय परम्परित संस्कृति ही उपेक्षणीय है, वरन् वे मार्क्स के समाजवाद को भी आदिम साम्यवाद से जोड़कर उसे विकृत कर देते हैं।

वस्तुतः आज वैचारिक क्षेत्र में यह अराजकता युग-धर्म को पहचान न पाने के कारण ही है, क्योंकि युग-धर्म को हृदयंगम किए बिना किसी स्वस्थ तथा पूर्ण विचार-दर्शन की स्थापना नहीं की जा सकती। आज भारत की सबसे बड़ी आवश्यकता यही है कि उसे कोई ऐसा चिंतक तथा विचारक प्राप्त हो, जो युग-धर्म को पहचान कर भारतीय संस्कृति का स्वस्थ विकास कर सके।

⊙ ⊙ ⊙

अध्याय—८

नए मूल्यों की स्थापना

प्रत्येक नया युग अपने लिए नये सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य निर्मित करता है, क्योंकि पुराने मूल्यों की प्रासंगिकता युगीन परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ ही समाप्त हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक नया युग तथा प्रत्येक नया समाज अपनी आवश्यकताओं, रुचियों और संस्कारों के अनुसार अपने लिए नए और उपयोगी जीवन-मूल्यों की स्थापना करता है। युगीन दार्शनिक तथा चिन्तक इस दृष्टि से अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। लेकिन साहित्यकार भी इस दृष्टि से कम सार्थक तथा उपयोगी सामग्रियाँ नहीं प्रस्तुत करता। मूल्यान्वेषण की सामग्रियों का यह प्रस्तुतीकरण ही किसी साहित्यकार को गौरवशाली तथा प्रतिष्ठित बनाता है, अन्यथा मूल्यों की चेतना से शून्य साहित्य का कोई महत्त्व नहीं होता। इसीलिए साहित्यकार—विशेषकर प्रतिष्ठित साहित्यकार की चेतना अनिवार्यतः जीवन-मूल्यों की चेतना को अपने अन्दर समाहित किए हुए रहती है। साहित्यकार अपनी रचना में जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति करता है, उनका सृजन करता है और उनकी व्यावहारिक उपयोगिता का प्रश्न भी उठाता है। लेकिन ये सारे कार्य-व्यापार रचना के स्तर पर ही घटित होते हैं, क्योंकि साहित्यकार मुख्यतः कला का रचनाकार होता है, यह नहीं भूलना चाहिए।

नये मूल्यों की स्थापना की दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास साहित्य पर विचार करने पर जहाँ इसके लिए उपन्यासकारों में—विशेषकर आधुनिक युग के उपन्यासकारों में अत्यधिक उत्साह और प्रयत्न दिखाई पड़ता है, वहाँ यह भी स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाता है कि इन लेखकों को इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलता नहीं प्राप्त हुई है। यद्यपि इन उपन्यासकारों ने नये मूल्यों की स्थापना के प्रयास में अपना क्रान्तिकारी कदम रखा है, लेकिन उनका यह कदम समाज-विरोधी तथा अराजक बनकर ही रह गया है। इस अराजकता तथा समाज-विरोध के कारणों पर हम आगे के पृष्ठों में विचार करेंगे।

वस्तुतः नये मूल्यों की स्थापना का प्रयत्न आधुनिक युग की वस्तु है, क्योंकि सांस्कृतिक गतिरोध और सांस्कृतिक संकट भी आधुनिक जीवन में ही उत्पन्न हुआ है। इस दृष्टि से प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यासों का सम्बन्ध इस प्रश्न से नहीं जुड़ता, क्योंकि उनके लेखन-काल में प्राचीन जीवन-मूल्यों की ही प्रधानता समाज में थी और लोग

उन्हीं पर अस्था रखते थे। इसीलिए प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने परम्परा से प्राप्त मूल्यों का ही समर्थन किया। लेकिन प्रेमचन्द काल तक आते-आते भारतीय जीवन बहुत कुछ बदल चुका था और सांस्कृतिक विघटन का प्रारम्भ होने लगा था। इसलिए नये मूल्यों की आवश्यकता इसी युग में आकर प्रतीत हुई। फलतः युगीन दार्शनिकों तथा साहित्यकारों ने इस दिशा में कार्य-प्रारम्भ किया। अतः इस विवेचन में हम प्रेमचन्द और प्रेमचंदोत्तर काल तक ही अपने को सीमित रखेंगे और उसमें भी उन्हीं उपन्यासकारों को उठायेंगे जिनमें सचमुच नये मूल्यों की स्थापना का प्रयत्न मिलता है।

हम स्पष्ट कर चुके हैं कि अन्तर्विरोधी सांस्कृतिक जीवनगत मूल्यों के कारण व्यक्ति तथा समाज के सम्मुख अराजकता की स्थिति उत्पन्न हुई। इस बीच समाज-सुधार आन्दोलन तथा साहित्य के माध्यम से सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों का परिष्कार अवश्य किया गया, लेकिन सार्वभौमिक संस्कृति तथा जीवन-दृष्टिकोण का निर्माण सम्भव नहीं हो पाया। अतः व्यावहरिक स्तर पर सर्वत्र अराजकता का ही बोलबाला रहा। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह थी कि आधुनिक युग के प्रारम्भ अर्थात् जागरण काल से ही समाज-सुधार आन्दोलनों की जो बाढ़ आई उसने साहित्य में भी समाज को प्रतिष्ठित कर दिया। अतः अब चिन्तन का केन्द्र व्यक्ति नहीं रहा, उसकी जगह समाज ने ले ली। यहाँ आवश्यकता इस बात की थी कि व्यक्ति तथा समाज में समुचित सामंजस्य स्थापित किया जाय तथा दोनों को केन्द्र में रखकर सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों का परिष्कार किया जाय। अतः कुछ उपन्यासकारों ने इस बात का प्रयत्न भी किया कि व्यक्ति को केन्द्र में रखकर जीवनगत मूल्यों की पुनर्परीक्षा की जाय तथा नवीन मूल्यों को भी स्थापित किया जाय। यह प्रयत्न युगीन दार्शनिक पृष्ठभूमि में भी हो रहा था कि व्यक्ति के माध्यम से समष्टि का चिन्तन किया जाय। लेकिन युगीन दार्शनिक तो व्यक्ति तथा समष्टि में उपयुक्त सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं, लेकिन हिन्दी उपन्यासकार व्यक्ति को ही केन्द्र मानता है तथा समाज उसकी दृष्टि में उपेक्षित ही रहता है। इन उपन्यासकारों ने नितान्त व्यक्तिपरक मूल्यों की स्थापना की जो निश्चय ही युगीन अराजक स्थितियों से प्रभावित थे। इसीलिए इन आधुनिक युग के लेखकों ने सांस्कृतिक धरातल पर अराजकता की स्थिति को प्रोत्साहित किया। नवीन मूल्य-स्थापन में अगर व्यक्ति तथा समाज दोनों को बराबर महत्त्व दिया जाता तो इस अराजकता की जगह संतुलित सांस्कृतिक विकास हुआ होता। लेकिन इन लेखकों ने केवल व्यक्ति के महत्त्व पर ही जोर दिया, जिसके चलते समाज, संस्कृति तथा जीवन-दृष्टिकोणों के प्रति उनका निषेधात्मक दृष्टिकोण ही उभर कर आया। इन लेखकों ने नवीन मूल्यों की स्थापना तो की लेकिन सामाजिक जीवन में नहीं, बल्कि व्यक्तिगत जीवन में और प्रत्येक व्यक्ति के जीवन-दृष्टिकोण को भिन्न स्वीकार किया।

स्पष्ट है कि सांस्कृतिक दृष्टि से ये उपन्यासकार अपने युग के शून्य तथा अराजक स्थिति को चित्रित करते हैं।

जयशंकर 'प्रसाद' का 'कंकाल' (१६२६) उपन्यास सांस्कृतिक धरातल पर ऐसी ही शून्य स्थिति का चित्र प्रस्तुत करता है। प्रेमचन्द तथा उनकी आदर्शोन्मुखी भावधारा के उपन्यासकार मूलतः सुधारवादी प्रवृत्ति के लेखक थे। उनका लक्ष्य होता था, समाज तथा संस्कृति के जर्जर पक्षों का उन्मूलन करना। अतः उनका उद्देश्य था समाज को स्वीकार करके तथा उसी के अन्तर्गत रहकर सुधार करना। लेकिन 'प्रसाद' जी समस्त समाज तथा उसकी संस्कृति को अस्वीकार करते हैं। 'कंकाल' के सभी चरित्र इस दृष्टि से व्यंग्य की सृष्टि करते हैं। सभी चरित्र वर्ण शंकर जान बूझ कर रखे गये हैं ताकि सामाजिक नैतिक दृष्टिकोण पर प्रहार किया जा सके। उपन्यास में अवैध प्रेम की सृष्टि भी की गई है, कहीं भी शुद्ध तथा पवित्र प्रेम की स्थिति नहीं उत्पन्न होने पाई है और न वैवाहिक जीवन की पवित्रता के ही कहीं दर्शन होते हैं।

वर्गीय कुलीनता तथा अकुलीनता का विचार युगों से प्रायः सभी देशों तथा समाजों में सामाजिक संगठन का मुख्य आधार रहा तथा वैवाहिक जीवन की पवित्रता समाज की पवित्रता को सुरक्षित रखती रही। लेकिन 'कंकाल' में 'प्रसादजी' जिस समाज का चित्र प्रस्तुत करते हैं, उसमें समाज की एक भी रीति-नीति, परम्परा तथा सांस्कृतिक मूल्य शुद्ध एवं साधार नहीं हैं और न वे व्यक्ति के जीवन के लिए उपयोगी ही हैं। स्पष्ट है कि निवृत्तिमूलक आदर्शवाद यहाँ बौद्धिक यथार्थोन्मुख प्रतिक्रिया के रूप में उभर कर आ गया है।

वस्तुतः परम्परागत समाज तथा व्यक्ति के मूल्य जर्जर तथा खोखले हो चुके थे। आधुनिक युग में इन जर्जर मूल्यों के विरुद्ध सुधारात्मक आक्रमण की नीति अपनाई जा चुकी थी और आर्य समाज जिसका प्रतिनिधित्व कर रहा था। इन सुधार आन्दोलनों का तथा आर्य समाज के दृष्टिकोणों का परिणाम यह हुआ कि एक प्रकार का पवित्रतावादी दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ, जो अस्वीकार को अपना जीवन-दृष्टिकोण मानकर विकसित हुआ। ऐसी दशा में युगीन उपन्यासकार तथा सुधारवादी चिन्तक समाज के सम्मुख स्वभावजन्य तथा प्रकृतिजन्य जीवनगत मूल्यों को प्रस्तुत नहीं कर सके। इसके स्थान पर अस्वाभाविक नियंत्रण तथा कठोर पवित्रतावादी दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ, जिसके फलस्वरूप साहित्य तथा दर्शन में कोरे आदर्शवाद की स्थापना हुई।

जाहिर है कि ऐसी दशा में व्यक्ति शून्य की-सी स्थिति अनुभव करने लगा। बौद्धिक उन्मेष से प्रभावित बीसवीं शताब्दी का व्यक्ति इस समाज तथा संस्कृति को अस्वीकार कर देता है तथा सम्पूर्ण समाज तथा संस्कृति एवं जीवन मूल्यों का निषेध

करता है। वह जीवन मूल्यों को बौद्धिक कसौटी पर परखने का प्रयत्न करता है, क्योंकि वह बौद्धिक युग की उपज है। अंततः उसे लगता है कि इस समाज तथा संस्कृति का आधार ही गलत है, क्योंकि समाज में घोर अनाचार तथा व्यभिचार फैले होने पर भी समाज का मुख्य आधार कुलीनता ही बना हुआ है। इसीलिए वह सभी पुरानी जर्जर मान्यताओं से अपनी असहमति व्यक्त करता है तथा पवित्रतावादी कोरे आदर्शवाद की भी उपेक्षा करता है। इस प्रकार आज का व्यक्ति एक ओर तो परम्परित रूढ़ियों से टकराता है और दूसरी ओर कोरे आदर्शवाद से संघर्ष लेता है और अंततः 'कंकाल' की स्थिति में पहुँच जाता है। प्रश्न है कि 'प्रसादजी' क्या केवल समाज की अराजक स्थितियों का चित्र भर देना चाह रहे हैं ? केवल यथातथ्य चित्रण और विचार-दर्शन की अभिव्यक्ति दोनों दो भिन्न चीजें हैं। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि विजय व्यक्तिगत स्तर पर ही विद्रोह करता है, तो क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है, कि लेखक व्यक्तिवादी दर्शन की स्थापना करना चाहता है ? विजय पाप-पुण्य का विश्लेषण इस प्रकार करता है—"पाप और कुछ नहीं है, यमुना, जिन्हें हम छिपाकर किया चाहते हैं, उन्हीं कर्मों को पाप कह सकते हैं, परन्तु समाज का एक बड़ा भाग उसे यदि व्यवहार्य बना दे, तो वही कर्म हो जाता है, धर्म हो जाता है।[१]" स्पष्ट है कि लेखक यहाँ पाप-पुण्य का निर्णय व्यक्ति के निर्णय पर नहीं छोड़ता, बल्कि उसे समाज के बहुमत से सम्बद्ध करके देखता है। अतः हम देखते हैं, 'प्रसाद' जी अपनी तमाम अराजक स्थितियों के चित्रण के बावजूद अराजकतावादी विचार-दर्शन का समर्थन नहीं करते, बल्कि सामाजिक अराजकता तथा अनैतिकता का चित्रण इस उद्देश्य से करते हैं कि ग़लत सामाजिक मान्यताओं तथा कोरे आदर्शवाद की परिणतियाँ दिखाई जा सकें। यह लेखक का निश्चय ही क्रान्तिकारी कदम है जो जर्जर तथा खोखली संस्कृति को बदलने की क्षमता रखता है। समाज तथा संस्कृति के प्रति विजय का विद्रोह चूँकि एकांतिक है, इसीलिए उसका दुःखद अन्त होता है। उसमें विद्रोह को व्यापक धरातल पर संगठित करने की शक्ति नहीं है। इस प्रकार 'प्रसादजी' का यह विद्रोह यद्यपि एकांतिक है लेकिन उसके दुःखद अन्त में यथार्थवादी आग्रह से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। अतः 'कंकाल' सांस्कृतिक धरातल पर शून्य स्थिति का द्योतक है, उसमें अराजक तथा व्यक्तिवादी विचार-दर्शन की स्थापना का कोई प्रयत्न नहीं दिखाई पड़ता।

भगवतीचरण वर्मा ने 'चित्रलेखा' (१९३४) तथा 'तीन वर्ष' (१९५०) दोनों उपन्यासों में बौद्धिक धरातल पर सांस्कृतिक मूल्यों की विवेचना प्रस्तुत की है।

---

१. 'कंकाल' : सातवाँ संस्करण, १९२६, पृ० १०१

'चित्रलेखा' की कथा प्राचीन ऐतिहासिक कथा है तथा उसके पात्र भी तद्‌युगीन ऐतिहासिक पात्र ही हैं, लेकिन उपन्यास की भावभूमि ऐतिहासिक से अधिक सांस्कृतिक बन गई है। अतः सांस्कृतिक मूल्यों के सन्दर्भ में 'चित्रलेखा' उपन्यास का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इस उपन्यास में लेखक पाप-पुण्य की व्याख्या करना चाहता है और साथ ही कथानकों में निवृत्त मार्ग तथा प्रवृत्ति मार्ग जैसे दो प्रमुख दार्शनिक मतवादों को भी प्रस्तुत करता है। ये मतवाद केवल दार्शनिक महत्त्व ही नहीं रखते, वरन् जीवन-दृष्टि के निर्माण में भी इन मतवादों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। प्राचीनकाल से ही इनसे निर्मित दो भिन्न जीवन दृष्टिकोण परस्पर संघर्ष रत देखे जा सकते हैं। आज भी जीवन-दृष्टिकोण के विवेचन-विश्लेषण में इन दो विभिन्न दृष्टियों का सहारा लिया जाता है। इसीलिए आधुनिक काल में पाश्चात्य संस्कृति को प्रवृत्तिमूलक कहा गया तो भारतीय संस्कृति को निवृत्तिमूलक।

वस्तुतः पाप-पुण्य की मान्यताएँ अपने आप में अन्तिम और ठोस सत्य नहीं होतीं—नहीं हो सकतीं। इसलिए भिन्न-भिन्न समयों और संस्कृतियों में इनका स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है। जो किसी एक संस्कृति की दृष्टि में पाप है, वह दूसरी संस्कृति की दृष्टि में पुण्य भी हो सकता है। अतः जितनी प्रकार की संस्कृतियाँ हैं, पाप और पुण्य की परिभाषाएँ तथा उनका स्वरूप भी उतनी ही प्रकार का बनता गया है। इसी विचार भूमि पर भगवतीचरण वर्मा 'चित्रलेखा' में पाप और पुण्य का गम्भीर दार्शनिक तथा सांस्कृतिक प्रश्न उठाते हैं। बीजगुप्त प्रवृत्तिमूलक संस्कृति का प्रतीक है, जिसका जीवन भोग विलास में ही कटता है तथा योगी कुमारगिरि निवृत्तिमूलक संस्कृति का प्रतीक है, जो संयमी तथा तपस्वी है। चित्रलेखा एक प्रसिद्ध नर्तकी है, जिसके माध्यम से लेखक दो भिन्न मान्यताओं की जाँच-परख करता है। उपन्यास की अन्तिम स्थिति यह है कि बीजगुप्त सम्पूर्ण वैभव त्याग कर निवृत्ति मार्गी बन जाता है तथा कुमार गिरि का संयम तथा तप चित्रलेखा के सम्पर्क में आने से भंग हो जाता है और विश्वास-घात के स्तर तक उसका चारित्रिक पतन हो जाता है।

इस प्रकार लेखक अंततः इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जीवनगत आदर्शों तथा विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता, वरन् परिस्थितियों के अनुसार उनमें आवश्यक परिवर्तन उपस्थित होता है। ऐसी दशा में न तो पाप ही का अस्तित्व है और न पुण्य ही का। वर्माजी लिखते हैं—'संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है। प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष प्रकार की मनःप्रवृत्ति लेकर उत्पन्न होता है—प्रत्येक व्यक्ति इस संसार के रंगमंच पर एक अभिनय करने आता है। अपनी मनःप्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपने पाठ को वह दुहराता है, यही मनुष्य का जीवन है। जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके

स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं है, वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। वह कर्त्ता नहीं है, वह केवल साधन है। फिर पुण्य-पाप कैसा ?'

स्पष्ट है कि वर्माजी निश्चित सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों को स्वीकार नहीं करते और न ही उन्हें मानवीय सत्ता पर ही विश्वास है। उनकी दृष्टि में नियति ही कर्त्ता है, मानव तो विवश और उसका दास मात्र है। अत: पाप-पुण्य का दायित्व भी नियति तथा परिस्थितियों पर है, न कि मानव पर। वर्माजी का दूसरा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के भिन्न सांस्कृतिक तथा जीवनगत मूल्य होते हैं, क्योंकि उनका आधार व्यक्ति की मन:प्रवृत्ति है जो निश्चय ही एक-दूसरे से भिन्न होती है। अपनी-अपनी मन:प्रवृत्ति को लेकर ही व्यक्ति जन्म लेता है। उसका निर्माण समाज में नहीं होता। इस प्रकार वर्माजी समाज की सत्ता को स्वीकार नहीं करते तथा सामाजिक तथा सांस्कृतिक धरातल पर भी प्रत्येक व्यक्ति का भिन्न अस्तित्त्व स्वीकार करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनका विचार-दर्शन उन्हें नियतिवादी तथा व्यक्तिवादी बना देता है और अन्तत: वे अराजकतावादी जीवन-दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं।

वर्माजी के एक अन्य उपन्यास 'तीन वर्ष' में इस अराजकतावादी जीवन-दृष्टि-कोण को और अधिक स्पष्टता के साथ रेखांकित किया जा सकता है। यहाँ लेखक ने सांस्कृतिक मूल्यों तथा जीवन-दृष्टिकोणों को सापेक्षता के सिद्धान्त पर परखा है। यद्यपि लेखक ने विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों के परीक्षण के लिए दो भिन्न सामाजिक आर्थिक वर्गों का सहारा लिया है, लेकिन उसकी अंतिम परिणति वैयक्तिक भूमि पर होती है। सापेक्षता का सिद्धान्त वस्तुत: एक वैज्ञानिक नियम है और उसका प्रभाव दर्शन, साहित्य तथा व्यक्ति के जीवन-दृष्टिकोण पर भी पड़ा है तथा विभिन्न विद्वानों ने सांस्कृतिक मूल्यों तथा नैतिक मान्यताओं के परीक्षण के निमित्त इसका प्रयोग भी किया है। लेकिन जब हम सामाजिक तथा सांस्कृतिक धरातल पर वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रयोग करते हैं तो उसका आधार व्यक्ति नहीं समाज के वैज्ञानिक नियम होने चाहिए, जब कि अधिकांशत: एक ओर तो वैज्ञानिक सिद्धान्त अपनाया जाता है और दूसरी ओर उन्हीं वैज्ञानिक नियमों का विरोध भी किया जाता है।

स्पष्ट है कि बौद्धिक धरातल पर किसी एक वैज्ञानिक सिद्धान्त को अपनाकर तथा अन्य वैज्ञानिक नियमों की अवहेलना करके बुद्धि को सन्तोष अवश्य दिलाया जा सकता है, जीवन के प्रति यह समग्र दृष्टिकोण नहीं कहला सकता। समाज, संस्कृति तथा जीवनगत दृष्टिकोण में दृष्टि की समग्रता का होना अत्यन्त आवश्यक शर्त है, केवल कुछ वैज्ञानिक नियमों तथा सिद्धान्तों के आधार पर उसका निर्माण संभव नहीं।

ज्ञान-विज्ञान की समस्त चिंतनात्मक उपलब्धियों के समुच्चय से ही समाज, संस्कृति तथा जीवनगत दृष्टिकोण का निर्माण होता है। समग्र दृष्टि के अभाव में, बौद्धिकता का यह प्रबल आग्रह वैचारिक अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर सकता है। इस दृष्टि से भगवतीचरण वर्मा द्वारा प्रभा के भद्र समाज के जीवनगत मूल्यों तथा सांस्कृतिक व्यवहारों की रमेश के निम्नवर्गीय संस्कारों से की गई तुलना विशेष रूप से द्रष्टव्य है। लगता है लेखक ने अपनी सतर्क दृष्टि से प्रत्येक समाज को तथा उसके रीति-रस्मों, आचार-विचारों तथा संस्कारों को देखा-परखा है और अन्ततः वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि प्रत्येक समाज के रीति-रस्म, आचार-विचार तथा संस्कारों में विभिन्नता स्वाभाविक रूप से पाई जाती है। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि उनकी भौतिकता तथा जीवनगत परिस्थितियों में अन्तर होता है। लेकिन लेखक अजित तथा सरोज वेश्या के चित्रण में अपने इस निष्कर्ष को स्वयं ही नकारता-सा दीख पड़ता है। अजित तथा सरोज के निर्माण में उनके संस्कारों तथा उनकी भौतिक परिस्थितियों को लेखक बहुत अधिक महत्त्व नहीं देता। यहाँ पहुँच कर वह सांस्कृतिक मूल्यों तथा जीवनगत दृष्टि-कोणों को नितांत व्यक्तिपरक मान लेता है। प्रभा तथा सरोज केवल समस्या की प्रस्तुतीकरण के लिए प्रयुक्त हैं, प्रस्फुटन होता है, अजित तथा सरोज का। वस्तुतः लेखक ने अजित तथा सरोज को अतिरिक्त सहानुभूति प्रदान की है। अपने समाज तथा वर्गगत संस्कारों से सम्पन्न चरित्र प्रभा और रमेश को लेखक पूरी तरह उभार नहीं सका है, बल्कि व्यक्तित्वहीन बनाने का प्रयत्न अवश्य किया है। लेखक के आदर्श पात्र तो वे हैं जो समाज तथा वर्गगत संस्कारों की कोई सत्ता नहीं स्वीकार करते।

इस प्रकार लेखक अपने अन्तिम निष्कर्ष में यह मत व्यक्त करता है कि सांस्कृतिक मूल्य तथा आदर्श समाजगत नहीं, बल्कि व्यक्तिपरक होते हैं। 'तीन वर्ष' उपन्यास में बौद्धिक संतोष की पर्याप्त सामग्रियों के बावजूद भी सांस्कृतिक धरातल पर समाजगत तथा वर्गगत पात्रों के चरित्र का सफल मूल्यांकन नहीं हो पाया है। इस प्रकार के मूल्यांकन की लेखक ने कोई उपयुक्त कसौटी ही नहीं प्राप्त की है, ऐसा लगता है। उनका जीवन-दृष्टिकोण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने सांस्कृतिक मूल्य हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति का जीवन-दृष्टिकोण भिन्न होता है। इस प्रकार वर्माजी सांस्कृतिक अराजकता को ही प्रश्रय देते हैं। उनका कहना है—'हमारे व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् हैं और इसीलिए हमारे विचार भी पृथक्-पृथक् हैं। हम सब लोग मानसिक अराजकता 'मेंटलकेआस' की तरफ़ बढ़े चले जा रहे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा कम कर दी जाय, लोगों के मस्तिष्क का विकास बन्द कर दिया जाय, तभी यह सम्भव

होगा कि हम सब एक-दूसरे की बात समझ सकें।'[१]

स्पष्ट है कि वर्माजी अराजकता की इस स्थिति से निकलने का कोई सम्पूर्ण दृष्टिकोण तो दे ही नहीं पाते और न ही नवीन सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना ही कर पाते हैं, बल्कि इसके विपरीत बुद्धि तथा सभ्यता के विकास का भी निषेध करके पीछे की ओर लौटना चाहते हैं। वर्माजी का इस सम्बन्ध में अपना तर्क सुनिये और निर्णय कीजिए कि उनका दृष्टिकोण कितना खोखला और अवैज्ञानिक है—'दुनियाँ उसी को पूजती है, जो उसे दबा सके, दबा नहीं सके, बल्कि उसकी आत्मा की हत्या कर सके।'[२] और इसीलिए इंग्लैण्ड में पढ़ने वाला अजित भी स्त्री को गुलाम समझता है तथा पुरुष को उसका मालिक—'पुरुष की गुलामी करने के लिए ही स्त्री उत्पन्न हुई है, वह स्वामी बनकर रह ही नहीं सकती।'[३] यही अजित आगे चलकर बन्धुता, समता तथा स्वतन्त्रता का ही नहीं, बल्कि गुलामी एवं परतंत्रता का भी विश्लेषण तथा संदेश व्यक्त करता है—'यह निश्चय है कि हम सब गुलाम हैं और हम सब सम्पत्ति हैं—अपने से अधिक बलवानों की। केवल बल का केन्द्र भिन्न है, कुछ का बल धन में है, कुछ का बल विद्या में है और कुछ का बल उनके शरीर में है। हमें जीवित रहने के लिए गुलामी करनी ही पड़ती है।'[४] कहने की आवश्यकता नहीं कि ये लेखक के विचार हैं, मात्र अजित नामक व्यक्ति के नहीं हैं। इस प्रकार वर्माजी का जीवन-दृष्टिकोण स्वस्थ तथा वैज्ञानिक नहीं लगता, बल्कि उसमें अराजकतावादी तत्त्वों का ही प्राधान्य दीखता है, वर्माजी सम्पूर्ण समाज तथा संस्कृति के विकास की उपेक्षा करते हैं तथा बर्बर अराजक संस्कृति की उद्घोषणा करते हैं। इस प्रतिगामिता के लिए वह नियतिवादी विचारधारा को भी कहीं-कहीं अपनाते हैं।

अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'त्यागपत्र' (१९२९) में जैनेन्द्रकुमार ने सांस्कृतिक मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन का प्रयास किया है, तथा तत्सम्बन्धी सांस्कृतिक तथा सामाजिक विविध पहलुओं पर विचार प्रस्तुत किया है। सामाजिक संस्कृति से तात्पर्य है सांस्कृतिक मूल्यों को समाज के सन्दर्भ में रखकर देखना। इस दृष्टि से समाज का वर्गगत विभाजन सांस्कृतिक विभाग भी उत्पन्न करता है। सामाजिक संस्कृति के निर्माण में समाज-विशेष के रीति-रिवाज, परम्परायें, धर्म, सामाजिक संस्थाओं का स्वरूप, सामाजिक संगठन की स्थिति, देश-काल की भौतिक परिस्थितियाँ आदि का सहयोग होता है।

---

१. 'तीन वर्ष' : पाँचवाँ संस्करण, २०१०, पृ० १०९
२. 'तीन वर्ष' : पाँचवाँ संस्करण, २०१०, पृ० ७५
३. 'तीन वर्ष' : पाँचवाँ संस्करण, २०१०, पृ० ७६
४. 'तीन वर्ष' : पाँचवाँ संस्करण, २०१०, पृ० १००

अंतः समाज की विभिन्नता के अनुसार ही हम सामाजिक संस्कृति के विविध रूपों को देख सकते हैं। यही वजह है कि आधुनिक समाजशास्त्री सापेक्षता के सिद्धान्त की कसौटी पर सांस्कृतिक मूल्यांकन की प्रवृत्ति को स्वीकार करते हैं। इन विविध स्थितियों में यह तय बात है कि किसी सामाजिक सांस्कृतिक मान्यता की किसी एक समाज-विशेष में उपेक्षा की जाय तो किसी दूसरे समाज-विशेष में उसी मान्यता को सर्व स्वीकृति प्राप्त हो। प्रश्न है कि ऐसी दशा में समग्र दृष्टि से सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा कैसे की जाय? तथा यह भी कि संस्कृति को सार्वभौमिक विश्व रंगमंच कैसे प्रदान किया जाय?

हम यहाँ स्पष्ट कर दें कि सापेक्षता के सिद्धान्त को यदि स्वीकार किया गया तो उसके दो प्रमुख परिणाम निकलेंगे। एक तो यह कि हम अपनी संस्कृति समाज-विशेष के चौखटे में बन्द कर देंगे और दूसरा यह कि इस चौखटे से ऊपर उठने पर भी अन्तर्विरोधी मूल्यों की उलझनपूर्ण स्थिति में हमारे लिए सही और अदोष निर्णय ले पाना संभव नहीं होगा। ऐसी दशा में सांस्कृतिक अराजकता तथा वैचारिक आपाधापी से हम बचे नहीं रह सकते। इस स्थिति से उबरने का अथवा इसे समाप्त करने का एक ही मार्ग है कि व्यापक स्तर पर मानवतावादी मूल्यों की प्रतिष्ठा पर बल दिया जाय—और यही कार्य युग के लेखकों, कवियों और दार्शनिकों का है।

लेकिन समस्या का अन्त यहीं नहीं हो जाता। एक प्रश्न और है जो आगे किसी भी सांस्कृतिक चिन्तक को परेशान कर सकता है। व्यक्ति मूलतः सामाजिक प्राणी होता है, इसमें तो किसी को कोई सन्देह नहीं ही होगा और समाज में रहने के नाते वह अपने समाज विशेष के नियमों, तौर-तरीकों और पाबन्दियों तथा संस्कारों से भी जुड़ा होता है, इसे भी स्वीकार कर लेने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी। दूसरी ओर व्यक्ति चूँकि मानव है, अतः कुछ मानव-सुलभ उसके मूलभूत संस्कार, विश्वास रुचियाँ तथा विचार होंगे ही। ऐसी दशा में इस बात की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि समय विशेष में समाज के मूल्य तथा मानव के मूल्य परस्पर एक-दूसरे से टकरा सकते हैं। अतः इस टकराहट की स्थिति में व्यक्ति के लिए यह निर्णय कर पाना मुश्किल काम होगा कि वह मानव मूल्य और समाज मूल्य में किसको कितना महत्त्वपूर्ण माने। सापेक्षता तथा समय के स्थायित्व की दृष्टि से देखें तो मानव-मूल्यों में स्थायित्व के तत्त्व कहीं अधिक हैं, ज़बकि समाज के मूल्यों की अपनी सीमाएँ तथा प्रतिबद्धताएँ होती हैं और उनमें परिवर्तनशीलता का भी समावेश अधिक होता है। सामाजिक संस्कृति के मूल्य अपनी सामाजिक परिसीमा से आबद्ध होते हैं, जबकि मानव संस्कृति के मूल्यों की व्यापकता सम्पूर्ण विश्व के मानव समुदाय तक फैली होती है।

आधुनिक भारतीय नवोत्थान काल में इसीलिए मानवतावादी सांस्कृतिक मूल्यों पर विशेष ध्यान दिया गया, क्योंकि इनमें व्यापक मानव के प्रति सहानुभूति तथा सम्वेदना समाहित थी। इस विचारधारा ने आधुनिक भारत को अपने ढंग से प्रभावित किया एवं यहाँ की संस्कृति तथा मस्तिष्क पर पर्याप्त असर डाला। फलतः मानवतावाद तथा मानव-धर्म के धरातल पर सामाजिक संस्कृति के मूल्यों का परीक्षण-निरीक्षण किया जाने लगा तथा मानवीय व्यापक मूल्यों की प्रतिष्ठा होने लगी। हिन्दी उपन्यासकारों में प्रेमचन्द इस मानवतावाद से काफी अगाह थे और 'गोदान' तक आते-आते अपने को इस संदर्भ में प्रौढ़ता के स्तर तक पहुँचा चुके थे, जिसका उत्कृष्ट रूप हमें होरी के चरित्र में मिलता है। प्रेमचन्द का यह मानवतावाद मानव-संस्कृति की अभिनव प्रतिष्ठा का ही प्रयत्न था, जो विविध पहलुओं से अपनी व्यापक अभिव्यक्ति कर रहा था। प्रेमचन्द के बाद मानवतावाद की प्रतिष्ठा में सबसे अधिक अगर किसी ने जोर लगाया तो वह हैं जैनेन्द्रकुमार। जैनेन्द्र ने न केवल मानवतावाद को नये संदर्भों में संदर्भित कर उसे एक नया परिप्रेक्ष्य ही प्रदान किया, वरन् मानवतावाद के धरातल पर हिन्दू संस्कृति की प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी मान्यताओं के मूल्यांकन का महत् प्रयत्न भी किया।

प्राचीन हिन्दू संस्कृति के अनुसार नारी-जीवन के सम्पूर्ण आदर्श पातिव्रत धर्म में समाहित हैं। सतीत्व ही नारी के चारित्रिक मूल्यांकन की कसौटी है। उसे समाजीकृत रूप प्रदान करने के लिए समाज ने वैवाहिक पवित्रता के नियम कठोर बनाए हैं तथा विवाह को भी आध्यात्मिक अनुबन्ध अथवा सम्बन्ध स्वीकार किया है। इस प्रकार हिन्दू स्त्री का पति उसके लिए परमेश्वर समझा जाता है। लेकिन जैनेन्द्र मानवतावादी दर्शन का आश्रय ग्रहण कर इस परम्परित विचारधारा का खण्डन करते हैं और मानव धर्म की तुलना में पातिव्रत्य धर्म को सीमित और संकीर्ण बताते हैं।

'त्यागपत्र' की मृणाल का पति संकीर्ण मनोवृत्ति का है जो उसे घर से निकाल देता है। लेकिन मृणाल बदले में पति के सम्मुख आत्मसमर्पण नहीं करती, क्योंकि उसकी दृष्टि में पातिव्रत धर्म से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण नारी-धर्म अथवा मानव-धर्म है। नारी के स्वाभिमान की रक्षा के लिए मृणाल खुशी-खुशी अपना घर-वर छोड़ देने को तैयार हो जाती है। वह मानती है कि नारी पहले मानव है, नारी है फिर बाद में किसी की पत्नी है। उसे पहले मानवीय मूल्यों की रक्षा करनी चाहिए और मानव के स्वाभिमान को बचाना चाहिए। पत्नी का दायित्व मानवीय मूल्यों के दायित्व की अपेक्षा गौड़ है। इस प्रकार मृणाल के चरित्र में नये मानववाद तथा नारी जागरण का प्रखर स्वर सुना जा सकता है। यह एक सांस्कृतिक संघर्ष की स्थिति है, जिसमें लेखक ने अपने निर्णय को पूरी आस्था के साथ प्रस्तुत किया है।

लेकिन लेखक की यह आस्था, यह प्रस्तुतीकरण तथा उसकी मूलभूत सांस्कृतिक चेतना, स्वस्थ सांस्कृतिक दृष्टिकोण के निर्माण में सफल नहीं हुई है। लेखक की शरतचन्द्रीय भावुकता ने उसे विकृत कर दिया है जिसके कारण मृणाल, सुनीता, कल्याणी प्रभृत्य समस्त नारियाँ जो प्रारम्भ में बग़ावत का ध्वज धारण करके चलती हैं, अंततः पराजय और पराश्रय में ही शरण लेती हैं। नारी चरित्रों का स्वावलम्बी तथा स्वाभिमानी रूप अपनी समग्रता में नहीं उभरता। मृणाल अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए पति का आश्रय छोड़कर भी आर्थिक स्वावलम्बन नहीं प्राप्त कर पाती। मृणाल अपने मानवतावाद को प्रमोद के सम्मुख इस प्रकार अभिव्यक्त करती है—'मेरे रूप का लोभ इस पर चढ़ता गया। वह नशा हो आया। मुझे उस समय उस पर बड़ी करुणा आई।'[1] मृणाल यह जानती है कि वह व्यक्ति कुछ दिन बाद ही उसे छोड़ देगा, लेकिन फिर भी वह उसके सम्मुख अपने को समर्पित कर देती है, क्योंकि लेखक के अनुसार वह मानवतावादी चरित्र है। मृणाल का मानवतावाद अथवा लेखक का मानवतावाद यही है कि पुरुष की कामुकता पर स्त्री की करुणा उत्पन्न हो। स्पष्ट है कि मानवतावाद के परदे में लेखक यहाँ अपनी कुण्ठाओं तथा मनोग्रन्थियों का प्रकाशन कर रहा है।

मृणाल भारतीय सामाजिक संस्कृति के प्रति विद्रोह करती है, ताकि उच्च मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा कर सके। लेकिन लेखक का मानवतावाद उसे अंततः घृणित और कुरूप ही बनाता है। सामाजिक धरातल पर मृणाल जैसी सबल व्यक्तित्व-सम्पन्न नारी का यह अस्वाभाविक चारित्रिक पतन पाठकों को खटकता है। पाठक अनिवार्यतः यह सोचता है कि वह सँभल क्यों नहीं जाती, अपना कर्मठ चरित्र के रूप में विकास क्यों नहीं करती। लेकिन जब लेखक को उसका यह व्यक्तित्व पसंद हो तब न ? लेखक तो खा-म-खा उसे मानवतावादी बनाने के चक्कर में पतन के गर्त में डालता चला जाता है तो वह क्या करे ? वस्तुतः मृणाल का अपना कोई दृष्टिकोण नहीं है, वह जैनेन्द्र के विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम भर है।

इस सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय और है, वह यह कि जैनेन्द्रकुमार अपने सांस्कृतिक मूल्यों को समाज से नहीं जोड़ पाते। उनके मूल्य यथार्थ सतह से टकराने के बजाय कल्पना लोक में विचरण अधिक करते हैं। लेकिन बताने की आवश्यकता नहीं कि सांस्कृतिक मूल्यों का तब तक, जब तक, कि उनका वास्तविक जीवन की यथार्थता से सम्बन्ध न हो, कोई महत्त्व नहीं होता। मृणाल का सांस्कृतिक दृष्टिकोण ऐसा ही है, जिसे कभी-भी समाज में लागू नहीं किया जा सकता। वह अपने इस

---

१. 'त्याग-पत्र' : सातवाँ संस्करण, १९५५, पृ० ६५

दृष्टिकोण की चर्चा प्रमोद से करती हुई कहती है—'मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूँ। समाज टूटा कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे या कि किसके भीतर बिगड़ेंगे। इसलिए मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगला-कांक्षा में खुद ही टूटती रहूँ।'[1]

इस प्रकार मृणाल का विद्रोह समाज तथा सांस्कृतिक मूल्यों के परिष्कार के लिये नहीं है। उसे भ्रम है कि वह समाज से अलग है, अतः उसका विद्रोह भी निरुद्देश्य ही है। उसका एकमात्र उद्देश्य है, आत्मवेदना, आत्मपीड़ा के दर्शन का सहारा लेकर अपने प्रिय पाठकों की करुणा को उत्तेजित करना। वह स्वयं अपने व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा में भी सफल नहीं हो पाई है, उससे मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा की उम्मीद व्यर्थ ही है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण एकदम तटस्थ है। सामान्य व्यक्ति जैसे परि-स्थितियों से विवश होकर अपने जीवनगत मूल्यों की रक्षा नहीं कर पाता, उसी प्रकार मृणाल भी अपने जीवनगत मूल्यों की रक्षा में सफल नहीं हो पाती। साधारण व्यक्ति जब जीवनगत आदर्श मार्ग से भटक जाता है तो उसे पश्चात्ताप तथा आत्मग्लानि तो अवश्य होती है, लेकिन मृणाल अपनी इस विवशता तथा आत्मग्लानि का भी यथार्थ रूप में स्वीकार न कर पाने की वजह से उसे दार्शनिकता का जामा पहना-कर रहस्यमय बना देती है। जीवन के प्रति उसका तटस्थ दृष्टिकोण पराजय की चरम स्थिति का द्योतक है। इस तटस्थता के कारण मृणाल घर से निकाली जाती है और अंत तक मारी-मारी फिरती है। इस प्रकार वह न तो मानवीय मूल्यों की रक्षा करती है और न व्यक्ति के अस्तित्त्व को ही प्रतिष्ठित करती है। समाज और संस्कृति का परिष्कार तो दूर की बात है। बिना हिचक के हम इसे जैनेन्द्र के विकृत मानवतावाद की असफलता कह सकते हैं।

नवीन सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के निर्माण का प्रयत्न हिन्दी उपन्यास-साहित्य में बहुत अधिक व्यापक पैमाने पर चलता रहा और अपनी तमाम असफलताओं तथा असमर्थताओं के बावजूद लेखक वर्ग अपने उसी उत्साह के साथ इस भागीरथ प्रयत्न में लगा रहा। हिन्दी-उपन्यास के तीसरे चरण में आस्थाहीन बौद्धिकता का जो व्यापक प्रचार हुआ, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं जिसके परिणामस्वरूप तथा मध्य-वर्गीय कुण्ठाओं से विक्षुब्ध होकर इस युग के उपन्यासकारों ने समस्त परम्परित मूल्यों का निषेध किया और नवीन मूल्यों की स्थापना की चेष्टा की। इन उपन्यासकारों में अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी तथा यशपाल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन लेखकों ने समाज के सम्पूर्ण विकास को तथा उसकी समस्त सांस्कृतिक विरासत को अस्वीकृत कर

---

१. 'त्यागपत्र' : सातवाँ संस्करण, १९५५, पृ० ७५

दिया तथा नये मूल्यों की स्थापना के लिए आदिम मनुष्य की प्राथमिक प्रवृत्तियों तथा उसकी मूलभूत आवश्यकताओं को आधार बनाया। इस प्रकार इस बौद्धिक अनास्था ने समाज तथा संस्कृति की सत्ता पर ही प्रश्न चिह्न खड़ा कर दिया। उनको लगा कि सामाजिक तथा सांस्कृतिक मानव भी बहुत उपयुक्त नहीं है और न ही समाज तथा संस्कृति का अब तक का सम्पूर्ण विकास ही ठीक तरह से विकसित हुआ है। अतः इन उपन्यासकारों ने आदिम मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों की सत्ता स्वीकार करके समाज, संस्कृति तथा सभ्यता का नव-निर्माण करने का दायित्व सँभाला।

वस्तुस्थिति यह है कि मध्यवर्गीय कलाकार ठोस समाज में अपना अस्तित्व समाप्त होते देखते हैं और विक्षुब्ध होते हैं। इसी विक्षुब्धता का परिणाम है कि ये अपने वर्तमान से असन्तुष्ट होने के कारण प्रतिक्रिया में मूल प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख होते हैं। यह ठीक वैसे ही हैं, जैसे शासन की पराधीनता में निःसहाय स्थिति के कारण कई विचारकों का प्राचीन इतिहास की शरण में जाना। लेकिन दोनों प्रवृत्तियों में मूलतः फ़र्क है तथा उनके परिणाम भी इसीलिए अलग-अलग देखे जा सकते हैं। यह मान्य है कि प्राचीन इतिहास की शरण लेने के पीछे पराधीनताकालीन हीन भावना प्रबल प्रेरणा थी अतः इन विचारकों ने भारतीय प्राचीन इतिहास को एक नया परिप्रेक्ष्य दिया और देश तथा समाज को संगठित करने में अदम्य उत्साह दिखाया। आर्य समाज का आन्दोलन इसका ज्वलन्त उदाहरण है। स्वामी दयानन्द सरस्वती, बालगंगाधर तिलक तथा रामराज्य की कल्पना करने वाले महात्मा गांधी इसके सबल प्रमाण हैं। लेकिन ये आधुनिक उपन्यासकार समाज तथा संस्कृति से वंचित आदिम मनुष्य को अपना आदर्श पात्र बनाते हैं तथा कहीं भी वे आदिम प्रवृत्तियों के आधार पर नवीन समाज एवं संस्कृति की रचना करने में संलग्न नहीं दिखाई देते।

इसके अतिरिक्त यह उपन्यासकार अपने उपन्यासों में चित्रित समाज में भी अपने स्थापित मूल्यों का समाजीकरण तथा संस्कृतीकरण नहीं कर पाते। निश्चय ही इन उपन्यासकारों ने नये मूल्यों की सृष्टि करके किसी नये समाज तथा आदर्श समाज-व्यवस्था का चित्र दिया होता तो उनका कार्य श्लाघ्य कहलाता। लेकिन इन उपन्यासकारों ने ऐसा कुछ भी नहीं किया। इनके चरित्र निर्बल, कुण्ठित और निष्क्रिय ही अधिक हैं। उनके द्वारा किसी नये समाज तथा संस्कृति के निर्माण की उम्मीद नहीं की जा सकती। वे केवल वर्तमान समाज व्यवस्था की विसंगतियों से असंतुष्ट तथा विक्षुब्ध होकर अपनी अनाचारिता तथा स्वेच्छाचारिता से उसे तहस-नहस कर सकते हैं। इस प्रकार इन औपन्यासिक चरित्रों में नवीन मूल्यों को प्रस्तुत करने की ईमान-दारी तथा क्षमता नहीं है, वे केवल समाज में अराजकता उत्पन्न करने के उद्देश्य से रखे गये हैं। उनकी आस्थाहीन बौद्धिकता का इससे इतर कोई दूसरा परिणाम हो भी

नहीं सकता था।

अज्ञेयजी 'शेखर: एक जीवनी' (१९४०) उपन्यास में समाज तथा संस्कृति की पूरी तरह अवहेलना करके नवीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के अन्वेषण का प्रयत्न करते हैं। अज्ञेयजी की दृष्टि में यह अन्वेषण 'स्वातन्त्र्य की खोज' है।[1] बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रश्नों का जवाब देते हुए अज्ञेय लिखते हैं—'क्योंकि कला को नैतिकता के प्रचलित रूप से कोई लगाव नहीं है—उसे तो नैतिकता के बुनियादी स्रोतों से मतलब है।'[2] इस बुनियादी स्रोत की खोज में आगे न जाकर अज्ञेयजी पीछे ही बढ़ते जाते हैं। और अन्त में संस्कृति के आदि तथा बर्बर युग में पहुँच जाते हैं। वह मानव की उस अवस्था का अन्वेषण करते हैं जब वह संस्कृति तथा समाज की कलुषित छाया से दूर था और अपेक्षाकृत संस्कृत व्यक्ति से अधिक शुद्ध तथा पवित्र था। ऐसे विशुद्ध मानव में उन्हें तीन मूल प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, जो मानव जीवन को नियंत्रित तथा अनुशासित करती हैं। ये प्रवृत्तियाँ हैं—अहम्, भय तथा काम की प्रवृत्तियाँ।[3] लेखक का निष्कर्ष है कि प्रेम ने मनुष्य को मनुष्य बनाया, भय ने उसे समाज का रूप दिया तथा अहंकार ने उसे राष्ट्र में संगठित कर दिया।[4] लेकिन अन्यत्र काम तथा घृणा को ही लेखक मूल प्रवृत्ति मानता है। शेखर की प्रेरणा के पीछे ये ही प्रवृत्तियाँ प्रमुखतः कार्य करती हैं। शेखर सबसे अधिक एक काम पीड़ित चरित्र है और वह अपने सम्पर्क में आने वाली सभी नारी-चरित्रों से अपनी इस पीड़ा की पूर्ति चाहता है। यहाँ तक कि वह अपनी मौसेरी बहन शशि से भी प्रेम करता है और उसकी अपनी सगी बहन सरस्वती भी उसे केवल स्त्री लगती है। सरस्वती के प्रति भी शेखर में काम-भावना विद्यमान है। दूसरी प्रवृत्ति है भय की, जिसके कारण शेखर लगातार एक-पर-एक आत्महत्या का प्रयत्न करता है। किशोरावस्था में नदी में डूबकर आत्म-हत्या करना चाहता है। इसी प्रकार अहंकार के कारण वह समाज, माता-पिता, शिक्षा, सम्पूर्ण सामाजिक एवं सांस्कृतिक विरासत तथा विकसित मानवीय भावनाओं का तिरस्कार करता है। वस्तुतः शेखर स्वेच्छाचारी प्रकृति का काम पीड़ित चरित्र है, अतः सामाजिक सम्बन्धों को तोड़ने की हठधर्मिता करता है। वह अकर्मण्य और निरुद्देश्य भी है, इसलिए आत्महत्या की ओर उन्मुख होता है।

---

१. 'आत्मनेपद' : प्रथम संस्करण, १९६३, पृ० ६७
२. 'आत्मनेपद' : प्रथम संस्करण, १९६०, पृ० ६७
३. 'शेखर: एक जीवनी' : पाँचवाँ संस्करण, भाग १, १९५५, पृ० ४९
४. 'शेखर: एक जीवनी' : पाँचवाँ संस्करण, भाग १, १९५५, पृ० ५३

इस प्रकार शेखर एक ऐसा उच्चमध्यवर्गीय चरित्र है जो अपना स्वस्थ विकास नहीं पाकर हीनता ग्रन्थि से ग्रस्त हो जाता है और अपने व्यक्तित्व का अस्वाभाविक विकास करता है। अपने प्रबल अहम् के कारण वह घृणा का प्रचार करता है और सभी कुछ को अस्वीकार करता है। निश्चय ही यह मात्र शेखर का ही दृष्टिकोण नहीं है। जीवन के सम्बन्ध में अज्ञेयजी का दृष्टिकोण ही शेखर के माध्यम से व्यक्त हुआ है, यद्यपि इसे छिपाने के लिए लेखक उपन्यास के पहले भाग की भूमिका में एक झूठ का सहारा लेता है और अपने समर्थन में टी० एस० एलियट को उद्धृत करता है लेकिन लेखक के निकट सम्पर्की तथा प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री इलाचन्द्र जोशी भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि शेखर तथा उसके रचयिता का जीवन-दर्शन एक है।'[1] साथ ही बाल्यावस्था के शेखर तथा लेखक में विशेष तादात्मीयता का संकेत अज्ञेय स्वयं उपन्यास की भूमिका में भी देते हैं। इस प्रकार लेखक शेखर के व्यक्तितत्व से अपनी तटस्थता, जिसका दावा उसने अपनी भूमिका में किया है, बनाए नहीं रख सका है।

वस्तुतः शेखर की बाल्यावस्था का सविस्तार वर्णन इसलिये किया गया है कि यह विज्ञापित किया जा सके कि बाद का शेखर जिन सांस्कृतिक मूल्यों को प्रस्तुत करता है उसके निर्माण के पीछे उसका बाल तथा जिज्ञासु मन प्रमुख रहा है, जिसने एक-एक वस्तु का स्वयं अनुभव किया है तथा ज्ञान प्राप्त किया है। तात्पर्य यह कि बाल्यावस्था का शेखर जिन अनुभूतियों, विचार-दर्शनों, सदाचार-व्यवहारों तथा समाजगत विद्रोहों को प्रस्तुत करता है, लेखक का प्रयत्न यह रहा है कि उन्हें शेखर का अपना मानसिक गठन कहकर प्रचारित किया जाय, ताकि उसके साथ जाने अनजाने लेखक की मानसिक बनावट को जोड़ा न जा सके। लेकिन कहने की आवश्यकता नहीं कि लेखक का यह भ्रमजाल अब काफी कुछ टूट चुका है और लगभग स्थिति सभी प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष स्पष्ट हो चुकी है कि बाल्यावस्था के शेखर के संस्कार तथा उसके समाज-विरोधी स्वरूप के पीछे लेखक के अपने संस्कार तथा उसका अपना समाज-विरोधी स्वरूप हैं जो निरन्तर उसे प्रेरणा प्रदान करता रहा है। लेखक का यह दृष्टिकोण उसके वर्गीय संस्कारों की उपज है तथा उसका मानसिक गठन वर्गीय सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर ही हुआ है। इस प्रकार 'शेखर : एक जीवनी' में प्रस्तुत किये गए सांस्कृतिक मूल्य शेखर की स्वतन्त्र साधना का परिणाम नहीं है, बल्कि लेखक की समाज-विरोधी विचार-धारा का परिणाम है। अज्ञेयजी ने स्वयं लिखा है—'कर्म में विश्वास और सामंजस्य लाने के लिये नैतिक व्यवस्था को खतरे में पड़ने दिया

---

१. 'विश्लेषण' : प्रथम संस्करण, १९५४, पृ० ८८

जाय।'[1] स्पष्ट है कि शेखर जैसे लोगों के कर्म में अगर सहानुभूति है, तब तो ऐसे लोगों के विश्वास के लिये समाज की समस्त भावनाएँ ध्वस्त कर देनी चाहिए। लेकिन समाज के अस्तित्व को लेखक कहाँ रखेगा ? और समाज के ध्वस्त हो जाने या कि बिखर जाने के बाद लेखक की नवीन मान्यताएँ तथा उसके अभिनव सांस्कृतिक मूल्य अपना क्या अस्तित्व रख सकेंगे कहना मुश्किल है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अज्ञेयजी निवृत्तिमूलक नैतिक मूल्यों को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार संसार के सभी शास्त्रों तथा स्मृतियों में निवृत्तिमूलक नैतिकता का ही आख्यान है—संतोष कर, सत्य बोल और आगम्य गमन न कर। अज्ञेयजी जो स्वयं हिंसा, भय तथा काम से ग्रसित हैं, इन मूल्यों को निषेधात्मक मानते हैं जो विष्प्राण तथा पिटी हुई लीक है।[2] लेकिन बताने की जरूरत नहीं कि प्रेम की अपेक्षा घृणा, त्याग की अपेक्षा वासना, सामाजिकता की अपेक्षा असामाजिकता का प्रचार तथा समस्त सांस्कृतिक मूल्यों का निषेध करते हुए अज्ञेय स्वयं भी कई निषेधों की सृष्टि कर जाते हैं। परिणाम है एक ऐसा जीवन-दृष्टिकोण जो न तो निवृत्तिमूलक है और न ही प्रवृत्ति मूलक, बल्कि शून्य की स्थिति में उनका पाठक भटकता रह जाता है और अंततः उसे लगता है कि 'हाथ कछू नहि आयो।'

इसी प्रकार इस काल के एक अन्य लेखक श्री इलाचन्द्र जोशी के औपन्यासिक नायक भी घृणा, असामाजिकता, अहम् प्रतिहिंसा, अनाचारिता तथा स्वेच्छाचारिता का प्रचार करते हैं। इन स्वेच्छाचारी पात्रों की अहिंसा तथा अनाचार का सर्वाधिक शिकार होती हैं उनकी नारी पात्राएँ। जोशीजी दो वर्गों में दुनिया भर के समाज को विभाजित करते हैं—पहला शासक वर्ग, जिसका प्रतीक है पुरुष और दूसरा शासित वर्ग, जिसकी प्रतीक है स्त्री। उनके उपन्यास 'निर्वासित' (१९४६) में उनकी एक पात्रा शारदा कहती है—'वर्तमान युग में सारी मानव जाति को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—एक पुरुष वर्ग और दूसरा स्त्री वर्ग। ये दोनों शोषक वर्ग और शोषित वर्ग के ही पर्यायवाची हैं। जिस अल्पसंख्यक सबल वर्ग ने राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक दासता से सारे विश्व के दुर्बल राष्ट्रों या वर्गों को गुलामी की जंजीर से जकड़ रखा है, वह पुरुष वर्ग है और सभी दलित वर्ग निम्न मध्यम वर्ग मजदूर, किसान, अछूत, नारी समाज आदि स्त्री वर्ग के अन्तर्गत आ जाते हैं।'[3] अगर समाजशास्त्र का थोड़ा भी कोई ज्ञाता हो तो इस सामाजिक वर्गीकरण की

---

१. 'आत्मनेपद' : प्रथम संस्करण, १९६०, पृ० ६८

२. 'शेखर : एक जीवनी' : दूसरा भाग, तीसरा संस्करण, २००८, पृ० २०६

३. 'निर्वासित' : प्रथम संस्करण, २००३, पृ० २०७

हास्यास्पदता समझते उसे देर नहीं लगेगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस वर्गीकरण में शासकों तथा शोषितों के मार्क्सवादी सूत्रों को अपनाए जाने के बावजूद भी अभिव्यक्ति फ्रायड तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों के दर्शन को ही मिली है। मार्क्सवाद तथा फ्रायडवाद जैसे दो विरोधी जीवन-दर्शनों की एक साथ संयुक्त अभिव्यक्ति जोशीजी से ही संभव थी।

सरांश यह कि समाजवाद तथा मनोविज्ञान को मिलाकर जोशीजी ने अपने जीवन-दृष्टिकोण का निर्माण किया है। उनके उपन्यासों के पुरुष चरित्र भिन्न सांस्कृतिक मूल्यों द्वारा निर्देशित हैं। उनके मूल्यों का यह भेद जोशीजी द्वारा निर्मित शोषक तथा शोषित वर्गों के प्रतीक होने के कारण है। उनकी स्त्रियाँ विकसित समाज तथा संस्कृति एवं विकसित मानव जाति के जीवन-मूल्यों से परिचालित हैं। उनके पुरुष चरित्र आदिम मानव, बर्बर-युगीन समाज तथा संस्कृति के जीवन-मूल्यों से परिचालित वर्तमान समाज एवं संस्कृति का निषेध करते हैं। साथ ही ये चरित्र आधुनिक सभ्यता तथा संस्कृति से भी अप्रभावित नहीं हैं। इस प्रकार जोशीजी के पुरुष चरित्र आधुनिक तथा सुसभ्य किन्तु स्वेच्छाचारी तथा बर्बर चरित्र हैं जो बाहर से सुसभ्य दीखते हैं पर अन्दर से बर्बर और असभ्य हैं।

फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि दो भिन्न युगीन सांस्कृतिक एवं मानवीय मूल्यों के संघर्ष में जोशीजी विकसित समाज के मानवीय मूल्यों का ही पक्ष समर्थन करते हैं लेकिन यह भी मानना पड़ेगा कि जोशीजी का यह समर्थन ठोस यथार्थ के धरातल पर सही नहीं उतरता। उदाहरणार्थ उनकी नारियाँ अपने साथ विकसित जीवन मूल्य लेकर उपस्थित होती हैं और संघर्ष में वे विजयी भी होती हैं लेकिन उनकी यह विजय कहने की आवश्यकता नहीं कि केवल आदर्शात्मक है, क्योंकि 'यथार्थ जीवन में वे पुरुषों से सदैव आक्रांत ही रहती हैं, कभी भी मुक्त नहीं हो पातीं। 'जिप्सी' (१९४८ उपन्यास का पादरी लेखक के विचारों को ही व्यक्त करता है। वह पादरी है, मार्क्सवादी है और सिविल्या के प्रति कामभाव के कारण ही पादरी भी बना है। वह कार्लमार्क्स तथा ईसामसीह दोनों महापुरुषों में घृणा तथा प्रति-हिंसा की मूल प्रवृत्तियाँ मानता है और अनेक जीवन-दृष्टिकोण का मूल आधार भी इन्हीं प्रवृत्तियों को स्वीकार करता है। पादरी के अनुसार समस्त सभ्यताएँ इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों से विकसित हुई हैं। बर्बर युग में जो हिंसा और घृणा की प्रवृत्ति छोटे-छोटे गुटों में थी वही सभ्य युग में बड़े-बड़े गुटों के बीच है।'[१]

अज्ञेय तथा इलाचन्द्र जोशी की यहाँ तुलना काफी रोचक तथ्यों से भरपूर

---

१. 'जिप्सी' : प्रथम संस्करण, १९४८, पृ० २३४

लगती हैं। वस्तुतः निषेध का स्वर दोनों में ही है तथा दोनों के ही चरित्र एक-से स्वेच्छाचारी तथा बर्बर हैं, लेकिन इनमें पार्थक्य यह है कि अज्ञेय अहम् के बल पर समस्त समाज तथा संस्कृति के मूल्यों का निषेध करते हैं, जब कि जोशीजी ने हीन ग्रन्थि के सिद्धांत को स्वीकार करके बर्बर पुरुष द्वारा अराजकता के प्रचार का समर्थन किया है। अज्ञेय में अहम् का उदात्तीकरण नहीं हो पाया है, इसलिए उनके चरित्र तानाशाही प्रवृत्ति के लगते हैं, लेकिन जोशीजी मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के अनुसार इस अराजकता से बचाव के लिए मनुष्य के हृदय परिवर्तन के सिद्धांत को अपनाते हैं। समाज का निषेध करते हुए भी जोशीजी विश्व के सभी जीवन-दृष्टिकोणों को अपनाते हैं। यद्यपि इससे वैचारिक अराजकता की ही सृष्टि होती है। फिर भी जोशीजी अज्ञेय की अपेक्षा कहीं अधिक स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाते हैं। इस प्रकार अज्ञेय अहम् भय, काम, तथा घृणा को सांस्कृतिक एवं मानवीय मूल्यों को स्रोत मानते हैं तो जोशीजी सभ्यता के विकास को हिंसा, प्रतिहिंसा, काम तथा घृणा से सम्बन्धित करते हैं।

पिछले युग के उपन्यासकारों का काम-सम्बन्धी नैतिक दृष्टिकोण बहुत ही कट्टर था। वस्तुतः जब किसी समाज का युग के अनुसार परिष्कार तथा नवीनीकरण नहीं हो पाता है तथा रूढ़ियों और परम्पराओं के कारण वह विकृत होने लगता है तो यह कट्टरता अपने आप आ जाती है। परिणाम होता है पवित्रतावादी नैतिक दृष्टिकोण का ढिंढोरा पीटना। स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८७५ के आस-पास) इसी पवित्रतावादी नैतिक दृष्टिकोण की स्थापना करते हैं। उन्होंने वैदिक युग की शरण भी मात्र इसीलिए लिया। समाज की विकृतियों से घबड़ाकर कठोर नैतिक मूल्यों का आश्रय ग्रहण करना युगानुरूप सामाजिक सांस्कृतिक मान्यताओं के अभाव में रूढ़ियों और परम्पराओं की प्रबलता—यह सब आधुनिक युग के सांस्कृतिक नवजागरण प्रक्रिया की विविध दिशाएँ थीं। इस दृष्टिकोण ने स्वस्थ जीवन-दृष्टिकोण की स्थापना न करके मूलतः निवृत्ति मार्ग का प्रचार किया। हिन्दी के प्रेमचंदकालीन उपन्यासकारों में प्रायः सभी इस दृष्टिकोण से कमोवेश प्रभावित हुए। इस दृष्टिकोण का सर्वाधिक प्रचार आर्य समाज ने किया तथा हिन्दी उपन्यासकारों में प्रेमचंद, उग्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी तथा वृन्दावनलाल वर्मा आदि प्रमुख उपन्यासकार इससे प्रभावित हुए।

इन सभी उपन्यासकारों ने सामाजिक दृष्टिकोण अपनाया और समाज-सुधारकों की भाँति सामाजिक समस्याओं की तह में जाकर अपने ढंग से उनका समाधान प्रस्तुत किया। लेकिन निरन्तर ये लेखक एक अन्तर्विरोधी दृष्टिकोण के शिकार बने रहे। एक तरफ जहाँ विषम-प्रस्तुतीकरण में ये यथार्थवाद के निकट रहे, वहीं दूसरी तरफ समस्याओं के समाधान में घोर आदर्शवादी भी रहे। ऐसा पवित्रतावाद के आग्रह के

कारण ही हुआ। अतः उपन्यासकार इस पवित्रावादी नैतिक दृष्टिकोण का अतिक्रमण करके सामाजिक समस्याओं की गहराई में जाकर उन्हें यथार्थ दृष्टि से प्रस्तुत नहीं कर सके। प्रेमचन्द की इसी असमर्थता को हम आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के नाम से जानते हैं। प्रेमचन्द, उग्र तथा भगवतीप्रसाद वाजपेयी क्रमशः 'सेवासदन', 'शराबी' तथा 'पतिता की साधना' में वेश्या-समस्या को उठाते हैं, लेकिन इनमें से किसी ने भी वेश्या के शारीरिक व्यापार को दिखा सकने का साहस नहीं दिखलाया। उनकी वेश्याएँ केवल संगीत तथा नृत्य का व्यवसाय करती हैं। वे घृणास्पद इसलिए नहीं हैं कि वे शरीर का व्यापार करती हैं, बल्कि इसलिए हैं कि उनका काम नाचना-गाना है कि लोग उन्हें वेश्या के नाम से जानते हैं, पुकारते हैं। यदि यही समस्या थी तो फिर संगीत तथा नृत्य कला को उचित सांस्कृतिक सन्दर्भों में विकसित करने का ही प्रश्न रह जाता है। लेकिन वास्तविकता यह नहीं है, बल्कि यह है कि प्रश्न मूलतः वेश्या-समस्या का है—स्त्री के शरीर व्यापार का है, जो समाज में घृणित और कुत्सित है। अतः उसको किस प्रकार समाप्त किया जा सकता है तथा उन तमाम स्त्रियों को, जो वेश्या-वृत्ति में लगी हैं, किस प्रकार आर्थिक रोजगार प्रदान किया जा सकता है—समस्या का केन्द्र यह है। लेकिन इन उपन्यासकारों में इतना साहस नहीं कि वेश्या को सही-सही वेश्या के रूप में शरीर का व्यापार करती हुई प्रदर्शित कर सकें अतः समाधान में भी सामान्य वेश्या वर्ग के लिए कोई सुझाव नहीं प्रस्तुत किया जा सका। हाँ, जो वेश्याएँ शरीर से अपनी पवित्रता बनाए रखती हैं, कम-से-कम लेखक की पुस्तक में शरीर का व्यापार नहीं करतीं, उनका चारित्रिक परिवर्तन कराकर समाज में सम्मिलित कर लेने का प्रयत्न अवश्य किया गया है।

वस्तुतः इन पवित्रतावादी लेखकों की समझ में यह बात आ ही नहीं सकती थी, कि सतीत्व बेचने वाली नारियों का भी उद्धार हो सकता है। क्योंकि अपनी नैतिकता के सीमित दायरे से ये बाहर निकल ही नहीं सकते हैं। अतः मूलभूत समस्या का कोई स्थायी या सुयोग्य समाधान ये लेखक नहीं प्रस्तुत कर पाते। 'परख' की कट्टो 'हृदय की परख की सरला आदि ऐसी ही नारियाँ हैं, जिनका निर्माण इसी पवित्रतावादी नैतिक धरातल पर हुआ है। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात स्मरण रखने की यह भी है कि समाज-सुधारक तथा चिन्तक जिस पवित्रतावादी दृष्टिकोण को सार्वभौमिक व्यापकता में अपनाते हैं, उसे हिन्दी उपन्यासकार मूलतः नारी-दृष्टिकोण तथा सती-धर्म से सम्बद्ध करता है।

इन सब के अतिरिक्त इस पवित्रतावादी नैतिक दृष्टिकोण के स्वरूप को वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यासों में व्यक्त किया है। वर्माजी मूलतः रोमेंटिक भाव-धारा के उपन्यासकार हैं, लेकिन तब भी कहीं उनके उपन्यासों में 'अवैध प्रेम' तथा

अनैतिक सम्बन्ध' का जिक्र नहीं आया है। उनके उपन्यासों में शृंगारिता, रोमांस तथा प्रेम का आयोजन एकमात्र पातिव्रत, पत्नीव्रत तथा नैतिक मूल्यों के समर्थन के उद्देश्य से ही किया गया है। यहाँ रोमांस का आधार भी पवित्रतावादी नैतिक दृष्टिकोण ही है। इस पवित्रतावादी नैतिक दृष्टिकोण के कारण आदमी जितना क्रूर हो जाता है, यह वर्मा जी के 'प्रेम की भेंट' उपन्यास के कामोद के चरित्र के माध्यम से जाना जा सकता है। कामोद, जो सरल तथा मानवीय भारतीय किसान है, अपनी पुत्री का धीरज के साथ प्रेम-सम्बन्ध सहन नहीं कर पाता। आवश्यकता यह थी कि लेखक इस पवित्रतावादी नैतिकता पर प्रहार करता, लेकिन नवीन मूल्यों के अभाव में अराजकता की स्थिति से बचाव के लिए वह आदर्शवाद तथा पवित्रतावादी नैतिक दृष्टिकोण का आश्रय ग्रहण कर लेता है।

लेकिन हिन्दी उपन्यास साहित्य के तीसरे चरण में पहुँचने पर हम पाते हैं कि इस पवित्रतावादी नैतिक दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया इन लेखकों में होती है। ये लेखक पाश्चात्य संस्कृति तथा साहित्य से प्रभावित हुए तथा फ्रायड तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों का भी इन लोगों ने भली भाँति परायण किया। फलतः फ्रायड के दर्शन में उन्हें काम सम्बन्धी बहुत सी जटिलताओं का समाधान प्राप्त हुआ और मानसिक मुक्तता का अनुभव हुआ। अतः काम-सम्बन्धी नैतिक मूल्यों पर प्रहार करने के लिए इन्हें एक बना बनाया वैज्ञानिक दर्शन प्राप्त हो गया। इस प्रकार इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि उपन्यासकारों ने काम सम्बन्धी परम्परित नैतिक मूल्यों की उपेक्षा की। इनके पुरुष-नारी चरित्र अधिकांश ऐसे हैं जो विवाह बंधन में बंधना नहीं चाहते और विवाह के पूर्व ही वे काम-सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। पिछले युग में अविवाहित स्त्री-पुरुष का काम-सम्बन्ध एक अकल्पनीय बात थी, यहाँ तक कि उन उपन्यासकारों ने वेश्या का चरित्र-चित्रण करते हुए भी उसे शरीर का व्यापार करते हुए नहीं दिखलाया। उन लेखकों ने वेश्या में भी सतीत्व धर्म की कल्पना की थी। लेकिन इस युग के कतिपय उपन्यासकार अपने आदर्श पात्रों को भी अवैध काम-सम्बन्ध में संलग्न •दिखाना आवश्यक मानते हैं। विशेषकर यशपाल में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक है।

वस्तुतः यशपाल ने समाज में प्रचलित काम-सम्बन्धी नैतिक मूल्यों के विरुद्ध अपने मूल्यों को स्थापित करने के उद्देश्य से ही ऐसा किया है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे मार्क्सवादी दर्शन का भी सहारा लेते हैं। वे न केवल आर्थिक तथा राजनीतिक, वरन् नैतिक स्वतन्त्रता के भी आकांक्षी हैं। विवाह, सतीत्व, नैतिक सदाचार तथा एकनिष्ठ प्रेम की सभी मान्ताएँ यशपाल के अनुसार सामंतवादी एवं पूँजीवादी समाज के सांस्कृतिक मूल्य हैं। इसीलिए लेखक अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'दादा कामरेड' में विवाह

का विरोध करके स्वच्छन्द प्रेम तथा अवैध काम-सम्बन्ध की मान्यता प्रस्तुत करता है तथा अंततः लेखक अवैध संतान को भी स्वीकृति प्रदान करता है।

इसी प्रकार 'देशद्रोही' (१९४३) उपन्यास में पत्नीव्रत धर्म की सीमा केवल मानसिक-सम्बन्ध स्वीकृत की गई है। यहाँ काम-तृप्ति की छूट दाम्पत्य सदाचार में व्याघात नहीं उपस्थित करती। डॉ० खन्ना वजीरिस्तान में पत्नी के लिए व्याकुल तथा नर्गिस से अपना काम-सम्बन्ध भी चलाए जा रहा है। इससे उसके पत्नी-प्रेम में कोई व्यवधान नहीं उपस्थित होता। 'पार्टी कामरेड' (१९४६) उपन्यास में लेखक सदाचार का जनाजा निकालने के उद्देश्य से पार्टी-सदस्या गीता तथा शहर के नामी गुण्डा पद्मलाल भावरिया का चरित्र प्रस्तुत करता है। लेखक यहाँ यह प्रचारित करना चाहता है कि पार्टी के हित के लिए वैयक्तिक रुचियों तथा नैतिकता के नियमों को भी ताक पर रख देने में हिचक नहीं होनी चाहिए। अपने इस दृष्टिकोण के प्रमाण में वह फ़ासिस्ट देशों की नैतिकता का प्रमाण उपस्थित करता है—'जर्मनी में लड़कियों और स्त्रियों ने अपने चुम्बन बेच-बेचकर युद्ध के समय देश की सहायता के लिए रुपया इकट्ठा किया था और जापान में वेश्या-वृत्ति द्वारा देश की सहायता के लिए धन कमाया था। इस देश में ऐसे काम को किसी भी भावना से नहीं सहा जा सकता। क्या यह स्वयं देश और समाज का पतन नहीं है? समाजवादी रूस में क्या इसे सहन किया जा सकेगा, कभी नहीं, परन्तु इस देश में बिना जाने-बूझे पुरुष को पति रूप से स्वीकार कर लेना क्या स्त्री का आत्मसम्मान है? कोई स्त्री विवश हो वेश्या बनती है कोई विवश से पतिव्रता'[1] इस प्रकार लेखक गीता द्वारा मुस्कान बेचकर तथा गुण्डे की तृप्ति के लिए सम्पर्क लाभ देकर पार्टी के लिए चन्दा इकट्ठा करने का आदर्श प्रस्तुत करता है। इस आदर्श की प्रस्तुतीकरण के लिए वह फ़ासिस्ट देशों का सहारा लेता है, क्योंकि रूस तथा भारत की नैतिक संस्कृति उसका समर्थन नहीं कर पाती। राष्ट्र के लिए सभी तरह के नैतिक और मानवीय मूल्यों का समपर्ण फ़ासिस्ट देशों की ही सांस्कृतिक दृष्टि है।

इस प्रकार यशपाल साम्यवाद के नाम पर समाज-विरोधी तथा भ्रष्ट नैतिक दृष्टिकोण का निर्माण करते हैं। 'मनुष्य के रूप' उपन्यास में वह न केवल विवाह को, बल्कि प्रेम को भी एक प्रकार का आर्थिक समझौता मानते हैं वह उनके लिए नैतिक महत्त्व का नहीं, बल्कि परिस्थितिजन्य समझौता है। लेखक की यह लाचारी है कि वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्रों में शोषण का स्वरूप देखता है तथा उसका दृष्टिकोण सम्पूर्णतः

---

१. 'पार्टी कामरेड' प्रथम संस्करण, १९४६, पृ० ३३

नैतिकवादी है। उसके अनुसार विवाह भी एक प्रकार का नैतिक शोषण ही है तथा प्रेम भी हृदयगत अनुभूति नहीं, बल्कि भौतिक बाह्य परिस्थितियों से उत्पन्न वस्तु है। शोभा के बदलते हुए नैतिक एवं मानवीय मूल्य तथा सदाचार को विचित्र रूपों में प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने घटनाओं तथा परिस्थितियों को इस प्रकार अनावश्यक तोड़ा-मोड़ा है कि वह लेखक के हाथ की कठपुतली मालूम पड़ती है, उसका स्वतः स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता और न चारित्रिक उच्चता को ही वह प्राप्त करती है। उसे शरीर बेचते हुए पूँजीवादी संस्कृति में अभिनेत्री बना दिया जाता है। लेखक का यहाँ उद्देश्य अगर शोभा की उन्नति के माध्यम से पूँजीवादी सांस्कृतिक व्यवस्था पर व्यंग्य करना रहा है, तो बगैर हिचकिचाहट के यह बात कही जा सकती है कि लेखक अपने इस उद्देश्य में काफी असफल रहा है। वह भारतीय नारी वर्ग के समक्ष उन्नति का रास्ता प्रस्तुत करती हुई प्रतीत होती है, समाज पर प्रहार करती हुई प्रतीत नहीं होती।

वस्तुतः यशपालजी प्रेम तथा विवाह को भौतिक मानते हैं, लेकिन उन्हें समाजिक रूप नहीं देते—यही उनकी भ्रांति का मूल कारण है। वह पूँजीवादी नैतिकता के बन्धन के रूप में काम-सम्बन्धी नैतिक मान्यताओं को देखते हैं। यहाँ हम उन्हें रूसी निहलिस्टों के निकट पाते हैं, जिन्होंने 'स्वच्छ गिलास से स्वच्छ जल पीने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जिसे 'ग्लासवाटर थियोरी' (Glass Water theory) के रूप में सभी जानते हैं। इसीलिए यशपाल मुक्त काम-तुप्ति की छूट समाज से चाहते हैं तथा नैतिकवादी साम्यवादी दर्शन के आधार पर इसका दार्शनिकीकरण करते हैं। जबकि साम्यवादी दर्शन के साथ इस दृष्टिकोण का कोई मेल नहीं बैठता। साम्यवादी चिंतकों में लेनिन ने तो इस दृष्टिकोण का खुले आम विरोध भी किया था। उन्होंने काम-सम्बन्ध को सामाजिक सम्बन्ध स्वीकार किया था। अतः उसमें मनमानी छूट देने को वह तैयार नहीं थे। लेनिन ने क्लाश जेटकिन को लिखे अपने एक पत्र में इस सिद्धान्त का विरोध करते हुए लिखा कि—"पानी पीना बेशक किसी का निजी काम है। लेकिन प्रेम में दो जिन्दगियों का सम्बन्ध होता है और एक तीसरी नई जिन्दगी पैदा होती है। इससे उसमें सामाजिकता का सवाल उठता है, जिससे समाज के प्रति कर्त्तव्य पैदा होता है।[१]" स्पष्ट है कि समाज पर आधारित साम्यवादी दर्शन के अनुयायी होने पर भी यशपाल जी ऐसे नैतिक मूल्यों को प्रस्तुत करते हैं, जो नवीन समाज-रचना की क्षमता

---

१. उद्धृत : डा० रामविलास शर्मा : 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' : प्रथम संस्करण, १९५४

बिलकुल नहीं रखता, बल्कि इससे तो सांस्कृतिक-सामाजिक अराजकता की ही सृष्टि होती है।

वस्तुतः इन नये उपन्यासकारों की असफलता का कारण है सम्पूर्ण समाज का तिरस्कार करके नवीन मूल्यों को प्रतिष्ठित करने का उनका अंधाधुन्ध प्रयास। यदि समाज तथा संस्कृति के उज्ज्वल तथा प्रगतिशील तत्त्वों को स्वीकार करके नवीन मूल्यों को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न इन लेखकों की ओर से किया गया होता, तो निश्चय ही उपयोगी तथा नवीन मूल्यों के प्रतिष्ठापन में इन लेखकों को आशातीत सफलता प्राप्त हुई होती।

⊙ ⊙ ⊙

अध्याय—९

पाश्चात्य संस्कृति तथा भारतीय संस्कृति

हमने पहले कहा है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय जीवन में राष्ट्रीयता का विकास हुआ, जिसके मूल में था अतीत-गौरव तथा देश की प्राचीन संस्कृति के प्रति आस्था तथा अनुराग का भाव। नवीन सामाजिक चेतना से सम्पन्न सामाजिक सुधार आन्दोलनों ने उक्त भावना का और अधिक प्रचार-प्रसार किया। साथ ही राजनीतिक-कार्यकर्त्ताओं ने भी इस भावना को अपना उपयुक्त माध्यम बनाया। स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा तिलक आदि ऐसे ही राजनीतिक कार्यकर्त्ता थे, जिन्होंने राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित किया। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि देश की प्राचीन संस्कृति के प्रति इस आस्था आन्दोलन में वे सभी शामिल थे, जो सनातन धर्म की सभी मान्यताओं, रूढ़ियों तथा रीति-रिवाजों को यथावत् स्थिर रखना चाहते थे तथा वे भी जो सामाजिक स्तर पर हिन्दू धर्म के पुराने स्वरूप को नवीन मान्यताओं में ढालने के आर्य समाज के प्रयत्नों की प्रतिक्रिया स्वरूप सारी शक्ति लगाकर आर्य समाज के विरुद्ध उठ खड़े हुए थे।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ का सम्पूर्ण भारतीय समाज इस सम्बन्ध में अपनी-अपनी विभिन्नताओं, सीमाओं तथा विशिष्ट दृष्टिकोणों के बावजूद इस सांस्कृतिक गौरव तथा आस्था-आन्दोलन में एक मत तथा एक साथ था। प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति इस अनुराग के पीछे अनेक कारण मौजूद थे, जिनमें से एक ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति का वह पहलू भी था जो राजनीतिक विजय के उपरान्त सांस्कृतिक विजय के लिए भी प्रयत्नशील था। भारतवासियों को मानसिक रूप से गुलाम बनाने के सारे प्रयत्न अंग्रेजों की ओर से किए जा रहे थे तथा अनेक माध्यमों द्वारा उन्हें पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के अनुरूप बदलने की कोशिश की जा रही थी। अंग्रेज अपने इस प्रयत्न में काफी सफल भी हुए, क्योंकि पाश्चात्य शिक्षा ने भारतवासियों को बहुत आकर्षित किया। फलतः अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों में एक प्रकार की हीनता पैदा होती गई और उनका दृष्टिकोण पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के आधार पर निर्मित होने लगा।

ऐसी दशा में प्राचीन भारतीय संस्कृति का पुनरोद्धार आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी था। भारतीय संस्कृति को उसके समस्त पुराने वैभव के साथ उपस्थित करने की आवश्यकता महसूस की जा रही थी। पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति, रहन-सहन आचार-विचार आदि में तथा भारतीय सभ्यता संस्कृति तथा आचार-विचार आदि में मूलतः इतना अन्तर था कि भारतीय जनता शीघ्र ही उससे अपना सम्बन्ध जोड़ भी नहीं सकती थी। ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्म-परिवर्तन के कार्य भी जनता में एक तीखी प्रतिक्रिया उत्पन्न कर रहे थे। अतः भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति का यह संघर्ष और अधिक व्यापक होता जा रहा था। एक तरफ यदि पाश्चात्य संस्कृति का भौतिक दृष्टिकोण लोगों को आकर्षिक कर रहा था तो दूसरी तरफ शासक वर्ग की राजनीतिक गतिविधियाँ जनता में एक व्यापक घृणा को भी जन्म दे रही थी, साथ ही दोनों संस्कृतियों को निकट लाने के प्रयत्न भी चलाये जा रहे थे और इस प्रकार दोनों संस्कृतियों में परस्पर आदान-प्रदान हो भी रहा था, बावजूद सभी दृष्टिकोणों के। लेकिन जहाँ तक युगीन लेखकों का सम्बन्ध है, उनमें से अधिकांश ऐसे ही थे जो पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति की तुलना में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के ही पक्ष में अपनी लेखनी चला रहे थे। यह बात युगीन उपन्यासकारों के विषय में और भी सत्य है। उनके धार्मिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करते समय हम इस तथ्य को स्पष्ट कर चुके हैं कि वे मूलतः रूढ़िवादी तथा परम्परावादी थे। अतः अपने उपन्यासों में उन्होंने अपवाद रूप में भले ही कहीं दोनों संस्कृतियों के सम्मिश्रण के आधार पर नया दृष्टिकोण बनाने की बात, उठाई हो, यदा-कदा अंग्रेजी सभ्यता तथा संस्कृति के कुछ गुणों की चर्चा भी की हो, परन्तु उनका उद्देश्य मुख्यतः पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति का गौरव-गान हो रहा है। अंग्रेजी शासन के समर्थक होकर भी वे अंग्रेजी सभ्यता तथा संस्कृति के समर्थक नहीं बने हैं।[1]

मेहता लज्जाराम शर्मा (१८६३-१९१५) इस बात को पसन्द नहीं करते कि भारतवासी पश्चिमी सभ्यता की नकल करें, इसलिए पूर्व तथा पश्चिम की वैज्ञानिक प्रगति को स्वीकार करते हुए भी उन भारतवासियों पर तीखा व्यंग्य-प्रहार करते हैं— जो अंग्रेजों के गुणों को न ग्रहण करके उनके अवगुणों की भद्दी नकल करते हैं। वे लिखते हैं—"नयनसेन ने जब से विलायत को प्रयाण किया, उसे हिन्दी बोलने का काम बिल्कुल नहीं पड़ता था। लन्दन में जो भारतवासी रहते हैं, उनसे मिलने-जुलने में लज्जा आती थी, क्योंकि वह मि० नैन्सन बन चुका था। तीन वर्ष विलायत में रहकर वह हिन्दी कत्तई भूल गया था। विलायत में हिन्दुस्तानी भाषा बोलने वाले

---

१. 'आदर्श दम्पत्ति' : प्रथम संस्करण, १९०४, पृ० ६७

अंग्रेजों का टोटा नहीं है। वे लोग जब इससे मिलते तब इसे भारतवासी समझकर हिन्दी बोलते थे, परन्तु यह काम इसे असह्य होता था। लाचारी में उसे उतनी बात का उत्तर तो हिन्दी में ही देना पड़ता था, परन्तु उस समय भी यह वैसी ही हिन्दी बोलता था, जैसा भारतवर्ष के यूरोपियन बोला करते हैं।"[१]

इस सम्बन्ध में मेहताजी का निष्कर्ष यह है कि भारतवासी पश्चिम की नकल में अपनी भाषा, रहन-सहन तथा संस्कृति से विमुख होते जा रहे हैं तथा हीनता की भावना से, जिसे अंग्रेज़ों ने ही पैदा की है, पीड़ित है।[२] उनका कहना है कि पश्चिम की तुलना में भारत के पास खुद की सम्यता तथा संस्कृति कहीं अधिक समृद्ध और महान है। लेखक इस सिलसिले में अंधे मोह की स्थिति में भी पहुँच गया गया है जहाँ उसका सनातनधर्मी कट्टरता का रूप सामने आया है। इस कट्टरता में वह न केवल पाश्चात्य रहन-सहन का ही विरोध करता है, बल्कि खान-पान, आचार-विचार में भी कट्टर सनातन धर्म के निर्देशनों का महत्त्व स्वीकार करता है। जापान में जाकर नयन-सेन एक जापानी प्रोफेसर के मुँह से भारतीय धर्म तथा संस्कृति की महानता के विषय में सुनता है, तब जैसे ज़मीन में गड़ जाता है। वह कहता है—"अभी तक आप की तरह कोई अंग्रेज़ी का विद्वान् मुझे भारत की महिमा सुनाने वाला न मिला और न मैंने पुराने ढंग के पण्डितों का ही विश्वास किया। मैं आपके सामने लज्जित हूँ।[३]" जापानी प्रोफ़ेसर नयनसेन से कहता है—"मालूम होता है कि आपकी पाठशालाओं में अंग्रेज़ी के सिवाय संस्कृति और धर्म की कुछ शिक्षा नहीं दी जाती है। यदि दी जाती तो आज मैं आपसे ऐसा उत्तर न पाता। हाय! हाय! उस शिक्षा की विपरीतता ने हमारे उस धर्म-मंदिर को ढहाने का प्रयत्न किया है, जिसके दर्शन के लिए हम हज़ारों कोस पर रहकर तरसा करते हैं। आप भारतवर्ष में जाकर लोगों को समझाइए।[४]"

इस प्रकार भारतीय तथा पाश्चात्य संस्कृति का द्वन्द्व चित्रित करना मेहताजी का प्रिय विषय रहा है। उनके 'आदर्श हिन्दू' (१९१५) 'आदर्श दम्पत्ति' (१९०४), 'हिन्दू गृहस्थ' (१९०५) आदि उपन्यासों में यदि सनातन हिन्दू धर्म की घोषणा मिलती है, तो 'स्वतन्त्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' में नारी स्वतन्त्रता की समस्या के माध्यम से पाश्चात्य प्रभावों में पली भारतीय नारी को भारतीय प्रभावों में पली नारी की तुलना में हेय और तुच्छ दिखाकर भारतीय आदर्शों की पुनर्प्रतिष्ठा का प्रयत्न भी लक्षित किया

---

१. 'आदर्श दम्पत्ति' : प्रथम संस्करण, १९०४, पृ० ५६

२. 'आदर्श दम्पत्ति' : प्रथम संस्करण, १९०४ पृ० ५६

३. 'आदर्श दम्पत्ति' : प्रथम संस्करण, १९०४, पृ० ६६

४. 'आदर्श दम्पत्ति' : प्रथम संस्करण, १९०४ पृ० ६६

जा सकता है। इसी प्रकार 'बिगड़े का सुधार' अर्थात् 'सती सुख देवी' (१९०६) में पाश्चात्य विचारों से प्रभावित पति तथा भारतीय संस्कारों में पत्नी-पति का संघर्ष दिखाकर अन्त में पत्नी की विजय के व्याज से भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता स्थापित की गई है। उपन्यास के नायक बनमाली बाबू का परिचय लेखक के ही शब्दों में सुनिए—"वह हिन्दी को गन्दी बतलाकर सदा दुत्कारा करते थे और संस्कृति जैसी मुर्दा भाषा की ओर कभी आँख उठाकर भी नहीं देखते थे। उन्हें दुनिया में यदि कुछ पसन्द था तो भाषा अंग्रेजी, भोजन अंग्रेजी, भाव अंग्रेजी और भेष अंग्रेजी।[1]" दूसरी ओर बनमाली बाबू की पत्नी—"हिन्दी पढ़ना-लिखना अच्छी तरह जानती थी और कुछ संस्कृत भी समझ लेती थी।[2]" फलतः दोनों में संघर्ष उत्पन्न होता है, लेकिन अन्ततः पराजित और पराभूत बनमाली बाबू कहते हैं—"हाँ प्यारी! बेशक आज मैं बिलकुल बदल गया हूँ। अब मैं मिस्टर फ़ारेस्ट गार्डनर नहीं हूँ। अब मैंने सब अंग्रेजी ढंगों को छोड़ा। अब मैं निरा हिन्दुस्तानी होकर रहूँगा।[3]" इस प्रकार बनमाली बाबू अपनी बात पूरी करते हैं और अपने पूर्व पापों के प्रायश्चित्त में तीर्थों की यात्रा भी करते हैं।

मेहताजी की ही भाँति पं० किशोरीलाल गोस्वामी (रचनाकाल १८६५-१९३१) भी प्राचीन भारतीय धर्म तथा संस्कृति के प्रति अपना अटूट आस्था व्यक्त करते हैं। मेहताजी की तरह वे भी राजभक्त हैं, लेकिन वे पाश्चात्य संस्कृति से अपना तनिक भी लगाव नहीं प्रदर्शित करते। बल्कि वे पाश्चात्य संस्कृति के हेय पक्षों की चर्चा करके अपने पाठकों में उसके प्रति घृणा का ही प्रचार करते हैं। उनकी सनातनधर्मी कट्टरता तो अंग्रेजी दवाइयों तक को भी अस्पृश्य समझती है। जमना की अन्तिम घड़ियों में उनका एक डाक्टर चरित्र यह आदेश देता है—"इसे केवल गंगाजल पान कराइए और 'स्पिरिट' मिली हुई अंग्रेजी दवा खिलाकर इसका अंत न बिगाड़िए।"[4] आगे चलकर इसी प्रवाह में गोस्वामीजी भारतीय संस्कृति तथा धर्म को विश्व में सर्वश्रेष्ठ घोषित करते हुए ऐसे व्यक्तियों को अंग्रेज-वीर्योत्पन्न कहते हैं जो उनकी श्रेष्ठता के सम्बन्ध में शंका उठाते हैं।[5]

बाबू ब्रजनन्दन सहाय (रचनाकाल १९१०-१९१६) भी भारतीय तथा पाश्चात्य संस्कृति के इस संघर्ष को अपने उपन्यासों में चित्रित करते हैं। उनका कहना है कि

---

१. 'गिबड़े का सुधार' : प्रथम संस्करण, १९०७, पृ० ६

२. 'बिगड़े का सुधार' : प्रथम संस्करण, १९०७, पृष्ठ ४५

३. 'बिगड़े का सुधार' : प्रथम संस्करण, १९०७, पृ० ५५

४. 'मालती माधव व मदनमोहनी' : प्रथम संस्करण, १९०९, भाग २, पृ० २०१

५. त्रिवेणी का सौभाग्य श्रेणी' : प्रथम संस्करण, १९०७, पृ० ३४

भारतीय धर्म और संस्कृति का मूल तत्त्व आध्यात्मिक है, जबकि पाश्चात्य संस्कृति का आधार भौतिकवाद है। इस संघर्ष में बाबू ब्रजनन्दन सहाय की स्थिति थोड़ी भिन्न है, वह भारतीय धर्म तथा संस्कृति की आध्यात्मिक भूमिका की श्रेष्ठता घोषित करते हुए भी पाश्चात्य भौतिकवाद को एकदम अस्वीकार नहीं करते। बल्कि कभी-कभी तो वे भारत की भावी सुख-समृद्धि के लिए दोनों के समन्वय की चर्चा तक भी करते हैं जो अधिक स्वस्थ दृष्टिकोण है, क्योंकि आज के वैज्ञानिक युग में एकांगी दृष्टिकोण व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता। महात्मा प्रेमानन्द मुकुन्द को उपदेश देते समय उसे देश की भौतिक सुख-समृद्धि के प्रति जागरूक रहने की भी सलाह देते हैं और धर्म को प्रमुखता देते हुए भी सांसारिक उन्नति का तिरस्कार नहीं करते।[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि अन्य उपन्यासकारों की भाँति बाबू ब्रजनन्दन सहाय की यह राष्ट्रीयता भी अतीत प्रेम से ही उत्पन्न हुई है। अंग्रेजों से वे भी क्षुब्ध लगते हैं, क्योंकि वे अपनी सभ्यता तथा संस्कृति के प्रचार द्वारा भारतवासियों को मानसिक रूप से गुलाम बनाने के लिए भारतीय इतिहास तथा संस्कृति को उनके सम्मुख गलत दृष्टिकोण के साथ रखते रहे हैं तथा उन्हें उसके वास्तविक स्वरूप से अपरिचित रखा है। ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति का यह पहलू ही लेखक में भारतीयता के प्रति प्रेम तथा राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करता है। फलतः लेखक उस एकांगी दृष्टिकोण का अपने उपन्यासों में पर्दाफ़ाश करने का प्रयास करता है। 'अरण्यबाला' (१९१५) का चुन्नीलाल नन्दकुमार से कहता है—'किन्तु बड़े-बड़े इतिहासों में भी एकांगी बातें लिखी हुई हैं। भला हिन्दुओं का, हिन्दू राजाओं का चित्रण कहाँ लिखा है। आजकल के इतिहासों को देखने से तो यही धारणा होती है कि हम लोगों को विद्या-बुद्धि कभी कुछ नहीं थी। कला-कौशल से हम लोग पूर्णरूप से अपरिचित थे। आदि ही से हम लोग असभ्य, दुर्बल जाति के हैं और विदेशियों ने हम लोगों को सब कुछ सिखाया-पढ़ाया। यदि विदेशियों से हम लोगों का संसर्ग नहीं होता तो आज दिन हम लोग जंगली ही रहते।'[2]

तात्पर्य यह कि इस युग के उपन्यासकारों ने, जहाँ तक अंग्रेजी शासन का प्रश्न है, भले ही उनकी सराहना की हो, लेकिन भारतीय तथा पाश्चात्य के संघर्ष में वे सदैव भारतीयता के ही पक्ष में अपना विचार प्रकट करते रहे। इन लेखकों ने आचार-विचार खान-पान, रहन-सहन आदि में पश्चिमी नकल को स्वीकार नहीं किया और

---

१. **'अरण्यबाला' : द्वितीय संस्करण, १९२१, पृ० ३२७**

२. **'अरण्यबाला' : द्वितीय संस्करण, १९२१, पृ० ६८**

सदैव ऐसे चरित्रों की सृष्टि करके उन्हें तद्विषयक अपने व्यंग्य का शिकार बनाया तथा स्वस्थ भारतीय प्राचीन गौरव की प्रतिष्ठा का प्रयास किया। यद्यपि इस सम्बन्ध में उनकी कुछ अपनी सीमाएँ भी थीं और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कारण था उनका सनातनी दृष्टिकोण जो उन्हें परम्परित हिन्दू धर्म के अंधविश्वासों में जकड़े हुए थे, जिससे पिण्ड छुड़ा पाना उनके लिए सम्भव नहीं था—संभव हुआ भी नहीं।

इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और ध्यान रखने की जो बात है, वह यह कि इस काल के लेखकों का दृष्टिकोण शुद्धत: नीतिवादी, शिक्षाप्रद, उपदेशात्मक तथा सनातनधर्मी दृष्टिकोण था। इस युग की रचनाओं का साहित्यिक महत्त्व इसीलिए उतना नहीं जितना कि धार्मिक तथा नैतिक है। इनके लेखक सुधारवादी उपदेशक हैं, जो प्राचीन धर्म तथा संस्कृति की मान्यताओं के आधार पर समाज का पुनर्निर्माण करना चाहते हैं। उपन्यासकारों की यह प्रवृत्ति जगह-जगह उनकी रचनाओं में सूक्तियों, उपदेशात्मक श्लोकों तथा कविताओं के संकलन में देखी जा सकती है। बहुधा इनके उपन्यासों में मूल कथा से हटकर धर्म तथा नीति की लम्बी चर्चाएँ समायोजित की गई हैं, जिनमें कहीं तो स्वयं लेखक ही एक लम्बा भाषण दे जाता है, तो कहीं कोई लेखक का आदर्श पात्र ही उपदेश कर जाता है। ये उपन्यासकार अपने पाठकों से यह उम्मीद भी रखते हैं कि उनके बताये हुए रास्ते पर चलें और उनके उपदेशों को स्वीकार करें। उनके उपन्यासों की कथावस्तु भी सुधारवादी होती है तथा उनके शीर्षकों का भी संकेत इसी ओर होता है। इस कथा-योजना में अंतत: सुधारवादी चरित्रों की विजय भी इसी-लिए दिखलाई जाती है, ताकि वे अपने उपर्युक्त मन्तव्य को प्रकट कर सकें। अत: इन कृतियों पर विचार करते समय यह तथ्य सामने रखना अत्यन्त आवश्यक है। वस्तुत: ये सारी कृतियाँ हिन्दी उपन्यास-साहित्य के आरम्भिक काल की उपज हैं, अत: इनमें रचना के प्रति आग्रह उतना नहीं, जितना धर्म, नैतिकता, समाज सुधार आदि के प्रति है। ये लेखक भी साहित्यकार से कहीं अधिक धार्मिक, नीतिवादी समाज सुधारक तथा पत्रकार थे अत: इनसे इससे अधिक साहित्यिकता की उम्मीद भी नहीं की जा सकती। लेकिन उस युग में भारतीय समाज में राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में जो उथल-पुथल चल रहा था उनमें से अपने सीमित दृष्टिकोण के अनुसार कुछ को स्पष्ट तरीके से इन उपन्यासकारों ने व्यक्त अवश्य किया है, और यही उनका महत्त्व भी है। उनके माध्यम से हम युग-विशेष के हिन्दी-लेखक वर्ग की मानसिक गतिविधियों से परिचित हो जाते हैं तथा उनका महत्त्व वह नैतिक सामाजिक दृष्टिकोण ही है जो सीमाओं से बँधा होने के कारण भले ही आज के आधुनिक पाठकों को आकर्षक न प्रतीत हो पाता हो लेकिन वह आगामी कृतियों के लिए विचारोत्तेजक पृष्ठभूमि का निर्माण अवश्य करता है।

लेकिन औपन्यासिक विकास के दूसरे चरण में यानी प्रेमचन्द-काल में भी भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति का यह द्वन्द्व ज्यों-का-त्यों बना रहा। विदेशी शासन, औद्योगिक सभ्यता तथा पाश्चात्य शिक्षा के फलस्वरूप भारतवर्ष में पाश्चात्य संस्कृति का प्रचार बढ़ता ही गया। दूसरी ओर नवीन चेतना से प्राचीन भारतीय गौरवमयी संस्कृति के प्रति आकर्षण तथा राष्ट्रीय भावना के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति का महत्त्व भी बढ़ता गया। अतः दोनों में संघर्ष की भूमि और अधिक मजबूत बनती गई।

कहने की आवश्यकता नहीं कि समाज, व्यक्ति तथा जीवन के सम्बन्ध में दोनों संस्कृतियों के मूल्य भिन्न-भिन्न थे। लेकिन पाश्चात्य संस्कृति के सामाजिक, राजनीतिक तथा भौतिक मूल्यों से भारतीय लेखकों का कोई विरोध नहीं था वे केवल सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति ही असहमत थे। क्योंकि उनके विचार में पाश्चात्य देशों ने बाह्य-जीवन यथा, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में भले ही प्रगति कर ली हो, लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से वे अभी भारत से पीछे ही रहे हैं। उनके अनुसार भारत के पास अपनी प्राचीन संस्कृति की गौरवमयी परम्परा है, जो किसी भी विदेशी संस्कृति से श्रेष्ठ है।

हिन्दी के ये उपन्यासकार पाश्चात्य संस्कृति पर भारती संस्कृति की श्रेष्ठता प्रमाणित करने का अथक प्रयास करते हैं और इसके लिए विशेष प्रकार की तकनीक ग्रहण करते हैं। उन्होंने दोनों संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल तथा महान पक्षों को उजागर किया है। इसके लिए उन्होंने नारी-विषयक आदर्श का सहारा लिया है, जो वस्तुतः संस्कृति की रीढ़ कहा जा सकता है। वस्तुतः भारतीय पुरुष वर्ग पाश्चात्य संस्कृति तथा सभ्यता के प्रभाव में स्त्रियों की अपेक्षा अधिक रहा और मानसिक रूप से भी पुरुषों पर पश्चिम की संस्कृति अधिक हावी रही जिसके कारण उसने अपना भारतीय जीवन-दृष्टिकोण खो दिया। लेकिन भारतीय स्त्रियों के साथ ऐसा प्रायः नहीं हुआ। स्त्रियाँ अभी भी भारतीय संस्कारों को ही अपना कर चल रही थीं। अतः भारतीय संस्कृति तथा संस्कारों की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए भारतीय स्त्रियों के अलावा और कोई चरित्र उपयुक्त नहीं हो सकता था। यही कारण है कि युगीन उपन्यासकारों ने स्त्रियों को ही इसका माध्यम बनाया। स्त्रियाँ यद्यपि पश्चिम की शिक्षा लेने लगी थीं लेकिन अपने रहन-सहन तथा वेशभूषा में वे भारतीय ही बनी रहीं। यही कारण है कि भारतीय स्त्रियों का सामाजिक जीवन तथा जीवन सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण बहुत कुछ प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर ही निर्मित था। अतः भारतीय प्राचीन संस्कृति का महत्त्व प्रतिपादित करने वाले उपन्यासकारों के लिए वही सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम बन सकती थीं।

और यही हुआ भी 'प्रसादजी' ने 'तितली' (१९३४) उपन्यास में भारतीय आदर्शों तथा संस्कृति से समन्वित तितली की गौरवमयी भूमिका प्रस्तुत की। 'तितली' के विपरीत लेखक ने शैला नामक अंग्रेज़ युवती को रखा जो हिन्दू धर्म में दीक्षित तथा इन्द्रदेव से विवाह कर लेने के बाद भी अपने संस्कारों में मूलतः पाश्चात्य संस्कृति से सम्पन्न नारी ही बनी रही। शैला कर्मठ है, स्वावलम्बी भी है, लेकिन निःस्वार्थ-साधन की प्रवृत्ति उसमें नहीं है। इन्द्रदेव से कुछ दिनों के लिए अलग रहने पर वाट्सन के प्रति आकर्षित हो जाती है। उसका प्रेम एक तरह का समझौता है, जिसमें निःस्वार्थ-साधन के लिए कोई स्थान नहीं। शैला की मानसिक अशान्ति को दूर करने के लिए तितली उसे हिन्दू संस्कृति के संदर्भ में हिन्दू नारी के मूल संस्कारों तथा आदर्शों को समझाती है—'तुम धर्म के बाहरी आवरण से अपने को ढक कर हिन्दू स्त्री बन गई हो सही, किन्तु उसकी संस्कृति की मूल शिक्षा भूल रही हो। हिन्दू स्त्री का श्रद्धापूर्ण समर्पण उसकी साधना का प्राण है। इस मानसिक परिवर्तन को स्वीकार करो।'[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह मानसिक परिवर्तन सम्भव तभी है, जब शैला भारतीय संस्कृति को आत्मसात् कर ले। केवल धर्म में दीक्षित हो जाने से व्यक्तित्व के संस्कार नहीं बदल जाते, उसके लिए संस्कृति को आत्मसात् करना नितांत आवश्यक है। भारतीय संस्कृति में पली तितली तथा पाश्चात्य संस्कृति में पली शैला दोनों का चरित्र विश्लेषण करते हुए 'प्रसादजी' लिखते हैं—'तितली वास्तव में महीयसी है, गरिमामयी है। शैला ! वह अपने लिए सब कुछ कर लेगी किन्तु स्त्री का दूसरा पक्ष पति ! उसके न रहने पर भी उसकी भावना को पूरी करते रहना शैला से न हो सकेगा। वह अपने पैरों खड़ी हो सकती है, किन्तु दूसरों को अवलम्ब नहीं दे सकती।'[2] तितली लेखक के आदर्श विचारों के अनुसार एक तरफ़ तो पति का दायित्व निष्काम भाव से सँभालती है और दूसरी तरफ़ अनाथों का एक संयुक्त परिवार भी बनाती है। लेखक यहाँ यह स्पष्ट करना चाहता है कि पश्चिमी संस्कृति जहाँ व्यक्तिपरक है, वहाँ भारतीय संस्कृति समाजपरक, इसीलिए पश्चिम में अपने हित-अहित का ध्यान पहले रखा जाता है, जबकि भारत में सामूहिक कल्याण का ध्यान। पाश्चात्य संस्कृति में व्यक्ति अन्ततः अपने वैयक्तिक स्वार्थों के लिए संघर्ष करता है, लेकिन भारतीय संस्कृति में व्यक्ति निःस्वार्थ भाव से परोपकार के लिए साधना करता है।

एक बात इस सम्बन्ध में और महत्त्वपूर्ण है वह यह कि हिन्दू धर्म तथा हिन्दू संस्कृति का अन्तर समझ लिया जाय क्योंकि दोनों एक नहीं हैं, यद्यपि कभी-कभी लोग

---

१. 'तितली' : चौथा संस्करण, १९५५, पृ० २६७

२. 'तितली' : चौथा संस्करण, १९५५, पृ० २५७

इन्हें पर्यायवाची स्थितियों में प्रयोग कर देते हैं। वस्तुतः हिन्दू धर्म मूलतः अध्यात्मवाद पर आधारित है, जो व्यक्ति के सम्मुख योग साधना तथा मोक्ष प्राप्ति का आदर्श उपस्थित करता है। यह अन्ततः व्यक्तिपरक धार्मिक दृष्टिकोण ही है, लेकिन जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं हिन्दू संस्कृति का स्वरूप मूलतः सामूहिक लोक-कल्याण की भावना तथा सभी के हित-साधन की प्रवृत्ति लिए हुए है। हिन्दू धर्म तथा हिन्दू संस्कृति का यह मौलिक अन्तर इस सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसकी उपेक्षा करने पर विषय को उचित परिप्रेक्ष्य में समझ पाना कम मुश्किल नहीं।

लेकिन विवेच्ययुगीन उपन्यासकरों में इस अन्तर की पहचान भली भाँति है। युगीन उपन्यासकारों में 'प्रसाद' का उल्लेख हम कर चुके हैं, इसके अतिरिक्त 'निराला' (१९३० के आस-पास रचना काल) पाश्चात्य संस्कृति के पुजारी तेजनारायण तथा यामिनी बाबू पर कठोर व्यंग्य करते हैं। 'निरुपमा' (१९३६) उपन्यास के ये दोनों चरित्र खलनायक के रूप में चित्रित हैं। लेकिन उपन्यास की नारी पात्र अलका तथा निरुपमा, जो शिक्षित हैं, लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय संस्कारों में पली बढ़ी हैं, तेजनारायण तथा यामिनी बाबू को ठुकरा कर प्रभाकर तथा डॉ० कुमार का वरण करती हैं। इस उपन्यास के विभिन्न पात्र विभिन्न सांस्कृतिक दृष्टिकोण के प्रतीक बन गए हैं। यह 'निरालाजी' की औपन्यासिक कला की विशिष्टता है कि उनके चरित्र विभिन्न संस्कृतियों के भाव रूप बनकर चित्रित हुए हैं। लेखक सामाजिक तथा राजनीतिक स्थूल धरातल पर अधिक केन्द्रित नहीं हुआ है, बल्कि उसकी चेतना सूक्ष्म यथार्थ की गहराई में पहुँचकर मूल्यों तथा जीवन-दृष्टिकोणों के अनुचिंतन को उद्घाटित करती है। अलका तथा निरुपमा के सम्मुख दो भिन्न संस्कृतियों के प्रेमी पात्र आते हैं, लेकिन पाश्चात्य संस्कृतियों के चरित्रों के प्रति वे अपनी वितृष्णा ही व्यक्त करती हैं और अंततः भारतीय संस्कारों वाले पात्रों का ही चुनाव करती हैं। इस दृष्टि से प्रभाकर तथा डॉ० कुमार का यह चुनाव भारतीय संस्कृति का ही चुनाव है जिसके माध्यम से निरालाजी पश्चिम के सम्मुख भारत को उपस्थित करके उसे महान तथा गौरव सम्पन्न घोषित करते हैं।

प्रेमचन्द ने भी 'गोदान' (१९३६) में अंततः मालती मेहता का सम्बन्ध कराकर यही कहना चाहा है। मालती का 'तितली' रूप जब तक कायम है तब तक मेहता उसे नहीं अपना पाते, क्योंकि मेहता अपनी तमाम आधुनिकता के बावजूद स्त्रियों के विषय में परम्परावादी विचारधारा ही रखते हैं। लेकिन जब मालती का भारतीय-स्त्रीत्व उभर कर सामने आता है, सेवा और त्याग की प्रतिमूर्ति के रूप में जब उसका रूप निखरता है, तो मेहता उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर देते हैं और जो मेहता कभी समझते थे कि किसी स्त्री को वे प्रसन्न नहीं रख सकेंगे, मालती उन्हीं को पाकर फूली नहीं समाती।

इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति की स्थापना के उद्देश्य से अलौकिक कथानकों तथा चरित्रों की भी सृष्टि की गई है। लोगों में एक सामान्य धारणा सी रही है कि भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक तथा योग-प्रधान है। अत: उसके स्वरूप को उद्घाटित करने के उद्देश्य से अलौकिक चरित्रों की सृष्टि अनिवार्य है। लेकिन कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे चरित्रों की सृष्टि से चमत्कार तथा विस्मय भले उत्पन्न कर लिया जाय, सांस्कृतिक विवेचन की दृष्टि से तथा औपन्यासिक कला की दृष्टि से ऐसी योजनाओं का कोई महत्त्व नहीं। इसीलिए 'सेवासदन' में गजाधर का परिवर्तन साधु के रूप में कराया गया है जो अलौकिक परिवर्तन है, लेकिन प्रभावशाली बिलकुल नहीं हुआ है। 'प्रेमाश्रम' के राय कमलानन्द पाश्चात्य संस्कृति के घोर विरोधी तथा वाममार्गी हैं तथा उनमें योग-साधना की अलौकिक शक्ति है, जो विष को भी पचा सकती है, लेकिन विश्वसनीय चरित्र वे अंत तक नहीं बन पाते और न ही पाठकों पर वे कोई स्थायी प्रभाव ही छोड़ पाते हैं।

इसी प्रकार 'उग्रजी' 'सरकार तुम्हारी आंखों में' (१९३७) में दीपक राग से अग्नि प्रज्ज्वलित होना दिखाते हैं, जिसमें उस्ताद गुलाब खाँ तथा फ़िरोजी भस्म हो जाते हैं। लेखक कला के रूप में भारतीय संगीत कला की क्षमता तथा उसकी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए यह सब अलौकिक हथकण्डे इस्तेमाल करता है।' 'मनुष्यानन्द' (१९५५ के आस पास) उपन्यास में 'उग्रजी' एक ऐसे ही अलौकिक पात्र की सृष्टि करते हैं, जो अघोड़ी बाबा के नाम से विख्यात है तथा अछूतोद्धार आन्दोलन का नेतृत्व करता है। यद्यपि उसका यह नेतृत्व लौकिक तथा स्वच्छ सामाजिक धरातल पर सम्पन्न होता है, लेकिन लेखक ने सदैव उसे अलौकिक बनाये रखने का ही प्रयास किया है। 'उग्रजी' भारतीय संस्कृति को सात्विक, योग-प्रधान तथा श्रेष्ठ समझते हैं तथा इसकी तुलना में पाश्चात्य संस्कृति को तामसिक, भौतिक-प्रधान तथा हेय बताते हैं। वे कहते हैं—'पश्चिम में चाहे साइंस का विकास क्यों न हो, पर इस तरह के साधु उधर हैं ही नहीं—शायद हो ही नहीं सकते उस तामसी वातावरण में।'[1] स्पष्ट है कि लेखक पश्चिमी संस्कृति की तुलना में भारतीय संस्कृति को अधिक गौरवशाली समझता है।

औद्योगिक सभ्यता : दो सांस्कृतिक वर्ग

यद्यपि पाश्चात्य सभ्यता को ही औद्योगिक सभ्यता के रूप में जाना-समझा जाता है, लेकिन वस्तुतः दोनों दो भिन्न स्थितियाँ रखती हैं। इन्हें एक समझे जाने के

---

१. **'मनुष्यानन्द' : दूसरा संस्करण, १९५५, पृ० २०७**

पीछे कुछ ऐतिहासिक कारण रहे हैं। बात यह है कि औद्योगिक व्यवस्था का प्रादुर्भाव तथा विकास पश्चिमी देशों में ही सबसे पहले हुआ तथा भारत में उसका आगमन पश्चिमी सभ्यता के साथ ही हुआ। अतः लोगों में यह भ्रम उत्पन्न हो गया कि औद्योगिक सभ्यता पश्चिमी संस्कृति तथा सभ्यता की वस्तु है और अंग्रेजी सरकार उसका प्रचार करना चाहती है। जबकि अब यह तथ्य स्पष्ट हो चुका है कि अंग्रेज़ों ने कभी-भी इस बात का प्रयत्न नहीं किया कि भारत को औद्योगिक देश बनाया जाय। बल्कि वह इसमें बाधक ही रहे और भारत को औपनिवेशिक बाज़ार के रूप में ही काफ़ी दिनों तक बनाए रखा। इसके लिए हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने प्रयत्न भी किया कि आर्थिक तथा राजनीतिक धरातल पर औद्योगिक व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया जाय लेकिन सरकार ने ऐसा कुछ भी होने नहीं दिया। वह पाश्चात्य शिक्षा तथा पाश्चात्य संस्कृति और ईसाई धर्म को प्रोत्साहन तथा संरक्षण देने में ही लगी रही और उसने भारत के लिए औद्योगिक सभ्यता का विरोध ही किया। जबकि भारतीय राष्ट्रीय नेतृत्व प्राचीन भारतीय संस्कृति का समर्थन करता हुआ भी भारत के लिए औद्योगिक सभ्यता की आवश्यकता अनुभव कर रहा था। इस तनाव तथा दोनों देशों के दृष्टिकोणों में इस अन्तर से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि सभ्यता और संस्कृति दोनों एकदम से एक नहीं कहला सकते, उनके तत्त्वों में कुछ भिन्नता अवश्य होती है। हाँ यह अवश्य मानना होगा कि उनमें परस्पर संबंध अविच्छिन्न होता है तथा एक-दूसरे को बिलकुल अलग नहीं किया जा सकता।

आज दुनिया के अनेक देशों में औद्योगिक सभ्यता की स्थापना हो चुकी है, लेकिन उनकी संस्कृति भिन्न-भिन्न ही है। तात्पर्य यह कि सभ्यता एकरूपता की ओर अग्रसर होती है, लेकिन संस्कृति का विकास विभिन्नता उत्पन्न करता है। यह भी कहा जा सकता है कि सभ्यता युग की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था से सम्बद्ध तथा उसके अनुसार परिवर्तित होती रहती है, लेकिन संस्कृति धर्म, कला, साहित्य, विचार-प्रक्रिया तथा जीवन-दर्शन से सम्बन्धित तथा उनके द्वारा निर्धारित। इस प्रकार समान आर्थिक व्यवस्था वाले देशों में सभ्यता का रूप समान हो सकता है—प्राय: होता भी है, लेकिन संस्कृति प्रत्येक की अलग-अलग ही होगी अगर उनके धर्म, उनके संस्कार तथा उनकी विचार-परम्परा अलग-अलग है तो। यहाँ हम इस विषय का विस्तार केवल सभ्यता तथा संस्कृति के तात्त्विक अन्तर तथा उसके निर्धारक तत्त्वों के अलगाव को स्पष्ट करने के लिए दे रहे हैं।

आधुनिक औद्योगिक सभ्यता स्वयं अपने देश की नवीन आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों की उपज थी, लेकिन फिर भी कुछ विदेशी विचारक उसे विदेशी ही मानते रहे। इसीलिए प्रारम्भ में अंग्रेजी शासन तथा अंग्रेजों के प्रति

जो व्यापक घृणा थी, उसके कारण औद्योगिक सभ्यता का भी तिरष्कार किया गया। राष्ट्रीय रंगमंच पर महात्मा गांधी तथा हिन्दी उपन्यास-साहित्य में प्रेमचन्द औद्योगिक व्यवस्था तथा सभ्यता का विरोध करते हैं। लेकिन दोनों के विचारों में अन्तर यह है कि गांधीजी औद्योगिक व्यवस्था का विरोध करते हैं, क्योंकि वह आर्थिक शक्तियों का विकेन्द्रीयकरण चाहते हैं, जिसके लिए वह गृह उद्योग का समाधान रखते हैं। उन्हें आर्थिक शक्तियों का केन्द्रीयकरण पसन्द नहीं है। लेकिन प्रेमचन्द सभ्यता के स्तर पर उसका विरोध करते हैं, क्योंकि उन्हें ग्रामीण संस्कृति तथा ग्रामीण सभ्यता पसन्द है। वे इसीलिए औद्योगिक सभ्यता से उत्पन्न शहरी संस्कृति से नफ़रत करते हैं। 'रंगभूमि' में मिस्टर जान सेवक की फैक्ट्री की स्थापना के बाद गाँव की सभ्यता में जो परिवर्तन होता है, उसके एक-एक रेशे को प्रेमचन्द बड़े मनोयोग से उपस्थित करते हैं और नवीन औद्योगिक सभ्यता तथा संस्कृति को सहानुभूति नहीं दे पाते।

प्राचीनकाल में भारत की आर्थिक व्यवस्था का मुख्य आधार था कृषि-कर्म। अतः उस समय ग्राम ही सांस्कृतिक दृष्टि से एक इकाई माना जाता था। लेकिन औद्योगिक सभ्यता ने सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में शहरों को प्रतिष्ठित कर दिया। इस प्रकार औद्योगिक सभ्यता के प्रादुर्भाव के कारण दो सांस्कृतिक वर्गों की स्थापना हुई—ग्राम सांस्कृतिक वर्ग और शहरी सांस्कृतिक वर्ग। दोनों में संघर्ष की स्थिति को उपन्यास-कारों ने चित्रित किया, जिसमें प्रेमचन्द-काल के अधिकांश लेखकों ने ग्राम संस्कृति का ही पक्ष समर्थन किया। प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' तथा 'रंगभूमि' में ग्राम-संस्कृति की रक्षा के प्रयत्न आसानी से लक्षित किये जा सकते हैं। लेकिन आगे तीसरे चरण के उपन्यास-कारों में औद्योगिक सभ्यता तथा फलतः शहरी संस्कृति का समर्थन मिलता है, जो उनकी प्रगतिशील सांस्कृतिक चेतना का सबूत पेश करता है।

वस्तुतः भारतीय तथा पाश्चात्य संस्कृति के संघर्षकाल में दोनों संस्कृतियों के सक्रिय तथा प्रगतिशील तत्त्वों को लेकर किसी संतुलित दृष्टिकोण का निर्माण नहीं हो पाया। बल्कि दोनों समर्थक अतिवादी विचार-दृष्टि के शिकार बने रहे। चूँकि पाश्चात्य तथा भारतीय संस्कृति में क्रमशः शासक तथा शासित का सम्बन्ध था, इसलिए इनमें परस्पर शत्रुता और बढ़ती ही गई। इस घटना के दो ठोस परिणाम उभर कर सामने आये—एक तो यह कि शासक जाति की संस्कृति का अन्धानुकरण होना प्रारम्भ हो गया और दूसरा यह कि पाश्चात्य संस्कृति के प्रति शत्रुता का भाव अपना लिए जाने के कारण उसके प्रति न केवल निषेधात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया बल्कि भार-तीय सम-सामयिकता को भी छोड़कर प्राचीनता की ओर जाने की प्रवृत्ति विकसित की गई। दोनों ही परिणाम अतिवादी विचारधारा से उत्पन्न हुए थे तथा उसमें स्वस्थता तथा सन्तुलन का अभाव था। हिन्दी के उपन्यासकार भी इन्हीं मतवादों के शिकार

हुए और उन्होंने भी अपनी औपन्यासिक चरित्र-सृष्टियों के माध्यम से इन्हीं दोनों अतिवादी विचारधाराओं को उद्घाटित किया। उपन्यासकारों ने इसके लिए अधिकतर नारी चरित्रों का ही उपयोग किया, क्योंकि वही संस्कृति की प्रतीक बन सकने की सर्वाधिक योग्यता रखती थीं। प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' में रानी जाह्नवी और मिसेज़ जानसेवक के माध्यम से इसकी अभिव्यक्ति की।

राष्ट्रीय एकता तथा सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से कहना नहीं होगा कि दोनों ही उपर्युक्त अतिवादी दृष्टिकोण वांछनीय नहीं थे। यही कारण है कि बाद को सांस्कृतिक अन्तर्विरोध की स्थिति भारत में उत्पन्न हुई और सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों के संघर्ष में देश ने घुटन का अनुभव किया। ऐसा लगा कि अचानक आज की इस ऐतिहासिक परिधि में पहुँचकर देश की संस्कृति तथा उसके जीवन मूल्य बिखर गए हैं और अचानक हम सांस्कृतिक अराजकता की स्थिति में पहुँच गए हैं। वस्तुतः सांस्कृतिक दृष्टि से आज जो संक्रमण दिखलाई पड़ रहा है तथा सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन की बात जो उठाई जा रही है, उसका असली संदर्भ यही है।

लेकिन आगे चलकर संस्कृति को प्रभावित करने वाले तत्त्वों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं बौद्धिक उन्मेष तथा राष्ट्रीय भावनाओं का उदय—इन सब का बहुत अधिक स्थान रहा। बीसवीं शताब्दी का सांस्कृतिक विकास राष्ट्रीय विचारों से ही प्रभावित रहा। अपनी संस्कृति के प्रति सम्मान की भावना राष्ट्रीयता की देन होती है। एक पराधीन देश में राष्ट्रीय भावना का प्रधान कर्त्तव्य होता है। प्राचीन संस्कृति को प्रकाश में लाना तथा लोगों में आत्मविश्वास कायम करना। पराधीन देश में राष्ट्रीय भावना सामाजिक चेतना तथा संस्कृति के बीच की कड़ी होती है, क्योंकि उसका उद्देश्य होता है, राष्ट्र, समाज तथा संस्कृति आदि को एक साथ सम्बन्धित करना। अतः भारत की विभिन्न जातियों, धर्मों, प्रदेशों आदि की वैचारिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक एकता स्थापित करने में यह राष्ट्रीयता अभूतपूर्व सहायक सिद्ध हुई है। इसके अतिरिक्त आधुनिक भारतीय संस्कृति के उपकरणों में विज्ञान का भी महत्त्व कम नहीं है। विज्ञान ने न केवल भौतिक सभ्यता के उपकरणों का ही निर्माण किया है, वरन् उसने चिन्तन-पद्धति का मूल आधार ही बदल दिया है। मध्ययुगीन विचारों का आधार था परम्परित विश्वास अतः धर्म ही जीवन-दर्शन का निर्माता था, लेकिन वैज्ञानिक चिन्तन का आधार है तर्क एवं बुद्धि तथा उसका सिद्धान्त है कार्यकारण सम्बन्ध का सिद्धान्त। अतः इस आधार पर उन्हीं विचारों को स्वीकार किया जा सकता है, जो बुद्धिग्राह्य तथा तार्किक संगति रखते हों। यह वैज्ञानिक चिन्तन-पद्धति मानवतावाद की ओर स्वाभाविक रूप से उन्मुख रही है। हाँ यह बात अलग है कि अब युद्धों में वैज्ञानिक हथियार भी इस्तेमाल किए जाने लगे हैं जिससे उसके मानवतावादी होने का दावा

अब बहुत वैज्ञानिक तथ्य नहीं रह गया है।

इसके अतिरिक्त औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था ने भी आधुनिक संस्कृति के निर्माण में सहयोग दिया, जिसमें प्रतिनिधि रूप से पूँजीपति वर्ग ने अपनी भूमिका निभाई। पूँजीपति वर्ग ने विज्ञान को प्रश्रय दिया तथा अपनी उत्पादित वस्तुओं को उचित बाजार देने के लिए देश को आजाद करने का भी प्रयत्न किया। पूँजीपति वर्ग तथा पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था का मूल आधार है वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार अतः उसने व्यक्ति के अधिकारों का समर्थन तथा जनतंत्रीय विचारों को प्रोत्साहित किया। इस महत्त्वपूर्ण भूमिका के कारण यह स्वाभाविक था कि समाज में इस वर्ग का प्रभुत्व बढ़ जाय और यही हुआ भी पूँजीपति वर्ग धीरे-धीरे सभी क्षेत्रों में एकाधिकार प्राप्त करता गया जिससे सांस्कृतिक क्षेत्र में एक गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई। अन्य उद्योगों के साथ ही प्रेस पर भी उसका नियंत्रण हो गया, जिससे समाज के मानसिक विकास को भी उसने नियन्त्रित कर लिया। पूँजीवादी व्यवस्था की यह अधिकार लोलुपता बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो चुकी है, जिसके विषय में इतिहास के सभी प्रबुद्ध पाठक भलीभाँति जानते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था का सबसे प्रखर रूप आर्थिक शोषण के संदर्भ में उभर कर सामने आया। जिसकी अभिव्यक्ति हिन्दी उपन्यास-साहित्य में खुलकर हुई जिनपर हम राजनीतिक चेतना पर विचार करते हुए पिछले अध्याय में विचार कर चुके हैं।

अभिजात्य वर्ग की संस्कृति

आधुनिक काल में विभिन्न वर्गों को लेकर सांस्कृतिक चेतना का विकास स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। पश्चिमी संस्कृति, पूर्वी संस्कृति तथा ग्रामीण संस्कृति तथा नागरिक संस्कृति आदि अनेक वर्गीकरण करके संस्कृति का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। साथ ही विभिन्न वर्गों में तुलनात्मक शैली भी अपनाई गई है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक युग की कुछ अपनी समस्याएँ होती हैं, जिनके आधार पर उस युग की संस्कृति का विश्लेषण किया जा सकता है। मध्यकालीन संस्कृति के विश्लेषण के लिए धर्म एक ऐसा ही आधार है। आधुनिक युग के प्रारम्भ की भारतीय संस्कृति के विश्लेषण के लिए पाश्चात्य तथा भारतीय संस्कृति के अन्तर्द्वन्द्व को आसानी से आधार बनाया जा सकता है, क्योंकि यह काल इन दोनों संस्कृतियों का संघर्ष-काल रहा है। इसी प्रकार यदि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक तीस-चालीस वर्षों का सांस्कृतिक विवेचन करना चाहें तो हमें ग्राम तथा शहर की संस्कृति के विभाजन को अपना आधार बनाना पड़ेगा, क्योंकि औद्योगीकरण के विकास के कारण नगरों का स्वरूप

बहुत कुछ बदल गया है। वस्तुतः यह काल कृषि-व्यवस्था और औद्योगिक व्यवस्था का संघर्षकाल रहा है।

यों तो इस युग में राष्ट्रीय विचारधारा का भी काफ़ी बोलबाला रहा तथा वह भी एक प्रतिनिधि विचार-दर्शन के रूप में स्थापित हुई, जिसका चरम विस्फोट सन् ४२ के आन्दोलन में हुआ तथा जिसके अध्ययन के लिए राष्ट्रीय संस्कृति को ही आधार बनाया जा सकता है, लेकिन पिछले बीस-पच्चीस वर्षों को एक साथ जोड़कर देखा जाय तो उसके लिए सामाजिक वर्गों को ही आधार बनाना अधिक उपयुक्त होगा। सामाजिक वर्गों के आधार पर संस्कृति का वर्गीकरण किया जाय तो दो भिन्न सांस्कृतिक इकाइयाँ सामने आती हैं—पहला अभिजात्य वर्ग जिसमें उच्च तथा मध्यम वर्ग आते हैं और दूसरा सामान्य विशाल जनता का समूह, जिसे जन संस्कृति कहा जा सकता है।

द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका से आर्थिक कटुता का जन्म हुआ, फलतः बंगाल के अकाल में जमींदारों तथा पूँजीपति वर्ग ने खुलकर चोरबाजारी में हिस्सा बटाया। साथ ही भारत में शिक्षित तथा अशिक्षित लोगों में एक लम्बी कतार बेकार लोगों की भी रही। अतः मध्यम वर्ग आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त संकट की स्थित से गुजर रहा था, क्योंकि देश की सारी सम्पत्ति कुछ मुट्ठी भर पूँजीपतियों के हाथ में केन्द्रित हो गई थी अतः वर्ग संघर्ष प्रारम्भ हुआ और सामाजिक चिंतकों तथा आर्थिक विश्लेषकों का ध्यान भी इस ओर गया। इस प्रकार के अध्ययन-विश्लेषण से जो निष्कर्ष प्राप्त हुआ उसका सारांश यही था कि विभिन्न वर्गों की अपनी-अपनी संस्कृति होती है और चूँकि उनका रहन-सहन, उनकी समस्याएँ, उनका सांस्कृतिक स्तर तथा उनकी रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं अतः जीवन के सम्बन्ध में भी उनका दृष्टिकोण अलग-अलग ही होता है। हिन्दी के नवीन उपन्यासकारों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया और वर्गीय संस्कृति के तत्त्वों का चित्रण किया।

इस तीसरे चरण के उपन्यासों में अधिकतर अभिजात्यवर्ग का चित्रण हुआ है। इस युग के उपन्यासों में लगभग नब्बे पंचानबे प्रतिशत चरित्र इसी वर्ग से लिए गए हैं लेकिन सभी चरित्रों में कामजनित पीड़ा की ही प्रधानता है। काम ही उनकी प्रमुख समस्या है। इनमें अधिकतर चरित्र देश तथा समाज के किसी कार्यक्रम में भाग नहीं लेते और जो थोड़े से लोग राजनीति में दिलचस्पी लेते हैं तथा कुछ कार्यक्रमों में भाग लेते हैं, वह भी अपनी कामजनित पीड़ा को शान्त करने के उद्देश्य से ही। दूसरी बात यह भी स्मरणीय है कि ये चरित्र अपना स्वस्थ पारिवारिक जीवन भी नहीं निर्वाह करते, उनमें निरन्तर एक अनिर्णय तथा भटकाव की स्थिति द्रष्टव्य है। वस्तुतः तटस्थ रूप से इन उपन्यासकारों ने इस वर्ग की सांस्कृतिक रुचि का विवेचन प्रायः नहीं किया जब कि आवश्यकता इसी की सबसे अधिक थी। फिर कुछ उपन्यासकार ऐसे अवश्य रहे हैं,

जिन्होंने इस वर्ग के चित्रण में बहुत कुछ तटस्थता बरतने की कोशिश की है, जिनमें रांगेय राघव (१६४० के आस पास) वृन्दावनलाल वर्मा (१६२५ के आस पास) तथा अमृतलाल नागर (१६०० के आस-पास) के नाम उल्लेखनीय हैं। अन्य उपन्यासकारों की तरह न तो ये कुण्ठाग्रस्त हैं और न अभिजात्य वर्ग की संस्कृति का चित्रण ही उनका मुख्य उद्देश्य है। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने इस सम्बन्ध में पर्याप्त तटस्थता का उदाहरण उपस्थित किया है।

'घरौंदे' (१६४६) उपन्यास में रांगेय राघव कालेज के मुक्त वातावरण को ही विषयवस्तु बनाते हैं, जहाँ अभिजात्य वर्ग शिक्षा के उद्देश्य से न जाकर फ़ैशन तथा पाश्चात्य सदाचार सीखने जाता है। भगवतीप्रसाद तथा रहमान को छोड़कर इस उपन्यास के छात्र एवं छात्राएँ सभी अभिजात्यवर्ग की हैं। भगवतीप्रसाद कर्मठ तथा अध्यवसायी छात्र है, यद्यपि वह निम्नवर्ग से आया है तथा जमींदार की सहायता और माँ के परिश्रम की कमाई पढ़ रहा है। रहमान भी राजनीतिक सेवा का व्रती चरित्र है। लेकिन उपन्यास के अन्य सभी चरित्र हेय और तुच्छ ज़िन्दगी जीते हैं, यद्यपि वे सब ऐसे वर्ग के हैं जिनके पास सभी तरह के आर्थिक साधन मौजूद हैं। कार, बँगला, बैरा, खानसामा आदि के वातावरण में रहने वाले ये चरित्र केवल स्वच्छन्द प्रेम की लिप्सा लेकर ही कालेज में प्रवेश करते हैं। ये सभी युवक तथा युवतियाँ काम-कुण्ठित हैं तथा स्वच्छन्द काम-तृप्ति का मार्ग ढूंडती हैं। भारतीय संस्कृति से अनभिज्ञ इन पात्रों के सम्मुख पाश्चात्य संस्कृति के बाह्य पक्षों की नकल करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। बचपन से ही इनकी शिक्षा अंग्रेजी स्कूलों में हुई है तथा ये अपने प्राचीन इतिहास, साहित्य, संस्कृति तथा धर्म से परिचित नहीं हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति का महत्त्व वे इसलिए समझते हैं, क्योंकि यूरोपीय विद्वानों ने भी इसका महत्त्व स्वीकार किया है। उनका राष्ट्रीय प्रेम भी इसलिए है, क्योंकि तमाम अंग्रेज़ियत के बावजूद अंग्रेज उन्हें अपने वर्ग में शामिल नहीं करते। वे देश की आज़ादी के पक्ष में इसलिए हैं कि अंग्रेज़ों के चले जाने पर स्वच्छन्दतापूर्वक उन्हीं की तरह वे भी बाल-रूमों में नृत्य कर सकें। उपन्यास में ऐसे लोगों के विषय में लेखक लिखता है—'वे अधिकांश गोरी थीं, उनका बदन गदबदा था और उस अंग्रेज़ियत में भारतीय के दो-तीन लक्षण उनमें यह थे—अंग्रेज़ी और हिन्दी की खिचड़ी बोलना, हाथों में सोने के गहने पहनना, माथे पर लाल बिन्दी लगाना और साड़ी पहनना।'[१] इनके अलावे भारतीयता का कोई और लक्षण उनमें नहीं है। उनका जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण, सांस्कृतिक रुचि तथा आचार-विचार सभी यूरोपीय हैं।

---

१. 'घरौंदे' : प्रथम संस्करण, १६४६, पृ० २२१-२२२

लेकिन इन चरित्रों में यूरोपीय चरित्रों की दृढ़ता नहीं दिखाई पड़ती, केवल पुरुष-उपकरणों तक ही इनकी पहुँच है।

लेखक इस वर्ग की राष्ट्रीयता तथा जीवन-दर्शन का स्पष्टीकरण करता हुआ कहता है—'साम्राज्यवाद को यह बुरा समझती हैं, मगर रेडक्रास के फंड के लिए नाच-गा सकती हैं, चाहे वह साम्राज्यवादी युद्ध के लिए ही चन्दा क्यों न हो रहा हो। समाजवाद भी ठीक है, मगर अपनी गरीबी नहीं। पार्टियों में इश्क भी लड़ाती हैं और सतीत्व का पर्दा भी इन पर पड़ा रहता है। यह हिन्दुस्तान का अजीब वर्ग था, जहाँ स्त्री न पूर्व की थी, न पश्चिम की जहाँ आज़ादी और गुलामी का ऐसा विचित्र संयोग हुआ था कि न कोई आगे जाने की राह थी और न पीछे हटने की ही। अपने भीतर ही ऐसी कशमकश थी कि निरुद्देश्य दिन-पर-दिन समय का कुछ पुरानी रूढ़ियों में कट जाना आवश्यक सा था।'[1]

पाश्चात्य संस्कृति का यह अंधानुकरण एक प्रकार से नई रूढ़ियों की स्थापना कर रहा था। दूसरी तरफ़ यह वर्ग परम्परागत भारतीय समाज की रूढ़ियों को एकदम छोड़ भी नहीं पा रहा था, क्योंकि साधन-सम्पन्न परिवार से अलग रहने का साहस लोगों में नहीं था। दूसरी ओर अन्य वर्गों के प्रति इस वर्ग में घृणा की मात्रा भी अधिक थी। निम्नवर्ग को तो यह वर्ग जन्मजात अपना नौकर समझता था, जबकि भारतीय सामाजिक स्थितियों में काफ़ी परिवर्तन आ गया था। 'घरौंदे' उपन्यास की लवंगलता जब भगवतीप्रसाद के ज़मींदार की बहू बन जाती है तब यह नहीं चाहती कि भगवती-प्रसाद उसकी सहेली इन्दिरा से प्रेम करे। उसे इसमें अपना अपमान महसूस होता है। इस अपने अभिजातीय अहं की तुष्टि के लिए लीला तथा लवंग षड्यन्त्र रचती हैं। वह धन एवं नौकरी के माध्यम से भगवतीप्रसाद को नतमस्तक देखना चाहती हैं, इसलिए उन्हें मैनेजर बनाकर लवंग के नौकर के रूप में पेश किया जाता है। इस अभिजात्य वर्ग के पास आर्थिक साधन तो है ही कि जिसको चाहे नौकर रख ले। अतः वह निम्न वर्ग के प्रति शासक का भाव रखता है। लवंग भगवतीप्रसाद से कहती है—'तुमने अपने मालिक के दोस्तों से नौकर की तरह पेश न आकर बराबरी का दर्जा पाने की कोशिश की।—तुम्हें मैंने इसलिए नौकर रखा है कि तुम नौकरों की तरह रहो, सामने बैठने का दुस्साहस न करके खड़े रहो। अगर यह नहीं होगा, तो तुम ही नहीं, तुम्हारी माँ भी राह की भिखारिन बनकर दर दर ठोकर खायेगी।'[2]

लेकिन अब शिक्षित मध्यमवर्ग अपनी स्थिति समझ चुका है, अतः इन बातों

---

१. 'घरौंदे' : प्रथम संस्करण, १९४६, पृ० ६१

२. 'घरौंदे' : प्रथम संस्करण. १९४६, पृ० २५६

का कोई असर उसपर नहीं होता। भगवतीप्रसाद भी अभिजात्य वर्ग पर व्यंग्य करता है—'तुम लोग इतने कमीने हो कि अपने आप अपने पापों को पुण्य कहकर उसे पूजा का नाम देते हो। मैं तुमसे घृणा करता हूँ, क्योंकि तुम जो बड़े घराने का ढाँचा बनकर खड़े हो, तुम्हारे यहाँ स्त्रियाँ नहीं होतीं, वेश्या होती हैं।[1] लवंग का चरित्र लेखक ने ऐसा ही चित्रित किया है, जो शरीर बेचकर सफलता अर्जित करना जानती है। साथ ही चरित्र-भ्रष्ट अध्यापकों के लिए वह कुटनी का कार्य भी करती है। लेकिन इन सब के बावजूद भी वह समाज में सम्मिलित समझी जाती है, क्योंकि उसके पास पैसा है और वह अभिजात्य वर्ग की है। दूसरी तरफ़ निम्नवर्गीय चरित्र भगवती-प्रसाद, परिश्रमी तथा प्रतिभाशाली व्यक्ति होने पर भी समाज से अनादृत होता है क्योंकि वह साधनहीन तथा निम्नवर्ग का है। स्पष्ट है कि अभिजात्य वर्ग सांस्कृतिक दृष्टि से सर्वाधिक असंस्कृत और नैतिक दृष्टि से पतित होता है जो केवल अपना स्वार्थ और अपने अहम् की रक्षा में तल्लीन रहता है। यों निम्न मध्यम वर्ग भी सांस्कृतिक दृष्टि से अराजक की स्थिति में पाया जाता है, लेकिन उसके सम्मुख अस्तित्व रक्षा का प्रश्न होता है। इसीलिए संस्कारों से कट्टर नैतिकतावादी होने पर भी व्यवहार में उसे अनैतिक होना पड़ता है। लेकिन अभिजात्यवर्ग न तो संस्कारों में ही नैतिकता-वादी होता है और न व्यवहार में ही उसका पालन करता है। इस प्रकार लेखक का निष्कर्ष है कि अभिजात्यवर्ग घोर पतन की स्थिति से गुज़र रहा है।

यहाँ सांस्कृतिक मूल्यों के साथ-साथ अभिजात्य वर्ग के मानवीय मूल्यों के सम्बन्ध में भी विचार अपेक्षित है। वस्तुतः मानवीय मूल्य अलग से नहीं बनते, सांस्कृतिक मूल्य ही युगों का प्रभाव संचित करके, संस्कार तथा भावना का विकास करके मानवीय मूल्यों का निर्माण तथा संरक्षण करते हैं। लेकिन दोनों में अन्तर यह है कि सांस्कृतिक मूल्यों का परीक्षण शान्तिकालीन अवस्था में होता है तो मानवीय मूल्यों की किसी आकस्मिक घटना तथा विपदकालीन स्थिति में। रांगेय राघव अपने उपन्यास 'विषादमठ' (१९४६) में तथा अमृतलाल नागर अपने उपन्यास 'महाकाल' में बंगाल के प्रसिद्ध अकाल के सन्दर्भ में समाज के मानवीय मूल्यों का विश्लेषण करते हैं। लेखक का निष्कर्ष है कि यह अकाल प्राकृतिक प्रकोप नहीं था, बल्कि इसकी परिस्थितियाँ तैयार की गई थीं, ब्रिटिश शासन, जमींदार तथा पूँजीपति वर्ग एवं शहरी मध्यमवर्ग द्वारा जिनके हाथ में शासन सत्ता, अर्थ सत्ता तथा सांस्कृतिक संरक्षण की सत्ता केंद्रित थी, क्योंकि ये चाहते यही थे कि इसके माध्यम से अपनी-अपनी शक्ति को और अधिक मजबूत किया जाय। यही कारण है कि जब चारों ओर मृत्यु मंडरा रही है, मनुष्य दाने-दाने

---

१. 'घरौंदे' : प्रथम संस्करण, १९४६, पृ० २५६

के लिए तड़प रहा है तब 'विषादमठ' के चट्टोपाध्याय ज़मींदार, व्यापारी चन्द्रशेखर, रुद्रमोहन मुनीम तथा 'महाकाल' के ज़मींदार दयाल, मौनाई व्यापारी, सरकारी अफ़सर मिस्टर दास अपने लिए धन-सम्पत्ति तथा जमीन समेटने का सुनहला अवसर समझते हैं। साथ ही मध्यवर्गीय अरुण के लिए यह नेता बनने का अवसर है, लेकिन सफल नहीं होने पर यही अरुण चोरबाज़ारी से बीस हज़ार मुनाफा कमाता है। यही नहीं, 'विषाद-मठ' के अमिताभ और 'महाकाल' के मिस्टर दास इसे काम-तृप्ति का भी अच्छा अवसर समझते हैं। फिर क्या है, सिपाहियों को खुश करने के लिए सरकार को सस्ते दामों पर औरतें उपलब्ध हो जाती हैं। 'विषादमठ' का कला-प्रेमी भाडुड़ी नाटक कम्पनी खोलता है। अभिजात्य वर्ग की नैतिकता कितनी जर्जर है कहना मुश्किल है। इस अकाल में, जबकि निर्धन पुरुष भूख से तड़पकर मर जाता है, अभिजात्य वर्ग अपनी वासना की पूर्ति में लगा रहता है। सरकारी फ़ौजी बैरकों में औरतों का खुला व्यापार चलता है। बिहारी पानवाला कहता है—'अकाल क्या आया रोटी गायब हुई, मगर औरत तिनके-तिनके पर आ बैठी।'[1] नूरुद्दीन तथा अजीम चार रुपए प्रति स्त्री बेचकर वेश्याओं का व्यापार करते हैं। कलकत्ते में अनेक सेठ चकले चलाते हैं। यह स्थिति कुछ दस-बीस घरों की नहीं है। अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'महाकाल' (१९४७) में अमृतलाल नागर लिखते हैं—'अस्सी प्रतिशत भले घरों की बहू बेटियाँ मजबूर किए जाने पर, पैसों या खाने की लालच से अथवा भूख और चिन्ताओं की उलझन से छूटकर दो-दो घड़ी ग़म ग़लत करने की नीयत से वेश्याएँ हो चुकी हैं।'[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि इन चकलों के ग्राहक सामान्य जनता नहीं, बल्कि मध्यमवर्ग तथा अभिजात्यवर्ग के लोग हैं जो लड़की पसंद न आये तो साहस के साथ गालियाँ दे सकते हैं।[3]

विडम्बना तो यह है कि अपने इन कुकृत्यों के लिए जमींदार चट्टोपाध्याय (विषादमठ) तथा मौनाई (महाकाल) धर्म और ईश्वर की शरण लेते हैं। जमींदार चट्टोपाध्याय जनता में नियतिवादी विचारधारा का प्रचार करता है तथा अकाल की सम्पूर्ण जिम्मेदारी महिषमर्दिनी के मत्थे थोपता है। वह जनता को अंधविश्वासी तथा रूढ़िवादी बनाने के लिए पैसे भी खर्च करता है तथा मन्दिर तथा पूजा-पाठ के निमित्त उन्हें रुपये देकर धर्मात्मा तथा दयालु बनने का श्रेय भी प्राप्त करता है। वह महिष-मर्दिनी को सम्बोधित करके कहता है—'माँ! इस देश का यह तूने क्या किया! हे महषिमर्दिनी! यह तूने क्या किया? शस्य श्यामला स्मशान हो गई, किन्तु तेरी भूख

---

१. 'विषादमठ' : किताब महल प्रा० लि०, १९५५, पृ० २०३
२. 'महाकाल' : प्रथम संस्करण, १९४७, पृ० ९६
३. 'विषादमठ' : किताब महल प्रा० लि०, १९५५, पृ० १७०

अभी तक नहीं मिटी।'[1] दया और धर्म का राग अलापने वाला यह अभिजात्य वर्ग मानवीय मूल्यों को भी शोषण का साधन बनाता है। यह वर्ग जनता के सम्मुख मानवीय गुणों से सम्पन्न आध्यात्मिक एवं मानवीय मूल्यों का संरक्षक बनकर उसका उपयोग शोषण के लिए करता है। 'महाकाल' के मौनाई की धार्मिक निष्ठा उत्तेजित हो जाती है, जब वह देखता है कि मुसलमान हिन्दू स्त्रियों का व्यापार कर रहे हैं, लेकिन इसी की सुविधा जब उसे मिल जाती है, तब वह इस अकाल के लिए ईश्वर के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता है, क्योंकि इस व्यापार में उसे दुगना लाभ होता है। वह कहता है—'भगवानजी ने अगर इस नये व्यापार में अच्छे पैसे बनवा दिये तो आगे चलकर एक अनाथालय और आसरम भी खुलवाय दूँगा। यही तो धरम की महिमा है। संसार जीउ मोह-माया में पड़के अगर पाप भी कर बैठे तो परासचित करके पुन्न की नैया में भवसागर के पार उतर जाय। अहा, धन्न हो भगवानजी। तुम्हारी लीला अपरम्पार है।'[2] इस शोषक वर्ग का दया-धर्म, समाज-सुधार तथा पाप-पुण्य विवेचन का आधार मात्र यह है कि शोषण हर हालत में करते रहा जाय और साथ ही समाज में सुधारक, धार्मिक तथा नेता बना रह जाय।

रांगेय राघव शहरी भद्र समाज के खोखले मानवीय मूल्यों का पर्दा-फ़ाश करते हैं। भूख-पीड़ितों पर दया करके शहरी भद्र समाज के लोग उनकी मदद के लिए एक नाट्य प्रस्तुति का आयोजन करते हैं, जिसकी विषयवस्तु अकाल की विकरालता तथा उसकी विद्रूपता को प्रस्तुत करना है। लेकिन इस नाटक के भद्र समाज की, गरीबों तथा भूख पीड़ितों के प्रति करुणा एवं संवेदना उमड़ने के स्थान पर होता उनका मनोरंजन है। नाटक के एक दृश्य में अमिताभ तथा फ्लोश शराब के नशे में चूर यह संवाद बोलते हैं—'उसको प्याला देकर (फ्लोश को) एक बार वह मुस्कराया और प्याले से प्याला छुआते हुए उसने कहा—भूखों की तन्दुरुस्ती के लिए। फ़्लोश खिलखिला कर हँस पड़ी। नाटक की संचालिका हैं श्रीमती सेनगुप्त जो देश सेविका के रूप में विख्यात हैं। इसीलिए वे धार्मिक भी बन बैठी हैं। साथ ही वे कला-निपुण, चित्रकार तथा नर्तकी न जाने क्या-क्या हैं। इन कलाओं का उपयोग ऐसे काम-नृत्यों में होता है जो देश-हित में आयोजित किए जाते हैं। लेखक श्रीमती सेनगुप्त का भी पोल खोलने में नहीं चूका है, वह भी रंगमंच के पीछे के कक्ष में शराब पीकर अमिताभ के साथ विलास में निमग्न हैं। जबकि हॉल के अंदर के दर्शक—'उनके महान् त्याग और करुणा की

---

१. 'विषादमठ' : किताब महल प्रा० लि०, १९५५, पृ० २१३
२. 'विषादमठ' : किताब महल प्रा० लि०, १९५५, पृ० २२४

भूरि-भूरि प्रशंसा करके उनका विशेष सम्मान करने की योजना पर विचार रहे थे ।'[1] लेखक का तात्पर्य यहाँ यह बताना है कि इस सभ्य समाज में केवल सांस्कृतिक तथा नैतिक ही नहीं, वरन् इसके मानवीय मूल्य भी समाप्त हो गए हैं तथा उनकी दया, उनका धर्म तथा उनकी करुणा और सहानुभूति भी मात्र ढोंग बनकर रह गई है ।

अभिजात्य वर्ग की कलात्मक रुचियों तथा उसकी यथार्थ स्थितियों को मात्र काम-तृप्ति के साधन के रूप में प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा (रचना काल १९२५-१९६४) ने भी चित्रित किया है। 'अचल मेरा कोई' (१९४८) उपन्यास में वर्माजी अभिजात्य वर्ग की कलात्मक रुचियों की तुलना सामान्य जनता की रुचियों से करते हैं। उनका दृष्टिकोण है कि अभिजात्य वर्ग के लिए नृत्य कला समय बिताने का मात्र एक साधन भर है तथा उसका स्थान है महफिल अथवा बन्द कमरा। देश-सेवी अचल तथा कुन्ती की कला-साधना बन्द कमरे में केवल समय गुजारने के लिए होती है। निशा के पिता जियाराम अपने घर में सांस्कृतिक कार्य-क्रमों का आयोजन करते हैं। उनके मन में प्रश्न उठता है कि कुन्ती क्या इतने लोगों के सामने अकेली नाचने का साहस कर सकेगी ? और वह मन-ही-मन उत्तर प्राप्त कर लेते हैं—'परन्तु ये परिमार्जित रुचि के लोग होंगे, ऊँचे विचारों वाले। कोई कुत्सित कल्पना उसके मन में नहीं उठ सकती।'[2] जबकि मनोवैज्ञानिक सत्य तो यह है कि स्वयं जियाराम के मन में भी वासना जग रही है। इस प्रकार इस वर्ग की कला में जीवन-संघर्ष के प्रति उत्साह तथा प्रेरणा नहीं होती, वह मात्र दमित कुण्ठाओं को जन्म देती है। कुन्ती बन्द कमरे में अचल से नृत्य-कला की शिक्षा लेती है, जिसके पीछे अचल के प्रति उसकी दमित वासना ही प्रधान कारण है, जिसका परिणाम होता है, कुन्ती का पति तथा प्रेमी के बीच झूलती हुई कुण्ठित होकर आत्महत्या कर लेना। कहने की आवश्यकता नहीं कि अभिजात्य वर्ग के सभी सांस्कृतिक, धार्मिक तथा मानवीय मूल्य ध्वस्त हो चुके हैं तथा कलात्मक अभिरुचि के विकास में भी गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो चुकी है।

जन संस्कृति

देश की अधिकांश जनता यद्यपि जनसाधारण वर्ग में आती है, लेकिन युगीन उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में इस वर्ग को बहुत अधिक महत्त्व नहीं प्रदान किया। पिछले युग में प्रेमचन्द ने अवश्य इस दिशा में उल्लेखनीय प्रयास किया था, जिसमें हमें गाँवों की विविध झाँकियाँ, किसानों की झोपड़ियाँ तथा सामान्य जनता के चित्र मिलते

---

१. 'विषादमठ' : किताब महल प्रा० लि०, १९५५, पृ० २४४

२. 'अचल मेरा कोई' : तीसरा संस्करण, १९५४, पृ० २०

हैं। प्रेमचन्द ने गाँवों की गरीबी का भी खुलकर चित्रण किया और जमींदार, पटवारी, कारिन्दे, महाजन आदि के शोषण को भी बहुत हद तक वाणी प्रदान की। इस दृष्टि से प्रेमचन्द भारतीय जन संस्कृति के सबसे बड़े पुजारी थे, और शहरी संस्कृति से स्थान-स्थान पर उन्होंने अपनी असहमति व्यक्त की थी।

लेकिन प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यास-साहित्य में जन संस्कृति को प्रायः कुछ एक लेखकों को छोड़कर किसी ने भी अपना विवेच्य विषय नहीं बनाया। इन कुछ एक लेखकों में भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वृन्दावन लाल वर्मा रहे जिन्होंने ऐतिहासिक सामंत युगीन धारातल पर जन संस्कृति की व्यापकता को रेखांकित किया। यहाँ तक मार्क्स-वादी तथा तथाकथित प्रगतिवादी लेखक भी जिनका विषय ही जन संस्कृति होना चाहिए था कम से कम हिन्दी में इस दृष्टि से अधिक सफल नहीं हुए। उन्होंने मार्क्सवादी चिन्तन शैली के आधार पर मजदूर तथा किसान वर्ग को संगठित किया लेकिन वे अपने मध्य-वर्गीय संस्कारों के कारण जनता तक सीधे पहुँचे नहीं सके। लेकिन वृन्दावनलाल वर्मा गाँव की मिट्टी को स्पर्श करते दीखते हैं और उनमें सामान्य जन के प्रति निष्कपट प्रेम लक्षित किया जा सकता है। वर्माजी के विषय में डॉ० रामविलास शर्मा लिखते हैं—'प्रसादजी' की तरह उनका दृष्टिकोण आनन्दवादी है। यह आनन्दवाद का समन्वय है। वह जीवन की सरसता का तिरस्कार न करके उसे ग्रहण करता है।'[1] निश्चय ही यहाँ शर्माजी ने लेखक के मूल स्वरों को पहचाना है और भारतीय जनता के बीच की उनकी पैठ को समझा है।

वर्माजी का 'कभी-न-कभी' (१९४५) एक ऐसा ही उपन्यास है, जिसमें सड़क पर काम करने वाले मजदूरों यथा देवजू तथा लछमन का चरित्र प्रस्तुत किया गया है। लेखक दोनों का परिचय इन शब्दों में देता है—'देवजू और लछमन एक ही उम्र के न थे। तो भी उन दोनों में बहुत प्रेम था। वे दोनों एक ही गाँव के रहने वाले न थे। काम की खोज ने इन दोनों को एक स्थान पर इकट्ठा कर दिया था। दोनों दरिद्र थे। दोनों परिश्रमी।'[2] इस प्रकार देवजू तथा लछमन में जो परस्पर एक-दूसरे के लिए प्रेम तथा त्याग की भावना है वह हिन्दी उपन्यास साहित्य में अन्यत्र शायद ही कहीं देखने को मिले। आगे चलकर इन दोनों के बीच मजदूरिन लीला का प्रवेश होता है जिससे उपन्यास में प्रेम की स्थिति उत्पन्न होती है। लेकिन यह प्रेम मध्यवर्गीय प्रेम की तरह केवल स्वच्छन्द-काम-भोग तक ही सीमित नहीं रहता है, बल्कि दोनों गम्भीरतापूर्वक लीला से विवाह करने को तैयार हैं। लेकिन लीला केवल लछमन से ही प्रेम करती है, जबकि

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा : 'लोक जीवन और साहित्य' प्रथम संस्करण, १९५५

२. 'कभी न कभी' : प्रथम संस्करण, १९४२, पृ० ११८

लछमन देवजू से छोटा होने के कारण यह चाहता है कि लीला का विवाह देवजू से हो तथा भाभी के रूप में वह उसे प्राप्त करे। लेकिन लीला का विवाह अन्ततः लछमन से ही होता है और बग़ैर मध्यवर्गीय किसी मनोमालिन्य के देवजू उसमें सहर्ष सहयोग करते हैं। इन चरित्रों को मध्यवर्गीय सभ्यता की कुण्ठाएँ तथा ईर्ष्या द्वेष परीशान नहीं करते शादी के बाद वे पुनः एक साथ आनन्द की ज़िन्दगी गुज़ारते हैं। उनके लिए प्रेम तथा विवाह की समस्या बैठे-ठाले की समस्या नहीं है, बल्कि वह जीवन का एक स्वस्थ अध्याय है। यदि इस त्रिकोण प्रेम की तुलना मध्यवर्गीय त्रिकोण प्रेम से की जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि इनमें स्वस्थता की मात्रा कहीं अधिक है। कुछ समय के लिए देवजू तथा लछमन भले ही प्रतिद्वन्द्वी रहते हैं लेकिन उनमें परस्पर स्नेह तथा सौहार्द अन्ततः बना ही रहता है, जिससे पाठक उनके चरित्रों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

इसके अतिरिक्त वर्माजी ने 'अचल मेरा कोई' (१९४८) उपन्यास में भी अभिजात्य वर्ग तथा निम्न वर्ग की कलात्मक रुचियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। वर्माजी के कुछ अभिजात्य चरित्र गाँवों का नृत्य देखते हैं जिसमें उनकी हालत जो होती है वह उन्हीं की जबानी सुनिए—'तिजुआ ने घूँघट डाला और विविध प्रकार झटकना-चटकना शुरू किया। गाँव वाले हर्षमग्न हुए। अचल ग्लानि में डूबने लगा। कुन्ती कभी-कभी क्षीण मुस्कारहट द्वारा मानो यह कह रही थी—'बिलकुल भद्दा है, परन्तु तुम लोगों का मन रखने के लिए सहन कर रही हूँ। निशा को लग रहा था मानो उसके छहों भाई और पिता भी दरवाज़े पर खड़े-खड़े देख रहे हों कि वह किस प्रकार के कलाकारों के बीच में बैठी है। पसीने में डूबी जा रही थी।[१]

लेखक यहाँ यह दिखाना चाहता है कि अभिजात्य वर्ग का सम्बन्ध सामान्यजनों से विच्छिन्न हो चुका है, इसीलिए तिजुआ के नृत्य से सामान्य जनता आत्मविभोर हो जाती है तो अभिजात्य वर्ग घृणा, लज्जा एवं आत्मग्लानि से सिकुड़ कर पसीने-पसीने हो जाता है। दूसरे शब्दों में यह कि अभिजात्य वर्ग इन निम्नवर्गीय लोगों की कला तथा संस्कृति से घृणा करता है।

गाँवों में जो 'अन्न नृत्य' होता है वह किसानों में नई उमंग तथा नया उत्साह उत्पन्न करता है साथ ही उन्हें नये सिरे से क्रियाशील तथा उद्यमी होने की प्रेरणा भी प्रदान करता है। प्लेखोनोव ऐसे जन नृत्यों की विशेषताएँ बताते हुए कहते हैं कि जनता के आर्थिक जीवन से उसका सीधा सम्बन्ध होता है। जाति तथा समुदाय का जो आर्थिक जीवन-पेशा होगा, वैसा ही उसका नृत्य भी होगा। साथ ही समुदाय के नृत्य पर इस बात का भी प्रभाव पड़ता है कि समुदाय उत्पादन करते समय किन शारीरिक अंगों को

---

१. 'अचल मेरा कोई' : तीसरा संस्करण, १९५४, पृ० ११८

अधिक हिलाता-डुलाता है ।[1] कला की इस व्याख्या से वर्माजी भी परिचित हैं और इसीलिए भारतीय जन-नृत्य को 'खेती-किसानी-सम्बन्धी नाच' कहते हैं जिसमें हाथों तथा पैरों का संचालन सर्वाधिक होता है, क्योंकि यह वर्ग शारीरिक श्रम से ही आर्थिक उत्पादन करता है ।

अभिजात्य वर्ग की कला यद्यपि शास्त्रीय सौष्ठव से परिमार्जित होती है, लेकिन जीवन से उसका सम्बन्ध प्रायः नहीं होता । निशा इसलिए संगीत की शिक्षा लेती है, जिससे विवाह की सुविधा प्राप्त कर सके । कुन्ती भी इसीलिए संगीत सीखती है । उनकी कला और संगीत का प्रधान उद्देश्य है पुरुष वर्ग को आकर्षित करके विवाह की सुविधाएँ प्राप्त करना । अभिजात्य वर्ग के नृत्य की विशेषता यह है कि उसमें वस्त्र, प्रसाधन आदि का विशेष ध्यान रखा जाता है । वस्तुतः नृत्य-कला से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता । लेकिन जन-नृत्य में सौन्दर्य को उद्दीप्त करने के लिए प्रसाधन की कोई विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती । वर्माजी हृदय से जनवादी लेखक हैं, अतः दोनों वर्गों के कलात्मक दृष्टिकोणों का तटस्थ विश्लेषण करके जन सामान्य वर्ग की संस्कृति में जीवन का अधिक संस्पर्श देखते हैं तथा जन संस्कृति को अभिजात्य संस्कृति की तुलना में कहीं अधिक जीवन-संसर्गात्मक और कहीं अधिक सजीव तथा उत्साहवर्द्धक प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं ।

⊙ ⊙ ⊙

---

१. 'The connection of those dances with his economy is direct, Mene art, in part only, reproduces movements wich man maks when engaged in economic activity, in part it cultivates the qualities of the hunter, the man who imitats he knows its havits well; the man who knows its havits, will be a good hunter''.

—C. Plea Khanov : Art and Social life.'—1953.

अध्याय—१०

विविध

हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के सांस्कृतिक विश्लेषण के क्रम में अब तक के सम्पूर्ण विवेचन के बावजूद कुछ अन्य बातें भी शेष रह जाती हैं, जिनका संस्कृति से अनिवार्य सम्बन्ध जुड़ा हुआ है तथा सांस्कृतिक दृष्टि से जिनका महत्त्व भी स्वीकार किया जा सकता है। इनमें से शिक्षा, खानपान, वेशभूषा, आचार-विचार, रीति-रस्म, पर्व-त्योहार आमोद-प्रमोद तथा क्रीड़ा आदि प्रमुख हैं, जिनके सम्बन्ध में एक संक्षिप्त विवेचन यहाँ हम अपेक्षित समझते हैं, क्योंकि सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन की सम्पूर्णता और व्यापकता के लिए यह नितान्त आवश्यक और समीचीन जान पड़ता है। अस्तु आगे हम इन सब पर अलग-अलग, किन्तु संक्षिप्त रूप से ही विचार करेंगे तथा यह देखने का प्रयास करेंगे कि हिन्दी उपन्यास के विभिन्न विवेच्य युगों में इनकी क्या स्थिति रही है तथा उपन्यासकारों ने इन्हें अपने उपन्यासों में किन-किन रूपों में ग्रहण किया है।

शिक्षा

भारतवर्ष में अंग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी में मैकाले की शिक्षा-नीति से हुआ और इसके पश्चात् शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा बनी। कहने की आवश्यकता नहीं कि मैकाले की यह शिक्षा-नीति अंग्रेजी सरकार के लाभों को दृष्टि-पथ में रखकर निर्मित की गई थी और भारतीयों के हितों पर किसी प्रकार का कोई विचार नहीं किया गया था, यद्यपि इससे भारतीयों का लाभ अधिक हुआ, अपेक्षाकृत हानि के। अतः मैकाले की इस शिक्षा को प्रारम्भिक वर्षों में 'पाश्चात्य शिक्षा' की संज्ञा दी गई तो यह सर्वथा समीचीन ही था।

मैकाले की इस शिक्षा-नीति की कई महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ थीं। एक तो यह कि, ब्रिटिश साम्राज्य को कायम रखने के लिए पाश्चात्य शिक्षा के माध्यम से एक ऐसे सांस्कृतिक वर्ग का निर्माण किया जाय, जो अंग्रेजी सरकार को सदैव सहयोग प्रदान करे। मैकाले की पाश्चात्य शिक्षा-नीति के सम्बन्ध में अंग्रेजी सरकार तथा राष्ट्रीय नेताओं का क्या दृष्टिकोण रहा, सांस्कृतिक दृष्टि से यह देखना भी आवश्यक है। शिक्षा

के प्रति अंग्रेज़ी सरकार उपेक्षा-भाव बरतती रही, फलत: डेढ़ सौ वर्षों के शासन के पश्चात् भी सरकार शिक्षितों की संख्या में कोई वृद्धि नहीं कर पाई। वस्तुत: सरकार का ध्यान शिक्षा से कहीं अधिक सेना पर था, क्योंकि शिक्षा की तुलना में वह सेना का महत्त्व कहीं अधिक स्वीकार करती थी। यही कारण है कि जहाँ सेना में प्रतिवर्ष लाखों रुपये व्यय किये जाते थे, वहाँ शिक्षा के लिए सरकारी कोष सदैव संकोची मुद्राएँ अपना कर ही अपना काम चला लिया करते थे। नि:संदेह इस प्रवृत्ति ने भारतीय शैक्षणिक-चेतना के विकास में बाधाएँ उपस्थित कीं और बहुत काल तक अवरुद्ध ही बना रहने दिया।

अंग्रेज़ी सरकार की शिक्षा-सम्बन्धी दूसरी नीति यह थी कि वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा का प्रचार अधिक न होने पावे, क्योंकि औद्योगिक क्षेत्र में भारत स्वतन्त्र रूप से विकास कर लेगा तो इससे ब्रिटेन के लिए उचित बाज़ार का इसका उपयोग समाप्त हो जायेगा। अंग्रेज़ अंतत: भारत को ब्रिटेन में उत्पादित वस्तुओं के लिए एक उचित बाज़ार ही बने रहने देना चाहते थे, क्योंकि इससे उनका आर्थिक लाभ तो था ही, साथ ही साथ भारत के आर्थिक साधनों पर भी उनका आधिपत्य बना रह सकता था। तीसरी नीति यह थी कि शिक्षा एक सीमित दायरे में ही दी जाय ताकि देश का एक खास वर्ग ही शिक्षा ग्रहण कर सके। इसके लिए शिक्षा को अधिकाधिक महँगी तथा कठिन बनाने का प्रयास किया गया। तथा विश्वविद्यालयों की संख्या निश्चित करके शेष अन्य विश्वविद्यालयों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। फलत: शिक्षा सर्वधारण के लिए सुलभ नहीं हो सकी। यहाँ तक कि सर्वसाधारण के लिए सामान्य शिक्षा का महत्त्व भी भुला दिया गया, क्योंकि सरकार को उससे कोई लाभ नहीं था। यही कारण है कि अनिवार्य शिक्षा-नीति (कम्पल्सरी एज्यूकेशन) डेढ़ सौ वर्षों के शासन काल में कभी-भी नहीं लागू की गई। इस सम्बन्ध में चौथी तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान देने की यह है कि इस शिक्षा का उद्देश्य था भारतीय संस्कृति, देश तथा राष्ट्रीय भावनाओं की उपेक्षा करना तथा यूरोपीय संस्कृति साम्राज्यवाद की भावना को स्थापित तथा प्रचारित करना। इस शिक्षा का पाठ्यक्रम इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही बनाया गया था, ताकि पढ़े-लिखे लोगों में राष्ट्रीयता तथा स्वदेशी भावनाओं का प्रादुर्भाव नहीं होने पावे।

लेकिन अंग्रेज-शिक्षाशास्त्री मैकाले तथा उसे प्रोत्साहन देने वाली सरकार दोनों ही अपने इस उद्देश्य में पूर्णत: असफल रहे और हम जानते हैं कि अन्तत: इन अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों ने ही उनका यहाँ रहना भी हराम कर दिया, लेकिन यह बहुत बाद की बात है। फिर भी इस शिक्षा का विरोध उसी समय प्रारम्भ हो गया था। देश के राष्ट्रीय नेताओं का विचार सरकार से बिलकुल भिन्न था वे सदैव शिक्षा पर अधिक धन

व्यय किए जाने की माँग करते रहे और उन्होंने वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा से सम्बन्धित सरकारी कूटनीति की भी भरपूर आलोचना की। उन्होंने विश्वविद्यालयों के स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए भी अपनी आवाज़ उठाई और वे देश के जनसाधारण वर्ग के लिए सामान्य शिक्षा की अनिवार्यता के सवाल पर भी सरकार से लड़ते रहे। उनका दृष्टिकोण यह था कि अभी अधिकांश जनता निरक्षर है, अत: देश के लिए अधिक शिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता है। अंग्रेज़ जिस उच्चस्तर की शिक्षा की बात करते थे, उस सम्बन्ध में इन राष्ट्रीय नेताओं का विचार था कि उच्च-शिक्षास्तर का मानदण्ड शिक्षा के विस्तार में बाधक नहीं होना चाहिए। इस प्रकार राष्ट्रीय नेता सदैव अनिवार्य शिक्षा, सामान्य शिक्षा पर बल देते रहे जिससे सर्वसाधारण का सांस्कृतिक स्तर ऊपर उठ सके। यूरोपीय संस्कृति, सभ्यता, साम्राज्यवादी उद्देश्यों का प्रचार करने वाली शिक्षा-व्यवस्था के विरोध में राष्ट्रीय नेताओं ने राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना की। अंग्रेज़ी सरकार तथा राष्ट्रीय नेताओं के शिक्षा-सम्बन्धी विचार वस्तुत: राजनीतिक उद्देश्यों से निर्देशित थे। फिर भी प्रभाव पाश्चात्य शिक्षा का ही अधिक रहा और भारत में इस पाश्चात्य शिक्षा ने अपना भरपूर विकास किया, जो किसी-न-किसी रूप में आज भी मौजूद है।

(यूँ तो इस पाश्चात्य शिक्षा के परिणाम अच्छे-बुरे दोनों ही कहे जा सकते हैं, लेकिन हानि की अपेक्षा निश्चय ही इस नवीन शिक्षा ने लाभ अधिक किया। वस्तुत: वर्तमान भारत का जन्म ही अंग्रेज़ी शिक्षा-पद्धति के अन्तर्गत हुआ। इस शिक्षा ने ही आधुनिक अर्थ में हममें देश तथा समाज की चेतना जाग्रत की, जिससे आगे चलकर हमने अपनी सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्रान्तियों को जन्म दिया। यह सामाजिक चेतना निश्चय ही भारत की नहीं कहला सकती, क्योंकि मध्यकाल और आधुनिक काल की विभाजन रेखा यही चेतना रही है। अशिक्षा एवं अन्धविश्वास से भारतवासियों को मुक्त करने का कार्य अंग्रेज़ सरकार भले न कर पाई हो, लेकिन इस नवीन शिक्षा ने यह सब बखूबी कर डाला। इसके अतिरिक्त इस नई शिक्षा ने भारतवर्ष को अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से एक सूत्र में भी बाँधने का कार्य किया, जो कभी संस्कृत ने किया था और अब छिन्न-भिन्न होकर बिखर गई थी। नवीन शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण और लगभग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग यूरोप की उत्तेजक विचारधाराओं से भी परिचित हुआ और फ्रांस की क्रांति का स्वतन्त्रता, समानता और मातृत्व वाला उद्घोष भारत में भी लोगों को सुनाई पड़ने लगा। भारत में अंग्रेज़ी की पुस्तकें और समाचारपत्र धड़ल्ले से आने लगे थे अतएव यूरोप में चलने वाले वैचारिक तथा क्रांतिकारी आन्दोलनों के साथ भारत का स्वाभिमान भी अपनी तन्द्रा छोड़कर जागने को हो आया। यूरोप की इन वैचारिक क्रान्तियों में उस समय भारत ने अपना योगदान विचारक की हैसियत से तो

नहीं दिया, लेकिन उन तमाम विचारों का प्रभाव उस पर बहुत अधिक पड़ा और आगे का स्वतन्त्रता-आन्दोलन बहुत कुछ इन्हीं प्रभावों से निर्देशित हुआ।

स्पष्ट है कि आधुनिक शिक्षा ही आधुनिक भारतीय सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र रही है। साहित्यिक तथा सांस्कृतिक स्तर पर इस शिक्षा ने नवीन भारत को बहुत कुछ प्रभावित किया है। साहित्यकार चूँकि अनुभूतिप्रवण तथा संवेदनशील प्राणी होता है, अतः शिक्षा सम्बन्धी नीतियों की शुष्कता में जाकर उसका मनन नहीं करता। साहित्यकार तो अपनी सूक्ष्म दृष्टि से व्यक्ति तथा समाज पर उसके प्रभावों तथा परिणामों का आकलन करता है। साहित्यकार के लिए यह सम्भव भी नहीं होता कि शास्त्रीय तथा वैचारिक धरातल पर वह समस्या को देखे, वह भावनाओं तथा अनुभूतियों का सर्जक होता है। इस प्रकार वह क्रान्ति देखता है और गहराई में जाकर सार्वभौमिक स्तर पर परिणामों का अनुभव करता है। इसीलिए उसके लिए सांस्कृतिक प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। हिन्दी के उपन्यास लेखकों ने भी इस नवीन पाश्चात्य शिक्षा का विवेचन सांस्कृतिक धरातल पर ही किया है, अतः हम भी यहाँ सांस्कृतिक दृष्टि से ही इस नवीन शिक्षा का विवेचन प्रस्तुत करना अधिक समीचीन समझते हैं।

पाश्चात्य शिक्षा की विशेषताओं के सन्दर्भ में पहले कहा जा चुका है कि वह काफ़ी महँगी थी तथा उसका दायरा बहुत सीमित था। साथ ही सरकार का भी उसके प्रति उपेक्षा भाव ही बहुत दिनों तक बना रहा, जिसके कारण वह अनिवार्य नहीं हो सकी, जिससे जन साधारण वर्ग भी शिक्षा ग्रहण कर सके। इस शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेज़ी भाषा थी जो यहाँ के जन-मानस के लिए काफ़ी अबूझ थी। पाश्चात्य शिक्षा के इस स्वरूप का परिणाम यह हुआ कि भारतवर्ष में शिक्षित तथा अशिक्षित दो सांस्कृतिक वर्गों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। आधुनिक भारत के सांस्कृतिक जीवन की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक वर्गीकरण है। अनिवार्य शिक्षा के अभाव में सर्वसाधारण जनता बिलकुल ही निरक्षर रही, शिक्षित होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। पाश्चात्य शिक्षा के कारण वैचारिक दूरी बढ़ती गई। शिक्षा के प्रति सरकारी उपेक्षा भाव, महँगी शिक्षा तथा उच्चतम शिक्षा पर भी रोक लगने के कारण समाज का एक छोटा वर्ग ही शिक्षित हो पाया। अतः सांस्कृतिक धरातल पर भी सामान्य जनता उपेक्षित ही रही तथा समाज का एक विशेष वर्ग ही सांस्कृतिक जीवन का नियंता बना रहा।

इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इन दोनों शिक्षित और अशिक्षित वर्गों का पारस्परिक सम्बन्ध शासक तथा शासित का था। मैकाले महोदय का दृष्टिकोण भी यही था कि अंग्रेज़ी शिक्षा यदि नौकरी पाने का साधन बन जाये तो ब्रिटिश सरकार के लिए शासन-प्रबन्ध चलाने के लिए नेटिव देश से ही एक सहयोगी वर्ग प्राप्त हो जायगा। अतः भारत में शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य

डिग्री लेना ही रह गया था तथा उसका अंतिम और एकमात्र लक्ष्य नौकरी प्राप्त करना। इन दो वर्गों में परस्पर शासक-शासित सम्बन्ध के कारण यह शिक्षा धीरे-धीरे शोषण की प्रतीक भी बनती गई। और इसलिए राष्ट्र-हितैषियों ने इसका विरोध भी किया। हिन्दी उपन्यासकारों में राष्ट्रीय चेतना का अभाव नहीं था, अतः उसने भी इस शिक्षा की अव्यावहारिकता को प्रारम्भ में ही समझ लिया था, हिन्दी उपन्यास अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही इस शिक्षा का विरोध करता हुआ देखा जा सकता है। मेहता लज्जाराम शर्मा ने तो इसे अव्यावहारिक तथा केवल किताबी ज्ञान तक ही सीमित माना।[1] आज इस शिक्षा ने बेकारी की जो जटिल समस्या उत्पन्न कर दी है, उसका स्वरूप मेहताजी बहुत पहले ही अपनी भविष्य-दृष्टि से देख चुके थे। अपने उपन्यास 'हिन्दू गृहस्थ' में वे इस सम्बन्ध में एक रोचक घटना का जिक्र करते हैं—'वहाँ के हाईस्कूल में एक मास्टरी खाली थी। इस विज्ञापन के प्रकाशित होते ही हेडमास्टर के पास अर्जियों का ढेर लग गया। बड़ी सिफ़ारिशें आईं। मीयाद पूरी होने पर जब हेडमास्टर साहब ने उम्मीदवारों की गिनती की तो २०) रुपये की नौकरी के लिए तीन एम० ए०, पन्द्रह बी० ए० और छप्पन इन्ट्रेंस निकले।......उस जगह पर एक साहेब के लड़के के खानसामा का लड़का, जो इन्ट्रेंस फेल था, भर्ती हुआ। साहेब ने उसके लिये बहुत कोशिश की थी। बस इसी कारण से उसे नौकरी मिल गई।'[2]

इसी क्रम में उपन्यासकार राष्ट्र-भाषा अथवा जातीय-भाषा का प्रश्न उठाते हैं और अपनी भाषाओं में शिक्षा देने की बात भी करते हैं। ब्रजनन्दन सहाय के 'अरण्य-बाला' के महात्मा प्रेमानन्द मुकुन्द से कहते हैं—'इस सम्बन्ध में एक बात कहने को भूल गया कि शिक्षा तुम्हें अपने देश की भाषा में देनी होगी। किन्तु लोगों की विदेशीय विविध भाषाओं को सीखना तो दूसरी बात है, किन्तु शिक्षा का माध्यम तुम्हें जगन्मान गुणानागरी नागरी को ही रखना पड़ेगा।'[3] मुकुन्द के यह पूछने पर कि इस भाषा में विज्ञान तथा शिल्प कला की पुस्तकें तो हैं ही नहीं, महात्मा प्रेमानन्द कहते हैं—'इसका तुम्हें उचित प्रबन्ध करना होगा और विविध विषयों के वेत्ताओं से तुम्हें सहायता लेनी होगी। बड़े-बड़े देशीय तथा विदेशीय विद्वानों से देवभाषा हिन्दी में सब विषयों की पुस्तकें लिखवानी होंगी। यदि स्वतन्त्र्य रचना न हो सके तो अच्छे-अच्छे विद्वानों की

---

१. 'हिन्दू गृहस्थ' : प्रथम संस्करण, १९०३, पृ० १८
२. 'हिन्दू गृहस्थ' : प्रथम संस्करण, १९०३, पृ० ७
३. 'अरण्यबाला' : द्वितीय संस्करण, १९२१, पृ० १२७

लिखी हुई अपर भाषाओं की पुस्तकों का अनुवाद करके अपने यहाँ की भाषा में करा-कर इस अभाव को दूर करना होगा।'[१]

स्पष्ट है कि प्रारम्भिक उपन्यासकारों की यह शैक्षणिक चेतना भी राष्ट्रीय सन्दर्भों से जुड़ी हुई थी और इसीलिए वे पाश्चात्य ढंग की इस नवीन शिक्षा को अपनाने के पक्ष में नहीं थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनकी रूढ़िवादी मनोवृत्ति तथा संस्कारी स्वभाव ने भी उन्हें ऐसा करने पर मजबूर किया। क्योंकि इनके संस्कारी स्वभाव को किसी भी तरह का परिवर्तन पसन्द नहीं था।

इस नवीन शिक्षा ने यद्यपि लाभ अधिक पहुँचाया किन्तु इसके द्वारा भारत का दो सांस्कृतिक वर्गों में विभाजित हो जाना—शासक और शोषित वर्ग में, जिनका उल्लेख पहले हम कर चुके हैं, भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना थी। इस वर्ग-विभाजन ने शिक्षा को शोषण का हथियार बनाकर रख दिया। हिन्दी के प्रेमचन्द-कालीन उपन्यासों में इस नई शिक्षा के प्रति यही चेतना हम पाते हैं। इस शिक्षा को शोषण के प्रतीक रूप में स्वयं प्रेमचन्द ने भी देखा और अपने कई उपन्यासों में उसे इसी रूप में अभिव्यक्ति भी दी। 'प्रेमाश्रम' उपन्यास, शिक्षा तथा शिक्षित वर्ग पर अशिक्षित ग्रामीण किसानों की आलोचना से ही प्रारम्भ होता है। दुखरन अपना अनुभव इस प्रकार बताता है—'कहते हैं कि विद्या से आदमी की बुद्धि ठीक हो जाती है। पर यहाँ उलटा ही देखने में आता है। यह हाकिम और अमले तो पढ़े-लिखे विद्वान् होते हैं, लेकिन किसी को दया-धर्म का विचार नहीं होता।'[२] इसी उपन्यास का मनोहर जीवन के कटु अनुभवों से इस निष्कर्ष पर पहुँचता है—'विद्या से और कुछ नहीं होता, तो दूसरों का धन ऐंठना तो आ-जाता है। मूरख रहने से तो अपना धन गँवाना पड़ता है।'[३] अंग्रेज़ी सरकार की कूटनीति की यह सफलता ही कही जायगी कि जो शिक्षा, व्यक्ति, समाज तथा देश को जाग्रत करती है, वह शोषण तथा विदेशी शासन को बनाए रखने का साधन बनी। 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द इस शिक्षा की व्यावसायिक मनोवृत्ति का उल्लेख करते हैं—'जहाँ देखो वहीं दूकानदारी। अदालत की दूकान, इल्म की दूकान, सेहत की दूकान।'[४] और शिक्षा की यह व्यापारिक मनोवृत्ति तथा उसका शोषण ऐसा विकराल रूप ग्रहण कर लेता है कि 'जिसके पास जितनी ही बड़ी डिग्री है, उसका

---

१. 'अरण्यबाला' : द्वितीय संस्करण, १९२१, पृ० ३२८
२. 'प्रेमाश्रम' : सरस्वती प्रेस संस्करण, बनारस, पृ० ६
३. 'प्रेमाश्रम' : सरस्वती प्रेस संस्करण, बनारस, पृ० ६
४. 'कर्मभूमि' : आठवाँ संस्करण, २०११, पृ० ९

स्वार्थ भी उतना ही बढ़ा हुआ है ।'[1] लेखक का आदर्श पात्र 'कायाकल्प' का चक्रधर शिक्षा के इस रूप से घृणा करता है और एम० ए० पास करने के बावजूद भी वह अपने को शोषकों में शामिल नहीं करता । क्योंकि उसने नौकरी पाने के लिए शिक्षा नहीं ली है । उसने इसलिए शिक्षा ग्रहण की है कि आज़ादी का महत्त्व समझ सके । लेखक का यह आदर्श पात्र आगे चलकर सचमुच राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व सँभाल कर तथाकथित अंग्रेज़ी पढ़े तथा अपने को शासक समझने वाले पढ़े-लिखे भारतीयों के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित करता है ।

सांस्कृतिक दृष्टि से इस नवीन शिक्षा ने जिन दो सांस्कृतिक वर्गों—शासक, शासित का निर्माण किया, उसके कारण देश की अधिकांश जनता सांस्कृतिक जागरण से अछूती ही रही । देश का जनसामान्य वर्ग सांस्कृतिक जागरण से प्रभावित नहीं हो सका । उसकी रुचियाँ, उसके संस्कार, जीवन-दृष्टि उनके रहन-सहन का ढंग—सभी कुछ ज्यों-का-त्यों बना रहा । फलत: शिक्षित और अशिक्षित वर्ग की यह दूरी दिनों-दिन बढ़ती ही गई । शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी भाषा थी, इसलिए भी यह दूरी बढ़ी । क्योंकि यदि भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दी गई होती तो सम्भवत: यह सांस्कृतिक दूरी एक हद तक कम की जा सकती थी । कारण कि तब शिक्षित तथा अशिक्षित के बीच किसी भाषा की दीवार न खड़ी हुई होती जैसी कि अंग्रेज़ी भाषा के कारण हुई ।

तात्पर्य यह कि आलोच्य-काल में शिक्षा का एकमात्र आधार डिग्री ग्रहण करना था और वह भी अंग्रेज़ी शिक्षा में । 'सेवासदन' का 'सदन' पढ़ा लिखा है, अपनी भाषा में सुन्दर लेख लिखता है, बुद्धिमान है चरित्रवान् है लेकिन उसे नौकरी नहीं दी जाती, क्योंकि वह अंग्रेज़ी शिक्षा नहीं ग्रहण किए हुए है । साथ ही उसकी समाज में भी कोई प्रतिष्ठा नहीं समझी जाती थी, जो अंग्रेज़ी नहीं पढ़ा लिखा होता था । सामाजिक उपेक्षा से आक्रांत होकर ही 'सदन' नाव चलाने जैसा शारीरिक श्रमसाध्य कार्य करता है । स्पष्टत: लेखक का दृष्टिकोण यह है कि पाश्चात्य शिक्षा प्रतिष्ठा को तो बढ़ा सकती है और आर्थिक लाभ भी करा सकती है, लेकिन उदात्त चरित्र-सृष्टि उसके वश की चीज़ नहीं है । साथ ही उसमें सांस्कृतिक तथा नैतिक चेतना का भी विकास संभव नहीं । आलोच्य काल में सम्भवत: इसीलिए यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन गया था कि छात्रों को धर्म तथा नैतिकता की शिक्षा दी जाय अथवा नहीं । इस प्रश्न का महत्त्व और बढ़ गया, जब लोगों ने देखा कि अंग्रेज़ी पढ़कर पश्चिम के धर्म तथा समाज की नैतिकता से तो लोग परिचित होते थे, लेकिन भारतीय संस्कृति, धर्म और नैतिकता

---

१. 'कर्मभूमि' : आठवाँ संस्करण, २०११, पृ० १०७

सम्बन्धी उनकी जानकारी बिलकुल शून्य होती थी। । परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति को शिक्षा का जीवन तथा भारतीय समाज की नैतिकता से कोई सम्बन्ध न रहा। और जैसे-जैसे यह दूरी बढ़ती गई, वैसे-ही-वैसे अन्तर्विरोधी जटिलता और अधिक जटिल होती गई। इसी अन्तर्विरोधी जटिलता ने अन्तर्विरोधी चरित्रों को जन्म दिया, जिसका उल्लेख हम 'धार्मिक तथा दार्शनिक चेतना' के अध्याय में कर चुके हैं। वस्तुतः ऐसी शिक्षा के माध्यम से उदात्त चरित्रों की सृष्टि हो ही नहीं सकती थी। इस प्रकार आलोच्यकाल की अन्तर्विरोधी चरित्र-सृष्टियों का बहुत कुछ दायित्व इस नई शिक्षा पर भी है, इसे इन्कार नहीं किया जा सकता। बहुत अंशों में हमारे चारित्रिक पतन का कारण यह शिक्षा रही है, यह अब स्पष्ट हो चुका है। प्रेमचन्द तो 'प्रेमाश्रम' के ज्ञानशंकर के चरित्र के माध्यम से यही घोषित करते हैं। वह लिखते हैं कि इस नई शिक्षा ने उन्हें लेख और वाणी में प्रवीण, तर्क में कुशल, व्यवहार में चतुर बना दिया था, पर उसके साथ ही उन्हें स्वार्थ और स्वहित का दास बना दिया था।[1] 'ज्ञानशंकर प्रखर बुद्धि सम्पन्न हैं, अनेक विद्वत्तापूर्ण लेख लिखते हैं तथा राजनीति और समाजनीति की भी अच्छी जानकारी रखते हैं, लेकिन उनका चारित्रिक पहलू इतना कुत्सित है कि उनके जैसा खलनायक हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में अन्यत्र शायद ही कोई प्राप्त हो सके। प्रभाशंकर के शब्दों में—'वह पश्चिमी सभ्यता का मारा हुआ है, जो लड़के को बालिग होते ही माता-पिता से अलग कर देती है। उसने वह शिक्षा पाई है कि जिसका मूल तत्त्व स्वार्थ है। उसमें दया, विनय, सौजन्य कुछ भी नहीं रहा। वह अब केवल अपनी इच्छाओं का, इन्द्रियों का दास है।[2] 'ज्ञानशंकर के इस चारित्रिक पतन का कारण राय कमलानन्द पाश्चात्य शिक्षा को ही मानते हैं—'यह तुम्हारा दोष नहीं, तुम्हारी धर्म-विहीन शिक्षा का दोष है। तुम्हें आदि से भौतिक शिक्षा मिली। हृदय के भाप दब गए।[3] 'राय कमलानन्द के अनुसार जब तक शिक्षा के सांस्कृतिक पहलू पर ध्यान नहीं दिया जायगा, व्यक्ति का चारित्रिक निर्माण नहीं हो सकता। प्रेमचन्द का मत है कि जो शिक्षा चरित्र का निर्माण नहीं कर सकती, वह एकमात्र कागज की डिग्री तक ही सीमित हो जाती है। 'कर्मभूमि' उपन्यास में शिक्षा तथा डिग्री का यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है। प्रेमचन्द लिखते हैं—'जीवन को सफल बनाने के लिए शिक्षा की जरूरत है, डिग्री की नहीं। हमारी डिग्री है—हमारा सेवा भाव, हमारी नम्रता, हमारे जीवन की सरलता। अगर वह डिग्री नहीं मिली, अगर हमारी आत्मा जाग्रत नहीं हुई तो

---

१. 'प्रेमाश्रम' : सरस्वती प्रेस संस्करण, बनारस, पृ० ३६६
२. 'प्रेमाश्रम' : सरस्वती प्रेस संस्करण, बनारस, पृ० १६६
३. 'प्रेमाश्रम' : सरस्वती प्रेस संस्करण, बनारस, पृ० २६३

कागज़ की डिग्री व्यर्थ है।[1] 'तात्पर्य यह कि प्रेमचन्द इस नवीन शिक्षा को यथार्थ शिक्षा नहीं मानते, उनकी दृष्टि में यह शिक्षा केवल उपाधियों का व्यापार भर है, जिससे नौकरियाँ खरीदी जा सकती हैं। वस्तुत: मैकाले को इस नवीन शिक्षा में अभूतपूर्व सफलता मिली और उसका जो लक्ष्य था वह बहुत हद तक सार्थक रहा।

प्रेमचन्द के अतिरिक्त अन्य उपन्यासकारों में जयशंकर 'प्रसाद' तथा 'निराला' जी ने भी पाश्चात्य का समर्थन नहीं किया। अपने 'तितली' उपन्यास में 'प्रसादजी' ने तो प्राचीन गुरूकुलों की शिक्षा की ही स्थापना की। 'तितली' में गुरुदेव रामनाथ का वर्णन प्राचीन ऋषि-परम्परा का ही स्मरण दिलाता है। रामनाथ का चरित्र गुरु का आदर्श चरित्र है। 'तितली' तथा 'मधुवन' इन्हीं के निर्देशन में शिक्षा ग्रहण करते हैं। बाद में तितली भी अपने घर में एक शिक्षा-केन्द्र खोलती है। मधुवन तथा तितली की इस शिक्षा को 'प्रसादजी' यथार्थ शिक्षा के अन्तर्गत रखते हैं, क्योंकि इनको शिक्षित होने के बाद किसी नौकरी की तलाश नहीं है। साथ ही इन चरित्रों में चारित्रिक दृढ़ता वर्तमान है। तितली का दृढ़ चरित्र समूचे ग्रामवासियों के लिए एक प्रेरणा बन गया है, क्योंकि उसके व्यावहारिक जीवन और उसके सिद्धांतों के बीच खाई नहीं है। वह उन समस्त आदर्शों का अपने व्यावहारिक जीवन में पालन भी करती है।

'निरालाजी' ने भी ब्रिटिश सरकार की इस सीमित शिक्षा-नीति का समर्थन नहीं किया। वे शिक्षा का व्यापक प्रचार चाहते थे। 'निरालाजी' के अनुसार सबसे बड़ी राष्ट्रीय तथा समाज-सेवा यह है कि गाँवों में भी शिक्षा का प्रचार किया जाय। उनके राजनीतिक चरित्रों में विजय तथा अजित का भी दृष्टिकोण यही है कि शिक्षा का अधिक-से-अधिक प्रचार हो। साथ ही 'निरालाजी' ने नारी-शिक्षा पर भी पर्याप्त बल दिया। क्योंकि शिक्षित हो जाने के बाद 'निरालाजी' मानते थे कि वह अपने चरित्र की रक्षा अधिक दृढ़ता के साथ कर सकती है। 'निरालाजी' के नारी चरित्र इसी रूप में चित्रित भी हुए हैं। उनकी नारियों में साहस तथा आत्मविश्वास होता है, वह अपनी सुरक्षा के लिए दुराचारी मनुष्य की हत्या तक कर डालने की हिम्मत रखती हैं। साथ ही 'निरालाजी' की नारियाँ मजदूरों में शिक्षा का प्रचार भी करती हैं। 'निरालाजी' कहते थे कि सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि पहले सांस्कृतिक धरातल पर सम्पूर्ण देश तथा समाज की चेतना उद्बुद्ध की जाय अन्यथा राजनीतिक स्वतन्त्रता निरर्थक होगी। इसीलिए वे शिक्षा के अधिकाधिक प्रचार पर जोर देते हैं, जबकि अंग्रेज़ी सरकार सदैव सीमित शिक्षा की नीतियाँ ही कार्यान्वित करती रही।

---

१. 'कर्मभूमि' : आठवाँ संस्करण, २०११, पृ० १०७

पहले कहा जा चुका है कि इस नवीन शिक्षा ने शासक और शोषित नामक दो सांस्कृतिक वर्ग का निर्माण किया, जिसमें परस्पर विरोध और टकराहट की स्थिति उत्पन्न हुई। इस विरोध का परिणाम यह हुआ कि शारीरिक श्रम तथा बौद्धिक श्रम दो भिन्न वस्तु मान लिए गए। दोनों की अपनी अलग-अलग सीमाएँ तथा उनके अलग-अलग मूल्य निश्चित किए गए। फलत: दोनों के बीच कोई सामंजस्य सूत्र नहीं रहा और इसके अभाव में दोनों वर्गों के बीच नफ़रत की भयंकर दीवार खड़ी होती गई। बौद्धिक श्रम शारीरिक श्रम की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् समझा गया तथा शारीरिक श्रम को तुच्छ तथा हेय माना गया। फलतः समाज में शारीरिक श्रम करने वालों में जहाँ हीनता की ग्रन्थि विकसित हुई, वहाँ बौद्धिक श्रम करने वालों में अपने को दूसरों की तुलना में श्रेष्ठ समझने का भाव भी विकसित हुआ। सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से कहना नहीं होगा कि यह दोनों ही प्रवृत्तियाँ घातक ही बनीं। जनसामान्य वर्ग अपनी हीन भावना के कारण सांस्कृतिक विकास में सहयोग देने में असमर्थ रहा और मध्यवर्ग अपनी खोखली प्रतिष्ठा के प्रदर्शन में अपनी सांस्कृतिक भूमिका ही भूल गया। मध्यवर्ग की इस खोखली प्रतिष्ठा भावना को प्रेमचन्द ने सबसे अधिक समझा और उसे वाणी प्रदान की।

'सेवासदन' उपन्यास में उमानाथ जब सुमन के लिए लड़का तलाश करने के निमित्त किसी गाँव में पहुँचते हैं तो प्रतिष्ठा और मर्यादा प्रदर्शित करने के लिए—गाँव के नाई और कहार खेतों से बुला लिए जाते, कोई अपना बड़प्पन दिखाने के लिए उनसे पैर दबवाता, कोई धोती छँटवाता। जब तक उमानाथ वहाँ रहते, स्त्रियाँ घरों से न निकलतीं, कोई अपने हाथ से पानी न भरता, कोई खेत में न जाता।'[1] लेकिन प्रेमचन्द के आदर्श पात्र उमानाथ को ऐसे घर पसन्द नहीं आते। वहाँ उन्हें एक झूठा प्रदर्शन दिखायी पड़ता जिससे वे घृणा करते थे। स्पष्ट है कि इस झूठी प्रतिष्ठा की रक्षा का मूल आधार शारीरिक श्रम से मुक्त होना है। वस्तुत: यह प्रवृत्ति सामंतवादी संस्कृति की है, जिसमें स्वयं कोई काम नहीं किया जाता, वरन् सारे कार्य नौकरों तथा दास-दासियों से कराये जाते हैं और स्वयं विलासिता की जिन्दगी बसर की जाती है। लेखक यह समझता है कि आधुनिक शिक्षा इस विलासिता की प्रवृत्ति को ओर अधिक प्रोत्साहन प्रदान करती है। 'निर्मला' उपन्यास में भालचन्द्र सिन्हा नामक व्यक्ति पं० मोटेराम शास्त्री के सम्मुख अपने बड़प्पन का रोब गाँठने के लिए एक ही साथ कई-कई नौकरों का नाम लेकर पुकारता है, जबकि सच्चाई यह है कि यह व्यक्ति महा कंजूस है तथा

---

१. 'सेवा सदन' : चौदहवाँ संस्करण, २००५, पृ० १५

उच्च मूल्यों से विहीन, संकीर्ण, लोभी प्रवृत्ति का व्यक्ति है। उनके यहाँ एक भी नौकर नहीं टिकता।'[1]

'ग़बन' उपन्यास का तो मूल प्रतिपाद्य विषय ही मध्यम वर्ग की झूठी मर्यादा तथा बड़प्पन का दम्भ है। मध्यम वर्ग आज भी किसी-न-किसी रूप में इस झूठी प्रतिष्ठा के जाल में फँसा हुआ है जिसकी रक्षा के लिए वह ग़लत-से-ग़लत कार्य करने में भी नहीं हिचकता। रामनाथ की भाँति वह ग़बन करता है और दूसरों से माँग-माँगकर इकट्ठी की हुई वस्तुओं के आधार पर अपने को प्रतिष्ठित समझने का भ्रम पालता है। वस्तुतः इसके पीछे कारण उसकी हीन भावना ही है, जो आधुनिक शिक्षा की ही उपज है। इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से निम्न वर्ग के करीब होते हुए भी मध्यवर्ग बौद्धिक श्रम करने के कारण अपने को निम्नवर्ग से श्रेष्ठ समझता है अतः निम्नवर्ग के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं बन पाता। यही नहीं मध्यम वर्ग प्रायः निम्नवर्ग की तुलना में भी आर्थिक संकट में अपने को पाता है, क्योंकि निम्नवर्ग प्रदर्शन के नाम पर पैसा नहीं खर्च करता जबकि मध्यमवर्ग प्रदर्शन के पीछे तबाह रहता है। ऐसी दशा में मध्यम वर्ग की कुंठाओं में वृद्धि हो जाना स्वाभाविक ही है। और अन्ततः उसकी यह कुंठा आक्रोश का रूप धारण करके विभिन्न दिशाओं में व्यक्त होती है। उसके लिए सांस्कृतिक परम्परा और जीवन मूल्य निरर्थक और मूल्यहीन हो जाते हैं तथा व्यावहारिकता और अवसरवादिता को वह जीवन-दर्शन मान लेता है।

यही कारण है की आज मध्यमवर्ग सांस्कृतिक मूल्यहीनता की स्थिति से गुज़र रहा है। उसके सम्मुख सभी परम्परित सांस्कृतिक मूल्य विघटित हो गए हैं। जबकि निम्न-वर्ग आज भी अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं का निर्वाह कर लेता है। दया, सहानुभूति, प्रेम तथा अतिथि-सत्कार आदि जहाँ मध्यम वर्ग में अपना अर्थ खो चुके हैं, वहाँ निम्न वर्ग में इन्हें आज भी देखा जा सकता है। तात्पर्य यह कि सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति शिक्षित-अशिक्षित समाज के भिन्न दृष्टिकोण निर्मित हो गए हैं। उनकी सांस्कृतिक रुचियाँ भी अलग-अलग हैं। नृत्य, संगीत, कला आदि को देखने के दोनों के दृष्टिकोण में भी अन्तर है। 'कर्मभूमि' के रैदास चमारों के समाज में स्त्री-पुरुष का साथ-साथ नाचना लज्जास्पद नहीं माना जाता, लेकिन अमरकान्त के शिक्षित समाज में यह एकदम निन्दनीय कार्य है। अमरकान्त पहली बार यह महसूस करता है कि इन निर्धन ग्रामीणों के नृत्य में कितना उन्माद है, कितना आनन्द है।[2] लेकिन अमरकान्त मुन्नी का अन्य पुरुषों के साथ नाचना नहीं पसन्द करता और न ही स्वयं उसमें सम्मिलित

---

१. 'निर्मला' : ग्यारहवाँ संस्करण, १९५५, पृ० २६

२. 'कर्मभूमि' : आठवाँ संस्करण, २०११, पृ० १६८

ही होता है। इसलिए कि अमरकान्त संगीत नृत्य आदि में रुचि नहीं रखता। वह तो कालेज के सम्मेलनों में कई बार ड्रामा खेल चुका है, स्टेज पर नाचा भी है, गाया भी है पर उस नाच-गाने में और इस नाच-गाने में बड़ा अन्तर है। वह विलासियों की कामक्रीड़ा है, तो यह श्रमिकों की स्वच्छन्द केलि।[1] श्रमिकों का यह नृत्य देखकर अमर का दिल सहम जाता है। प्रश्न यह है कि दोनों वर्गों के संगीत नृत्य तथा कला सम्बन्धी दृष्टिकोणों में यह अन्तर क्यों है ? वस्तुतः शारीरिक श्रम को हेय समझने की दृष्टि ही इसका भी कारण है, क्योंकि नृत्य में शारीरिक श्रम अपेक्षाकृत अधिक होता है। अतः मध्यम वर्ग शारीरिक श्रम न कर पाने की अपनी असमर्थता में उसे हेय समझता और उसकी पूर्ति के लिए वेश्याओं को प्रोत्साहन देता है। वह नृत्य को विलासिता की दृष्टि से देखता है। लेकिन अशिक्षित समाज को नृत्य और संगीत, आनन्द और उन्माद की अवस्था में पहुँचा देते हैं। क्योंकि यह वर्ग शारीरिक श्रम पर ही आधारित है। इस वर्ग के लिए नृत्य तथा संगीत विलासिता के साधन नहीं, वरन् जीवन के पोषक तत्त्व हैं। शिक्षित मध्यवर्गीय समाज के सांस्कृतिक विघटन का यह स्वरूप हम यूरोपीय तथा अन्य सभ्य देशों में नहीं पाते। भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं तथा नवीन शिक्षा के संयोग से ही यह विघटन की स्थिति उत्पन्न हुई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी उपन्यास साहित्य में उपन्यासकारों ने आधुनिक शिक्षा से उत्पन्न तमाम बुराइयों का विश्लेषण विवेचन करके अन्ततः इस नवीन शिक्षा के प्रति अपने असन्तोष को व्यक्त किया है और शिक्षा की व्यापकता तथा उसकी व्यावहारिक उपयोगिता पर सदैव बल दिया है। उनकी दृष्टि में शिक्षा का आदर्श स्वस्थ जीवन का विकास तथा सुखी जीवन उपलब्ध करना है। इस प्रकार ये लेखक पाश्चात्य ढंग की आधुनिक शिक्षा को स्वीकार न करके प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति को ही अधिक श्रेयष्कर मानते हैं। राजनीतिक जीवन में गांधीजी ने भी इस शिक्षा का विरोध किया था और नये ढंग की शिक्षा प्रारम्भ की थी। उनके द्वारा प्रेरित होकर उस समय हजारों लोगों ने स्कूल कालेज की शिक्षा छोड़ दी और गांधी द्वारा स्थापित राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा ग्रहण करने लगे। गांधीजी का यह कदम शिक्षा के क्षेत्र में निश्चय ही एक क्रान्तिकारी कदम था, जो 'बुनियादी शिक्षा' के नाम से भारतीय शिक्षा के इतिहास में विख्यात है। यह 'बुनियादी शिक्षा' या 'नई तालीम' राष्ट्रीय ढंग की शिक्षा थी तथा इसमें 'मातृभाषा' को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया गया था और प्राचीन भारतीय संस्कृति को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना से इसका स्वरूप निश्चित किया गया था। हिन्दी उपन्यासकारों में भी शिक्षा

---

१. 'कर्मभूमि' : आठवाँ संस्करण, २०११, पृ० १७०

की यह नई चेतना वर्तमान थी और इसीलिए उन्होंने पश्चिमी शिक्षा का विरोध किया और भारतीय संस्कृति तथा परम्परा के अनुरूप शिक्षा-व्यवस्था के कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने पर जोर दिया। उपन्यासकारों में विशेषकर प्रेमचन्द युग के उपन्यास-कारों में, चाहे वे पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' हों या चतुरसेन शास्त्री, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह हों या भगवतीप्रसाद वाजपेयी, वृन्दावनलाल वर्मा हों या जयशंकर 'प्रसाद', विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' हों या 'निराला'—सब-के-सब शिक्षा-पद्धति के समर्थक हैं और अपने उपन्यासों में स्थान-स्थान पर ये लेखक यह दिखाना नहीं भूलते कि आधुनिक पश्चिमी शिक्षा ने भारतीय प्रतिभाओं को किस प्रकार पंगु और शक्तिहीन बनाया है। प्रकारान्तर से ये लेखक यही कहना चाहते हैं कि शिक्षा की यह व्यवस्था, जो केवल 'किरानी' तैयार करने की दृष्टि से अपना औचित्य रखती है, आधुनिक भारत की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए आदर्श नहीं कहला सकती। उसमें परि-वर्तन नितान्त अपेक्षित है। वैसे इन लेखकों की बातें सम-सामयिक परिवेश में और अधिक सार्थक लगती हैं, क्योंकि आज तमाम विश्वविद्यालयों में शिक्षा-व्यवस्था के प्रति एक व्यापक असन्तोष फैलता जा रहा है, जिसके कारण आये दिन इन विश्वविद्यालयों में हड़तालों और जलूसों का माहौल बना रहता है और जगह-जगह आगजनी तथा मारपीट की घटनाएँ घटित होती हैं, जिनके कारण न केवल विश्वविद्यालय का ही, बल्कि सम्पूर्ण समाज का वातावरण तनाव और संघर्षपूर्ण बना रहता है। अवश्य ही इनके पीछे राजनीतिक तथा आर्थिक सामाजिक अन्य कई महत्त्वपूर्ण कारण मौजूद हैं, लेकिन इन कारणों के साथ ही शिक्षा-पद्धति सम्बन्धी वर्तमान व्यवस्था की विसंगतियों से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। इधर छात्रों तथा अध्यापकों से लिए जाने वाले देश-व्यापी साक्षात्कारों के विवरणों से यह स्पष्ट हो गया है कि वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए आज जिस ढंग की शिक्षा भारतीय विश्वविद्यालयों में दी जाती है, वह पर्याप्त नहीं हैं। अतः व्यापक स्तर पर सम्पूर्ण भारतीय छात्र वर्ग अपने लिये एक अभिनव शिक्षा-व्यवस्था की माँग कर रहा है। वस्तुतः यह स्थिति आसानी से टालने के योग्य अब नहीं रह गई है और न ही मात्र अनुशासनहीन कार्य कहकर अब और अधिक दिनों तक इसकी उपेक्षा ही की जा सकती है। वस्तुतः यह काल ही, जैसा कि हमने पहले ही निवेदन किया है, सांस्कृतिक संक्रमण का काल है, जिसमें हर चीज़ बदलती हुई नजर आ रही है और हर पुरानी वस्तु अपना नया संस्कार करने में लगी है। ऐसी दशा में आज अगर शिक्षा-व्यवस्था में, जो अपनी जिन्दगी के लगभग सौ साल पूरी कर चुकी है, परिवर्तन की माँग की जाती है तो यह कोई असंगत बात नहीं लगती।

वैसे आधुनिक काल में आकर एक तो उपन्यासों के विषय भी स्थूल सामाजिक

जगत् की अपेक्षा सूक्ष्म मानसिक जगत् हो जाने से तथा दूसरे शिक्षा-व्यवस्था में समय-समय पर होने वाले न्यूनाधिक परिवर्तन के कारण, शिक्षा की यह समस्या उपन्यास-कारों को बहुत अधिक आकृष्ट नहीं कर सकी। अतः प्रेमचन्द के बाद उपन्यासों में इस समस्या पर प्रायः बहुत कम ही प्रकाश डाला गया। जहाँ प्रकाश डाला भी गया, वहाँ मूल समस्या के रूप में नहीं, बल्कि, उसके अलग-अलग विभाग करके—यथा अछूत-शिक्षा की समस्या के रूप में 'शेखर : एक जीवनी' में तथा 'नारी शिक्षा की समस्या' के के रूप में 'सुनीता', 'कल्याणी', 'दादा कामरेड' तथा 'पार्टी कामरेड' में जिनका विवेचन हम इन्हीं शीर्षकों के अन्तर्गत पहले भी कर चुके हैं, जिनकी पुनरावृत्ति की कोई आवश्यकता यहाँ हम नहीं समझते। फिर भी इतना अवश्य है कि 'शिक्षा' आज भी हमारे लिए एक समस्या बनी हुई है तथा उसका भावी रूप क्या हो, इसके बारे में तमाम शिक्षाशास्त्रियों में अभी भी कोई ताल-मेल नहीं बैठ पाया है।

खानपान

खानपान का सम्बन्ध सांस्कृतिक तथा सभ्यता के साथ अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। संस्कृति सर्वांश में जीवन का समुच्चय होती है, अतः जीवन का अनिवार्य आधार होने के नाते खानपान का उससे सम्बन्धित होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि विभिन्न संस्कृतियों में पले बढ़े लोगों की खानपान की सामग्रियों में भी पर्याप्त अन्तर देखने में आता है और बहुत कुछ उनके खानपान की ये विभिन्न सामग्रियाँ भी उनकी संस्कृति के निर्माण तथा विकास में सहायता पहुँचाती हैं। यही कारण है कि खानपान की विविधता के कारण रुचियों, संस्कारों तथा प्रवृत्तियों में भी विविधता उत्पन्न हो जाती है और रुचियों, संस्कारों तथा प्रवृत्तियों की यह विविधता ही विभिन्न रूपों में विविध संस्कृतियों का निर्माण करती है।

वस्तुतः खानपान प्रत्येक जीवधारियों के लिए सर्वाधिक अनिवार्य आधार है—जीवन संचालित रखने का। यह जीवन-रक्षा के लिए अनिवार्य शर्त है। बग़ैर भोजन के कोई भी जीवधारी प्राणी अधिक दिनों तक ज़िन्दा नहीं रह सकता, यह सब जानते हैं। और यह भी सब को मालूम है कि जब से इस सृष्टि में मनुष्य पैदा हुआ उसने कुछ-न-कुछ खाने का कार्य अवश्य सम्पादित किया, चाहे वह वृक्ष-रस अथवा फल-फूल ही क्यों न हो। धीरे-धीरे अपनी विकसित मानसिक अवस्था के समानान्तर ही मनुष्य ने अपनी खाने-पीने की सामग्रियों में भी विकास किया। विभिन्न पशुओं को अपना आहार बनाने से लेकर उसने कृषि द्वारा खाने के लिए सुस्वादु तथा पौष्टिक अन्न के उत्पादन तक न जाने कितनी कठिनाइयाँ झेली होंगी, जिन्हें जानने का कोई समुचित साधन हमारे पास उपलब्ध नहीं है, केवल इस सम्बन्ध में अनुमान ही हमारी सहायता

कर सकता है। सबसे से प्राचीन ग्रन्थ जो आज हमें उपलब्ध है, वह है 'वेद', जिसमें खाने-पीने की विविध सामग्रियाँ गिनायी गई हैं तथा विभिन्न अन्नों के उत्पादन का भी उल्लेख है। तात्पर्य यह कि वैदिक काल में कृषि कार्य होने लगा था और लोग अब अपने खान-पान में जानवरों के मांस तथा फलों के साथ-साथ अन्न का भी प्रयोग करने लगे थे। कृषि कर्म के साथ-ही-साथ पशु-पालन का भी प्रचलन हो गया था, जिससे गायों तथा भैंसों का दूध भी प्राप्त हो जाता था जो भोजन के काम में आता था। अन्न में गेहूँ तथा जौ मुख्य था। दूध तथा उससे बनी हुई विभिन्न वस्तुएँ जैसे—दही, मक्खन, आदि भी लोग प्रयोग में लाते थे। इस समय तक शाक-सब्जी का भी काफी अनुसंधान हो चुका था तथा फल तो खाने के काम में पहले से आते ही थे जो वैदिक काल में भी बने रहे। विशेष अवसरों जैसे प्रीतिभोज, विवाह तथा पारिवारिक समारोह पर आमिष भोजन का भी व्यवहार होता था। क्रमश: गो-वध अनुचित माना जाने लगा था, जैसा कि अनेक लेखों में गाय के लिए प्रयुक्त 'अट्न्या' नाम से प्रकट होता है। वैसे आश्चर्य का विषय है कि इतना सब होने पर भी वैदिक काल में नमक के व्यवहार के सम्बन्ध में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता—'ऋग्वेद' में भी नहीं।[1] पीने के लिए जल सरिताओं स्रोतों तथा 'अवट' अथवा कृत्रिम जल-कूपों से प्राप्त होता था, जिनमें से पाषाण के एक पहिए द्वारा उसे ऊपर खींचकर लकड़ी की बाल्टियों में भरते थे। उस युग में केवल दूध और जल ही पेय न थे। आसवपान भी बहुत मात्रा में प्रचलित था। साधारण अवसरों पर लोग सुरा का प्रयोग करते थे। बाद के युगों में इसके प्रयोग की निन्दा की गई। यज्ञ तथा धार्मिक अवसरों पर 'सोम' नामक पौधे के मादक रस का प्रचुर प्रयोग होता था। वैदिक मन्त्रों में मद्यपान करने वाले को बहुधा दोषी बताया गया है। वेद घोषित करते हैं 'क्रोध', द्यूत क्रीड़ा तथा सुरापान मनुष्य को पाप कर्म के लिए प्रेरित करते हैं।

लेकिन भारतीय इतिहास के मौर्य काल (३२२-१८५ ई० पूर्व) से पूर्व पशु-बध क्रूर, नृशंस और घृणास्पद माना जाने लगा था और भोजन में मांस का प्रयोग दिन-पर-दिन कम पड़ गया था। फिर भी यूनानी निरीक्षकों के अनुसार उत्तर-पश्चिम सीमा पार के भारतीयों का भोजन चावल और स्वादिष्ट परिपक्व मांस था जो मेज पर स्वर्णिम थालों में परोसा जाता था तथा लोग सामूहिक रूप से भोजन करते थे। धार्मिक समारोहों और उत्सवों के अतिरिक्त मद्य-पान की प्रथा का इस युग में विशेष प्रचार नहीं था।

---

१. 'बी० एन० लूनिया' : 'भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का इतिहास', सप्तम संस्करण, १९६८, पृ० ४८

गुप्तकाल में (लगभग ३००-५०२ ई० सन् तक) सबसे पहले भोजनोपरान्त पान खाने का उल्लेख मिलता है तथा मुगलकाल में भोजनों के बहुमूल्य स्वादिष्ट तथा अत्युत्तम और विशिष्ट होने का। हिन्दुओं के सादे, रूखे-सूखे भोजन का स्थान अब धनी और उच्च वर्गों के चटपटे, मसालेदार बहुमूल्य व विशिष्ट भोजन ने लें लिया था। मध्यपूर्व में बहुमूल्य विविध भोजन सामग्री का उपयोग होने लगा था तथा मध्य ऐशिया और ईरानी अमीरों के रीति-रिवाजों का अनुकरण करके हिन्दू सामंत भी बड़ी-बड़ी दावतें देने लगे थे। दुर्लभ फल, अद्भुत उबाले हुए पदार्थ पाकशास्त्र कला के अनुसार बनाये गये स्वादिष्ट, रुचिकर भोजन, जिनका विकास ईरान के समाज में हुआ था, भारत में आ गये थे और शीघ्र ही हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों के ही धन-सम्पन्न वर्गों में लोकप्रिय हो गये। मांस भोजन का सामान्य पदार्थ था, परन्तु गो-मांस प्रयुक्त नहीं होता था। फलों का खूब प्रचार था और बहुधा ये बुखारा तथा समरकंद से मँगाये जाते थे। ग्रीष्मकाल में सभी श्रेणी के लोग बर्फ़ का प्रयोग करते थे, परन्तु सामंत लोग इसका प्रयोग साल भर करते थे। इस काल में मद्यपाम का दुर्व्यसन भी अधिक था और विदेशों से अधिक-से-अधिक उत्तम मदिरा मँगाकर लोग उसका प्रयोग करते थे, विशेषकर धनी-मानी लोग।

स्पष्ट है कि जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया, मनुष्य के भोजन की सामग्रियों में भी विकास होता गया और आज की हमारी मानव सभ्यता इतनी अधिक विकसित तथा विस्तृत हो चुकी है कि खाने-पीने की न जाने कितनी-कितनी चीजें आज प्रचलित हो गई हैं, जिनके नामों की गणना भी कम मुश्किल कार्य नहीं है। वस्तुतः भोजन की अनेकानेक सामग्रियाँ आधुनिक समाज में उपलब्ध हो गई हैं और अपनी रुचि तथा पसन्द के अनुरूप आदमी उनका प्रयोग कर सकता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि भोजन का सम्बन्ध वाह्य वातावरण तथा हवा-पानी से भी है। इस दृष्टि से वातावरण तथा मौसम विशेष की सर्दी गर्मी हमारे भोजन को प्रभावित किए बिना नही रह सकती। निश्चय ही ठण्डे प्रदेश के लोगों का भोजन वही नहीं हो सकता जो गरम प्रदेश के लोगों का होगा। गरम प्रदेश का व्यक्ति साधारण सादा भोजन करके तथा हरी शाक-सब्जी का प्रयोग करके मजे से रह सकता है, जबकि ठण्डे प्रदेश के व्यक्ति के लिए अण्डा तथा मांस, मछली खाना नितांत आवश्यक है, क्योंकि उसके भोजन में जब तक पर्याप्त मात्रा में गर्मी पैदा करने वाले तत्त्व नहीं रहेंगे तो उसका जीना मुश्किल हो सकता है यूरोप और अमेरिका के देशों से हमारे भारतवर्ष का खान-पान यूँही नहीं भिन्न रहा है, उसके पीछे इस भौगोलिक कारण की उचित और सुनिश्चित पृष्ठभूमि रही है। यूरोप और अमेरिका के देश में हिन्दुस्तान की अपेक्षा कहीं अधिक ठण्डे देश हैं, अतः उनके खान-पान में भी भिन्नता का आ जाना

स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि इन पश्चिमी देशों में जहाँ मुर्ग-मुसल्लम, अण्डे और मांस का धड़ल्ले से प्रयोग होता है, वहाँ हमारे हिन्दुस्तानी भाई अधिकांशत: शाकाहार पर ही जीवित हैं और अच्छी तरह जीवित हैं। हाँ, इधर अंग्रेजों के प्रभाव में आकर हिन्दुस्तानी लोगों के खानपान में भी मुर्ग-मुसल्लम, मांस तथा अण्डे का प्रयोग होने लगा है, लेकिन ऐसे लोगों की संख्या यहाँ आज भी कम ही है, जिन्हें ये सारी चीज़ें नसीब हो सकती हैं। अन्यथा आज भी भारत की अधिकांश जनता अपना जीवन शाक-पात तथा फल-फूल खाकर ही व्यतीत करती है। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि आज दुनिया खाने-पीने के मामले में काफ़ी आगे बढ़ चुकी है।

वस्तुत: स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क निर्मित होता है और स्वस्थ मस्तिष्क ही स्वस्थ विचारों का जनक है—इस सूत्र से इन्कार करना सम्भव नहीं है। प्राय: ऐसा देखा गया है कि जिन लोगों के खानपान में स्वस्थकर वस्तुओं का अभाव होता है और निरन्तर उन्हें दूषित तथा अस्वस्थ भोजन करना पड़ता है, उनका स्वास्थ्य भी धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है। अत: स्वस्थ रहने के लिए यह आवश्यक है कि खान-पान पर इस दृष्टि से ध्यान दिया जाय। खानपान के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संतुलित भोजन का प्रयोग किया जाय। भोजन में सन्तुलन का क्या महत्त्व है, इस विषय पर शरीर विज्ञान की बहुत-सी पुस्तकों में प्रकाश डाला गया है, जिसकी पुनरावृत्ति की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। लेकिन यह तय बात है कि उचित मात्रा अथवा सन्तुलनपूर्ण भोजन स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत ही लाभदायक होता है और विशेष-कर आज के युग में जब खाने-पीने की अनेकानेक सामग्रियों का निर्माण होने लगा है, इस सन्तुलन और उचित मात्रा का औचित्य और भी बढ़ जाता है।

सांस्कृतिक दृष्टि से खान-पान के महत्त्व का कारण यह है कि खान-पान हमारी रुचियों, कार्यकलापों तथा व्यवहारों को प्रभावित करता है। जिस जाति या वर्ग विशेष का खान-पान जैसा होता है, उसके कार्य-कलाप भी उसी के अनुरूप होते हैं। इस दृष्टि से खान-पान के कई भेद भी किए गए हैं, यथा—'तामसिक भोजन, सात्विक भोजन, मधुर अथवा राज भोजन' इत्यादि। स्पष्ट ही इस नामकरण के पीछे मनुष्य की प्रवृत्तियों, रुचियों और कार्य-कलापों का सांकेतिक अर्थ निहित है। इस सम्पूर्ण सृष्टि में तीन गुणों का विधान माना गया है।—सत्, रज, तम्, जिनसे मनुष्य की प्रवृत्तियों का निर्देशन किया गया है, जैसे सत् से सात्विक प्रवृत्ति का व्यक्ति और रज से राजसी प्रवृत्ति का व्यक्ति का वर्णन और तम से तामसिक प्रवृत्ति का व्यक्ति। इन तीन प्रमुख प्रवृत्तियों के पीछे उपर्युक्त तीन प्रकार के खाद्य पदार्थों का ही हाथ रहा है। वस्तुत: खाद्य पदार्थों से हमारे शरीर में रक्त का निर्माण होता है, जो मनुष्य का 'जीवन रस' है, जिसके अभाव में उसका जिन्दा रहना सम्भव नहीं है। मनुष्य का यह 'जीवन

रस' कई प्रकार का होता है तथा उसमें कार्य करने की अलग-अलग क्षमताएँ होती हैं, जिनका निर्माण खान-पान की सामग्रियों के आधार पर ही होता है। सेना के सिपाहियों को विशेषकर ऐसी चीजें खाने को दो जाती हैं, जिनसे उनके खून में गर्मी की मात्रा अधिक रहे, ताकि उनकी प्रवृत्ति तामसिक यानी कि मार-काट की हो। इसी प्रकार योगियों और तपस्वियों का भोजन शुद्ध सात्विक होता है, जिसके कारण धीरे-धीरे उनकी तामसिक प्रवृत्तियाँ नष्ट होती जाती हैं और उनमें सात्विक आचार-विचार जन्म लेता जाता है। राजाओं के भोजन में ऐश-आराम की सामग्रियाँ अधिक होती हैं, जिनके कारण वे विलासी प्रवृत्ति के हो जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि खान-पान का मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है और व्यक्तित्व निर्माण की प्रत्येक श्रेणियों पर इसका प्रभाव देखा जा सकता है। यही कारण है कि यह हमारे विवेचन का विषय भी बन जाता है।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य में खान-पान का यद्यपि बहुत अधिक उल्लेख नहीं मिलता, क्योंकि उपन्यास-साहित्य में खान-पान की स्थूल सामग्रियाँ गिनाने का न तो उपन्यासकार के पास समय होता है और न उसकी कोई वहाँ विशेष आवश्यकता ही होती है, जैसा कि महाकाव्यों में देखा गया है, लेकिन तो भी स्थान-स्थान पर कुछ खाने-पीने की वस्तुओं का उल्लेख अवश्य मिलता है। वैसे यह विषय कविता के लिए ही अधिक उपयुक्त होता है और काव्य में खान-पान की रस्मों का वर्णन उत्सव भाव से होता भी आया है। महाकाव्यों में, जहाँ अतिशयोक्ति का आ जाना आम बात मानी जाती है, किसी राजा और राजकुमारी के ब्याह के अवसर पर आयोजित भोज का वर्णन अगर आपने पढ़ा हो और हम समझते हैं, आपने जरूर पढ़ा होगा—तो आप हमारी बात पर कदापि आश्चर्य नहीं करेंगे। ऐसे भोजों का वर्णन करते समय कवि पता नहीं, यह कैसे भूल जाते हैं कि जितनी वस्तुओं का नाम वे गिना रहे हैं, वे सब क्या उस ऋतु में उपलब्ध भी होती हैं, जिस ऋतु में विवाह-भोज सम्पन्न हो रहा है, ऐसा एक वर्णन हमें भी प्राप्त हुआ है यह अधिक गौरव की बात है, जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि हमारे उपन्यास-लेखक भी इस मानी में किसी से कम नहीं हैं। यथा अवसर हम आगे अपने उक्त उपन्यासकार को उद्धृत करके आपको जिज्ञासा की शान्ति करेंगे। लेकिन ऐसे उदाहरण बहुत कम ही मिलते हैं। अधिकांश उपन्यासकार तो बस भोजन की चर्चा करके आगे बढ़ जाते हैं, वहाँ रुक कर खाद्य सामग्रियों का नाम गिनाना वे आवश्यक नहीं समझते। पं० किशोरीलाल गोस्वामी अपने उपन्यास 'गुप्त गोदना' (१९२३) में एक खान-पान का ऐसा ही विवरण प्रस्तुत करते हैं—'अस्तु जब खाना-वाना तैयार हो गया तो सितारा ने अख्तर को जगाया और उसने उठ और मामूली

कामों से फुर्सत पाकर माँ और बहिन के साथ खाना खाया।'[१] क्या खाया, यह बताने का अवकाश लेखक को नहीं है और न ही इसे वह आवश्यक ही समझता है।

वैसे हिन्दी के प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' में बरफ़ी खाने का एक स्थान पर उल्लेख मिलता है[२] तथा 'गुप्त गोदना' उपन्यास में पान खाने का।[३] साथ ही किशोरीलाल गुप्त के उपन्यास 'राधा' में दूध और दही खाने का भी उल्लेख मिलता है।[४] अपने इसी उपन्यास में गुप्तजी ने उपन्यास की नायिका राधा द्वारा 'भोजन' विषय पर एक विद्वत्तापूर्ण भाषण का भी आयोजन किया है, जिसमें वह भोजन में उचित मात्रा तथा सन्तुलन पर प्रकाश डालती है तथा स्वस्थ भोजन के लिए उचित मात्रा का निर्देश करती है।[५] यह भाषण मथुरा शहर के एक मन्दिर में आयोजित होता है, जिसमें शहर भर की स्त्रियाँ उपस्थित होती हैं। निश्चय ही इस आयोजन के पीछे लेखक का उद्देश्य लोगों को खान-पान के संदर्भ में उचित निर्देश देना रहा है।

खान-पान के सम्बन्ध में प्रारम्भकालीन उपन्यासकारों में सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यासकार मेहता लज्जाराम शर्मा ने भी यदा-कदा अपने विचार व्यक्त किए हैं। इस सम्बन्ध में मेहताजी मांसाहार की निन्दा करते हैं और सात्विक भोजन तथा शाकाहार का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं तथा खाना बनाने वालों को धार्मिक शिक्षा दिलाना चाहते हैं ताकि वे मांस पकाने का काम करने से इन्कार कर दें। अपने 'आदर्श हिन्दू' उपन्यास में वे लिखते हैं—'मैं मांस भक्षण को बहुत बुरा समझता हूँ। चाहे कैसा भी विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मण हो, किन्तु मांस-मछली खाने वाले से मुझे स्वभाव से घृणा है, किन्तु मैंने सुना है कि जो महाप्रसाद बनाने का कार्य करने वाले हैं, उन्हें तीन दिन पहले से मछली का त्याग करना पड़ता है। मेरी समझ में पाचकों का वेतन बढ़ाकर उनके कुटुम्ब में धर्म शिक्षा का प्रचार करके ऐसे पाचकों को नियत करना चाहिये जो इस कुकर्म से सदा ही बचे रहना अपना कर्त्तव्य समझें।'[६]

बाबू ब्रजनन्दनसहाय ने भी अपने उपन्यासों में खानपान के अवसरों का उल्लेख किया है और यद्यपि सामग्रियाँ गिनाने की ओर इनका भी ध्यान अधिक नहीं रहा है, फिर भी इन्होंने भोजनों की तैयरियों और भोज समारोहों का चित्र बखूबी उतार दिया

---

१. 'गुप्त गोदना' : 'तीसरा हिस्सा, प्रथम संस्करण, १९२३, पृ० १२
२. 'परीक्षा गुरु' : प्रथम संस्करण, १८८२, पृ० १५३-१५४
३. 'गुप्त गोदना' : प्रथम संस्करण, १९२३, पृ० १४
४. 'राधा' : प्रथम संस्करण, १९१६, पृ० १२८
५. 'राधा' : प्रथम संस्करण, १९१६, पृ० २२४
६. 'आदर्श हिन्दू' : तीसरा भाग, प्रथम संस्करण, १९१५, पृ० २१

है।' अपने उपन्यास 'लालचीन' में सहायजी एक भोज समारोह का इस प्रकार उल्लेख करते हैं—'फिर भोजन की ठनी, एक सजे हुए दालान में दस्तरखान बिछा। उस पर नाना प्रकार के सुरस, स्वादिष्ट भोजन चुने गये। सोने-चाँदी की रिकाबियाँ लाकर रखी गईं। तश्त एवं कटोरियों का बाजार-सा बिछ गया। सुलतान के साथ सब लोग खाने-पीने लगे और देखते-देखते मण्डली में मदपूर्ण मुस्कराते हुए प्याले नृत्य करने लगे। सोने की सुराहियाँ कहकहा भरने लगीं।'[1] इसी प्रकार बाबू ब्रजनन्दनसहाय अपने एक अन्य उपन्यास 'विस्मृत सम्राट' में भी एक भोज समारोह का चटकारे ले-लेकर वर्णन करते हैं और पाठकों की तृष्णा को उत्तेजित करते हैं—'पुष्पों की सुगन्धि से सारा उद्यान सुवासित हो रहा है। इसके साथ कलिया, पोलाव तथा अन्य खाद्य पदार्थों की गन्ध मिलकर एक विचित्र गन्ध पैदा कर रही है, क्योंकि वाटिका में बहुत-सी रावटियाँ पड़ी हुई हैं जिनमें भोजन को सामग्री तैयार रखी हुई है और विविध प्रकार के भोजन प्रस्तुत किए जा रहे हैं। एक ओर हिन्दुओं के लिए भोजन का प्रबन्ध है तो दूसरी ओर मुसलमानों के लिए खाने की तैयारी। बिना रोक टोक के जो आता है, मनमाना खाना खाता है, क्योंकि सर्वसाधारण को आज राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में भोज दिया जा रहा है, चन्दा लेकर नहीं, राजकोष से व्यय करके दान लेकर देना क्या? भीख माँगकर दावत करना क्या?'[2]

इस प्रकार हमने देखा कि प्रारम्भिक युग के उपन्यासकार खानपान का विवरण देने में रुचि रखते हैं और सोत्साह ऐसे भोजोत्सवों का वर्णन करते हैं। आगे चलकर प्रेमचन्दकाल में भी इस विषय का उपन्यासकारों ने ध्यान रखा है। और ऐसे स्थलों का यथासम्भव सटीक और प्रभावकारी वर्णन प्रस्तुत किया है। स्वयं प्रेमचन्द ने भी अपने कई उपन्यासों में खान पान की विविध वस्तुओं का उल्लेख किया है। उनके अतिरिक्त अन्य उपन्यासकारों में वृन्दावनलाल वर्मा तथा जयशंकर 'प्रसाद' पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री तथा राधिकारमण प्रसाद सिंह ने अपने उपन्यासों में इस विषय का जीता-जागता चित्र प्रस्तुत किया है। वृन्दावनलाल वर्मा अपने उपन्यास 'अचल मेरा कोई' में एक वृहत् भोज का आयोजन करते हैं तथा उसका बड़ा ही सजीव वर्णन करते हैं—'एक भोज का आयोजन हुआ। एक दूसरे बड़े कमरे में मद्य पार्श्व और एक रंगीन पर्दे का भी प्रबन्ध किया गया। भोज मेज-कुर्सियों पर हुआ। स्त्रियाँ एक ओर अलग बैठी थीं। वे लोग खाते-खाते धीरे-धीरे बातें कर रही थीं और पुरुष

---

१. 'लालचीन' : प्रथम संस्करण, १९१६, पृ० ८३

२. 'विस्मृत सम्राट' : प्रथम संस्करण, १९१०, पृ० १५०

जोर के साथ। पुरुष खाना खाते-खाते कनखियों से स्त्रियों की ओर देख लेते थे।......
भोजन की समाप्ति पर सब लोग रंगमंच वाले कमरे में चले गये।'[१]

इसके अतिरिक्त 'अचल मेरा कोई' उपन्यास में ही एक स्थान पर वर्माजी ने चाय और पकौड़ियाँ खाने का।[२] तथा 'झाँसी की रानी' में लड्डू और श्रीखण्ड खाने का उल्लेख किया है।[३]

जयशंकर 'प्रसाद' 'कंकाल' में व्यालू, खीर तथा पूरियों का खाद्य सामग्री के रूप में उल्लेख करते हैं—

'मंगल ने कहा—'आज व्यालू बनाने की आवश्यकता नहीं, जो कहो, बाजार से लेता आऊँ।'

'इस तरह कैसे चलेगा मुझे हुआ क्या है, थोड़ा दूध ले आओ खीर बना दूँ। कुछ पूरियाँ बची हैं।'

मंगलदेव दूध लेने चला गया।'[४]

इसके अतिरिक्त 'कंकाल' में 'प्रसादजी' मंगल द्वारा आयोजित एक प्रीति-भोज का भी वर्णन प्रस्तुत करते हैं,[५] जिसमें शहर के तमाम लोग सम्मिलित होते हैं। लेकिन उक्त भोज में खान-पान की सामग्रियाँ क्या हैं, इसका उल्लेख नहीं हुआ है। लेकिन 'तितली' में लेखक नमक और तेल के साथ रोटी खाने का उल्लेख करता है।[६] इसी उपन्यास में आगे चलकर जौ, चना और गेहूँ एक में मिलाकर आटा बनाने का उल्लेख हुआ है—'जौ, चना और गेहूँ एक में मिलाकर पिसवाओ। जब बाबू साहब को घर की कुछ चिन्ता नहीं तब जो होगा, घर में वही न खायेंगे?[७] लेकिन पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' अपने उपन्यास 'मनुष्यानन्द' में भंगियों के विवाह के अवसर पर आयोजित एक भोज में कलिया खाने तथा दारू पीने का उल्लेख करते हैं,[८] जो स्वाभाविक भी लगता है।

प्रेमचन्द युग के उपन्यासकारों में इस दृष्टि से दो उपन्यासकार सर्वाधिक महत्त्व-

---

१. 'अचल मेरा कोई' : प्रथम संस्करण, १६४८, पृ० २२
२. 'अचल मेरा कोई' : प्रथम संस्करण, १६४८, पृ० १६५
३. 'झाँसी की रानी' : प्रथम संस्करण, १६४६, पृ० ४६४
४. 'कंकाल' : द्वितीय संस्करण, संवत् १६६५, पृ० ५५
५. 'कंकाल' : द्वितीय संस्करण, संवत् १६६५, पृ० ४७
६. 'तितली' : द्वितीय संस्करण, संवत् १६६५, पृ० २
७. 'तितली' : द्वितीय संस्करण, संवत् १६६५, पृ० २४७
८. 'मनुष्यानन्द : द्वितीय संस्करण, संवत् १६६५, पृ० ७

पूर्ण दिखाई पड़ते हैं, जिन्होंने महाकाव्यों की परम्परा ग्रहण करके खान-पान की हर छोटी-बड़ी वस्तुओं का नामोल्लेख किया है तथा विवरण की यह स्थूलता स्वीकार की है। इनके नाम हैं—राजा राधिका-रमणप्रसाद सिंह और आचार्य चतुरसेन शास्त्री, जिनका उल्लेख हम पहले भी कर चुके हैं। राजाजी अपने उपन्यास 'रामरहीम' में भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ढंग के भोजनों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं। एक तरफ तो वे घी के मालपुए का जिक्र करते हैं[1] और दूसरी तरफ आधुनिक होटलों में नाश्ते का चित्र भी प्रस्तुत करते हैं—'वेटरों के हाथ में प्लेटों का ताँता बँधा था। मक्खन और टोस्ट की, पारिज और पोच की घूम मची थी। रिकाबियों से पीतपट आमलेट की चटपटी सुरभि प्रात:काल की क्षुधा को कुरेद रही थी।'[2] साथ ही इसी उपन्यास में आगे चलकर उपन्यासकार राजा राधिकारमण सिंह ने आँवले का मुरब्बा तथा बनफ़शे की चाय का भी उल्लेख किया है[3] और पश्चिमी ढंग के खान-पान का भी विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है—'पहले प्यालियों में चेरीकौरिटीग्रेपफ्रूट के काश आये। सब ने चमचे से उठाकर रस चखा। मुख में लज्जत आ गई, नसों में बिजली। मुग़ल-टानी शोरबा चला। देखने में खुशरंग, खाने में खुश जायका······तली हुई पाम-फ्री चली। मछली तो पानी की चीज ठहरी, इसलिए साथ-साथ लाल पानी भी चला। शैम्पेन की सरिता बही। मछलियाँ उसी प्रवाह पर तैरती हुई हलक़ के नीचे अतल तल में डूब चली।······पुलाव और खुश्का चला। नवाब साहब ने पूछा—'क्या चीज है मिस्टर अहमद ! यखनी पुलाव ? 'जी नहीं, 'किडनी' पुलाव है—और नूरमहली भी। करिश्तों में तीतरों का दमपोख्त, बटेरों का दो प्याज़ा, सीक़क़बाब, चटनी शाहनाज, टर्की का रोस्ट, गाजर और चुकन्दर की छालियाँ, पालक की सब्जी, हरी मटर की छीमी, उबाले हुए आलू और प्याज······वग़ैरा-वग़ैरा।[4]

आचार्य चतुरसेन शास्त्री अपने एक उपन्यास 'खवास का ब्याह' में तो महाकाव्यों की परम्परा का विधिवत् पालन करते हुए प्रतीत होते हैं। उन्होंने अपने इस उपन्यास में राजा पृथ्वीराज तथा संयोगिता के ब्याह के अवसर पर आयोजित भोज का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। शास्त्रीजी की यह प्रस्तुति सहसा कविचन्द की याद दिला जाती है, जिसने 'पृथ्वीराज रासो' में इस विवाह का तथा तत्संबंधी भोज का अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में उत्सवभाव से वर्णन किया है। 'खवास का ब्याह' उपन्यास

---

१. 'रामरहीम' : प्रथम संस्करण, १९३७, पृ० १८
२. 'रामरहीम' : प्रथम संस्करण, १९३७, पृ० ६४९
३. 'रामरहीम' : प्रथम संस्करण, १९३७, पृ० ६५०
४. 'रामरहीम' : प्रथम संस्करण, १९३७, पृ० ६८९-६९२

से वह अंश प्रस्तुत है—'फिर सोने चाँदी के थार, गिलास, लोटे रक्खे गये और ब्राह्मणों ने जिस परोसनी प्रारंभ की। सबके पहले लड्डुओं की झौवें निकाली गईं, इसके बाद पूरी, सुखपूरी और गुठनेदार बेला कटी हुई लुचैया परसी गई। तदनन्तर पीठी की कचौरी, खस्ता, तेवा, घेवट, जलेबी, मीठी और नमकीन फेनी, सकरपारे, बुंदियाँ, सेव, मिश्रीपाग, कसार-भरे पगे गोझा, खुरमा, गिदौरा, सिरके और शीरे में पगे आम, पिंडखजूर, बिही, अखरोट, नासपाती, पापड़, चना, चिरौंजी, कसेरू, कमलगट्टा आदि नाना विधि चरवण परसे गए।[1]

शास्त्रीजी इसी भोज के सिलसिले में आगे लिखते हैं—'इसके बाद कच्ची रसोई निकली। पहले खीर परसी गई, फिर नींबू, नारंगी, करौंदा, कैथा और इमली की चटनी, पकौड़ी डाली कढ़ी, मूंग की बड़ी, शोरवेदार मैदे और बेसन की तरकारी, खट्टे-मीठे बड़े मैदे और पीठी के भोग से बनी खटमिट्ठी बिढ़ई और सबके अन्त में तंदूरी रोटियाँ और मैदे के माड़े परसे गए।[2]

'अब सालन साग की बारी आई। जिसमें मारू बैंगन, सेम, सेमा, चचेड़ा, करेला, भुरेला, भिंडी, किमाच, कचनार की कली, लौकी, आदि की दो-दो तीन-तीन रकम की तरकारी। लौंग, मिरच, सोंठ, हल्दी, हींग आदि मसाले डाले रायते तैयार किये गए थे। कई प्रकार के दही और मट्ठे के रायते, और कई केवल नींबू में भीगे थे······'राजा सामंतों सहित भोजन करने लगे। तब पंडों ने सरसों, अरबी, राजगिर, रूथा, बथुआ, चौलाई और पालक के साग परसे, जिनमें बाइविडंग और चूक की पुट देकर अलग ही स्वाद लाया गया था। नाल की खली, देवदास, मुर और नीम की कोपों का भी साग प्रस्तुत था। साग हो चुकने पर मसूर, मूंग, उरद, अरहर, चना आदि की दालें और भिन्न-भिन्न स्वाद का भात और सब के पीछे सुअर, साबर, हिरन आदि नाना प्रकार का मांस परोसा गया।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी उपन्यास साहित्य में जैसा कि हम पहले भी स्वीकार कर चुके हैं, यद्यपि खान-पान की सामग्रियों का बहुतायत उल्लेख नहीं मिलता, तो भी इस विषय में हमारे उपन्यासकार सर्वथा मौन नहीं रहे और स्थान-स्थान पर भोजोत्सवों के आयोजनों के माध्यम से उन्होंने तत्संबंधी अपनी जानकारियों से अपने पाठकों को अवश्य ही अवगत कराया है। लेकिन यह प्रेमचन्द काल तक ही सम्भव हो सका है, क्योंकि तब तक उपन्यासों का विषय अपेक्षाकृत स्थूल और बाह्य जीवन रहा

१. 'खवास का ब्याह' : प्रथम संस्करण, १६२७, पृ० १३३
२. 'खवास का ब्याह' : प्रथम संस्करण, १६२७, पृ० १३३
३. 'खवास का ब्याह' : प्रथम संस्करण, १६२७, पृ० १३३-१३४

है। आगे चलकर यह स्थूलता तथा बाह्य जीवन उपन्यासकारों के विषय प्रायः नहीं रह गए उनके स्थान पर सूक्ष्म आन्तरिक जीवन उनका विषय बन गया और मनोविज्ञान की गुत्थियाँ सुलझाना उपन्यासकारों का अभीष्ट बन गया। अतः प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में खान पान सम्बन्धी यह विवरणात्मकता प्रायः देखने में नहीं आती। किसी ने घरों में रोटी सब्जी खाने का उल्लेख कर दिया हो, यथा जैनन्द्र ने 'सुनीता' तथा 'परख' में तो यह दीगर बात है। वैसे इन उपन्यासकारों के पास इतना समय भी नहीं था कि वे खान-पान का विस्तृत ब्योरा प्रस्तुत करें। अतः आधुनिक युग के उपन्यासकार चाहे अज्ञेय हों या यशपाल, इलाचन्द्र जोशी हों या जैनेन्द्र, किसी ने भी पिछले युग के लेखकों की भाँति खानपान की सामग्रियों का विस्तृत विवरण नहीं प्रस्तुत किया। वस्तुतः इन लेखकों के लिए यह अभीष्ट भी न था, क्योंकि ये अपने उपन्यासों में गम्भीर मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक आर्थिक समस्याओं से जूझ रहे थे और ऐसी दशा में खानपान सम्बन्धी विस्तृत विवरण दे पाना उनके लिए क्या किसी के लिए भी संभव नहीं हो पाता।

वेशभूषा : शृङ्गार-प्रसाधन

वेशभूषा का भी संस्कृति तथा सभ्यता से घनिष्ठ संबंध होता है, क्योंकि प्रत्येक संस्कृति तथा सभ्यता के लोगों के वेशभूषे में भी पर्याप्त अन्तर होता है, जिसके आधार पर उक्त संस्कृतियों को पहचाना-जाना जा सकता है। वेशभूषा प्राकृतिक अवस्था पर आधारित होती है, यद्यपि आजकल उसका स्वरूप वैसा नहीं रह गया है और गरम देश के लोग भी कोट-पैण्ट पहनने लगे हैं जो वस्तुतः ठण्डे प्रदेश की वेशभूषा है। लेकिन प्रारम्भ में मनुष्य जाति ने सर्दी-गर्मी से बचाव के लिए ही शरीर ढकना प्रारम्भ किया था। जो कालान्तर में शृंगार प्रसाधन का आवश्यक अंग बन गया और आज हम देखते हैं कि लोग सरद-गरम का उतना ध्यान नहीं रखते, जितने खुद के अच्छे और भड़कीले लगने का।

वेशभूषा का प्रचलन बहुत प्राचीन काल से ही मिलता है। वैदिक काल में वस्त्रों का अच्छा प्रचार था, जो विभिन्न रंगों के होते थे तथा सूत, मृगचर्म तथा ऊन से बनते थे। उस काल में पोशाक के तीन वस्त्र होते थे—अधोवस्त्र जिसे 'नीवि' कहते थे, 'वास' अथवा 'पराधीन' तथा ओढ़ने का वस्त्र जिसे 'अधिवास' 'अत्क' अथवा 'द्रपी' कहते थे। बहुधा वस्त्रों पर स्वर्ण के तारों का कसीदा काढ़ा जाता था। उष्णीय या पगड़ी भी पहनी जाती थी। ब्रह्मचारी श्याम मृग की छाल पहनते थे। स्वर्णाभूषणों तथा पुष्पहारों का प्रयोग, शृंगार प्रसाधन के रूप में होता था। केश लम्बे रखे जाते थे तथा उनमें तेल डालकर कंघा किया जाता था। स्त्रियाँ अपने लम्बे केशों को

गूंथकर चौड़ी वेणियाँ बना लेती थीं। नर-नारी दोनों समान रूप से आभूषणों का प्रयोग करते थे। आभूषणों में स्वर्णहार, कुण्डल, अंगद, कंकण, गजरे, नूपुर आदि प्रमुख थे।

सिंधु घाटी की सभ्यता के जो अवशेष इतिहासकारों को उपलब्ध हुए हैं, उनमें सूती कुर्ता और अन्य दो वस्त्र और होने का उल्लेख मिलता हैं, जिनमें एक तो लोगों के कंधों पर लपेटा जाता था और दूसरा मस्तक पर बाँधा जाता था। पुरुष वर्ग कानों में बालियाँ भी पहनता था तथा दाढ़ी रखकर उसे विभिन्न रंगों से रँगता था। जूते और छाते का प्रयोग भी होता था तथा कुलीन वर्ग की स्त्रियाँ अपने मस्तक को स्वर्णित तारों से अलंकृत करती थीं और अनेक बहुमूल्य रत्नजड़ित हार और चूड़ियाँ पहनती थीं। गंगा के प्रदेश में कुलीनवर्ग की कन्याएँ हार-कन्दौर और घुंघरू वाले नूपुर और पायजेब पहनती थीं।

आगे चलकर भारतीय इतिहास के गुप्तकाल में (लगभग ३००-५०२ ई० सन्) भी प्राचीन भारतीय वेशभूषा, जिसमें एक ऊपरी वस्त्र तथा एक नीचे का वस्त्र धोती होती थी, इस युग के पुरुष वर्ग की वेशभूषा बनी रही। परन्तु शिथिमन लोगों ने कोट ओवरकोट और पाजामे भी प्रचलित किए जिन्हें भारतीय राजाओं ने आसानी से ग्रहण कर लिया। फिर भी राजसभा की और शासकीय वेशभूषा प्राचीन राष्ट्रीय वेशभूषा ही बनी रही। शुभ तथा मंगलमय अवसरों पर शिरस्त्राण या मुकुट धारण किये जाने का भी रिवाज था। पदत्राण का उपयोग अधिक नहीं होता था, अधिकांश लोग उनके बिना ही आते जाते थे। देश के कुछ भागों में महिलाएँ छोटा घाघरा (पेटीकोट) पहनती थीं और उसके ऊपर एक साड़ी। दूसरे प्रदेशों में एक लम्बी साड़ी का उपयोग दोनों कार्यों के लिए होता था। यद्यपि जैकेट ब्लाउज, और फ्राक का उपयोग सिथियन महिलाएँ करती थीं, लेकिन ये नृत्य करने वाली कन्याओं में ही अधिक प्रचलित थे। हिन्दू समाज में इनका प्रचार नहीं था। साधारण जनता सूती वस्त्र पहनती थी, पर धनाढ्य लोग उत्सवों के अवसर पर रेशमी वस्त्र भी धारण करते थे। समकालीन भाष्कर-कला और चित्रकला से महिलाओं के विविध प्रकार के आभूषणों की सुन्दरता और विलक्षणता का पूर्ण परिचय मिलता है। गुप्तकाल में सुन्दरतापूर्वक बनाई हुई कानों की आकर्षक बालियाँ, विविध प्रकार के मोतियों की मालाएँ लगभग एक दर्जन प्रकार की मेखलाएँ (कंदौरे) वक्षस्थल तथा जाँघों के मोतियों के जालीदार आभूषण और रत्नजड़ित चूड़ियाँ व्यवहार में आती थीं। अँगूठियों का प्रयोग अधिक था, परन्तु नग सर्वथा अज्ञात वस्तु थी। अजन्ता के भित्ति-चित्र यह प्रकट करते हैं कि केश सँवारने की कलाएँ उतनी ही आकर्षक, सुन्दर और विविध थीं, जितने कि केश। मुख और होठों की सौन्दर्य-वृद्धि के लिए रंग तथा लेप भी अज्ञात नहीं रह गए थे।

वेश-भूषा की दृष्टि से भारतीय इतिहास में मुग़लकाल (१५२६-१८५७ ई०) का भी अपना विशिष्ट स्थान है। यह युग अपने वस्त्रानुराग के लिए प्रसिद्ध रहा है। इस युग में ज़री के बहुमूल्य वस्त्र व रेशम तथा मलमल के सुन्दर कपड़े उच्च वर्ग के लोग पहते थे। जाति चिह्न के अतिरिक्त, जिससे हिन्दू लोग पहचाने जा सकते थे, हिन्दू मुसलमान दोनों वर्गों के सामंतों की वेश-भूषा एक-सी ही थी। दरबार की शान उन्हें बहुमूल्य वस्त्र और रत्नजड़ित आभूषण धारण करने के लिए बाध्य करती थी। अबुल फ़ज़ल के अनुसार बादशाह अकबर को प्रतिवर्ष एक सहस्र वेश बनवाने पड़ते थे जो प्रायः राजसभा में आने वाले लब्ध प्रतिष्ठ व्यक्तियों में वितरित कर दिये जाते थे। यद्यपि साधारण हिन्दू आजकल की ही भाँति धोती पहनते थे, किन्तु उच्च वर्ग के लोग उत्सव समारोह के अवसर पर पाजामा और अचकन का प्रयोग करते थे। हिन्दुओं ने मुसलमानों की वेश-भूषा और शिष्टाचार पूरी तरह अपना लिये थे। आभूषणों का प्रयोग हिन्दू और मुसलमान दोनों समान रीति से करते थे।

स्पष्ट है कि अपने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक विकास के साथ-ही-साथ मनुष्य अपने पहनने-ओढ़ने की वस्तुओं में भी विकास करता गया है। आज जहाँ विचारों के क्षेत्र में हमने पश्चिम से बहुत कुछ लिया है, वहाँ वेश-भूषे का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रहा है। वेश-भूषे के क्षेत्र में भी हमने पश्चिम से बहुत कुछ ग्रहण किया है। आज स्कर्ट और मिनी स्कर्ट तथा पुरुष वर्ग में कोट-पैंट तथा टाई का प्रयोग इसका साक्षात् प्रमाण है। यद्यपि साधारण जनसमुदाय में भारतीय संस्कृति के नाम पर आज भी धोती कुर्त्ता बना हुआ है, लेकिन पढ़ा-लिखा वर्ग लगभग पंचानवे प्रतिशत पैण्ट-बुशर्ट तथा पैण्ट-कमीज का ही प्रयोग करता है। वस्तुतः संस्कृति की भाँति वेश-भूषे का भी विस्तार होने लगा है और सम्पूर्ण विश्व के सुसंस्कृत लोगों की वेश-भूषा लगभग अब एक-सी होने लगी है। वेश-भूषे की यह समानता किसी एक विश्व-संस्कृति के निर्माण में चाहे सहायक हो-न-हो लेकिन एक विश्व सभ्यता के निर्माण में सहायक अवश्य हुई है और इससे देश-विदेश की परस्पर की दूरियाँ कुछ कम अवश्य हुई हैं।

वेश-भूषा बहुत हद तक अपने पहनने वाले व्यक्तियों के मानसिक गठन का आभास देती है, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से वेश-भूषे के अन्तर्गत रंगों का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। वेश-भूषे में प्रयुक्त होने वाले रंगों की इस दृष्टि से रोचक व्याख्या की गई है। इस दृष्टि से विभिन्न रंगों को विभिन्न स्वाभावों से जोड़ने का प्रयास किया जाता है। उदाहरण के लिए सफेद रंग शान्ति, न्यायप्रियता, सज्जनता का; काला रंग निराशा, अन्तर्मुखता, वैर तथा घृणा का; लाल रंग तीव्रता, विद्रोहात्मकता, द्वेष-विद्वेष का; नीला रंग कुलीनता, शुभ, सहजता,

कृपणता तथा लोभ का तथा पीला रंग आनन्दवादिता, बहिर्मुखता, प्रसन्नता और तड़क-भड़क का सूचक होता है। वेश-भूषा तथा रंगों की इस व्याख्या से सांस्कृतिक दृष्टि से वेश-भूषे का महत्त्व निःसन्देह बहुत अधिक बढ़ जाता है, यद्यपि यह व्याख्या बहुत अधिक वैज्ञानिक तथा तटस्थ नहीं कही जा सकती। फिर भी रंगों के प्रयोग के आधार पर व्यक्तियों के स्वभावों की कुछ जानकारी तो हो ही सकती है।

इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास-साहित्य पर विचार करने से यह स्पष्ट पता चल जाता है कि उपन्यासों में पात्रों की वेश-भूषा का लेखकों ने अवश्य ध्यान रखा है तथा उनकी स्वभावानुसार तथा कर्मानुसार वेश-भूषा में ही उन्हें भरसक उपस्थित करने का प्रयास किया है, जिससे वेश-भूषा सम्बन्धी उनकी अच्छी जानकारी का पता चलता है। मेहता लज्जाराम शर्मा अपने 'आदर्श हिन्दू' उपन्यास मे प्रियंवदा का जो चित्र खींचते हैं, उससे लेखक की वेश-भूषा सम्बन्धी विविध जानकारियों का पता चलता है—'उसकी सत्रह-अठारह वर्ष की जवान उमर, अच्छा मनोहर गेहुँआ रंग, गोल और सुन्दर चेहरा, खंजन की-सी आँखें, सिर पर मेमों का-सा जूड़ा, रेशमी फूलदार साड़ी और पैरों में काले मोजों के ऊपर काली गुच्छेदार जरा-जरा-सी एड़ी की बढ़िया गुर्गा-बियाँ थीं। उसके एक हाथ में छाता और दूसरे में एक अंग्रेज़ी किताब के सिवाय आँखों पर सुनहरे फ्रेम का चश्मा चढ़ा हुआ था। हाथों में विलायती सोने की मरोड़ी-दार पतली-पतली-सी दो चूड़ियाँ और दाहिने हाथ की अनामिका अँगुली में वैसे ही सोने की एक अँगूठी थी।'[१] इसी प्रकार राधाचरण गोस्वामी अपने उपन्यास 'जावित्री' में एक स्थान पर लाल दुपट्टे का उल्लेख करते हैं—'मिट्ठू लाल यह लाल दुपट्टावाली कौन है? 'ये इस नबू की बहन है।'[२]

लेकिन हिन्दी के प्रथम कहलाने वाले उपन्यास 'परीक्षागुरु' में लाला श्रीनिवास-दास एक भिन्न दृष्टि से ही वेश-भूषा का उल्लेख करते हैं। उनकी दृष्टि में ज्यादा तड़क-भड़क, पहनावा, ऐश-आराम की प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाला होता है, अतः लालाजी सादी वेश-भूषा पर विशेष बल देते हैं। 'परीक्षागुरु' में वे लिखते हैं—'हमारे नाश करने का सीधा उपाय यह है कि हमारे शस्त्र ले लो, हमको उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण पहनने दो, नाच रंग देखने दो, शृंगार रस का अनुभव करने दो। फिर थोड़े दिन में देखोगे कि शूर वीर अबला बन जायँगे और सर्वथा तुमसे युद्ध न कर सकेंगे।'[3]

बाबू गंगाप्रसाद गुप्त अपने उपन्यास 'कृष्णकान्ता' का प्रारम्भ ही कुँवर रणवीर

---

१. 'आदर्श हिन्दू' : तीसरा भाग, प्रथम संस्करण, १९१५, पृ० ७७

२. 'जावित्री' : प्रथम संस्करण, १८८८, पृ० ७-८

३. 'परीक्षागुरु' : द्वितीय संस्करण, पृ० ३३

सिंह तथा उनके शिकारी दल के वर्णन से करते हैं और इस सिलसिले में कुंवर रणवीर सिंह तथा उनके सहयोगियों की वेश-भूषा पर प्रकाश डालते हैं—'सब ही सवार नवयुवक और शिकारी पोशाक पहने हुए हैं। उनके बलिष्ठ शरीर उठी हुई छाती और शस्त्र सुसज्जित परिवेश देखने से बहादुरी की तसवीर निगाह के सामने फिर जाती है। कमर पर लगे हुए भाले घोड़ों की कमर पर लगकर थपकी का काम दे रहे हैं। सब सवारों की पोशाक एक ही ढंग की बनी हुई तथा पीले रंग की है। अगली पंक्ति के बीच का सवार अधिक खूबसूरत है। उसकी पोशाक भी अधिक कीमती है। सिर पर एक छोटी-सी कलँगी लगी हुई है जो उसके सरदार होने का साफ पता बताती है। यही राजकुमार कुँवर रणवीर सिंह हैं। यही महाराणा विक्रमसिंह के ज्येष्ठ पुत्र हैं।'[१] इसी उपन्यास के आठवें भाग में गुप्तजी पुनः एक चित्र देते हैं—'महाराणा विक्रमसिंह, महाराजा शान्तसिंह जर्क वर्क सुनहरी पोशाक में आपस में चहल-पहल और हँसी-खुशी की बातें कर रहे हैं। उनके सुगठित शरीर पर खुशनुमा पोशाक और रत्नजटित मुकुट ऐसे चमक रहे हैं, मानो एक ही राशि में सूर्य और चन्द्र दोनों एक ही चित्र हुए हों।'[२] साथ ही इस उपन्यास में फूलों के गहने, धानी रंग की साड़ी[३] तथा एक अन्य स्थान पर बुरके का उल्लेख हुआ है—'गुलाब अभी इतना ही कहने पाई थी कि 'ऐं यह क्या छेड़ छाड़ है' कहती हुई एक काले बुरके वाली स्त्री सामने आ खड़ी हुई, यह देख तीनों युवतियाँ एकदम चौंक पड़ीं।'[४] इसके अतिरिक्त बाबू गंगाप्रसाद गुप्त ने अपने एक अन्य उपन्यास 'पूना में हलचल' में भी हीरे की अँगूठी पहनाने का उल्लेख किया है—'लक्ष्मीबाई ने इतना कहकर एक बहुमूल्य हीरे की अँगूठी स्मरणार्थ कमलसिंह की उँगली में पहिना दी और साथ ही यह भी कह दिया कि—'अपनी बूढ़ी माता की निशानी खो मत देना।'[५]

पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी ने भी अपने उपन्यास 'गुप्त गोदना' में स्त्रियों के पहनने के अनेकानेक जेवरों का उल्लेख किया है। शाहजादी रोशनआरा बेग़म का रूप वर्णन करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—'नाक में हीरे का लौंग, कानों में सुराही-दार मोतियों के लटकन, गले में लाल का तिलड़ा और दोनों नाजुक कलाइयों में पन्ने की बारीक चार-चार चूड़ियाँ सितम कर रही थीं।······अँगुलियों में दो-तीन बेशकीमत

---

१. 'कृष्णकान्ता' : तृतीय संस्करण, १९२२, पृ० ३-४
२. 'कृष्णकान्ता' : तृतीय संस्करण, १९२२, पृ० ३८
३. कृष्णकान्ता' : तृतीय संस्करण, १९२२, पृ० १५
४. 'कृष्णकान्ता' : तृतीय संस्करण, १९२२, पृ० १५
५. 'पूना में हलचल' : प्रथम संस्करण, १९०३, पृ० ३७

अँगूठियाँ तो जरूर थीं लेकिन उस वक्त पाँवों में कोई जेवर न था।'[1] साथ ही इस उपन्यास में शृंगार-प्रसाधन के सिलसिले में बालों में कंघा करने का उल्लेख मिलता है।[2]

वेश-भूषा तथा शृंगार-प्रसाधन की दृष्टि से बाबू ब्रजनंदनसहाय के उपन्यास 'लालचीन' तथा 'विस्मृत सम्राट्' भी कम उल्लेखनीय नहीं हैं। उक्त दोनों ही उपन्यासों में इस सम्बन्ध में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। 'लालचीन' उपन्यास का प्रारम्भ करते हुए ही लेखक अपनी समर्थ वर्णन क्षमता का परिचय प्रस्तुत कर देता है। उपन्यास का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—'सुन्दर सुरम्य दीवान खास में गयासुद्दीन रत्नजटित सिंहासन पर बैठा है। कारचोबी के काम किए हुए एक हरे मखमली मसनद के सहारे बैठा वह मुश्की तम्बाकू पी रहा है। बहुमूल्य मुद्रिकाओं से विभूषित अँगुलियाँ फ़तहपेंच का मुँह से संभोग करा रही हैं। सोने का मुहनाल बार-बार उसके ताम्बूल रंजित सुन्दर पतले ओष्ठ को चूम रहा है। जरदोज कपड़ा उसके सुन्दर अंग को और भी सुन्दर बना रहा है। प्रफुल्ल आनन की कान्ति, पुष्ट देह की गठन, चिंता-रेखा, रहित उन्नत ललाट की चमक देखकर ज्ञात होता है कि संसार में सुख ही भोगने के लिए इसकी सृष्टि हुई है।......जहाँ देखो वहीं स्वर्ण, रजत, जिस ओर दृष्टि जाती उसी ओर प्रवाल, रत्न, मुक्ता।'[3] आगे लालचीन के नौकरों की वेश-भूषा का भी आकर्षक वर्णन किया गया है—'लालचीन के भृत्यों का वस्त्राभूषण देखकर बुद्धि चकरा जाती थी। गान वाद्य की भी कमी न थी। सुगन्धित पुष्प पुष्प-दान में सजे थे। विविध रंग के सुमनों के गुच्छे दीवार से, दरवाजे से, छत से लटक रहे थे। सुगन्ध द्रव्य से भरे कृत्रिम फौवारे मृदु मंद शब्द के साथ उद्वसित होकर चारों ओर सुगंध फैला रहे थे। सुखमामयी नर्तकियों के कलकंठ निःसृत संगीत के काकलीमय उच्छ्वास से कक्ष गूँज रहा था।'[4]

बाबू ब्रजनन्दनसहाय ने 'विस्मृत सम्राट्' में राजेश्वरी का रूप वर्णन भी काफी आकर्षक ढंग से किया है और उसके द्वारा पहने हुए कई बहुमूल्य रत्नजटित जेवरों का भी उल्लेख किया है—'राजेश्वरी को इस समय इस स्थान में देखकर ज्ञात होता था कि कोई हूर फ़िरदौस की स्वच्छन्द सैर कर रही हो। रत्नजड़ित बहुमूल्य भूषणाभरण,

---

१. 'गुप्त गोदना' : तीसरा हिस्सा, प्रथम संस्करण, १६२३, पृ० १३
२. 'गुप्त गोदना' : तीसरा हिस्सा, प्रथम संस्करण, १६२३, पृ० १४
३. 'लाल चीन' : प्रथम संस्करण, १६१७, पृ० १-२
४. 'लाल चीन' : प्रथम संस्करण, १६१७, पृ० ७१

शिख से नख तक पूर्ण शृंगार, उसके अलौकिक सौन्दर्य की और भी वृद्धि कर रहे थे। जान पड़ता था मानो रूपसागर में लावण्य तथा माधुर्य लहरें ले रहे हों।'[1]

आगे चलकर प्रेमचन्दकाल के उपन्यासों में भी पात्रों की वेश-भूषा का सुन्दर वर्णन किया गया है। प्रेमचन्द ने होरीराम की फटी मिरजई का उल्लेख किया है तथा तंखासाहब के खादी वस्त्रों का। इसके अतिरिक्त वृन्दावनलाल वर्मा अपने उपन्यास 'अचल मेरा कोई' में जेल के सिपाहियों की वेश-भूषा का सुरुचिपूर्ण वर्णन करते हैं—'जेल की दीवारों के भीतर काफ़ी चहल-पहल थी। सिपाही अपने बटन और जूते पोंछ रहे थे। वार्डर तौलियों को फटकार कर कंधे पर सफ़ाई के साथ रखने के उद्योग में थे।'[2] इसी उपन्यास में एक अन्य स्थान पर लड़कियों की पोषाकों में साड़ियों का उल्लेख हुआ है—'परन्तु स्वच्छ मनोहर साड़ियाँ पहने हुए लड़कियों के हाथ में फूल मालाओं को देखकर वे कुछ और आगे की बात सोचने में देहातियों की बग़ल वाली पोटलियों को एक क्षण के लिए भूल जाते थे।'[3] इस उपन्यास में कुन्ती का रूप वर्णन तथा उसके बनाव-शृङ्गार का वर्णन भी रोचक बन पड़ा है—'कुन्ती उत्कृष्ट वेश-भूषा में थी। सुधाकर को लगा उससे बढ़कर सुन्दर स्त्री और कोई शायद ही सम्भव हो। ऊँचा माथा, चमकते हुए बाल, दमकता हुआ गले का हार और कसी हुई कंचुकी। चेहरे पर पाउडर था और ओठों पर रंजन (जो अपने मूल स्थान की भाषा में लिपस्टिक कहलाता है) बड़ी आँखों पर लम्बी भौंहें, हठीली सीधी नाक और दृढ़ गोल ठोढ़ी।'[4] 'कुण्डली चक्र' उपन्यास में वर्माजी बुन्देलखंडी वेश-भूषे को अंग्रेज़ी वेश-भूषे की तुलना में अधिक गौरवशाली बताते हैं—'भाई विलायती शास्त्रों का पारंगत था, इस पर भी रतन ने अपना बुन्देलखण्डी पहनावा न छोड़ा था।'[5] तथा 'झाँसी की रानी' में सूती तथा रेशमी वस्त्रों का उल्लेख करते हैं—'दोनों त्रिपुण्ड लगाए थे। उतरती अवस्था वाला रेशमी वस्त्र पहने था और गले में मोतियों का कंठा, अधेड़ सूती वस्त्र पहने था।'[6]

अपने 'तितली' उपन्यास में जयशंकर 'प्रसाद' भी रेशमी वस्त्रों तथा खाकी पैण्ट कमीज़ का उल्लेख करते हैं। शैला का सौंदर्य वर्णन करते हुए 'प्रसादजी' लिखते हैं—'एक दरी पर सामने बैठे हुए मिस्टर वाट्सन, इन्द्रदेव, अनवरी और सुखदेव चौबे

---

१. 'विस्मृत सम्राट्' प्रथम संस्करण, १९१०, पृ० ३
२. 'अचल मेरा कोई' : प्रथम संस्करण, १९४८, पृ० १
३. 'अचल मेरा कोई' : प्रथम संस्करण, १९४८ पृ० ८
४. 'अचल मेरा कोई' : प्रथम संस्करण, १९४८, पृ० २३
५. 'कुण्डली चक्र' : प्रथम संस्करण, १९३२ पृ० ३
६. 'झाँसी की रानी लक्ष्मी-बाई : प्रथम संस्करण, १९४६, पृ० १७

चकित होकर यह दृश्य देख रहे थे। शैला सचमुच अपनी पीली रेशमी साड़ी में चम्पा की कली-सी बहुत भली लग रही थी। उसके मस्तक पर रोली का अरुण बिन्दु जैसे प्रमुख होकर अपनी ओर ध्यान आकर्षित कर रहा था। किन्तु मधुवन और तितली भी पीले रेशमी वस्त्र पहने थे। खुला हुआ दाहिना कंधा अपनी पुष्टि में बड़ा सुन्दर दिखाई पड़ता था।'[1] इसी उपन्यास में एक स्थान पर एक बाबू साहब का चित्र देते हुए 'प्रसादजी' लिखते हैं—'लम्बे-चौड़े शरीर पर खाकी की आधी कमीज़ और हाफ पैण्ट, पूरा मोजा और बूट, हाथ में हण्टर।'[2]

इसी प्रकार पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' भी अपने उपन्यास 'मनुष्यानन्द' में भंगियों के पहनावे का वर्णन करते हैं। विवाहोत्सव पर भंगियों के यहाँ वर-कन्या का जो रूप सजाया जाता है तथा उसे जो वस्त्र पहनाये जाते हैं, उसका एक चित्र प्रस्तुत है—'कन्या अपने पक्ष के बीच में बैठती थी— कोरे और मोटे मारकीन की हल्दी से रँगी हुई धोती पहनकर और सर में ज़रूरत से कहीं ज्यादा तेल चुपड़कर। वर भी अपने दल के मध्य में बैठता था अपनी अच्छी-से-अच्छी पोशाक पहन कर। वह पोशाक किसी साहब की उतारी हुई कमीज़ या कोट अथवा सात जोड़ों का कोई कुरता होता था।[3] 'उग्रजी' अपने 'शराबी' उपन्यास में रतनपुर की प्रसिद्ध वेश्या 'जवाहर' के दिवाने लोगों का बड़ा ही रोचक वर्णन करते हैं—'रतनपुर में चार साढ़े चार बजे दिन के बाद कोई घूमने निकले, आँखें जरा सतर्क रखकर नवयुवकों को निहारे और जिसके तन पर अद्धी का कुरता भीतर से झाँकती हुई जालीदार रेशमी गंजी, सोने के बटन, मखमली किनारे की मैंचेस्टरी या रेशमी किनारे की मोहिनी—'मिली' धोती, लखनौआ दुपलिया या छोटी फेल्ट टोपी और वार्निश या पेटेण्ट लेदर का पम्प-मुखी जोड़ा देखे, और उनमें से कुछेक को किसी तमोली की दूकान पर या कोने-कोने में जाकर जनसाधारण के वायु सेवन की जगहों पर तल्लीन रूप से बातें करते पावे, तो फौरन बिना हिचके यही समझ लेना चाहिए कि वे जवाहर के बारे में बातें कर रहे हैं।'[4]

वेश-भूषा तथा श्रृंगार-प्रसाधन की दृष्टि से आचार्य चतुरसेन शास्त्री का विशेष महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में शास्त्रीजी ने राजाओं तथा रानियों के विविध वस्त्राभूषणों का वर्णन प्रस्तुत किया है। 'खवास का

---

१. 'तितली' : द्वितीय संस्करण, सं० १९९५, पृ० १६६
२. 'तितली' : द्वितीय संस्करण, सं० १९९५, पृ० २५५
३. 'मनुष्यानन्द' : द्वितीय संस्करण, सं० १९९५, पृ० ७
४. 'शराबी' : द्वितीय संस्करण, सं० १९९५, पृ० ३

ब्याह' उपन्यास में संयोगिता का सौन्दर्य वर्णन द्रष्टव्य है—'क़न्नौज से आई हुई संयोगिता की सखियों ने उबटन करके संयोगिता का मज्जन कराया, केस सँवार वेणी गूथी और माँग-माँग में मोती पिरोए। बीच-बीच में सुगंधित पुष्प भरे। शीश पर शीश फूल लगाए, ललाट पर जड़ाऊ तिलक सँवारे, बड़े-बड़े खंजन से नेत्रों में काजल लगाया, नाक में बेसर पहनाई, मुख में पान खिलाया, कंठ में नाभि तक लटकती हुई मोतियों की माला पहनाई, हाथों में चूड़ी पटेले, पहुँची, नोगरी, बरा, बाजूबन्द और जौशन आदि साजे, कमर में मेखला, करधनी और पैरों में नूपुर पैजनी और पाजेब पहनाई और तलुओं में महावर लगाया।'[1]

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह ने भी क्रेप की साड़ी तथा जैकेट आदि का उल्लेख स्त्रियों की वेश-भूषा के रूप में किया है। अपने 'रामरहीम' उपन्यास में बिजली का चित्र प्रस्तुत करते हुए राजाजी लिखते हैं—'बिजली के सुडौल अंगों में बतासफेनी क्रेप की अंगूरी साड़ी थी और साड़ी के किनारे पर सुनहले रेशमी डोरों से बुनी अंगूरी लता की बेल थी। फाल्गुनी रसाल किसलय की हल्की हरीतिमा उसके मखमल के चुस्त जैकेट पर निछावर थी।'[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी उपन्यास साहित्य में वस्त्राभूषणों की विविध किस्मों और उसके विविध आकार-प्रकारों का विधिवत् उल्लेख हुआ है। यद्यपि हर तरह की वर्णनात्मकता कविता के लिए ही उपयुक्त होती है, जहाँ कवि अपनी नायिकाओं तथा नायकों का नख से शिख तक का वर्णन करता है तथा उसके विविध वस्त्राभूषणों का उल्लेख करता है और गद्य की विधा में वैसी वर्णन-पद्धति नहीं अपनाई जाती—नहीं अपनाई जा सकती, तो भी उपन्यास साहित्य में चरित्रों का परिचय देते हुए कथाकार कुछ-न-कुछ अपने चरित्रों की वेश-भूषा का वर्णन तो करता ही है। वैसे वर्णन की यह स्थूलता, ज्यों-ज्यों उपन्यास साहित्य विकसित होता गया है, त्यों-त्यों काफी कुछ कम होती गई है। इसीलिए प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में जिनका विषय सूक्ष्म वैचारिक समस्याएँ बन गई हैं, वेश-भूषा सम्बन्धी यह वर्णनात्मक पद्धति उपन्यासकारों ने नहीं अपनाई है और केवल नाम से ही अपने विभिन्न चरित्रों का परिचय प्रस्तुत किया है। 'सुनीता' में साड़ी-ब्लाउज तथा पेटीकोट का उल्लेख अवश्य है। जब सुनीता जंगल में हरिप्रसन्न के सम्मुख अपनी साड़ी, ब्लाउज तथा पेटीकोट उतार कर नंगी हो जाती है, लेकिन यह पोशाक तो आम भारतीय स्त्रियों की दैनिक पोशाक है और उसका भी उल्लेख किसी दूसरे सन्दर्भ में हुआ है, अतः उसे इसके अन्तर्गत नहीं मानना

---

१. 'खलास का ब्याह' : प्रथम संस्करण, सं० १९८९, पृ० १३१-१३२
२. 'राम रहीम' : प्रथम संस्करण, १९३७, पृ० ६७२-६७३

चाहिए। जैनेन्द्र का उद्देश्य भी उसके माध्यम से स्त्रियों की वेश-भूषा का वर्णन करना कदापि न रहा होगा।

आचार-विचार : रीति-रस्म

संस्कृति तथा सभ्यता के व्यापक दायरे में आचार-विचार तथा रीति-रस्म के नियम भी सामान्यत: आ जाते हैं। प्रत्येक सभ्यता तथा संस्कृति वाले वर्गों के आचार-विचार तथा रीति-रस्म के नियम भी अपने होते हैं, जो दूसरों से पृथक् अपना अस्तित्त्व रखते हुए भी एक सामान्य भाव-भूमि पर मानव कल्याण की दृष्टि से लगभग समान होते हैं। सम्भवत: संसार में कोई ऐसा साधारण बुद्धि का स्त्री-पुरुष नहीं होता, जो नैतिक तथा आचार-विचार के भेदों को प्रकट करने वाले शब्दों का व्यवहार नहीं करता। जहाँ आदमी आपस में बातचीत करता है, वहाँ उसके सम्मुख समाज का चित्र होता है और समाज का अस्तित्त्व आवश्यक रूप में नैतिक तथा आचार-विचार सम्बन्धी मूल्यांकन के अस्तित्त्व से ही सहचरित होता है। तात्पर्य यह है कि नैतिक आचार-विचार का अनुभव सभी मानवीय समाजों की एक सार्वभौम विशेषता है। यही कारण है कि सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत तथा सुसभ्य समाजों के विचारक नैतिक तथा आचार-विचार के प्रश्नों को विशेष महत्त्व देते आये हैं। लेकिन यह स्मरण रखना आवश्यक है कि नैतिक तथा आचार-विचार सम्बन्धी समस्याओं का गम्भीर चिन्तन व्यक्ति तथा समाज के जीवन में अपेक्षाकृत बहुत बाद में प्रारम्भ हुआ है।

समाज का वह वर्ग, जो अपेक्षाकृत अधिक उन्नत तथा सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न होता है, अपने नैतिक पक्षपातों को सुचिन्तित नैतिक मन्तव्यों के रूप में स्थापित करना चाहता है। इसके लिए वह उचित कानून का भी निर्माण करता है। इसी प्रकार ऐसे कलाकार या दार्शनिक जो कलात्मक प्रौढ़ता के स्तर तक पहुँच चुके होते हैं, अपनी कला तथा चिन्तन में नैतिक समस्याओं के महत्त्व पर विचार करते हैं। यह एक स्वाभाविक बात है कि प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने के बाद ही आदमी को अध्यात्म या धर्म अपनी ओर आकृष्ट करता है।

आदमी अपने स्वभाव की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही नैतिक तथा आचार-विचार की समस्याओं पर विचार करता है। अकसर आदमी के हृदय में परस्पर प्रतिकूल प्रवृत्तियाँ उठती रहती हैं। उसकी विभिन्न इच्छाएँ उसे विभिन्न दिशा में ले जाना चाहती हैं। ऐसी दशा में आदमी के लिए यह आवश्यक होता है कि वह उनमें से कोई एक रास्ता चुन ले। एक विचारशील प्राणी होने के नाते आदमी उन सिद्धान्तों की जानकारी कर लेना चाहता है, जो उसके चुनाव के पीछे छिपे रहते हैं। आदमी की शक्तियाँ और उसके साधन सीमित होते हैं। परिणामत: वह दुनिया की सब चीजों को चाहने पर भी

प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए उसे विभिन्न लक्ष्यों तथा विभिन्न श्रेणियों के सुखों में से अपने लिए कुछ का चुनाव कर लेना पड़ता है। जो आदमी जितना ही अधिक बुद्धिमान होता है, वह अपने जीवन को उतना ही अधिक महत्त्व देता है और अपनी इच्छाओं, संकल्पों आदि के सम्बन्ध में उतना ही अधिक सोचता है। आदमी चाहता यह है कि अपने प्रयत्नों द्वारा तथा अपनी शक्ति का उचित प्रयोग करके अपने जीवन को अधिकाधिक सफल और उन्नतिशील बनावे। कहने की आवश्कता नहीं कि दुनिया में आदमी ही एक ऐसा प्राणी है जो स्वप्न देखता है तथा आशा करता है और अपने भावी जीवन के विषय में विविध मनोरम कल्पनाएं करता रहता है।

वस्तुतः आदमी अपने जीवन के मूल्यों को समझना चाहता है। मनुष्य की नैतिक तथा धार्मिक खोज अन्ततोगत्वा जीवन-विवेक की खोज से ही सम्बन्धित होती है। आदमी यह जानना चाहता है कि जीवन को उचित ढंग से चलाने या व्यतीत करने का मार्ग क्या है। जब तर्कमूलक भाववादी विचारक यह कहता है कि नीतिशास्त्र अथवा आचार-विज्ञान का अस्तित्त्व शास्त्र के रूप में सम्भव नहीं है तब वह एक महत्त्वपूर्ण सम्भावना से इन्कार करता है, अर्थात् इस सम्भावना से कि जीवन को सुचारुरूप से चलाने की कोई विद्या या कला हो सकती है। आज के आदमी की बेचैनी और उलझन का मुख्य कारण हमारी समझ से यही है कि उसके पास जीवन-विवेक का अभाव है। जीवन के सम्बन्ध में हमारी नासमझी इतनी अधिक बढ़ गई है कि हम इसकी आवश्यकता भी महसूस नहीं करते कि जीवन-विवेक नाम की कोई चीज होनी चाहिए और हम उसकी सम्भावना से ही इन्कार करते हैं।

नैतिक चिन्तन के क्षेत्र में मतभेद का केन्द्र यह है कि व्यक्ति के लिए चरम साध्य या लक्ष्य क्या है। दार्शनिकों ने इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि व्यक्ति को कहाँ तक समाज के लिए अपने व्यक्तिगत हितों का त्याग करना चाहिए। विभिन्न युगों तथा विभिन्न देशों के विचारकों ने आदर्श मनुष्य के विभिन्न चित्र प्रस्तुत किए हैं। प्लेटो का 'दार्शनिक शासक' अरस्तू का 'मनस्वी व्यक्ति' स्टोइको का 'विवेकी पुरुष' गीता का 'स्थितप्रज्ञ, बौद्धों' का 'बोधिसत्व' ईसाइयों, का 'संत' नीत्से का 'अतिमानव' ये सब आदर्श पुरुष की ही विभिन्न कल्पनाएँ हैं। अन्य कल्पनाएँ हमें कवियों, नाटककारों तथा उपन्यासकारों की कृतियों में मिल सकती हैं। और कार्लाइल, इमर्सन आदि निबन्धकारों की कृतियों में भी[1]।

---

१. डॉ० देवराज : 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' : प्रथम संस्करण, १९५७, पृ० २९६-२९७

जिस प्रकार इतिहास प्रसिद्ध वीरों के संकल्प तथा निर्णय सदैव सुरक्षा तथा उपयोगिता की परिधि में नहीं रहते, उसी प्रकार नैतिक आचार-विचार की परम्परा व्यवहार के नियमों को तोड़कर नई परिस्थितियों के अनुकूल नये आदर्शों तथा नियमों की स्थापना करते हैं। गौतम बुद्ध तथा कार्लमार्क्स इसी कोटि के नैतिक योद्धा थे। एक ने हिन्दू समाज की बुराइयों की कटु आलोचना की तो दूसरे ने पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध ऐसे आदर्शों को रक्खा जो मजदूरों तथा दलितों का हित-साधन करने वाले थे।

नैतिक आचार-विचार सम्बन्धी दृष्टिकोण के विकास का तात्पर्य यह नहीं है कि आदमी क्रमशः किसी स्थिर नैतिक आदर्श को स्वीकार करता चलता है, बल्कि इसका तात्पर्य यह है कि आदमी क्रमशः अपने सुखी तथा दुःखी होने के तथा उसके कारणों के विभिन्न रूपों से अपना परिचय स्थापित करता चलता है। मानव सुख-दुःख के विविध रूपों तथा कारणों की जानकारी के लिए साहित्य की विभिन्न कृतियों, जीवनियों एवं इतिहास का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक होता है, अपेक्षाकृत धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों के। महाभारत के 'स्त्री पर्व' में मृत वीरों की माताओं तथा पत्नियों को अपने प्रियजनों के लिए रोते हुए दिखाया गया है, 'युद्ध और शान्ति' उपन्यास में टाल्स्टाय ने अपने सूक्ष्म अंकन द्वारा युद्ध की भयंकरता तथा क्रूरता पर प्रकाश डाला है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन कृतियों को पढ़कर युद्ध के प्रति जितनी तीव्र घृणा उत्पन्न हो सकती है, उसका अल्पांश भी दार्शनिकों तथा समाज-शास्त्रियों के लेखों को पढ़कर नहीं हो सकती। अतः साहित्य के माध्यम से नैतिक आचार-विचार सम्बन्धी शिक्षा बहुत अधिक आसानी से दी जा सकती है, यद्यपि साहित्य या कला का कोई मूलभूत लक्ष्य नहीं होता। साहित्य या कला में नैतिक मूल्यों का प्रत्यक्ष कथन नहीं होता, उसमें मूल्य अभिव्यंजित होते हैं, जिन्हें विज्ञ पाठक ही ग्रहण कर सकता है। वस्तुतः आचार्य ने 'कांता सम्मति उपदेश' भी साहित्य को इसी अर्थ में कहा होगा।

नैतिक आचार-विचार के अन्तर्गत मोटे तौर पर व्यवहार नीति तथा व्यवहार की रस्में आती हैं, जिनसे समाज का जीवन संचरित और गतिशील होता है। आचार-व्यवहार के नियम ही कालान्तर में रिवाज बन जाते हैं और रीति-रस्म के रूपों में सामाजिक परम्पराओं में अपना अस्तित्व सुरक्षित रखते हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख हिन्दी उपन्यास साहित्य में अवश्य मिलता है, यद्यपि उपन्यासकारों के लिए यह हर हालत में आवश्यक नहीं है कि वे आचार-विचार के नियमों का उल्लेख अपनी रचनाओं में करें ही। फिर भी हिन्दी का उपन्यास साहित्य तो जन्मा ही है अपनी उपदेश वृत्ति के साथ और किसी-न-किसी रूप में उसकी यह उपदेशात्मकता आज भी बनी हुई है। प्रारम्भिक उपन्यासों में 'सौ अजान एक सुजान' तथा 'परीक्षा गुरु' का प्रणयन ही

अपने पाठकों को अचार-विचार तथा व्यवहार नीति की शिक्षा प्रदान करने के उद्देश्य को लेकर हुआ है। पं० बालकृष्ण भट्ट इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण लेखक हैं जो नैतिक शिक्षा पर पहली बार इतना अधिक जोर देते हैं। इस उपन्यास में जगह-जगह नीति वाक्यों को उद्धृत करके भट्टजी ने सचमुच प्रशंसनीय कार्य किया है। इन उद्धृत नीति वाक्यों तथा पद्यांशों में से कुछ नमूने आप भी देखें—

'खोटे को संग साथ हे मन ! तजो अंगार ज्यों ॥
तातो जारै, हाथ-शीतल हूकारो करै।[1]

+ + +

'नरकी अरु नल नीर की, गति एकै कर जोय।
जेतो नीचो है चले, ते तो ऊँचो होय ॥[2]

+ + +

'कोयला होय न ऊजरो सौ मन साबुन लाय।[3]

+ + +

और अन्त में इन सब पद्यांशों से जी नहीं भरा तो लेखक स्वयं लेखनी लेकर मैदान में उतर जाता है—'पाठक ! देखिए सौ अजान में एक सुजान कैसा गुणकारी हुआ कि सब अजानों को फिर राह पर अन्त को लाया ही, नहीं तो कौन आशा थी कि ये दोनों सेठ के लड़के कभी सुढंग पर आ सुधरेंगे। दूसरे यह कि जो सुकृती हैं उनके सुकृत का फल अवश्यमेव औलाद पर आता है। हीराचन्द्र से सुकृती की औलाद दूषित चरित्र की हो यह अचरज था। अन्त को हम अपने पढ़ने वालों को सूचित करते हैं कि आप लोगों में यदि कोई अबोध और अजान हों तो हमारे इस उपन्यास को पढ़ सुजान बनो। इस किस्से में अजानों को सुजान करने वाला चंदू था, हम आशा करते हैं कि आप लोगों को वही हमारा यह उपन्यास होगा।'[4]

स्पष्ट है कि इस उपन्यास में भट्टजी ठोस उपदेशात्मकता के स्तर पर उतर आते हैं, अपने उपन्यास का लक्ष्य भी एकमात्र अजानों को सुजान बनाना स्वीकार करते हैं। बाबू ब्रजनन्दनसहाय ने भी अपने उपन्यासों में उचितानुचित की व्याख्या को स्थान दिया है। और दार्शनिक स्तर पर अपने चरित्र महात्माजी द्वारा उसका विश्लेषण प्रस्तुत किया है। 'अरण्यबाला' उपन्यास के महात्मा प्रेमानन्द मुकुन्द को उपदेश देते हुए

---

१. 'सौ अजान एक सुजान' : दूसरा संस्करण, १६१५, पृ० १
२. 'सौ अजान एक सुजान' : दूसरा संस्करण, १६१५, पृ० ३
३. 'सौ अजान एक सुजान' : दूसरा संस्करण, १६१५, पृ० ३०
४. 'सौ अजान एक सुजान' : दूसरा संस्करण, १६१५, पृष्ठ १०३

कहते हैं—'अपनी उचित चिंता करनी ही आत्मत्याग है। यदि अपने साथ तुम उचित एवं सच्चा व्यवहार करोगे तो किसी के साथ कदापि तुम अनुचित व्यवहार नहीं कर सकते। किन्तु उचित की एक सीमा है, उसके बाहर पदार्पण करने से कष्ट तथा दुःख के सिवाय और कुछ हाथ नहीं आता। मनुष्य को उचित है कि जिस प्रकार अपने पेट के लिए परिश्रम करें, जिसमें वह दूसरों के माथे का बोझा न हो जाय, उसी प्रकार अपने शरीर का संयम करे, जिसमें दूसरे की चिंता, कष्ट तथा दुःख का कारण न हो जाय।[1] आगे चलकर अपने इसी उपन्यास में सहायजी अनुचित कार्य करने वालों के लिए दण्ड स्वरूप प्राप्त होने वाले रोगों का उल्लेख करते हैं और यह बताते हैं कि रोग वास्तव में पाप कर्म के दण्डस्वरूप ही हमें प्राप्त होते हैं—'यदि कोई मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा पूर्ण स्वास्थ्य से प्रारम्भ करे तो, कदापि वह रोगी नहीं हो सकता, जब तक वह कोई अपराध न करे। अपराध, शारीरिक, मानसिक अथवा धार्मिक चाहे जो हो। जब किसी नियम का उलंघन न किया जाय, यह रोग रूपी दण्ड कदापि नहीं भोगना पड़े, यह अवश्य मानना पड़ेगा।'[2]

अपने एक अन्य उपन्यास 'लालचीन' में बाबू ब्रजनन्दनसहाय अतिथि सत्कार जैसे ठोस व्यावहारिक बातों का उल्लेख करते हैं। लालचीन के घर जब महाराजा पधारते हैं तो उसने उनके स्वागत की नाना तैयारियाँ कर रक्खी हैं—'लालचीन के प्रबन्ध को देखकर अपने निकटवर्ती उमरा से गयास ने कहा कि लालचीन को हम लोग गुलाम ही गुलाम समझते थे। किन्तु इसका विभव एवं ऐश्वर्य देखकर बड़े-बड़े उमरा की बुद्धि चकरा जायगी। अहा! इसका अतिथि सत्कार भी सराहनीय है। देखो हम लोगों के स्वागत के लिए इसने कैसा प्रबन्ध किया है।'[3]

इसी प्रकार अपने 'राधाकांत' उपन्यास में बाबू ब्रजनन्दनसहाय परोपकार पर एक लम्बा वक्तव्य ही दे डालते हैं। उपन्यास के महात्माजी कहते हैं—देखो, परोपकार से बढ़कर इस संसार में दूसरा पदार्थ नहीं है। परोपकारी कभी दुःखी नहीं होता। सृष्टि के ऊपर पदार्थों के सदृश दूसरे के लिए अपने जीवन को अर्पण करो। यही यथार्थ वैराग्य है। कर्त्तव्यपालन में बद्ध परिकर होकर अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करो, तब तुम अवश्य सब अवस्थाओं में सुखी रहोगे।'[4]

स्पष्ट है कि हिन्दी के प्रारम्भकालीन उपन्यासकारों ने आचार-विचार सम्बन्धी

---

१. 'अरण्यबाला' : प्रथम संस्करण, १९१५, पृ० १४९-१५०
२. 'अरण्यबाला' : प्रथम संस्करण, १९१५, पृ० १५०-१५१
३. 'लालचीन' : प्रथम संस्करण, १९१७, पृ० ७३
४. 'राधाकान्त' : प्रथम संस्करण, १९१२, पृ० ७८

नियमों का ध्यान रखा है और अपने उपन्यासों में उसका स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। उनके लिए यह सम्भव भी था, क्योंकि अभी उपन्यासों का विषय अपेक्षाकृत स्थूल और इतिवृत्तात्मक था, जिसमें इन बातों के लिए काफी कुछ गुंजाइश थी। आगे चलकर जैसे-जैसे उपन्यास साहित्य सूक्ष्म जीवन की ओर अग्रसर होता गया, त्यों-त्यों उसकी यह स्थूलता तथा इतिवृत्तात्मकता धीरे-धीरे समाप्त होती गई और वह जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख होता गया। प्रेमचन्द काल में उपन्यासों का यह स्वरूप रहा है और उपन्यासों की स्थूलता बहुत कुछ यहाँ समाप्तप्राय हो गई है। इस कार्य में स्वयं प्रेमचन्द के उपन्यासों ने सबसे अधिक योगदान दिया, जैसा कि पहले भी हम बता चुके हैं। फिर भी इस युग में भी कुछ सामाजिक रीति-रिवाजों का हलका-फुल्का उल्लेख उपन्यासों में हुआ है। 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' उपन्यास में वृन्दावनलाल वर्मा पुत्र-जन्म उत्सव की एक रस्म का वर्णन करते हैं—'जिस दिन गंगाधर राव के पुत्र हुआ उस दिन संवत् १९०८ (सन् १८५१) की अगहन सुदी एकादशी थी। यों ही एकादशी को तो आमोद-प्रमोद ने उन्माद का रूप धारण कर लिया, अपनी रानी के गर्भ से पुत्र की उत्पत्ति का समाचार सुनकर झाँसी थोड़े समय के लिए इन्द्रपुरी बन गई।'[1]

इसी प्रकार पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' भंगियों के विवाह की रस्म का बड़ा ही रोचक वर्णन प्रस्तुत करते हैं। अपने उपन्यास 'मनुष्यानन्द' में उग्रजी लिखते हैं—'कोई बूढ़ी भंगिन आगे बढ़ती थी। वह अनेक भूतों, प्रेतों, और शैतानों का नाम लेकर वर-कन्या में प्रेम बने रहने के लिए प्रार्थना करती थी। एक टुकड़ा गोश्त और कुछ बूंदें शराब लिपी जमीन पर शैतानों के लिए गिरा दी जाती थी। फिर वर-कन्या के माथे में सिन्दूर देता था और उसे अपनी बगल में बैठाकर अपने हाथों से शराब पिलाता था। उसके बाद सभी दारू कलिया पूजन में सहयोग करने लगते थे। धीरे-धीरे नशे का उन्मादकारी हाथ दोनों दलों के सिर पर पड़ता था। मस्तियों, बहकी बातों और गालियों की धारा बहने लगती थी। कोई कै करने लगता था, कोई जमीन सूँघने और कोई लत्तम-जुत्तम करने! बस यही बुधुआ की जाति का सर्वश्रेष्ठ विवाह संस्कार था।'[2]

स्पष्ट है कि उपन्यासों में यथावसर धार्मिक सामाजिक संस्कारों का भी उल्लेख हुआ है, यद्यपि उपन्यास साहित्य अब इन विषयों के लिए उपयुक्त माध्यम नहीं रह गया है और उसने स्थूल विषयों को छोड़कर मनोविज्ञान की समस्याओं को ग्रहण कर लिया

---

१. 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' : प्रथम संस्करण, १९४६, पृ० १११
२. 'मनुष्यानन्द' : द्वितीय संस्करण, १९५५ पृ० ७

है। अतः प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में आचार-विचार के नियमों तथा रीति-रस्मों से सम्बन्धित समस्याएँ प्रायः नहीं देखने में आतीं '

पर्व-त्यौहार : आमोद-प्रमोद : क्रीडा

मानव जीवन में आमोद-प्रमोद का विशिष्ट स्थान होता है, जिससे जीवन की एकरसता तथा नीरसता दूर की जाती है और नई स्फूर्ति प्राप्त की जाती है। मनुष्य का जीवन कर्मठ होता है, उसे अपने जीवन के क्रम में तमाम परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है तथा तमाम छोटे-बड़े कार्य करने पड़ते हैं, जिनसे उसकी रोजी-रोटी का सम्बन्ध जुड़ा होता है। इस प्रकार आदमी हमेशा जी-तोड़ मिहनत मजदूरी करके भी जीवन की भौतिक सुविधाएँ जुटा पाने में सक्षम नहीं हो पाता। साथ ही निरन्तर काम करते-करते ऊब और थकान का भी आदमी अनुभव करता है जिसके दूर करने का एक-मात्र साधन मनोरंजन ही है। मनोरंजन द्वारा पुनः नई शक्ति का संचार होता है और व्यक्ति दुहरे वेग से काम में जुट जाता है।

मनोरंजन तथा आमोद-प्रमोद के द्वारा आदमी प्रसन्नता का अनुभव करता है और प्रसन्नता का अनुभव करना स्वास्थ्य के लिए भी हितकर माना गया है। हमेशा मुँह लटकाए रहने वाले आदमी का स्वास्थ्य धीरे-धीरे गिरता हुआ देखा जा सकता है। इस प्रकार मानव जीवन में हास्य का अपना विशेष महत्त्व है। कविता में हास्यरस के रूप में इसकी उपस्थिति इस बात को और अधिक पुष्ट बनाती है। वस्तुतः थोड़े क्षण के लिए हँस लेने अथवा आमोद-प्रमोद मना लेने के बाद आदमी में पुनः नई शक्ति का संचार हो जाता है, जिससे वह अपना कार्य आगे सम्पन्न करता है।

मनोरंजन तथा आमोद के विभिन्न साधन होते हैं—हो सकते हैं, जिनसे आदमी खाली वक्त में अपना मन बहलाव करता है। मन बहलाव की यह परम्परा कोई आज की बात नहीं है। अपने जन्म के साथ ही मनुष्य हँसना रोना सीख लेता है सभ्यता के आदिकाल से आदमी मनोरंजन में रुचि लेता आ रहा है। आदमी का जीवन नीरस कभी नहीं रहा, सुदूर वैदिक काल में भी नहीं। वैदिक काल का व्यक्ति तो आमोद-प्रमोद में काफी दिलचस्पी के साथ भाग लेता था। वैदिक काल में मनोरंजन के विभिन्न साधनों का उल्लेख मिलता है, यथा, द्यूत क्रीड़ा, युद्ध-नृत्य, रथ धावन तथा आखेट। मनोविनोद के कुछ अन्य साधनों में मुष्टि युद्ध, वीणा-बाँसुरी वादन तथा ढोल के साथ नृत्य तथा संगीत का उल्लेख मिलता है। त्योहारों का आयोजन भी मनोरंजन को दृष्टि में रखकर ही किया जाता था और उनके आयोजन में नाच-गाने का उचित प्रबन्ध होता था। स्त्रियाँ वीणा व झाँझ के साथ नृत्य व गान में अपनी दक्षता का प्रदर्शन करना अत्यन्त पसन्द करती थीं। वैदिक युग के संगीतज्ञों की जीवन के आनन्द का वर्णन करने

में विशेष अभिरुचि थी। शत्रु के अतिरिक्त वे अन्य किसी भी सम्बन्ध में मृत्यु का वर्णन बहुत कम करते थे। आगे चलकर समाज में मनोरंजन के साधन के रूप में मनोरंजन उद्यानों, जुआ-घरों, नृत्य भवनों, आदि का निर्माण हुआ तथा लोकगायन शतरंज का खेल, नटों की क्रीड़ाएँ, पशु-युद्ध आदि का प्रचलन हुआ। योद्धाओं का प्रमुख आमोद-प्रमोद द्यूत-क्रीड़ा, आखेट, युद्ध की कहानियों का श्रवण, रंगभूमि और अखाड़े के खेल थे।

मौर्यकाल के सम्बन्ध में इतिहासकारों ने लिखा है कि इस काल में (३२२-१८५ ई० पूर्व) लोग अनेक उत्सवों और समारोहों को मनाते थे और अत्यन्त आह्लादित होते थे। वसन्तोत्सव, दीपावली, गिरिपूजा, आदि समारोहों का अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। पुष्प समारोहों के भी हवाले दिए गए हैं तथा ऋतु परिवर्तन को समुचित आमोद-प्रमोद सहित मनाये जाने का उल्लेख मिलता है। चौपड़ के खेल के सभी आदी थे और द्यूत क्रीड़ा-गृहों पर शुल्क था तथा वे शासन द्वारा नियंत्रित होते थे। नारियाँ गेंद के खेल में अधिक अभिरुचि रखती थीं। स्त्रियों की वाटिकाओं और उद्यानों में प्राय: कन्दुक क्रीड़ा का उल्लेख हुआ है। आखेट भी लोकप्रिय था। नाव चलाना, तैरना और धनुर्विद्या तथा अन्य साहसी खेल भी प्रचलित थे, जिनमें युवक परस्पर एक-दूसरे की होड़ करते थे। मनुष्यों, हाथियों और अन्य पशुओं में परस्पर युद्ध होता था तथा अश्वों और वृषभों को जोतकर रथों की दौड़ होती थी। मनुष्यों और पशुओं के मल्ल युद्ध से प्राय: रक्तपात होने के फलस्वरूप 'अशोक' के बाद ऐसे युद्धों का निषेध कर दिया गया और इनके स्थान पर धार्मिक दृश्यों के खेल-तमाशे प्रचलित किए गए, जिनसे मनोरंजन और नैतिक उपदेश दोनों ही प्राप्त होते थे। बौद्ध-लेखकों ने वर्गों की आठ या दस पंक्तियों वाले लकड़ी के तख्ते पर खेले जाने वाले खेल का उल्लेख किया है, जिससे आगे चलकर शतरंज का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त गायन नृत्य और वाद्य-संगीत भी विस्तृत रूप से प्रचलित थे और वीणा पर अधिकांश लोग गाते-बजाते थे।

इसके पश्चात् गुप्तकाल (लगभग ३००-५०२ ई० सन्) में चौपड़, आखेट तथा गैंडे और मुर्गों की लड़ाई आदि साधन विकसित हुए। उत्सव के अवसर पर महिलाएँ इकट्ठी होकर अनेक प्रकार के शारीरिक खेल खेलती थीं। नाटक, प्रहसन, तमाशे, मेले आदि सांस्कृतिक कार्यक्रम भी मनोरंजन की सामग्री उपस्थित करते थे। साथ ही मुग़लकाल में (लगभग १५२६-१८५७) शिकार, कुश्ती, कबूतर लड़ाना, पाँसा, मद्यपान, अफीम तथा तम्बाकू का सेवन भी मनोरंजन की सामग्रियों के रूप में किया जाता था।

(इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव समाज में आमोद-प्रमोद तथा मनोरंजन के साधनों का सभ्यता के विकास के समानान्तर ही नानाविध विकास होता गया। समाज

में विभिन्न पर्वों-त्योहारों का आयोजन भी मुख्यतः इसी उद्देश्य को लेकर किया जाता था, जिसमें लोग सामूहिक रूप से आमोद-प्रमोद में भाग लेते थे जैसा कि आज भी लोग करते हैं। होली, दशहरा, दीपावली आदि त्यौहारों में जो भव्य आयोजन किया जाता है, उसके पीछे धार्मिक कारण एक बहानामात्र है, असली बात तो है आमोद-प्रमोद जिसके लिए इन त्योहारों की बड़े धूम-धाम से मनाया जाता है। आमोद-प्रमोद की दृष्टि से समाज में प्रचलित विभिन्न खेलों का भी अपना अलग महत्त्व है। आज खेलों की न जाने कितनी किस्में प्रचलित हो गई हैं जो लोगों के मनोरंजन का साधन बनती हैं। संगीत नृत्य तथा अभिनय का भी इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है, जिनको इकट्ठा आज फिल्मों में प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि आज मनोरंजन के साधनों में फिल्मों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया है।)

हिन्दी उपन्यास साहित्य में भी मनोरंजन के विभिन्न साधनों का उल्लेख हुआ है और पर्व-त्यौहारों को धूम-धाम से मनाए जाने का विवरण प्रस्तुत किया गया है। प्रारम्भिक उपन्यासों में राधारमण गोस्वामी अपने उपन्यास 'जावित्री' में 'होली' का उल्लेख करते हैं—'आज होली है। समस्त नगर आनन्द से व्याप्त हो रहा है, नर-नारी जिसे देखिये, चेहरे पर नूर बरस रहा है, रंग से तरबोरे, गुलाल से लाल, होली के भड़ुआ होली है! होली है! होली है! पुकारते, मारे-मारे गली-गली गिरते हैं। कहीं डफ़, कहीं खंजरी, कहीं ढोल, कहीं नक्कारे, कहीं झाँझ, कहीं मजीरा बज रहे हैं, लोग उल्टी-सीधी राग-रागनियों से अपना गला और दूसरों के कान फोड़े डालते हैं। रसिक लोगों ने कबीर, रसिया, धमार, गाली, दोहा, चौपाई गा-गाकर सभ्यता का बीज नाश करके पीछा छोड़ा। दसों दिशाओं में हो-हो-हो की ध्वनि व्याप्त हो गई। गलियों में जूतावर्ष मचा, मोहरियों में से कीचड़ की वर्षा बरसने लगी, भले आदमियों का रास्ता चलना बन्द हुआ।'[1]

मेहता लज्जाराम शर्मा भी अपने उपन्यासों में पर्वों तथा त्योहारों का पर्याप्त चित्रण करते हैं और यह बताते हैं कि हिन्दुओं के प्रत्येक त्योहारों में हँसने-हँसाने का ही विधान किया गया है। मेहताजी लिखते हैं—'मुसलमान ताजियादारी करते हैं, ईसाइयों में भोजन के समय चार आँसू गिराना भगवान् की कृतज्ञता है, किन्तु हिन्दुओं के यहाँ कोई त्योहार ऐसा नहीं, श्राद्ध पक्ष तक ऐसा नहीं, जिसमें रोने की आवश्यकता हो। हिन्दुओं के प्रत्येक धर्म में, संस्कार में और काम-काज में आनन्द है। हँसी-ठट्ठा आदमी के दिमाग को शोक संताप से रहित करके आनन्द में मग्न और ताजा कर देने की मुख्य सामग्री है। जो हँसना-हँसाना नहीं जानता अथवा दिन-रात की ठस घड़ियों

---

१. 'जावित्री' प्रथम संस्करण, १८८८, पृ० ६

में जो एक बार भी नहीं हँस लिया करता है, वह सचमुच ही या तो योगी है अथवा पशु है।'[1] आगे इसी उपन्यास 'आदर्श हिन्दू' में ही मेहताजी हिन्दुओं के विभिन्न पर्व त्योहारों का विधिवत् वर्णन करते हैं—'अनादिकाल से जैसे हिन्दुओं की ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार जातियाँ हैं। वैसे ही सलोनों, दशहरा, दीवाली और होली चार वर्णों के चार त्योहार हैं। सलोनों को उपाकर्म ब्राह्मणों का, दशहरे की विजय यात्रा क्षत्रियों का, दीवाली की लक्ष्मी का पूजन वैश्यों का और होली की धूम-धाम शूद्रों का यों चारों वर्णों के चार त्योहार हैं। किन्तु हैं चारों चारों ही के। ये हमारे जातीय त्योहार हैं। उत्साह ही जाति का जीवन है और ये त्योहार हमारा उत्साह जागृत रखने के मुख्य साधन हैं। पर साथ ही यह भी आवश्यक है कि इन त्योहारों में जो अनुचित बातें आ गई हैं। उनका सुधार होना चाहिए, उन्हें एकदम उठा देना ठीक नहीं।'[2]

बाबू गंगा प्रसाद गुप्त अपने उपन्यास 'कृष्णकान्ता' में एक शिकार का विस्तृत वर्णन करते हैं, जो मनोरंजन का एक प्रधान साधन है। कुँअर रणवीर सिंह के शिकार खेलने जाने का उल्लेख लेखक इन शब्दों में करता है—'आज कुँअर रणवीर सिंह शिकार के लिए चल खड़े हैं। पहले तो घोड़े कदम मिलाकर धीरे-धीरे चलते रहे, बाद में इस शिकारी दल ने घोड़ों को तेज किया। घोड़े कम्बोतियाँ मिलाते हुए हवा को हवा बताने लगे, लगभग आध घण्टे की दौड़-धूप में ही आखेट स्थल आन पहुँचा। यहाँ पर बड़ी-बड़ी झाड़ियाँ थीं, जो जंगली सूअर और शेरों का निवास या बिहार-स्थान थीं, बन्दूकों के दो-तीन ही खाली फायर करने पर जंगली सूअर कोप कर इस शिकारी दल पर टूट पड़े। सवार पहले ही से सावधान थे। एक ही साथ बरछी भालों के वार पड़ने लगे। दाँय-दाँय बन्दूक भी दग उठीं। परन्तु जंगली सूअर भी चोट खाकर द्विगुणित कोप और जोश के साथ गुर्रा-गुर्रा कर दल पर हमला करने लगे, थोड़ी देर तक दोनों तरफ़ से खूब घमासान युद्ध-सा होता रहा, सूअर जितना ज्यादा जखमी होते थे, उतने ही अधिक रोष से दल पर झपटते थे।'[3] 'कृष्णकान्ता' में ही मनोरंजन उद्यान का एक और चित्र द्रष्टव्य है—'बाटिका की बहार और यौवन को लूटने वाली तीन स्त्रियाँ पूर्वी सड़क की पास वाली रौश पर चहलक़दमी कर रही हैं। कभी-कभी एक आदि किसी पुष्प को तोड़कर दूसरे पर फेंक देती है, निदान एक दूसरे पर खूब फूलों की मार पड़ने लगती है। कभी अट्टहास होता है तो कभी कोई किसी के भेद की बात कहकर

---

१. 'आदर्श हिन्दू' : प्रथम संस्करण, १९१५, पृ० २१६-२१७

२. 'आदर्श हिन्दू' : प्रथम संस्करण, १९१५, पृ० २२६

३. 'कृष्णकान्ता' : तीसरा संस्करण, १९२२, पृ० ४

दूसरे को झेंपा देती है। इन नवयौवनाओं की अवस्था सोलह और बीस वर्ष के भीतर ही होगी, रूप यौवन की चंचलता में तीनों एक-दूसरे का जवाब थीं।[1]

इसके अतिरिक्त बाबू गंगा प्रसाद गुप्त ने अपने एक उपन्यास 'पूना में हलचल' में मनोरंजन के लिए नशा करने का उल्लेख किया हैं तथा गाँजा तथा चरस पीने का संकेत किया है—

भाभी—'बस एक ही ऐब है कि गाँजा बहुत पीता है।'

राम भोली—'हाँ देखो न, गाँजा पीते-पीते दुबला कैसा हो गया है। मेरी समझ में नहीं आता कि गाँजा चरस क्यों पीते हैं, नशे की चीजों से तो सिवाय हानि के कोई लाभ नहीं होता।'[2]

किशोरीलाल गोस्वामी ने कुम्भ पर्व से सम्बन्धित अपना एक अलग उपन्यास ही 'त्रिवेणी' नाम से लिख डाला है, जिसमें त्रिधिवत् वे कुम्भ पर्व के महात्म्य पर प्रकाश डालते हैं। प्रयागराज में आयोजित कुम्भ पर्व का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—'आज प्रयाग में बड़ा घूमधाम है। कुम्भ के पर्व में मानों समस्त भारतवर्ष के लोग त्रिवेणी में स्नान करके अपने त्रयताप (पाप) दूर करने के लिए बारह वर्ष पर आये हैं, इससे मेले में महा आनन्द ध्वनि हो रही है।'[3] आगे चलकर लेखक कुम्भ स्नान का विधिवत् वर्णन करता है और धार्मिक दृष्टि से इस पर्व का महत्त्व बतलाता है, लेकिन इसके पीछे आमोद-प्रमोद का भाव स्पष्ट इंगित किया जा सकता है।

इसी प्रकार बाबू ब्रजनन्दनसहाय मनोरंजन के साधनों के रूप में नाटक तथा पारसी थियेटरों का उल्लेख करते हैं। अपने उपन्यास 'राधाकान्त' में सहायजी एक ऐसे ही पारसी नाटक देखने जाने का वर्णन प्रस्तुत करते हैं—आज शनिवार है। आज आफिस एक ही बजे दिन को बन्द हो गया। काम पर से आते समय मैंने देखा कि 'एलफिस्टन' नाटक मण्डली का विज्ञापन बँट रहा है। नोटिस लेकर देखा कि आज 'कतूले नज़ीर' का अभिनय होगा। मैं बहुत दिनों से इसी नगर में रहता हूँ, किन्तु एक दो बार से अधिक मैंने नाटक नहीं देखा। अभी तक जब कभी जाता था तो 'स्टार' थियेटर में। आज मेरी इच्छा हुई कि 'पारसी' थियेटर का भी अभिनय देख आऊँ।'[4]

स्पष्ट है कि प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने आमोद-प्रमोद पर्व-त्योहार तथा क्रीड़ा आदि का विधिवत् वर्णन अपने उपन्यासों में किया है और मनुष्य की एक आवश्यक

---

१. 'कृष्णकान्ता' : तीसरा संस्करण, १९२२, पृ० १४-१५

२. 'पूना में हलचल' : प्रथम संस्करण, १९०३, पृ० ४८

३. 'त्रिवेणी' : प्रथम संस्करण, १९०७, पृ० १-२

४. 'राधाकान्त' : प्रथम संस्करण, १९१२, पृ० १३

वृत्ति के रूप में मनोरंजन वृत्ति को भी स्थान प्रदान किया है। आगे चलकर प्रेमचंदकाल में भी आमोद-प्रमोद के साधनों का पर्याप्त उल्लेख किया गया है। वृन्दावनलाल वर्मा अपने उपन्यास 'अचल मेरा कोई' में नाच-गाने का विस्तृत आयोजन करते हैं, जिसमें विविध वाद्य यन्त्रों के प्रयोग का भी उल्लेख हुआ है—'लड़कियों का नृत्य समाप्त हो गया। उन्होंने नमस्कार किया। पर्दा गिरा। वे पार्श्वों के पीछे चली गईं। रंगमंच के बाहर बातचीत शोर-गुल तुरन्त शुरू हुआ और बढ़ गया। पर्दे के पीछे आहट हुई। निशा गाने के लिए आ बैठी। बेला, इसराज और तबले कालेज के संगीत शिक्षकों ने लिए। पर्दा खुला और गायन प्रारम्भ हो गया।'[१] इसी उपन्यास में आगे वर्माजी कुन्ती द्वारा कत्थक नृत्य प्रस्तुत किए जाने का भी उल्लेख करते हैं[२] और क्लबों, नृत्य पार्टियों आदि का भी। साथ ही मनोरंजन के लिए खेले जाने वाले खेलों में ब्रिज, सोलों रमी इत्यादि का भी उल्लेख हुआ है।[3] अपने 'कुण्डली चक्र' तथा झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' में भी वर्माजी नाच-गाने का उल्लेख करते हैं तथा नाट्य शालाओं का वर्णन प्रस्तुत करते हैं।

साथ ही जयशंकर 'प्रसाद' भी इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं जिन्होंने अपने उपन्यासों में अन्नकूट तथा वसन्त पंचमी के उत्सवों का वर्णन किया है। 'कंकाल' में अन्नकूट के उत्सव का वर्णन द्रष्टव्य है—'आज बड़ा समारोह है। निरंजन चाँदी के पात्र निकाल कर दे रहा है—आरती, फूल, चंगेर, धूपदान, नैवेद्य पात्र और पंचपात्र इत्यादि माँज धोकर साफ किये जा रहे हैं। किशोरी मेवा, फल, धूप, बत्ती और फूलों की राशि एकत्र किये उसमें सजा रही है। घर की सब दास-दासियाँ व्यस्त हैं।'[४] इसी उपन्यास में वेश्या द्वारा नृत्य का भी आयोजन कराया गया है जो तत्कालीन मनोरंजन प्रिय मनोवृत्ति का सूचक है।[६]

अपने 'तितली' उपन्यास में 'प्रसादजी' वसंत पंचमी के उत्सव की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं तथा उसकी भव्य रूपरेखा पाठकों के सम्मुख खींचकर रख देते हैं—'निर्धन किसानों में किसी ने अपनी पुरानी चादर को पीले रंग से रंग लिया तो किसी की पगड़ी ही बचे हुए फीके रंग में रँगी है। आज मसन्त पंचमी है न! सब के

---

१. 'अचल मेरा कोई' : प्रथम संस्करण, १९८८, पृ० २३-२४
२. 'अचल मेरा कोई' : प्रथम संस्करण, १९४८, पृ० २९-३०
३. 'अचल मेरा कोई' : प्रथम संस्करण, १९१८, पृ० २१४
४. 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' : प्रथम संस्करण, १९४६, पृ० १२
५. 'कंकाल' : द्वितीय संस्करण, सम्वत् १९९५, पृ० ९३
६. कंकाल, : द्वितीय संस्करण, सम्वत् १९९५, पृ० ३८

पास कोई-न-कोई पीला कपड़ा है। दरिद्रता में भी पर्व और उत्सव तो मनाये ही जायेंगे। महँगू महतो के अलाव के पास भी ग्रामीणों का एक ऐसा ही झुण्ड बैठा है। जौ की कच्ची बालों को भूनकर गुड़ मिलाकर लोग 'नवाग' कर रहे हैं। चिलम ठण्डी नहीं होने पाती। एक लड़का, जिसका कण्ठ सुरीला था, वसन्त गा रहा था—'मदमाती कोइलिया डार-डार।' दुखी हो या दरिद्र, प्रकृति ने अपनी प्रेरणा से सब के मन में उत्साह भर दिया था। उत्सव मनाने के लिए, भीतर की उदासी ने ही मानों एक नया रूप धारण कर लिया था। पश्चिमी पवन पके हुए खेतों पर सर्राटा भरता और उन्हें रौंदता हुआ चल रहा था। बूढ़े महँगू के मन में गुदगुदी लगी। उसने कहा—दुलरवा ढोल ले आ, दूसरी जगह तो सुनता हूँ कि तू बजाता है, अपने घर आज त्यौहार के दिन बजाने में लजाता है क्या रे ?

···दुलारे धीरे से उठकर घर में गया। ढोल मंजीरा आया। गाना जमने लगा। सब लोग अपने को भूलकर उस सरल विनोद में निमग्न हो रहे थे।[1] 'तितली' उपन्यास में ही एक अन्य स्थान पर लेखक मैना के नृत्य तथा गायन का रोचक वर्णन करता है—'मैना उन्मत्त होकर पंचम स्वर में गा रही थी। उसका नृत्य अद्भुत था, सब लोग चित्रलिखे-से देख थे। कहीं कोई भी दूसरा शब्द नहीं सुनाई पड़ता था। उसके मधुर नूपुर की झनकार उस वसन्त की रात को गुँजा रही थी।'[2]

'निरालाजी' भी अपने उपन्यास में नाटक तथा नृत्य-गीत आदि का वर्णन करते हैं[3] तथा क्रीड़ा आदि के संदर्भ में टेनिस खेलने का उल्लेख करते हैं—'लाचार हो प्रभाशंकर अपने साधारण जूते उतार कर खेलने के लिए चला और लोगों ने टेनिस खेलने वाले जूते पहन कर रैकेट ले लिए। एक तरफ कमिश्नर साहब और तेजू बाबू हुए और दूसरी तरफ बाबू रामकुमार और प्रभाशंकर।'[4] साथ ही राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह ने भी अपने उपन्यास 'रामरहीम' में 'टेनिस खेलने तथा नाच-गाने और नाटकों के आयोजनों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी उपन्यास साहित्य में आमोद-प्रमोद, पर्व-त्यौहार तथा क्रीड़ा आदि विषयक प्रचुर सामग्री उपलब्ध है और उनका विधिवत् उद्घाटन उपन्यासों में हुआ है। लेकिन, जैसा कि हम पहले भी निवेदन कर चुके हैं,

---

१. 'तितली' : द्वितीय संकरण, सम्वत् १९९५, पृ० १९१-१९२
२. 'तितली' : द्वितीय संस्करण, सम्वत् १९५५, पृ० २२८
३. 'अलका' : द्वितीय संस्करण, सम्वत् १९९३, पृ० १०९
४. 'अलका' : द्वितीय संस्करण, सम्वत् १९९३, पृ० १६९
५. 'राम रहीम' : प्रथम संस्करण, १९३७, पृ० १३६, १२९, १३३

उपन्यासों की विकास-यात्रा के साथ-ही-साथ उसकी यह स्थूल वर्णनात्मकता भी समाप्त होती गई है और वह सूक्ष्म जीवन को अपना विषय बनाता गया है, जिसके अन्तर्गत इन स्थूल बातों के लिए अधिक अवकाश उपन्यासकारों को नहीं मिल पाता। आगे की औपन्यासिक यात्रा लगभग ऐसी ही है, जिसमें 'वर्णन' की परम्परा धीरे-धीरे लुप्त होती चली गई है और आदमी का अन्तरमन प्रधान होता चला गया है। हमारा मतलब यहाँ स्पष्ट ही प्रेमचन्दोत्तर काल के उपन्यासों से है, जिनमें स्थूल वर्णनात्मकता का प्रायः अभाव ही देखने में आता है। वस्तुतः इन लेखकों का इन स्थूल बातों की ओर ध्यान भी नहीं रहा है और इनका उल्लेख करना वे आवश्यक भी नहीं समझते जो वर्तमान परिस्थियों तथा औपन्यासिक कलात्मकता को देखते हुए उचित और समीचीन भी कहा जा सकता है।

⊙ ⊙ ⊙

अध्याय —११

उपसंहार

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के दो प्रमुख पक्ष देखे जा सकते हैं—पहला पक्ष, उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध की सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों एवं चेतना के विकास से संबंधित है तथा दूसरा पक्ष इस युग के उपन्यास साहित्य में तत्कालीन सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति के विश्लेषण से।

वस्तुतः आधुनिक भारत का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल के व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण से माना जाता है। यह युग निःसन्देह व्यापक क्रान्ति का युग रहा है, जिसमें अनेक सामाजिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलनों का जन्म हुआ। ये आन्दोलन मध्यकालीन समाज तथा संस्कृति का निषेध करके युग के अनुसार नई समाज-व्यवस्था तथा नई सांस्कृतिक चेतना की स्थापना करते हैं। फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रीयता का सूत्रपात होता है, जिससे प्रेरित होकर राजनीतिक जगत् में 'राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना जैसी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना घटित होती है। यह हिन्दी उपन्यास-साहित्य का उद्भव-काल रहा है, जब जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन उपस्थित हो रहा था। अतः हिन्दी उपन्यास यद्यपि अभी अपनी प्रयोगावस्था में था, फिर भी वह नवीन चेतना का प्रतिनिधि बनकर उपस्थित हुआ। इन प्रारम्भिक युग के उपन्यासकारों का जीवन-दृष्टिकोण यद्यपि मध्ययुगीन था, फिर भी उन पर अप्रत्यक्ष रूप से तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा और उनके उपन्यासों में उनकी अभिव्यक्ति हुई। इन उपन्यासों का विषय मध्यवर्गीय समाज बना जो तत्कालीन उपन्यासकरों की जागरूकता का ही परिचायक है। इन उपन्यासों ने नये युग के नेतृत्व को समझ लिया था जो मध्यमवर्ग के हाथ में आता जा रहा था तथा अनमेल विवाह एवं नारी सम्बन्धी अनेक सामाजिक समस्याओं की विसंगतियाँ उनके सामने स्पष्ट हो चुकी थीं।

विवेच्यकाल में सामाजिक विकास के तीन स्तरों को स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नवजागरण के परिणामस्वरूप जिस सामाजिक चेतना का उद्भव हुआ, उससे प्रेरित होकर अनेक कर्त्तव्यनिष्ठ समाज-

सुधारक समाज के परिष्कार में लगे दिखाई पड़ते हैं, जिनका दृष्टिकोण मूलतः सुधारवादी था। अतः रूढ़िवादी समाज पर आक्रमण न करके इन सुधारकों ने अनेक सुधार सम्बन्धी सामाजिक संस्थाओं एवं आश्रमों की ही स्थापना की, जिनमें समाज की रूढ़ियों से प्रताड़ित लोगों विशेषकर नारी वर्ग को विभिन्न आश्रमों में आश्रय प्रदान किया गया। यह विकास का पहला स्तर था। इन्हीं आश्रमों में नारी शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। लेकिन इस युग के उपन्यासकार अभी अपने को मध्ययुगीन विचारों से अलग नहीं कर सके थे, अतः उनमें प्रगतिशील सुधारवादी दृष्टिकोण का अभाव ही बना रहा और वे वर्ण-व्यवस्था तथा परम्परित समाज-व्यवस्था, संयुक्त परिवार आदि का समर्थन ही करते रहे। नारी के सम्बन्ध में भी इनके विचार रूढ़िवादी ही रहे तथा अपने उपन्यासों में इन लेखकों ने परम्परित भारतीय नारी को ही आदरणीया माना। इन प्रारम्भिक काल के उपन्यासों की सामाजिक चेतना तथा युगीन सामाजिक चेतना में अन्तर दिखाई पड़ता है, जिसका कारण उपन्यासकारों का रूढ़िवादी होना ही है।

इस विकास का दूसरा स्तर प्रेमचन्दकाल में लक्षित होता है। लगभग १९१६-१९१७ के आस-पास जब राष्ट्रीय आन्दोलन के तीव्रतर होने से सभी सामाजिक प्रश्न राजनीतिक स्वरूप धारण कर लेते हैं। इससे पूर्व के समाज सुधारक बग़ैर किसी तरह का परिवर्तन उपस्थित किए ही समाज का सुधार चाहते थे, लेकिन इस युग में नये सामाजिक अधिकारों की माँगों के माध्यम से सुधारकों ने समाज में मूलभूत परिवर्तन लाने पर जोर दिया। फलतः समाज में पीड़ित तथा प्रताड़ित नारी तथा अछूत वर्ग को न केवल सामाजिक धरातल पर ही बल्कि राजनीतिक धरातल पर भी समान अधिकार प्रदान किए गए। राष्ट्रीय एवं जनवादी शक्तियों तथा भावनाओं के उदय के कारण समाज के सभी वर्गों को समानता का दर्जा हासिल हुआ।

उपन्यास साहित्य में यह युग प्रेमचन्द काल के नाम से जाना जाता है जो अपने समय के सभी तरह के परिवर्तनों से सम्पर्कित था तथा उससे कदम-से-कदम मिलाकर चलने की क्षमता रखता था।

पिछले युग के उपन्यासकार रूढ़िवादी अधिक थे, प्रगतिशील कम। इसलिए उनके सामने रूढ़ियों से पीड़ित वर्गों की समस्याएँ महत्त्वपूर्ण नहीं थीं। लेकिन इस युग के उपन्यासकार समाज-सुधारकों के स्वर-में-स्वर मिलाकर इन पीड़ित वर्गों को न केवल अपनी सहानुभूति प्रदान करते हैं, बल्कि उनके स्वातन्त्र्य आन्दोलन का नेतृत्व करके उनके समर्थन में व्यापक जनमत भी तैयार करते हैं। इस युग का लेखक समाज के प्रति सचेत है तथा विभिन्न सामाजिक समस्याओं को वह अपना विषय बनाता है। पहली बार हिन्दी उपन्यास-साहित्य इस युग में अपने को इतना अधिक यथार्थपरक तथा समाज-सापेक्ष बना पाता है। इस सामाजिक चेतना का प्रभाव कला सम्बन्धी

लोगों की रुचियों पर भी पड़ा, जिससे पहली बार कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हिन्दी उपन्यासों का सृजन हुआ।

इस विकास का तीसरा स्तर प्रेमचन्द युग के बाद यानी कि १९३६-३७ के बाद से प्रारम्भ होता है। बीसवीं शताब्दी के क्रमिक विकास में आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के कारण प्राचीन समाज-संगठन नया रूप ले रहा था। इस काल में वर्णाश्रम समाज-व्यवस्था प्रायः जर्जर हो चुकी थी तथा वर्गीय समाज संगठन के आधार पर नवीन समाज-व्यस्था की रचना हो रही थी। पिछले युगों के समाज-सुधारक रूढ़िवादी समाज से संघर्ष करते हुए दिखाई पड़ते हैं, जिसका आधार वर्णाश्रम धर्म समाज-व्यवस्था थी। इन सुधारकों का मुख्य उद्देश्य था, समाज के पीड़ित वर्गों को रूढ़िवादी समाज के शोषण से मुक्त करना। उनका यह उद्देश्य निश्चय ही महत्त्वपूर्ण तथा प्रशंसनीय था और वह बहुत हद तक सफल भी रहा। सामाजिक अधिकार इन सुधारकों के प्रयत्नों से सभी जातियों तथा वर्गों को प्राप्त हो गये। लेकिन विकास के इस तीसरे युग में सामाजिक समस्याओं का स्वरूप ही बहुत कुछ बदल गया। अछूत समस्या से कहीं अधिक बेकारी और निर्धनता की समस्या व्यापक हो गई है। इस युग के विचारक इसीलिए रूढ़िवादी समाज से लड़ने के बजाय ऐसे सामाजिक वर्गों से संघर्ष करते हैं जो बेकारी एवं शोषण के कारण हैं। पिछले युग में हमने कहा है कि सामाजिक समस्याएँ राजनीतिक प्रश्न बन गई थीं, उसी प्रकार इस युग की समाजिक समस्याएँ भी अपने में राजनीति को समेटे हुए चलती हैं। इसे बहुत कुछ नवीन समाज-व्यवस्था का युग कहा जा सकता है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में इसे प्रेमचन्दोत्तर काल के नाम से जाना जाता है। प्रेमचन्द काल में हम उपन्यास-साहित्य तथा समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध देख चुके हैं और यह भी देख चुके हैं कि उस युग का उपन्यासकार सामाजिक निर्माण की दिशा में विशेष प्रयत्नशील प्रतीत होता है। लेकिन इस युग का उपन्यासकार सम्पूर्ण समाज का निषेध करता हुआ देखा जा सकता है। कुछ उपन्यासकार तो समाज के अस्तित्व एवं उसकी उपयोगिता के विषय में भी निषेधात्मक दृष्टिकोण व्यक्त करते हैं। इस युग का अधिकांश उपन्यास साहित्य सामाजिक मान्यताओं का विरोध ही करता है। फलत: हम देखते हैं कि जो उपन्यासकार कभी सुधारक की भूमिका अदा कर चुका था, इस काल में वह अराजकतावादी बन जाता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यासकारों की भाँति इस युग के लेखक सामाजिक चेतना से अप्रभावित रहे हैं। बल्कि स्थिति तो यह है कि इस युग के उपन्यासकार सबसे अधिक बौद्धिक चेतना सम्पन्न हैं, अत: युगीन सामाजिक चेतना को समझते हुए भी वे समाज का निषेध करते हैं। पूर्व प्रेमचन्द युग के उपन्यासकारों की स्थिति ऐसी नहीं है, वे युगीन सामाजिक

चेतना से अप्रभावित रहकर रूढ़िगत संस्कारों पर पूर्ण आस्था रखते हैं। लेकिन इस काल के लेखकों में सामाजिक चेतना की समझ तो है लेकिन ये लेखक साहित्य तथा समाज के उद्देश्यों में एका नहीं स्थापित कर पाते फलतः दोनों की एकसूत्रता समाप्त हो जाती है। इस युग का उपन्यासकार नवीन सामाजिक व्यवस्था में कुंठित है तथा इन कुण्ठाओं ने उसे समाज से विमुख कर दिया है। लेकिन कुछ ऐसे लेखक भी इस काल में मौजूद हैं, जो वर्तमान समाज-व्यवस्था से क्षुब्ध हैं तथा नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं। फिर भी उक्त दोनों प्रकार के उपन्यासकारों का तत्कालीन समाज-व्यवस्था के सम्बन्ध में निषेधात्मक दृष्टिकोण ही स्पष्ठ हुआ है। हाँ इतना अवश्य है कि इनमें से एक वर्ग का दृष्टिकोण विध्वंसात्मक है तो दूसरे वर्ग का निर्माणात्मक।

विवेच्यकाल में राजनीतिक विकास के भी मुख्यतः तीन स्तर लक्षित किए जा सकते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रीय शक्तियों के समानान्तर ही ब्रिटिश सरकार की नीतियों में परिवर्तन देखा जा सकता है। इस युग की सम्पूर्ण राजनीति राष्ट्रीय शक्तियों एवं ब्रिटिश सरकार के संघर्ष की नींव पर टिकी हुई है। यह काल बहुत हद तक उग्र राष्ट्रीय चेतना का काल रहा है। यद्यपि राष्ट्रीय कांग्रेस में उदार दल ही अभी भी प्रमुख था, लेकिन बाल गंगाधर तिलक के नेतृत्व में उग्र राष्ट्रीय चेतना भी अपना विस्तार कर रही थी, जिसकी तरफ तत्कालीन जनता विशेष आकर्षित हुई।

इस प्रारम्भिक युग का उपन्यास-साहित्य अपने युग की राष्ट्रीय भावनाओं को व्यक्त करने का उत्साह नहीं दिखाता। वस्तुतः ये लेखक इतने रूढ़िवादी तथा परम्परा प्रिय थे कि इन पर नवजागरण का प्रभाव प्रायः नहीं पड़ा। लेकिन इन लेखकों के सम्बन्ध में एक बात ज्ञातव्य है कि ये एक तरफ तो ब्रिटिश सरकार की प्रशंसा करते हैं, लेकिन दूसरी तरफ उनकी आर्थिक नीतियों के प्रति अपना विरोध प्रकट करते हैं। मातृभाषा के प्रति भी उनमें प्रेम है जो उनकी राष्ट्रीयता का सूचक है, लेकिन उनकी यह राष्ट्रीयता आभाषित होने की सीमा को पार नहीं कर पाती।

राजनीतिक विकास का दूसरा स्तर १९१६-१७ से प्रारम्भ होता है, जब हमें राष्ट्रीय रंगमंच पर गांधी जैसे महत्त्वपूर्ण नेता के दर्शन होते। गांधी के राजनीति में आने से सबसे पहला परिवर्तन यह हुआ कि राजनीति अब सम्पूर्ण जनता का विषय बन गई, जबकि अब तक वह सरकारी सभाओं में मात्र तर्क-वितर्क तक ही सीमित थी। यह युग वस्तुतः राजनीतिक आन्दोलनों का युग है, जब सामाजिक सुधार की शक्तियाँ भी राष्ट्रीय प्रश्नों से जुड़ जाती हैं तथा समाज और राजनीति को हम एक धरातल पर पाते हैं। इस युग में अनेक राजनीतिक विचार-दर्शनों का भी उदय हुआ जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के अपने कार्यक्रम को लेकर सामने आए, साथ ही हम देखते हैं कि इस काल में

राष्ट्रीय आन्दोलनों के साथ-ही-साथ किसान तथा मजदूर आन्दोलन भी संगठित होते जा रहे थे।

इस युग का उपन्यास-साहित्य, जो प्रेमचन्द युग के नाम से जाना जाता है, युगीन राष्ट्रीय चेतना से पूरी तरह सम्पृक्त दिखाई पड़ता है। स्पष्ट है कि इस युग का उपन्यास साहित्य पूर्णतः राष्ट्रीय साहित्य है। पिछले युग के उपन्यासकार अपने युगीन राजनीतिज्ञों से कई कदम पीछे थे, लेकिन इस युग के उपन्यासकार अपने युगीन राजनीतिज्ञों को कई कदम पीछे छोड़ देते हैं। राष्ट्रीय कांग्रेस ने अभी तक किसान तथा मजदूर की दृष्टि से राजनीतिक सवालों की व्याख्या नहीं की थी, लेकिन इस युग के लेखक राष्ट्रीय सवालों से भी एक कदम आगे बढ़कर जनतांत्रिक दृष्टि से राजनीतिक सवालों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

राजनीतिक विकास का तीसरा स्तर १९३६ के बाद प्रारम्भ होता है, जब राष्ट्रीय भावना अनेकानेक अवरोधात्मक सैद्धान्तिक बन्धनों का अतिक्रमण करके जन क्रान्ति का रूप धारण कर लेती है। 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' का नारा इसी क्रान्तिकारी उत्कर्ष की देन है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात इस युग की यह है कि अब राजनीति एकमात्र राष्ट्रीय भावना से निर्देशित नहीं रह गई बल्कि अनेक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न स्वतन्त्र दृष्टि से परखे जाने लगे। आठ प्रान्तों में राष्ट्रीय सरकारों की स्थापना ने राजनीतिज्ञों को बहुत कुछ आश्वस्त कर दिया कि स्वतन्त्रता अब अवश्य प्राप्त हो जायगी, अतः लोगों का ध्यान उसके भावी रूप के निर्धारण की ओर भी गया। साथ ही इस काल में विभिन्न जातियों में साम्प्रदायिक संघर्ष भी बढ़ा, जिसके कारण अन्ततः देश दो भागों में बँटा, तथा मजदूर एवं किसानों की राजनीतिक चेतना भी राष्ट्रीयता को लिए दिए आगे जनवाद की ओर अग्रसरित हुई।

इस युग का उपन्यास-साहित्य अपनी बौद्धिक जागरूकता के बावजूद भी राष्ट्रीय आन्दोलन से अपने को सम्पृक्त नहीं कर पाता। इस युग का कोई भी लेखक राष्ट्रीय आंदोलन का विशद् चित्रण नहीं करता है। आंदोलनों के स्थान पर कहीं-कहीं राजनीतिक विचार-दर्शनों का विवेचन इन उपन्यासों में अवश्य मिलता है और कुछ उपन्यासकार तो अपना राजनीतिक आग्रह भी व्यक्त करते हैं, लेकिन ये उपन्यासकार राष्ट्रीय आन्दोलन को अपना विषय न बनाकर मजदूर एवं किसान वर्ग के मुक्ति आंदोलन को ही अपना विषय बनाते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीयता के चरम विकास की स्थिति में जहाँ राजनीतिज्ञ पूर्णता प्राप्त करके शिथिल पड़ जाते हैं, वहाँ से उपन्यासकार भावी राजनीतिक गतिविधि का विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

सांस्कृतिक विकास के भी यही तीन स्तर देखे जा सकते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी का नवजागरण भी मूलतः पाश्चात्य एवं भारतीय संस्कृति के संघर्ष का परिणाम था।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में यह संघर्ष और अधिक तेजी से बढ़ा। इस काल में पाश्चात्य तथा भारतीय संस्कृति में संघर्ष उपस्थित होने के साथ-ही-साथ आर्य समाज तथा सनातन धर्म का संघर्ष भी उपस्थित हुआ। वस्तुत: यह सांस्कृतिक संघर्ष का काल था, जिसमें संघर्ष की मूलधारा आधुनिक तथा मध्ययुगीन संस्कृति के बीच प्रवाहित हो रही थी। इस संघर्ष से प्रेरित होकर इस युग के कुछ विचारक प्राचीन भारतीय संस्कृति की गवेषणा करके उसकी गौरव-रक्षा का प्रयत्न करते हैं।

इस युग के उपन्यास साहित्य में भी संस्कृति का यह संघर्ष व्यंजित हुआ है। लेकिन उपन्यासकारों में अधिकांश लेखक कट्टर सनातनधर्मी तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति के समर्थक ही दीखते हैं। ये लेखक आर्य समाज, मुस्लिम जाति तथा पाश्चात्य संस्कृति के साथ-ही-साथ आधुनिकता का भी निषेध करते हैं। प्राचीन परम्पराओं के समर्थक, ये लेखक सनातन धर्म की स्थापना के लिए विशेष आग्रह व्यक्त करते हैं। इस आग्रह के पीछे युगीन संघर्ष से हिन्दू धर्म तथा समाज की रक्षा करने की धार्मिक भावना ही प्रमुख दिखाई है। इस प्रकार ये उपन्यासकार युगीन सांस्कृतिक गतिविधि से अपना पृथकत्व बनाए रखते हैं, यद्यपि कुछ ऐसे लेखक भी हैं, जो समाज-सुधार की दिशा में प्रगतिशील चेतना रखते हैं। लेकिन ऐसे लेखकों की संख्या प्राय: नगण्य ही है।

सांस्कृतिक विकास का दूसरा धरातल १९१६-१७ से प्रारम्भ होता है, जब विभिन्न संस्कृतियों एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोणों के संघर्ष के परिणामस्वरूप भारतीय विचारकों का मस्तिष्क उद्बुद्ध होता है तथा वे दार्शनिक धरातल पर भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा करते हैं। इस युग के विचारकों ने अपने चिन्तन में प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के सम्पूर्ण सांस्कृतिक विकास को आत्मसात् करके अपने दार्शनिक एवं सांस्कृतिक विचारों का निर्माण किया। १९१७ ई० में गांधीजी स्वयं एक दर्शन लेकर राजनीतिक धरातल पर आये तथा अरविन्द, रवीन्द्र, सर मुहम्मद इकबाल आदि आधुनिक जागरण के ही परिणाम रहे जिन्होंने एक स्वर से पूर्वी संस्कृति की महानता को स्वीकार किया था उसकी प्रबल उद्घोषणा की।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य पर इस दार्शनिक चिन्तन-प्रवृत्ति का अनिवार्यतः प्रभाव पड़ा। इन विभिन्न दर्शनों की प्रधान रूपरेखा आदर्शवादी थी, अत: हिन्दी उपन्यास साहित्य को भी इस आदर्शवादी विचारधारा ने बहुत हद तक प्रभावित किया। इस युग का प्रत्येक उपन्यासकार रूढ़िवादी एवं मध्ययुगीन जीवन-मूल्यों को अस्वीकार करके आदर्शों की स्थापना करता है। इसी आदर्शवाद ने सांस्कृतिक क्षेत्र में मानवतावादी तथा पवित्रतावादी दृष्टिकोण के आग्रह को प्रोत्साहित किया। इन उपन्यासकारों को पूर्व के उपन्यासकारों से पवित्रतावादी नैतिक दृष्टिकोण प्राप्त हुआ ही था, इधर आर्य समाज आन्दोलन से भी उन्हें तत्सम्बन्धी उचित प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। प्रेमचन्द में

यही आदर्शवादी तथा नैतिक पवित्रतावादी दृष्टिकोण प्रधान है। लेकिन इसी युग में 'प्रसादजी' को हम इसके विरोध में पाते हैं। युग की आदर्शवादी भाव-धारा के साथ-साथ चलते हुए भी हिन्दी के कुछ उपन्यासकारों का चिन्तन युग से आगे है। इस युग की प्रमुख विशेषता यह कही जा सकती है कि इस युग में समाज तथा साहित्य का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित तथा सुदृढ़ हुआ।

सांस्कृतिक विकास की तीसरी अवस्था लगभग १९३६-३७ के बाद परिलक्षित की जा सकती है जब सभी क्षेत्रों में वैज्ञानिक चिन्तन-मनन की बुनियाद पड़ी। धर्म, दर्शन, आध्यात्मवाद तथा रहस्यवाद को ये लेखक परम्परित रूप में ग्रहण नहीं कर पाते, बल्कि इस युग के चिन्तक इन समस्त विषयों पर वैज्ञानिक ढंग से अपने मौलिक चिन्तन का आग्रह व्यक्त करते हैं। वस्तुतः यह अतिशय बौद्धिकता का युग कहा जा सकता है, जब समाज, राजनीति तथा संस्कृति सभी विषयों के सम्बन्ध में नवीन तथा वैज्ञानिक चिन्तन की नींव डाली गई तथा उनसे प्राप्त केवल बौद्धिक परिणामों को ही स्वीकार किया गया। यही कारण है कि समाज का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए मार्क्स को तथा व्यक्ति का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए फ्रायड को आधार बनाया गया। फलतः आदर्शवाद का स्थान यथार्थवाद ने ले लिया तथा आध्यात्मवाद का स्थान भौतिकवाद ने।

हिन्दी उपन्यास साहित्य पर भी तत्कालीन सांस्कृतिक गतिविधि की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। इस युग के अधिकांश लेखक बौद्धिकता के प्रति अपना प्रबल आग्रह व्यक्त करते हैं। साथ ही व्यक्ति तथा समाज के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए मार्क्स तथा फ्रायड का आधार ग्रहण करने के कारण इस काल का उपन्यास साहित्य मुख्यतः व्यक्तिवादी तथा समाजवादी दो विभागों में विभाजित देखा जा सकता है। किसी एक पक्ष पर अतिशय आस्थावान होने के कारण ये लेखक व्यक्ति तथा समाज में स्वस्थ सन्तुलन स्थापित नहीं कर पाते। परिणाम यह होता है कि सांस्कृतिक धरातल पर अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तथा सांस्कृतिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। इस युग में पिछले जीवन-मूल्यों का निषेध तो किया गया है लेकिन अभी किन्हीं स्वस्थ तथा नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना नहीं हो सकी है। वस्तुतः यह सांस्कृतिक संक्रमण का युग है, जब आदमी अपने तमाम पुरानेपन को छोड़कर नये की तलाश में प्रयत्नशील दीख पड़ता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जब तक नवीन सामाजिक व्यवस्था का स्वस्थ विकास न होगा, सांस्कृतिक स्थिति में यह अवरुद्धता बनी ही रहेगी।

इधर स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी हिन्दी उपन्यास-साहित्य की अभूतपूर्व वृद्धि हुई, लेकिन उसके सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण में आज भी कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। आज भी उपन्यास साहित्य मुख्यतः वैचारिक दृष्टि से व्यक्ति-

वादी तथा समाजवादी इन दो खेमों में ही लिखा जा रहा है। हाँ इतना अवश्य है कि इधर आंचलिक उपन्यासों के माध्यम से उपन्यास साहित्य ने नागरिक सभ्यता की संकीर्णता से निकल कर ग्रामीण तथा व्यापक स्तर पर जनवादी सभ्यता तथा संस्कृति को अभिव्यक्ति देना प्रारम्भ किया है जो इस युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है तथा इससे भावी सांस्कृतिक निर्माण की आशा भी की जा सकती है।

⊙ ⊙ ⊙

उपक्रमणिका

शोधप्रबन्ध में विवेचित उपन्यासों की कालक्रमानुसार सूची

क्रम	लेखक	उपन्यास	सन्	प्रयुक्त संस्करण	
१	लाला श्रीनिवास	परीक्षा गुरु	१८८२	प्र० सं०	१८८२
२	राधाचरण गोस्वामी	जाविन्नी	१८८८	"	१८८८
३	लज्जाराम शर्मा मेहता	धूर्त रसिकलाल	१८९९	"	१८९९
४	,,	स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी	१८९९	"	१८९९
५	,,	कपटी मित्र	१९००	"	१९००
६	किशोरीलाल गोस्वामी	राजकुमारी	१९०१	"	१९०१
७	लज्जाराम शर्मा मेहता	हिन्दू गृहस्थ	१९०३	"	१९०३
८	ब्रजनन्दनसहाय	पूना में हलचल	१९०३	"	१९०३
९	लज्जाराम शर्मा मेहता	आदर्श दम्पति	१९०४	"	१९०४
१०	किशोरीलाल गोस्वामी	हीराबाई	१९०४	"	१९०४
११	,,	चन्द्रावली	१९०४	"	१९०४
१२	,,	मल्लिकादेवी वा बंग सरोजिनी	१९०५	"	१९०५
१३	,,	तरुण तपस्विनी वा कुटीर वासिनी	१९०५	"	१९०५
१४	ब्रजनन्दनसहाय	अद्भुत प्रायश्चित्त	१९०५	द्वितीयसं०	१९१०
१५	किशोरीलाल गोस्वामी	इन्दुमती वा वनविहंगिनी	१९०६	प्र० सं०	१९०६
१६	लज्जाराम शर्मा मेहता	सुशीला विधवा	१९०७	"	१९०७
१७	किशोरीलाल गोस्वामी	त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी	१९०७	"	१९०७
१८	,,	पुनर्जन्म व सौतिया डाह	१९०७	"	१९०७
१९	लज्जाराम शर्मा मेहता	बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेवी	१९०७	"	१९०७

क्रम	लेखक	उपन्यास	सन्	प्रयुक्त संस्करण
२०	अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	अधखिला फूल	१९०७	प्र० सं० १९०७
२१	ब्रजनन्दनसहाय	विस्मृत सम्राट्	१९१०	" १९१०
२२	"	राधाकान्त	१९१२	" १९१२
२३	किशोरीलाल गोस्वामी	कड़े मूड़ की दो-दो बातें	१९१४	" १९१४
२४	"	तारा वा क्षत्रकुल कमलिनी	१९१४	" १९१४
२५	"	माधवी माधव व मदनमोहिनी	१९१४	" १९१४
२६	"	प्रणयिनी परिणय	१९१४	द्वि० सं० १९१६
२७	"	गुलबहार वा आदर्श भ्रातुस्नेह	१९१४	" १९१५
२८	ब्रजनन्दनसहाय	अरण्यबाला	१९१४	" १९२१
२९	लज्जाराम शर्मा मेहता	आदर्श हिन्दू	१९१५	प्र० सं० १९१५
३०	किशोरलाल गुप्त	राधा	१९१६	" १९१६
३१	मन्नन द्विवेदी	रामलाल	१९१७	" १९१७
३२	ब्रजनन्दनसहाय	लालचीन	१९१७	" १९१७
३३	प्रेमचन्द	सेवासदन	१९१७	१४वाँ सं० २००५
३४	चतुरसेन शास्त्री	हृदय की परख	१९१८	१० " १९५५
३५	मन्नन द्विवेदी	कल्याणी	१९२०	प्र० सं० १९२०
३६	प्रेमचन्द	प्रेमाश्रम	१९२१	सरस्वती प्रेस बनारस
३७	गंगाप्रसाद गुप्त	कृष्णकांता	१९२२	प्र० सं० १९२२
३८	प्रेमचन्द	प्रतिज्ञा	१९२२	हंसप्रकाशन, इला०
३९	"	निर्मला	१९२२	११वाँ सं० १९५५
४०	"	रंगभूमि	१९२४	" १९४६
४१	पाण्डेय बेचनराम शर्मा 'उग्र'	चन्द हसीनों के खतूत।	१९२६	८वाँ 'उग्र'
४२	भगवतीप्रसाद वाजपेयी	प्रेमपथ	१९२६	पुस्तक भंडार पटना
४३	चतुरसेन शास्त्री	खवास का ब्याह	१९२७	प्र० सं० १९२७
४४	पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'	सरकार तुम्हारी आँखों में	१९२७	तृ० सं० २०११
४५	प्रेमचन्द	कायाकल्प	१९२८	" २०११
४६	इलाचन्द्र जोशी	लज्जा	१९२८	" २००७
४७	जयशंकर 'प्रसाद'	कंकाल	१९२९	७वाँ सं० २००९
४८	जैनेन्द्र	परख	१९२९	द्वि० सं० १९४१
४९	भगवतीचरण वर्मा	चित्रलेखा	१९२९	१५वाँ सं० २०१४

क्रम	लेखक	उपन्यास	सन्	प्रयुक्त संस्करण
५०	प्रेमचन्द	ग़बन	१९३०	पव० [illegible]०, इला०
५१	विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'	माँ	१९३०	चतुर्थ सं० २००३
५२	वृन्दावनलाल वर्मा	कोतवाल की करामात	१९३०	तृतीय सं० २०१२
५३	भगवतीचरण वर्मा	तीन वर्ष	१९३०	५ वाँ सं० २०१०
५४	'निराला'	अप्सरा	१९३१	८ वाँ सं० २०१३
५५	चतुरसेन शास्त्री	हृदय की प्यास	१९३१	८ वाँ सं० २०११
५६	प्रेमचन्द	कर्मभूमि	१९३२	८ वाँ सं० २०११
५७	जैनेन्द्र तथा ऋषभचरण जैन	तपोभूमि	१९३२	८ वाँ सं० १९५५
५८	वृन्दावनलाल वर्मा	कुंडली चक्र	१९३२	छठाँ सं० २०११
५९	पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'	शराबी	१९३२	तृ० सं० १९५४
६०	जयशंकर 'प्रसाद'	तितली	१९३३	चतुर्थ सं० २००२
६१	जैनेन्द्र	सुनीता	१९३३	५वाँ सं० १९५५
६२	वृन्दावनलाल वर्मा	लगन	१९३३	४था सं० १९५५
६३	वृन्दावनलाल वर्मा	प्रेम की भेंट	१९३३	तृ० सं० १९५४
६४	निराला	अलका	१९३३	७वाँ सं० २०११
६५	कौशिक	भिखारिणी	१९३४	चतुर्थसं० १९५६
६६	चतुरसेन शास्त्री	आत्मदाह	१९३४	चौधरी एंड सन्स
६७	वृन्दावनलाल वर्मा	प्रत्यागत	१९३४	५वाँ सं० २०११
६८	वृन्दावनलाल वर्मा	संगम	१९३४	चतुर्थसं० १९५६
६९	भगवतीप्रसाद वाजपेयी	लालिमा	१९३४	प्र० सं० १९३४
७०	बेचन शर्मा 'उग्र'	मनुष्यानन्द	१९३५	द्वि० सं० १९५५
७१	भगवतीप्रसाद वाजपेयी	पतिता की साधना	१९३६	चतुर्थ सं० १९५६
७२	'निराला'	निरुपमा	१९३६	७वाँ सं० २०११
७३	जैनेन्द्र	त्यागपत्र	१९३६	७वाँ सं० १९५५
७४	प्रेमचन्द	गोदान	१९३६	१३वाँ सं० १९५६
७५	भगवतीप्रसाद वाजपेयी	पिपासा	१९३७	च० सं० १९५०
७६	उग्र	जीजी जी	१९३७	,, १९५५
७७	जैनेन्द्र	कल्याणी	१९३७	तृ० सं १९५३
७८	राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह	राम रहीम	१९३७	प्र० सं०१९३७
७९	उपेन्द्रनाथ 'अश्क'	सितारों के खेल	१९३९	तृ० सं०१९५२
८०	चतुरसेन शास्त्री	नीलमणि	१९४०	चौधरी एण्ड संस

क्रम	लेखक	उपन्यास	सन्	प्रयुक्त संस्करण
८१	भगवतीप्रसाद वाजपेयी	दो बहनें	१९४०	तृ० सं० २००९
८२	इलाचन्द्र जोशी	संन्यासी	१९४०	च० सं० २००६
८३	'अज्ञेय'	शेखर : एक जीवनी	१९४०	प्रथम भाग, ५ वाँ सं० १९५५
८४	राहुल सांकृत्यायन	जीने के लिए	१९४०	द्वि० सं० १९४८
८५	इलाचन्द्र जोशी	पर्दे की रानी	१९४१	तृ० सं० २००८
८६	यशपाल	दादा कामरेड	१९४१	च० सं० १९५३
८७	भगवतीप्रसाद वाजपेयी	नियंत्रण	१९४२	सा०प्रका०१९५८
८८	वृन्दावनलाल वर्मा	कभी न कभी	१९४२	प्र० सं० १९४२
८९	इलाचन्द्र जोशी	प्रेत और छाया	१९४३	द्वि० सं० २००४
९०	यशपाल	देशद्रोही	१९४५	च० सं० १९५३
९१	रांगेयराघव	घरौंदे	१९४६	प्र० सं० १९४६
९२	इलाचन्द्र जोशी	निर्वासित	१९४५	प्र० सं० २००३
९३	यशपाल	पार्टी कामरेड	१९४६	प्र० सं० १९४६
९४	वृन्दावनलाल वर्मा	झांसी की रानी लक्ष्मीबाई	१९४६	प्र० सं० १९४६
९५	,,	अचल मेरा कोई	१९४७	तृ० सं० १९५४
९६	उपेन्द्रनाथ 'अश्क'	'गिरती दीवारें'	१९४७	द्वि० सं० १९५१
९७	अमृतलाल नागर	महाकाल	१९४७	प्र० सं० २००४
९८	रांगेय राघव	विषाद मठ	१९४७	किताब महल, प्रयाग १९५५
९९	विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'	संघर्ष	१९४७	द्वि० सं० १९५७
१००	इलाचन्द्र जोशी	मुक्तिपथ	१९४८	तृ० स० १९५६
१०१	नागार्जुन	रतिनाथ की चाची	१९४८	प्र० सं० १९४८
१०२	भगवतीचरण वर्मा	टेढ़े मेढ़े रास्ते	१९४९	तृ० सं० २०११
१०३	यशपाल	मनुष्य के रूप	१९४९	द्वि० सं० १९५२
१०४	भगवतीप्रसाद वाजपेयी	गुप्तधन	१९५०	च० सं० गौतम बुक डिपो
१०५	,,	आखिरी दाँव	१९५०	द्वि० सं० २०१२
१०६	इलाचन्द्र जोशी	जिप्सी	१९५०	प्र० सं० १९४८

(जिन लेखकों के संस्करण, क्रमांक अथवा प्रकाशन तिथियाँ नहीं दी गई हैं, उन उपन्यासों के प्रकाशकों का नाम इस सूची में दे दिया गया है।)

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

१ ऋग्वेद

२ अथर्ववेद संपादक—पं० श्री राजनाथ शर्मा, आचार्य संस्कृति संस्थान, बरेली

३ यजुर्वेद (उत्तर-प्रदेश) १९६२

४ शतपथ ब्राह्मण संपादक—डॉ० अल्बेर्तन वेवेरणे चौखम्भा संस्कृत सीरिज आफिस वाराणसी ।

५ कठोपनिषद् (शांकरभाष्य) गीता प्रेस, गोरखपुर

६ श्रीमद्भगवद्गीता ,, ,,

७ महाभारत ,, ,,

८ श्रीमद्भागवत् ,, ,,

हिन्दी ग्रन्थ

१	बलदेवप्रसाद मिश्र	भारतीय संस्कृति	प्र० सं०, १९५२
२	गुलाबराय	भारतीय संस्कृति की रूपरेखा	साहित्य प्रकाशन मंदिर, ग्वालियर, सं० २००९
३	भगवतशरण उपाध्याय	सांस्कृतिक भारत	राजपाल एण्ड संस दिल्ली १९५५
४	दिनकर	संस्कृति के चार अध्याय	उदयाचल प्रकाशन, पटना, १९६६
५	रवीन्द्रनाथ ठाकुर अनु० इलाचन्द्र जोशी	विश्व मानवता की ओर	१९६४
६	योगी अरविन्द	भारतीय संस्कृति के आधार	श्री अरविन्द आश्रम अदिति कार्यालय, पाण्डीचेरी, १९५७
७	डॉ० राधाकृष्णन अनु० नन्दकिशोर	भारतीय दर्शन, भाग-१	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, १९६६
८	प्रसन्नकुमार आचार्य	भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता	हिन्दी साहित्य सम्मेल, प्रयाग, सं० २०१४
९	आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी	'विचार और विवेक'	साहि० भवन प्रा० लि० इलाहाबाद, १९६१

१०	जयशंकर 'प्रसाद'	काव्य और कला तथा निबन्ध	भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सं० २०१५ वि०
११	वासुदेवशरण अग्रवाल	कला और संस्कृति	सहि० भ० प्रा० लि०, इलाहाबाद, १९५२
१२	डॉ० मंगलदेव शास्त्री	भारतीय संस्कृति का विकास	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन वारारसी, १९५६
१३	डॉ० देवराज	संस्कृति का दार्शनिक विवेचन	प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग उ० प्र०, १९५७
१४	डॉ० देवराज	भारतीय संस्कृति	" " १९६६
१५	मैलविल हर्स कोविट्स अनु० रघुराज गुप्त	सांस्कृतिक मानव शास्त्र	भारतीय भवन, देहरादून, १९६०
१६	मारिसगिंसवर्ग . अनु०-महेन्द्रनाथ वर्मा	समाज, संस्कृति और सभ्यता	विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, १९६६
१७	डॉ० रामजी उपाध्याय	भारतीय संस्कृति का उत्थान	रामनारायण प्रकाशन तथा पुस्तक वि० इला०, १९५०
१८	प्रो० मैकाइवर और पेज अनु० विश्वेश्वरैय्या	समाज	रतन प्रकाशन मंदिर, हास्पिटल रोड, आगरा, १९६४
१९	सत्यकेतु विद्यालंकार	भारतीय संस्कति और उसका इतिहास	सरस्वती सदन, मंसूरी, १९६८
२०	डॉ० मनमोहन शर्मा	भारतीय संस्कृति और साहित्य	चित्रगुप्त प्रकाशन, पुरानी मण्डी अजमेर, १९६७
२१	बी० एन० लूनिया	भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति	लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा, १९६८
२२	राल्फ फाक्स अनु० नरोत्तम नागर	उपन्यास और लोक जीवन	राजकमल प्रकाशन प्रा० लि० दिल्ली, १९६९
२३	पं० नेहरू	हिन्दुस्तान की कहानी	सस्ता साहित्य मण्डल
२४	काका कालेलकर	गांधी व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव	" " नई दिल्ली १९६६
२५	शिवदान सिंह चौहान	हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष	इण्डियन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९५५

२६	शिवनारायण श्रीवास्तव	हिन्दी उपन्यास	सरस्वती मंदिर, वाराणसी, १९६८
२७	डॉ० सत्येन्द्र	हिन्दी उपन्यास-विवेचन	कल्याणमल एण्ड सन्स त्रिपोलिया, जयपुर, १९६८
२८	डॉ० सुषमा धवन	हिन्दी उपन्यास	राजकमल प्रका० दिल्ली, १९६१
२९	डॉ० इन्द्रनाथ मदान	प्रेमचंद : एक विवेचन	राजकमल प्रका०, १९६८
३०	डॉ० महेन्द्र चतुर्वेदी	हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६२
३१	सं० डॉ० शिवप्रसाद सिंह	शांति निकेतन के शिवालिक	भारतीय ज्ञान पीठ वाराणसी, १९६७
३२	डॉ० त्रिभुवन सिंह	हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद	
३३	डॉ० सुरेश सिन्हा	हिन्दी उपन्यास : उद्‌भव और विकास	अशोक प्रकाशन नई सड़क दिल्ली, १९६५
३४	आचार्य नन्ददुलारे	हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी	लोकभारती प्रका० इलाहाबाद, १९६३
३५	" "	आधुनिक साहित्य	भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सं० २०१३
३६	" "	नया साहित्य नये प्रश्न	विद्या मंदिर प्रकाशन, ब्रह्मनाल वाराणसी, सं० २०११
३७	रामदीन गुप्त	प्रेमचंद और गांधीवाद	हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, १९६१
३८	डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	आधुनिक हिन्दी साहित्य	हिन्दी परिषद्, प्रयाग वि० वि०, प्रयाग
३९	डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	बीसवीं शताब्दी : नये सन्दर्भ	साहित्य भवन, प्रा० लि० इलाहाबाद, १९६६-६७
४०	" "	हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, १९६९
४१	डॉ० बेचन	आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और चरित्र विकास	सन्मार्ग प्रकाशन, १९६५

४२	प्रो० रणवीर रांग्रा	हिन्दी उपन्यासों में चरित्र-चित्रण का विकास	भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली, १९६१
४३	डॉ० प्रतापनारायण टण्डन	हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास	हिन्दी साहित्य भण्डार, १९६४
४४	डॉ० देवराज उपाध्याय	हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान	साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, १९६३
४५	"	साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	एस० चन्द एण्ड कं०, नई दिल्ली, १९६४
४६	डॉ० सत्यपाल 'चुघ'	प्रेमचंदोत्तर उपन्यास की शिल्प विधि का विकास	पुरुषोत्तम नगर, हिम्मतगंज, इलाहाबाद, १९६८
४७	डॉ० गोपालराय	हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव	ग्रन्थ निकेतन, पटना-६, १९६५
४८	डॉ० चण्डीप्रसाद जोशी	हिन्दी उपन्यास : समाज शास्त्रीय विवेचन	अनुसंधान प्र० आचार्य नगर, कानपुर, १९६२
४९	डॉ० बदरीदास	हिन्दी उपन्यास : पृष्ठ भूमि और परम्परा	ग्रंथम कार्यालय रामबाग, कानपुर, १९६६
५०	इलाचंद्र जोशी	साहित्य चिन्तन	शारदा प्रकाशन, बिहार, १९५५
५१	"	विश्लेषण	" " १९५४
५२	जैनेन्द्रकुमार	साहित्य का श्रेय ओर प्रेय	पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, १९५३
५३	डॉ० नगेन्द्र	विचार और अनुभूति	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, १९६८
५४	"	विचार और विवेचन	" " "
५५	"	आस्था के चरण	" " "
५६	डॉ० सर्वजीत राय	हिन्दी साहित्य में आदर्शवाद	लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६८

अंग्रेजी के ग्रन्थ

१	ई० टायलर	प्रिमिटिव कल्चर, भाग १ चतुर्थ संस्करण	जानमरे, लन्दन

२		एन साइक्लोपीडिया आफ़ द सोशल सायन्सेज, भाग ४	मैकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क, १९६३
३	मैकाइवर	सोशल काजेशन	(मैकमिलन १९४९)
४	एम० जे० हर्सकोविट्स	मैन एण्ड हिज वर्क्स	अल्फ्रेड ए० नाफ १९४९
५	आर्नल्ड जे० ट्वायनवी	ए स्टडी आफ हिस्ट्री	डी० सी० साभरवेल कृत संक्षेप ज्याफरे कम्बरलेज, लन्दन, तृतीय संस्करण १९४९
६	पी० ए० सोरोकिन	सोशल फिलासफ़ीज आफ एन एज आफ क्राइसिस	एडेम एण्ड चार्ल्स ब्लैक लन्दन, १९५२
७	ए० एल० क्रेबर	एन्थ्रापालाजी	नया संस्करण, जार्ज जी० हैरेप एण्ड कम्पनी लि०, लंदन, १९४८
८	रूथ बेनिडिक्ट	पैटर्न्स आफ कल्चर	मैण्टरबुक्स, द न्यू अमेरिकन लाइब्ररी, १९४८
९	टी० एस० इलियट	नोट्स टुवर्ड द डेफिनिशन आफ़ कल्चर	फेबर और फेबर, लन्दन १९४८
१०	कार्लमार्क्स	क्रिटिक आफ़ पोलिटिकल इकानामी।	
११	गुनारलिन्ट मैन	दी ओरिजिन आफ़ दि इन्इक्वालिटी आव् द सोशल क्लासेज	कीगनपाल लन्दन, १९३८
१२	रीडर थाम्ट कीर्कगार्ड्स	फिलासफी आव रिलीजन	प्रिंसटन १९४९
१३	जार्ज बर्ट्रॉन्डरसेल	पावर एन्ड सोशल एनेलिसिस	जार्ज एलेन एण्ड अन्विन, लंदन मुद्रण, १९४६
१४	कार्ल यास्पर्स	मैन इन द माडर्न एज	अंग्रेजी अनुवाद जार्ज रटलेज एण्ड संस, लंदन, १९३३
१५	सं० जार्ज गुरविच और विलवर्ट मूर	टु एन्टि एथ सेन्चुरी सोशियालाजी	द फिलासिफिकल लायब्रेरी न्यूयार्क, १९४५
१६	एफ० सी० शिलर	ह्यूमैनिज्म	मैकमिलन, लन्दन, दूसरा संस्करण १९१२
१७	डॉ० राधाकृष्णन	रिलीजन एण्ड फ़िलासफ़ी	एलेन एण्ड अनविन, लन्दन १९४७

१८	बर्ट्राण्ड रसेल	हिस्ट्री आव् वैस्टर्न फिलासफी	जार्ज एलेन एण्ड अन-विल, लंदन, १९४७
१९	बर्ट्राण्ड रसेल	हिस्ट्री आव् वैस्टर्न फिलासफी	जार्ज एलेन एण्ड अन-विल, लंदन १९४७
२०	रसेल	डिक्शनरी आव् माइण्ड, मैटर एण्ड मारल्स	फिलासिफिकल लायब्रेरी न्यूयार्क, १९५२
२१	"	ह्यूमैन नालेज इट्स स्कोप एण्ड लिमिट्स़।	जार्ज एलेन एण्ड अनविन, लंदन, १९४८
२२	संपा० राल्फलिण्टन	द सायन्स आफ मैन इन द वर्ल्ड क्राइसिस	कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, सातवाँ मुद्रण, १९५२
२३	बी० मैलिनावस्की	मैजिक सायंस एण्ड रिलीजन	द फ्री प्रेस, इलियानिस, १९४८
२४	क्रीस्तोफर काडवेल	फर्दर स्टडीज इन डाइंग कल्चर	
२५	हुमायूँ कबीर	दि इण्डियन हैरिटेज	
२६	जवाहरलाल नेहरू	द डिस्कवरी आफ इण्डिया	
२७	के० एम० पनिकर	हिन्दू सोसाइटी एट क्रास रोड	
२८	जेड० ए० चैरेज़	रिनासेण्ट इण्डिया	
२९	आई० ए० रिचर्ड्स	द प्रिंसिपिल्स आव लिटरेरी क्रिटिसिज्म	कोगनपाल, छठा मुद्रण १९३८
३०	हरवर्ट रीड	मीनिंग आव आर्ट	पैलिकन बुक्स, १९५०
३१	हरवर्ट रीड	क्लेक्टेड एसेज इन लिटरेरी क्रिटिसिज्म	फेबर एण्ड फेबर, १९३८
३२	बेनिडिटोक्रोचे	इस्थेटिक	अंग्रेजी अनुवाद-मेकमिलन लंदन दूसरा संस्करण, सं० १९२२
३३	अरस्तू	पोएटिक्स	
३४	एलेक्जेण्डरपोप	एसे आन क्रिटिसिज्म	
३५	ई० एम० फास्टर	आसपेक्ट्स आव द नावेल	एडवर्ड आर्नल्ड एण्ड कंपनी लन्दन, मुद्रण, १९४४
३६	राल्फ फाक्स	दि नावेल एण्ड पिपुल	
३७	माओत्से तुंग	प्राब्लम आफ आर्ट एण्ड लिटरेचर	

३८	माओत्से तुंग	टाल्कस ऐट द मेनन फरूम आन आर्ट एण्ड लिटरेचर	

हिन्दी कोश एवं विश्व कोश

१	सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा	हिन्दी साहित्य कोश	ज्ञानमण्डल लि० वाराणसी सं० २०२०
२	डॉ० कामिल बुल्के	अंग्रेजी हिन्दी कोश	काथलिक प्रेस, राँची, १९६८
३		हिन्दी विश्वकोश	नागरी प्रचारिणी सभा काशी
४	डॉ० गोपाल राम	हिन्दी उपन्यास कोश, भाग १	रानीघाट, पटना—६

पत्र-पत्रिकाएँ

१	आलोचना	राजकमल प्रकाशन लिमिटेड, दिल्ली
२	कल्पना	कल्पना कार्यालय, हैदराबाद
३	क ख ग	इलाहाबाद
४	माध्यम	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
५	धर्मयुग	टाइम्स आफ इण्डिया प्रकाशन, बम्बई
६	समालोचक	आगरा
७	कथा	इलाहाबाद कथा कार्यालय, इलाहाबाद
८	विकल्प	विकल्प कार्यालय, इलाहाबाद
९	नईधारा	अशोक प्रेस, पटना
१०	कहानी	कहानी कार्यालय, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद
११	नई कहानियाँ	हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
१२	अकथ	अकथ कार्यालय, जयपुर
१३	नागरी प्रचारिणी पत्रिका	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
१४	सम्मेलन पत्रिका	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
१५	हिन्दुस्तानी	हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
१६	हिन्दी अनुशीलन	भारतीय हिन्दी परिषद् इलाहाबाद
१७	विश्वभारती	शान्ति निकेतन हिन्दी भवन, पश्चिम बंगाल

⊙ ⊙ ⊙